आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव विरचित

समयसार

(जीवाजीवाधिकार)

(आत्मख्यातिटीका, तात्पर्यवृत्तिटीका एवं
परमाध्यात्म तरंगिणी सहित)

आत्मख्याति व्याख्या एवं प्रश्नोत्तर टीका
मुनि श्री प्रणम्यसागर महाराज

- प्रकाशक -
जैन संस्कृति संरक्षक संघ
(जीवराज जैन ग्रंथमाला)
'जीवराज भवन', टी.पी.४, प्लॉट नं. ५६/१०, बुधवार पेठ, जुना पुणे नाका, सोलापूर-२.
पोस्ट बॉक्स नं. ११०, फोन-०२१७-२३२१००८, मो. ९४२१०४००२२.

आशीर्वाद :- सन्त शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज

आत्मख्याति व्याख्या
एवं प्रश्नोत्तर टीका :- मुनि श्री प्रणम्यसागरजी

प्रकाशक :- श्री अरविंद रावजी दोशी (अध्यक्ष)
जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर

द्वितीय आवृत्ति - २०२१ (प्रतियाँ - ११००)
वीरसंवत - २५४७

पुण्यार्जक :- ब्र. डॉ. त्रिशलादेवी नाडगौडा पाटील
M.B.B.S.
प्राकृतरत्न (श्रवणबेळगोळा)
ट्रस्टी - जैन संस्कृती संरक्षक संघ, सोलापूर.

प्राप्ति स्थान :- आर्हत विद्या प्रकाशन
गोटेगांव (श्रीधाम), नरसिंहपुर (म.प्र.)
मोबाईल - ०९४२५८३७४७६- नवीन जैन

मुद्रण-स्थल :- श्री प्रेरणा एंटरप्राईजेस, पुणे.

इस पुस्तक के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं । प्रकाशक की लिखित अनुमति के बिना इसके किसी भी अंश को, फोटोकॉपी एवं रिकॉर्डिंग सहित इलेक्ट्रॉनिक अथवा मशिनी, किसी अन्य भी माध्यम से, अथवा ज्ञान के संग्रहण एवं पुर्नप्रयोग की प्रणाली द्वारा, किसी भी रूप में, अनुवाद, नकल पुनरुत्पादित अथवा संचारित-प्रसारित नहीं किया जा सकता ।

© 2011 All rights reserved by publisher

विषय सुची

समयसार
(जीवाजीवाधिकार)

- प्रकाशकीय - १
- सम्पादकीय - २
- ग्रंथ में समाहित विषय - ५
- विषयक्रम - ६
- कुन्दकुन्दाष्टक - ७
- आ. कुन्दकुन्द स्वामी परिचय - ९
- समयसार-स्व का सार - ११
- रहस्यपूर्ण पाती - १३
- ग्रंथ प्रारम्भ - १ ते ३४९

प्रकाशकीय

महाकवि आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज के शिष्य समुदाय में एक अनोखी प्रतिभा के धनी संस्कृत, अंग्रेजी, प्राकृत भाषा में निष्णात अल्पवय में ही अनेक ग्रन्थों की संस्कृत टीका लिखने वाले उत्तरप्रदेश के सिरसागंज में जन्मे मुनिश्री प्रणम्यसागरजी महाराज ने जिनवाणी की उपासना कर जैन जगत्पर महान् उपकार किया है। मुनिश्री ने प्रवचन गंगा में अपने को स्नात कर आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रणीत समयसार पर आ. अमृतचन्द सुरि रचित आत्मख्याति (जीवाजीवाधिकार) की हिन्दी व्याख्या एवं जनसामान्य के लिए सरल भाषा में प्रश्नोत्तरी टीका प्रस्तुत की है।

पूज्य मुनिश्री के हस्तकौशल से अवतरित यह कृति साधकों को एवं ज्ञान पिपासुओं को सम्यक् दिशा में चलने को प्रेरित करेगी। टीकाकार स्वयं ही श्रमण हैं। श्रमण, श्रमण के भावों को अच्छी तरह समझ सकता है एवं अध्यात्म में जो स्वयं डूबे हैं वेही अध्यात्म की सही बात कह सकते हैं। इस ग्रन्थ में एकान्त निश्चयी प्रवचनों से प्रश्नों को लेकर उनका उचित समाधान किया गया है। इस टीका को पढने से आपको ऐसा लगेगा कि आचार्य कुन्दकुन्द की गाथा का हार्द इस टीका में उतर आया है। इस ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्द का परिचयात्मक लेख मुनिश्री के गहन चिन्तन एवं वैचारिक गहराई का परिचायक है। तथा **'कुन्दकुन्दाष्टक'** मुनिश्री के काव्यरचनासौष्ठव को दर्शाता है।

टीकाकार के इस विद्वत्तापूर्ण परिश्रमान्वित सारस्वत कार्य के लिए हम उपकृत हैं एवं मुनिश्री की अभूतपूर्व प्रतिभा से सरस्वती का भण्डार वृद्धिंगत होता रहे ऐसी भावना करते हैं।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सौ. डॉ. त्रिशलादेवी अप्पासाहेब नाडगौडा पाटील, रबकवी अर्थ सहयोग प्रदान किया है । उनके हम हृदय से आभारी हैं। अन्य जिन्होंने भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से जो भी सहयोग ग्रन्थ के प्रकाशन में किया है उनके प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। हमें आशा है कि जिनवाणी के उपासकों द्वारा इस प्रयास का हार्दिक स्वागत होगा।

प्रात: स्मरणीय परमपूज्य आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज एवं पूज्य मुनिश्री प्रणम्यसागरजी महाराज के चरणों में कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए शत-शत नमन कोटि-कोटि वंदन निवेदित करता हूँ।

श्री. हर्षवदन रतनचंद शहा
मंत्री
श्री जैन संस्कृती संरक्षक संघ.

सम्पादकीय

दिगम्बर वाङ्मय के महान् रचनाकारों में **श्रुतधराचार्य कुन्दकुन्द** का नाम सर्वोपरि है। आपकी लेखनी से प्रसूत सभी रचनाएँ सारभूत हैं और तत्वज्ञान प्राप्त करने की कुञ्जी है। आपकी प्रसिद्ध रचनाएँ है **- प्रवचनसार, समयसार, पंचास्तिकाय, नियमसार ।** अन्य रचनाओं का भी आध्यात्मिक दृष्टि से विशिष्ट महत्व है। आपकी सभी रचनाएँ शौरसेनी प्राकृत में लिपिबद्ध है।

'समयसार' अद्यावधि उपलब्ध साहित्य में सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक ग्रन्थ है। समय शब्द के अनेक अर्थ होते हैं- काल, आत्मा, पदार्थसमूह, सिद्धान्त, आगम अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का सिद्धान्त समय है। 'समयसार' ग्रन्थ में समयशब्द के दो अर्थ विवक्षित है- समस्त पदार्थ और आत्मा। जिस ग्रन्थ में समस्त पदार्थों अथवा आत्मा का सार अभिव्यक्त हो वह समयसार है। विवेचन में निश्चय और व्यवहार ये दो नयभेद ही प्रयुक्त हुए हैं, इनके उत्तर भेद नहीं । निश्चय स्वभाव को विषय करता है विभाव को नहीं । जो स्व में स्व के निमित्त से सदा रहता है वह स्वभाव है जैसे जीव के ज्ञानादि। जो स्व में पर के निमित्त से होते हैं वे विभाव हैं जैसे जीव में क्रोधादि विभाव आत्मा में ही पर के निमित्त से होते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने उभय नयों के आलम्बन से वस्तु स्वरूप का प्रतिपादन किया है इसलिए वह निर्विवाद रूप से ग्राह्य है।

'समयसार' में भेदविज्ञान निरुपित है। नाना पदार्थों को अपने-अपने लक्षणों से भिन्न-भिन्न निश्चित करना और उनसे उपादेय पदार्थ को लक्षित तथा शेष समस्त पदार्थों को उपेक्षित कर देना ही भेद-विज्ञान है। समयसार के अध्यायों का क्रम- पूर्वरंग, जीवाजीवाधिकार, कर्तृकर्माधिकार, पुण्यपापाधिकार, आस्रवाधिकार, संवराधिकार, निर्जराधिकार, बन्धाधिकार, मोक्षाधिकार, सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार, स्याद्वादाधिकार, ४७ शक्तियाँ, उपायोपेयाधिकार्।

समयसार के इस संस्करण में **आचार्य अमृतचन्द्र** की **आत्मख्याति** टीकानुसार प्रथम ६८ गाथायें और **जयसेनाचार्य की तात्पर्यवृत्ति टीका** के अनुसार प्रथम ७३ गाथाएँ संकलित हैं। साथ ही आत्मख्याति टीका में **अमृतचन्द्राचार्य रचित कलशों पर शुभचन्द्राचार्य विरचित परमाध्यात्मतरंगिणी टीका** भी सम्मिलित है। प्राकृत **गाथाओं का पद्यानुवाद** पूज्य **आचार्य श्री विद्यासागरजी** ने किया है और विस्तृत **प्रश्नोत्तर टीका पूज्य मुनि श्री प्रणम्यसागरजी** ने परिश्रमपूर्वक लिखी है।

प्रस्तुत गाथाओं में 'स्व' समय 'पर' समय, शुद्ध नय, आत्मभावना और सम्यक्त्व का प्ररूपण है। जीव को कामभोग विषयक बन्धकथा ही सुलभ है किन्तु आत्मा का एकत्व दुर्लभ है। एकत्वविभक्त आत्मा को निजानुभूति द्वारा ही जाना जाता है। जीव प्रमत्त अप्रमत्त दोनों दशाओं से न्यारा ज्ञायकभावमात्र है। ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान, चारित्र व्यवहार से कहे जाते हैं, निश्चय से नहीं । निश्चय से ज्ञानी एक शुद्ध ज्ञायक मात्र ही है। इस अधिकार में व्यवहारनय को 'अभूदत्थों' और निश्चय को 'भूदत्थों' कहा है। इन शब्दों अभूतार्थ और भूतार्थ - के प्रसंगोचित अर्थ में भ्रान्ति होने के कारण एक स्थायी विवाद ने जन्म ले लिया है कि निश्चयनय (भूतार्थ) सच्चा और व्यवहारनय (अभूतार्थ) झूठा है। ऐसा असमीचीन अर्थ करने वाले और मानने वाले यह नहीं सोचते कि **''द्वौ हि नयौ भगवता प्रणीतौ द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च । तत्र न खल्वेकनयायत्ता देशना, किन्तु तदुभयायत्ता''** (पंचास्तिकाय गाथा ४ की टीका) भगवान ने दो ही नय कहे हैं- द्रव्यार्थिक (निश्चय) और पर्यायार्थिक (व्यवहार)। दिव्यध्वनि में कथन एक नय के आधीन

नहीं होता किन्तु दोनों नयों के आधीन होता है ।

स्वयं **अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक ६** में कहते हैं- **''अबुधस्य बोधनार्थ मुनीश्वराः देशयन्त्यभूतार्थम्''** आचार्य अज्ञानी जीवों को समझाने के लिए अभूतार्थ को कहते हैं, अभूतार्थ का अर्थ झूठ मानें तो क्या झूठ के द्वारा अज्ञानी को समझाया जा सकता है। अतः यहाँ 'भूत' का अर्थ द्रव्य होना चाहिए क्योंकि समयसार गाथा ५६ की टीका में स्वयं आचार्य ने निश्चयनय को द्रव्याश्रित और व्यवहारनय को पर्यायाश्रित कहा है। अभूत का अर्थ अद्रव्य यानी पर्याय है।

[१]''भूतार्थ शब्द भूत और अर्थ इन दो शब्दों से मिल कर बना है। भूत शब्द का अर्थ 'द्रव्य' भी है और विद्यमान (????) भी। 'अर्थ' शब्द का अर्थ प्रयोजन-अभिप्राय भी है और पदार्थ भी है। इस प्रकार भूतार्थ शब्द का अर्थ 'द्रव्य प्रयोजन वाला' अथवा 'विद्यमान पदार्थ' होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि निश्चयनय का प्रयोजन (विषय) द्रव्य है इसलिए निश्चयनय भूतार्थ है । अथवा निश्चयनय का विषय 'सदा विद्यमान पदार्थ' है अर्थात् वस्तु का ध्रुव अंश है अतः निश्चयनय भूतार्थ है।

'अभूत' का अर्थ 'द्रव्य से भिन्न अर्थ अर्थात् पर्याय'। 'ईषत् विद्यमान पदार्थ अर्थात् पर्याय।' वस्तु के द्रव्य अंश (ध्रुव अंश) के समान पर्याय सदा विद्यमान नहीं रहती, किन्तु किंचित् काल तक विद्यमान रहती है। व्यवहारनय का विषम या प्रयोजन पर्याय है अतः व्यवहारनय अभूतार्थ है।''

यहाँ अभूतार्थ का अर्थ झूठ नहीं हो सकता क्योंकि झूठ के द्वारा परमार्थ का उपदेश नहीं दिया जा सकता है, झूठ किसी को भी प्रयोजनवान नहीं हो सकता और न पूज्य हो सकता है किन्तु आर्ष ग्रन्थ कहते हैं कि व्यवहार के द्वारा अज्ञानी जीव संबोधे जाते हैं, परमार्थ का उपदेश दिया जाता है। अतः व्यवहार नय प्रयोजनवान भी है और पूज्य भी।

तह ववहारेण विणापरमत्थुवएसणमसक्कं ।।८।। समयसार
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ।।१२।। समयसार
व्यवहृतिः पूज्या ।६०८। पद्मनन्दि पंचविंशतिका

नयों से पदार्थ का ज्ञान होता है। निश्चय अभेद का ज्ञान कराता है तो व्यवहार भेद का ज्ञान कराता है। वस्तु अनेकान्तात्मक है। इसका अभिप्राय यह है कि वस्तु भेदाभेदात्मक, नित्यानित्यात्मक, नियति-अनियति आत्मक इत्यादि रूप है। परस्पर विरुद्ध दो धर्मों में से एक धर्म द्रव्यार्थिक निश्चयनय का विषय है और दूसरा पर्यायार्थिक व्यवहार नय का विषय है। क्योंकि नय का लक्षण 'विकलादेश' है अर्थात् नय एक धर्म को ग्रहण करता है।

भेद-अभेद इन परस्पर विरोधी दो धर्मों में से यद्यपि भेद निश्चय का विषय नहीं है, इसका यह अर्थ नहीं है कि वस्तु में 'भेद' सर्वथा नहीं है, झूठ है, काल्पनिक है, अवास्तविक है। भेद के अभाव में अभेद के अभाव का प्रसंग आजाएगा क्योंकि सभी सत्ताएँ सप्रतिपक्ष हैं। ऐसा जैनधर्म का मूल सिद्धान्त है। ऐसा वस्तु का स्वरूप है। वस्तु स्वरूप झूठ नहीं होता। दोनों धर्म सत्यार्थ हैं। इसलिए दोनों नयों का विषय भी सत्यार्थ है तो दोनों नय भी सत्यावर्थ है। दोनों नयों के व्याख्यान को समान सत्यार्थ मानने को जो भ्रम बतलाते हैं वे स्वयं भ्रम में है क्योंकि उन्होंने नय के यथार्थस्वरूप को नहीं समझा है अथवा वे एकान्त

---

१. पं. रतनचन्द जैन मुख्तार व्यक्तित्व और कृतित्व : नय निक्षेप प्रकरण पृ. १२४२

मिथ्यादृष्टि है।

'पर्याय' का मुख्यरूप से कथन करने पर 'द्रव्य' का गौणरूप से कथन हो जाता है और 'द्रव्य' का मुख्यरूप से कथन करने पर 'पर्याय' का गौणरूप से कथन हो जाता है अतः दोनों नयों से वस्तु का ज्ञान होता है क्योंकि दोनों नय सापेक्ष है। पर्याय रहित द्रव्य और द्रव्यरहित पर्यायें नहीं होतीं। द्रव्य और पर्याय इन दोनों का अनन्य भाव है। द्रव्य और गुणों का अभिन्नपना है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने द्रव्य और पर्याय दोनों में परस्पर अनन्यभाव बतलाया है और मनुष्य, देव, तिर्यंच, नारक आदि जीव की पर्यायें बतलाईं अतः मनुष्य जीव है, तिर्यंच जीव है, क्या ऐसा कहना सत्यार्थ नहीं है? यदि ऐसा न मानोगे तो मनुष्य, तिर्यंच आदि को मारने से हिंसा का अभाव हो जाएगा और हिंसा के अभाव में बंध का अभाव हो जाएगा। बन्ध के अभाव में मोक्ष का भी अभाव हो जाएगा। यदि मनुष्य, तिर्यंचादि पर्यायें जीव की न मानी जावें तो जीव द्रव्य के अभाव का प्रसंग आ जाएगा क्योंकि जितनी त्रिकाल सम्बन्धी अर्थपर्याय व व्यंजन पर्याय है, उतना ही द्रव्य है।

इसप्रकार सही समझ से अनेकान्त और स्याद्वाद के द्वारा ही इस जीव का कल्याण हो सकता है।

इसी प्रयोजन को दृष्टि में रखकर **पूज्य मुनि श्री प्रणम्यसागर जी** ने इस संस्करण की संयोजना, परिकल्पना की है। आचार्य प्रणीत (आत्मख्याति + तात्पर्यवृत्ति) टीकाओं के साथ अमृतचन्दाचार्य के कलशों पर रची गई परमाध्यात्मतरंगिणी टीका को भी सम्मिलित किया है और फिर अबुध जीवों के बोधनार्थ प्रत्येक गाथा पर सम्भावित प्रश्नोत्तर लिखकर गूढ़ विषय के हार्द को भेदाभेद नय से विशद रूप में प्रस्तुत किया है। जो कोई अपने दुराग्रह को दूर रख कर सहज भाव से इस प्रश्नोत्तरी टीका का अध्ययन करेगा उसका तत्त्वज्ञान विशद होगा, उसकी भ्रान्तियों का निवारण होगा, वह कल्याण के पथ पर अवश्य प्रवृत्त होगा। संस्कृत प्राकृत से अनभिज्ञ पाठक भी इस सरस प्रश्नोत्तरी टीका से ग्रन्थ के मर्म को हृदयंगम कर अवश्य लाभान्वित होंगे, ऐसी आशा करता हूँ।

मैं परम पूज्य महाकवि **आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज** के चरणकमलों में नत मस्तक हूँ। पूज्य **आचार्य श्री विद्यासागरजी** के चरण कमलों में शत-शत नमोस्तु निवेदन करता हूँ। पूज्य **मुनिश्री प्रणम्यसागरजी** महाराज के श्रीचरणों में सश्रद्ध नमोस्तु निवेदन करता हूँ। आपने इस कृति के प्रस्तुतीकरण के कार्य में मुझे संलग्न कर माँ जिनवाणी की सेवा का जो अवसर प्रदान किया है, एतदर्थ में आपका अनुगृहीत हूँ।

अर्थसहयोगी, प्रकाशक संस्था और प्रेस को हार्दिक धन्यवाद अर्पित करता हूँ।

प्रस्तुतीकरण में रही भूलों के लिए पाठकों से सविनय क्षमाभिलाषी हूँ।

जैन जयति शासनम् ।

५४, ५५ अविरल, इन्द्रा विहार,
न्यू पावर हाउस रोड, जोधपुर - ३४२००३

- डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी
सम्पादक

ग्रंथ में समाहित विषय

मूलगाथा	-	आचार्य कुन्दकुन्ददेव
आत्मख्यातिटीका (आ.टी.)	-	आ. अमृतचन्द्र सूरि
तात्पर्यवृत्तिटीका (ता.टी.)	-	आ. जयसेन स्वामी
परमाध्यात्म तरंगिणी (प.अ.त.)	-	आ. शुभचन्द्र (कलश काव्यों की संस्कृत टीका)
ता.टी. की हिन्दी टीका	-	आ. ज्ञानसागर जी
समयसार गाथाओं का पद्यानुवाद	-	आ. विद्यासागर जी

आत्मख्याति की हिन्दी व्याख्या(आ.व्या.) एवं प्रश्नोत्तर टीका - मुनि प्रणम्यसागर जी

संकेत

सं.टी. - संस्कृत टीका	-	कलश की प.अ.त. टीका
प.अ.त - परम अध्यात्म तरंगिणी	-	आ. शुभचन्द्र कृत
आ. टी. - आत्मख्याति टीका	-	आ. अमृतचंद्र जी कृत
ता. टी. - तात्पर्य वृत्ति टीका	-	आ. जयसेन जी कृत
आ.व्या. - आत्मख्यातिव्याख्या	-	आत्मख्याति का हिन्दी अनुवाद
त. प्र. - तत्त्व प्रबोधिनी टीका	-	पं. मोतीलाल कोठारी

विषय क्रम

पीठिका	गाथा	पृष्ठ
मङ्गलाचरण और प्रतिज्ञा वाक्य	१	९
स्वसमय और परसमय में भेद	२-५	१४-३४
शुद्ध और अशुद्ध के ज्ञाता	६-७	३५-४६
उपदेश में व्यवहारनय की उपादेयता	८	४७
व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक है	९-१०	५३-५९
दर्शन, ज्ञान और चारित्र से आत्मा का अभेद और आत्मभावना से निर्वाण की प्राप्ति	११-१२	६०-६१
व्यवहार अभूतार्थ एवं निश्चयनय भूतार्थ	१३	६२
उपदेश में निश्चय एवं व्यवहारनय की सीमा	१४	७१
नवपदार्थाधिकार		
निश्चय से जाने जीवादि ही सम्यक्त्व हैं तथा नवाधिकार प्रतिज्ञा	१५	८४
जीवाधिकार		
शुद्धनय तथा उससे जीव का स्वरूप	१६-२१	१०६-१४६
अप्रतिबुद्ध व प्रतिबुद्ध जीव का स्वरूप	२२-२३	१५०-१५७
आत्मा निश्चय से निजभाव तथा व्यवहार से परभाव का कर्त्ता	२४	१५८
संमूढ़ और असंमूढ़ जीव की व्याख्या	२५-३०	१६०-१७२
व्यवहारनय से शरीरस्तवन से आत्मा का स्तवन	३१	१७५
व्यवहारस्तवन निश्चय की दृष्टि में ठीक नहीं	३२-३५	१८०-१८७
निश्चयस्तुति का स्वरूप	३६-३८	१९१-१९९
ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, सदृष्टान्त कथन	३९-४३	२०६-२३४
अजीवाधिकार		
देह और अध्यवसानादि भावों से जीव की भिन्नता	४४-५३	२३९-२७२
जीव का स्वरूप	५४	२७३
वर्णादि जीव के नहीं	५०-६०	२९५-३०३
वर्णादि जीव के व्यवहार से हैं निश्चय से नहीं	६१	३०५
निश्चय से क्यों नहीं? इसका उत्तर	६२	३१०
निश्चय और व्यवहार के विरोध का परिहार	६३-६५	३१४-३१८
जीव का वर्णादि से पार्थक्य	६६-७३	३१९-३४३

कुन्दकुन्द अष्टक

(छन्द : स्रग्विणी)

मुनि श्री प्रणम्यसागरजी महाराज

(१)

सत्यपन्थाश्च येन प्रतिष्ठापितः
सत्यवादेन देवी गिरौ निर्जिता।
सत्यसन्देशको यो विनापेक्षया
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा।।

अर्थ - ऊर्जयन्त पर्वत पर श्वेताम्बरों से हुए विवाद में जिन्होंने देवी को जीता और सत्य पन्थ अर्थात् दिगम्बर मत को प्रतिष्ठापित किया। जो बिना किसी अपेक्षा के सत्य के समीचीन उपदेशक थे। उन श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की मैं प्रसन्नता पूर्वक स्तुति करता हूँ।

(२)

प्राभृतं भूरिशो येन निर्मापितं
सत्यदैगम्बरं वर्त्म यत्राधृतम्।
यद्वचोभिर्मता यस्य सत्यात्मता
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा।।

अर्थ - जिन्होंने अनेक प्रकार के पाहुडों की रचना की, जिसमें उन्होंने सत्य दैगम्बर मार्ग को रखा है। जिनके वचनों से ही जिनकी सत्यनिष्ठा का परिचय होता है, ऐसे श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की मैं प्रसन्नता पूर्वक स्तुति करता हूँ।

(३)

सर्वभव्यार्थिनां मुक्तिमार्गैषिणा-
मात्मदृग्बोधसौख्याधिकाकांक्षिणाम्।
येन वृत्तं प्रदत्तं हि निःश्रेयसं
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा।।

अर्थ - मुक्तिमार्ग की इच्छा करने वाले, आत्मा के दर्शन, ज्ञान और सुख की पूर्णता के आकांक्षी सभी भव्य जीवों को जिन्होंने मुक्ति देने वाला चारित्र प्रदान किया है, उन कुन्दकुन्द मुनीश्वर की मैं प्रसन्नता पूर्वक स्तुति करता हूँ।

(४)

योऽत्र देवेन्द्रभूपेन्द्रदुर्वादिभिः
पूर्वसूरीश्वरैर्मुक्तिकामार्थिभिः।
भूरि संस्तूयते स्मर्यते वन्द्यते
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा।।

अर्थ - जो इस लोक में देवेन्द्र, राजा और दुष्ट वाद करने वालों से तथा मुक्ति की इच्छा करने वाले पूर्वाचार्यों के द्वारा खूब स्तुति को प्राप्त हुए, याद किए गए और वन्दित हैं, उन श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की मैं प्रसन्नता पूर्वक स्तुति करता हूँ।

(५)

भव्यजीवाब्जिनीनाञ्च यो भास्करो
यस्य कुन्दावदाता सुदन्तावली।
नासिका तु प्रमाणं द्विनेत्रं नयौ
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा।।

अर्थ - भव्य जीव रूपी कमलों को जो सूर्य के समान खिलाते हैं, जिनकी श्रेष्ठ दन्तपंक्ति कुन्द पुष्प के समान हैं, जिनकी नासिका प्रमाण को और दोनों नेत्र दो नयों की तरह हैं ऐसे श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की मैं प्रसन्नता पूर्वक स्तुति करता हूँ।

(६)

यस्य शास्त्रे पदार्थाश्च तत्त्वानि वा
द्रव्यपर्यायभावस्वभावा गुणाः।
स्पष्टमाभान्ति वै दर्पणे बिम्बवत्
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा।।

अर्थ - जिनके शास्त्र में सभी पदार्थ, तत्त्व, द्रव्य और पर्यायों के भाव, स्वभाव तथा गुण, दर्पण में बिम्ब के समान निश्चित ही स्पष्ट झलकते हैं, उन श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की मैं प्रसन्नता पूर्वक स्तुति करता हूँ।

(७)

यस्य सारत्रयं शोभते भूतले
यस्य वाणी प्रमाणात्मिका मन्यते।
शेमुषी यस्य मोहादिभिः शून्यका
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा।।

अर्थ-जिनके समयसार, प्रवचनसार और नियमसार ये तीनों सार इस भूतल पर शोभित हैं, जिनकी वाणी प्रमाणात्मक मानी जाती है, जिनकी बुद्धि मोह आदि विकारों से रहित है, उन श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की मैं प्रसन्नता पूर्वक स्तुति करता हूँ।

(८)

शुद्धयोगार्पणाय प्रयत्नः सदा
शुद्धजीवास्तिकायाय धीसम्पदा।
शुद्धतत्त्वार्थतायी च यः सर्वदा
कुन्दकुन्दं मुनीशं स्तुवे तं मुदा।।

अर्थ - जिनका प्रयास सदा शुद्धोपयोग की मुख्यता के लिए है, जिनकी बुद्धि रूपी धन शुद्ध जीवास्तिकाय के लिए है और जो शुद्ध तत्त्वार्थ का ही विस्तार करते हैं, उन श्री कुन्दकुन्द मुनीश्वर की मैं हमेशा से प्रसन्नता पूर्वक स्तुति करता हूँ।

परिचय - आ. कुन्दकुन्द स्वामी

आचार्य कुन्दकुन्द लोकोत्तर व्यक्तित्व के युग प्रवर्तक आचार्य थे। जैनसंघ की परम्परा में एक युग भगवान् महावीर से लेकर अंगपाठी आचार्यों तक का हुआ है जबकि दूसरे युग का प्रारम्भ आचार्य कुन्दकुन्द से हुआ। पूर्व युग में आचार्यों ने वस्तु तत्त्व का प्रतिपादन करके लोक-कल्याणकारी उपदेश देकर जैनसंघ के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्वाह किया, जबकि उत्तरयुग के प्रारम्भ में आचार्य कुन्दकुन्द ने इसके साथ-साथ जैनसंघ को विकारों और प्रहारों से सुरक्षित रखने के दायित्व का भी निर्वाह किया। वास्तव में आचार्य कुन्दकुन्द आज से लगभग २००० वर्ष पूर्व इस भारतभूमि पर आध्यात्मिक जगत् के सर्वोपरि आचार्य हुए हैं। इनके महान् आध्यात्मिक चिन्तन से सम्पूर्ण भारतीय मनीषा प्रभावित हुई है और उसने एक अद्‌भुत मोड़ लिया है। यही कारण है कि आपके परवर्ती सभी आचार्य अपने आपको कुन्दकुन्दाम्नाय का आचार्य मानकर अपना गौरव मानते हैं।

दिगम्बर आम्नाय के प्रधान आचार्य, श्रमण संस्कृति के उन्नायक, परम आध्यात्मिक संत कुन्दकुन्द हुए, जिनके विषय में विद्वानों ने सर्वाधिक खोज की, जिसमें कुछ विषय इस प्रकार हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के विषय में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि दक्षिण देश के कुरुमलई ग्राम में करमण्डु नामक सेठ के यहाँ मणिरत्न नाम का एक ग्वाला रहता था। उसे दावानल से जलते हुए जंगल में कुछ सुरक्षित शास्त्र मिले। वह ग्वाला उन्हें अपने घर ले आया और उच्च स्थान पर रख उनकी पूजा आराधना करने लगा। कुछ दिन बाद ग्वाले ने उन ग्रन्थों को मुनि श्री के लिए भेंट कर दिया। इसी पावन शास्त्रदान के प्रभाव से वह ग्वाला उक्त सेठ के घर में कुन्दकुन्द नामक पुत्र हुआ।

आपका जन्म आन्ध्रप्रदेश के अनन्तपुर जिले में गुण्टुकल स्टेशन से लगभग चार मील दूर कोण्डकुन्दु (कुन्दकुन्दपुरम्) अपर नाम कुरुमलई में माघ शुक्ल पंचमी, ईस्वी पूर्व १०८ में हुआ था। जिनशासन की प्रभावना एवं आध्यात्मिक क्रान्ति की जन्मघुट्टी पीकर, उसे साकार करने के लिए ११ वर्ष की अल्पायु में ही आपने मुनिव्रत अंगीकार कर लिये। आपका मुनिदीक्षा का नाम पद्मनन्दि था। बोधपाहुड़ ग्रन्थ के अनुसार आप आचार्य भद्रबाहु के शिष्य थे।

आपने ग्यारह वर्ष की अल्पायु में मुनि दीक्षा ली थी, ३३ वर्ष तक मुनिपद पर रहे, तदनन्तर ४४ वर्ष की आयु में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए, ५२ वर्ष १० माह १५ दिन आचार्य पद पर विराजमान रहे। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने ९५ वर्ष १० माह १५ दिन की दीर्घायु पाई और ई.पू. १२ में समाधिमरण द्वारा स्वर्गारोहण किया।

आपने ८४ पाहुडों की रचना की परन्तु वर्तमान में कुछ ही कृतियाँ हमें उपलब्ध हो पाती

हैं। समयपाहुड, पंचास्तिकायपाहुड, प्रवचनसारपाहुड, अष्टपाहुड(दंसणपाहुड, चारित्रपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्षपाहुड, लिंगपाहुड, सीलपाहुड), नियमसारपाहुड, जोणीसारपाहुड, क्रियासारपाहुड, आराहणापाहुड, लब्धिसारपाहुड, बंधपाहुड, रयणसारपाहुड, तत्त्वसारपाहुड, भावसारपाहुड, अंगपाहुड, क्षपणपाहुड, द्रव्यपाहुड, बोधिपाहुड, क्रमपाहुड, पुयपाहुड, विद्यापाहुड, उघातपाहुड, दृष्टिपाहुड, सिद्धांतपाहुड, लोयपाहुड, चरणपाहुड, समवायपाहुड, नयपाहुड, प्रकृतिपाहुड, चुणिपाहुड, पंचवर्गपाहुड, एयमपाहुड, कर्मविपायपाहुड, विहियापाहुड, वस्तुपाहुड, सूत्रपाहुड, बुद्धिपाहुड, पयद्धपाहुड, उत्पादपाहुड, संठानपाहुड, नितायपाहुड, साल्मीपाहुड आदि चौरासी पाहुड और बारसाणुवेक्खा। सिद्ध, सुद, आइरिय, जोई, णिव्वाण, पञ्चगुरु और तित्थयर भत्ति ये सभी प्राकृत भाषा की रचनाएँ हैं एवं षट्खण्डागम ग्रन्थ पर परिकर्म नाम से बारह हजार श्लोक प्रमाण व्याख्या लिखी गई, जो अनुपलब्ध है।

प्राकृत भाषा के अतिरिक्त तमिल भाषा पर भी आचार्यश्री का अधिकार था। तमिल भाषा में आपकी सर्वमान्य रचना कुरलकाव्य के नाम से प्रसिद्ध है। यह अध्यात्म एवं नीति का सुन्दर ग्रन्थ है। दक्षिण देश में यह तमिल वेद के नाम से प्रसिद्ध है।

एक बार कुन्दकुन्दाचार्य अपने विशाल संघ(५९४ साधु) सहित गिरनार पहुँचे। उसी समय शुक्लाचार्य के नेतृत्व में श्वेताम्बर संघ भी पहुँचा। श्वेताम्बर आचार्य अपने को प्राचीन मानते थे और चाहते थे कि पहले उनका संघ यात्रा करे। शास्त्रार्थ के द्वारा निर्णय न होने पर संघ समूह ने निर्णय लिया कि इस पर्वत की रक्षिका देवी जो निर्णय दे वही सर्वमान्य होगा। तब कुन्दकुन्दाचार्य अपनी साधना में लीन हुए, उनकी साधना के प्रभाव से सरस्वती देवी प्रकट हुई, उसने दिगम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता सिद्ध की। सभी ने उनके निर्णय को स्वीकारा और दिगम्बर संघ ने सर्वप्रथम यात्रा की।

मुनि प्रणम्यसागर

समयसार - स्व का सार

आचार्य कुन्दकुन्द देव की अमर कृति **'समयसार'** शुद्ध आत्मा की उपलब्धि कराने के लिए एक बेजोड़ ग्रन्थ है। ग्रन्थ से ज्ञान मिलता है। आत्मज्ञान तो अनुभूति का पुरुषार्थ करने से होता है। इस ग्रन्थ में उसी अनुभूति के लिए पुरुषार्थ करने की प्रेरणा है। अध्यात्म की राह ज्ञान से नहीं तदनुरूप ढलने से बनती है। ढलने का अर्थ है तदनुरूप परिणमन करना। अध्यात्म नैगम आदि नयों का विषय नहीं बनता है वह तो एवंभूतनय का विषय बनता है। जिस समय जो द्रव्य जिस क्रिया/परिणाम/परिणमन में ढला है उसी को उस रूप बताना अध्यात्म है और यही एवंभूतनय का सूक्ष्मतम विषय है। द्रव्य का अपने स्वभाव में रहना स्वसमय है, समयसार है, अनुभूति है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यक्त्व है और अपने स्वभाव से हट जाना पर समय है, पर द्रव्य का सार है, परानुभूति है, मिथ्याज्ञान है, मिथ्यात्व है। जिस विषय का मुख्यता से वर्णन किया जाता है उस ग्रन्थ में उसी को बार-बार कहा जाता है, एकान्त का प्रसंग न आ जाए इसलिए क्वचित् विपरीत पक्ष को भी रखा जाता है फिर भी मुख्य अभिधेय लक्ष्य के अनुसार ही होता है।

अति सूक्ष्म कर्मफल के प्रभाव से रहित, कषायों के औदयिक परिणाम के अनुसार अपरिणमित, स्वस्वभाव में लीन, आत्मा ही समयसार में श्लाघ्य है, ज्ञानी है, स्वसमय है और एकत्व में परिणत है। इसके विपरीत निन्द्य, अज्ञानी, परसमय और अनेकत्व में परिणत है। इन संज्ञाओं के अनुसार समयसार में वर्णन किया गया है। सैद्धान्तिक अवधारणाओं से जिस तरह अन्तरंग परिणमन की कोई पहचान नहीं होती है उसी तरह आध्यात्मिक विचारणाओं से भी अन्तरंग की प्रक्रिया ज्ञात नहीं होती है। अध्यात्म एक पुरुषार्थ है और इस पुरुषार्थ में कितनी गति है यह जानना सर्वज्ञज्ञान से होता है। अध्यात्म एवंभूतनय के अनुसार या ऋजुसूत्रनय के अनुसार इतने सूक्ष्म परिणमन का कथन करता है कि उसकी अनुभूति परिणमन में ही संभव है कथन में नहीं। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द देव ने यह समयसार की अनुभूति उनके लिए कही है जो सब प्रकार के नयों/दृष्टिकोणों/अपेक्षाओं से परे हैं। मात्र उप-ईक्षा-उपेक्षा है। उप-निकट रूप से, अत्यन्त समीपता से, ईक्ष-देखना उपेक्षा है। यही स्वसमय है। यही परमार्थ है, निश्चय है, यही चारित्र है यही ज्ञान है, यही सम्यक्त्व है।

यह उद्घोषणा अकाट्य है - कि **'समयसार नयपक्षों से परे है।'** इसी को अध्यात्मप्रिय व्याख्याताओं ने 'मध्यस्थ' होना कहा है। मध्य में स्थित जो है वह नय पक्षों से अतीत अनुभूति में है और नय ज्ञान के फल को भी प्राप्त है। मध्य यानी कर्म और आत्मा का भेद, उसके बीच को देखना, जानना, अनुभव करना यही सार है। मध्यस्थ होना ही समयसार है। परमशान्ति की अनुभूति, ज्ञानचेतना का आभास, परमार्थदशा, निश्चयगत एकत्व परिणमन, शुद्धात्मानुभूति, परम आनन्द, अपूर्व-अपूर्व परिणामों की परिणति, शुद्ध, चिद्रूप, परमचैतन्यप्रभु, भगवान आत्मा है या आत्मा भगवान है, इस विचार से परे, मात्र सत् चित् आनन्द, सत् चित् आनन्द, सच्चिदानन्द,

स्वसमय, स्वसार, समयसार, एकत्व का सार, समत्व का प्रसार, स्व का संसार, अनन्तगुणों में तीव्र प्रविचार। संसार-पर है, असार भी नहीं, निस्सार भी नहीं। जो जैसा था वैसा है, जिसकी अनुभूति नहीं उसकी विचारणा नहीं। जो स्व है वह स्व है, जो पर है वह पर है। यही अनुभूति मात्र समयसार है। समयसार की चर्चा पर समय का सार है। स्वानुभूति ही सार है। जहाँ यह अनुभूति है वहीं दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, वीर्याचार, तपाचार है और जहाँ दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, वीर्याचार, तपाचार एक साथ समाहित हो गए, वही अनुभूति है वही समयसार है। वही सम्यक्त्व है। वही आत्मज्ञानी है, भेद-विज्ञानी है, शुद्ध है, परम विशुद्ध है। अवीर्य/क्लीवों/असमर्थों/असहायों के लिए समयसार मात्र विचार है। परम ब्रह्म का अनुभव कराने में समर्थ इस शब्द ब्रह्म को कोटिशः नमन, इस उपकार के लिए अतिकृतज्ञ, अतिविनीत, अतिभाक्तिक है यह परममुमुक्षु, अति प्रियात्मा।।

मुनि प्रणम्यसागर

वर्षायोग, २०१४ भीण्डर (राज.)

रहस्यपूर्ण पाती

प्रश्न : मोक्षमार्ग प्रकाशक में कहा है कि ''आत्मज्ञान शून्य तत्त्वार्थश्रद्धान कार्यकारी नाहीं'' और लिखा है कि ''यह व्यवहार दृष्टिकरि सम्यग्दर्शन के आठ अंग कहे हैं तिनको पाले हैं, पच्चीस दोस कहे हैं, तिनको टाले हैं। संवेगादिक गुण कहे हैं, तिनको धारे हैं। परन्तु जैसे बीज बोए बिना खेत का सब साधन किए भी अन्न होता नाहीं, तैसे साँचा तत्त्वश्रद्धान भए बिना सम्यक्त्व होता नाहीं।'' (सातवाँ अधिकार)। सो वह आत्मज्ञान क्या है जिसके बिना साँचा तत्त्वश्रद्धान नहीं होता है। सम्यग्दर्शन के आठ अंग पाल कर भी व्यवहाराभासी रह जाता है। इसके आगे भी लिखा है कि 'आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान भी कार्यकारी नाहीं' (सातवाँ अधि.)। आगे फिर लिखा है कि ''आत्मज्ञानशून्य संयम भाव अकार्यकारी है।' (सातवाँ अधि.)। ऐसे कई बार कहा है और प्रवचनसार की टीका में भी कहा है- 'अतः आत्मज्ञानशून्यमागमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वयौगपद्यमप्यकिंचित्करमेव (संस्कृत टीका अध्याय ३ गाथा ३९) अर्थात् आत्मज्ञान से शून्य आगम ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयतत्व युगपत् भी कुछ कार्यकारी नहीं हैं।

उत्तर : मोक्षमार्ग प्रकाशक की सबसे बडी बात तुमने पकड़ली और जिस प्रवचनसार के आधार पर 'आत्मज्ञान' कह रहे हो उस प्रवचनसार की मूलगाथाएँ और दोनों आचार्यों की टीकाओं को विशेष सावधानी से पढोगे तो आँखें खुल जाएंगी और पण्डित जी के कथन की सही पहचान भी हो जाएगी। चारित्रचूलिका का वह अधिकार जिसमें श्रमण को रत्नत्रय धारण कराके उसे आत्मानुभूति के लिए प्रेरित किया जा रहा है और कहा जा रहा है कि आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतपना जब तक इनकी भेदपरक आराधना होगी तब तक आत्मानुभूति नहीं होगी। क्योंकि इन तीनों के भेदपरक होने पर व्यवहार या भेद रत्नत्रय ही बना रहता है। जब ये तीनों युगपत् होते हैं और आत्मानुभव होता है तब इस अभेद रत्नत्रय की परिणति में ही 'आत्मज्ञान' होता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्र की एकता लक्षण वाले मोक्षमार्ग को ही मोक्षमार्ग कहा है क्योंकि वह निश्चय मोक्षमार्ग ही केवलज्ञान का कारण है। क्षीणमोह गुणस्थान में जो आत्मानुभूति है वही उच्छ्वास मात्र में कर्मक्षय करके केवलज्ञान करा देती है। उसे ही ज्ञानी या आत्मज्ञानी कहा गया है। वह आत्मज्ञानी श्रमण के अतिरिक्त और कोई नहीं होता है ऐसा प्रवचनसार की गाथा ४०-४१-४२ में कहा है। जब तक परमाणु मात्र भी राग रहता है तो दसवें गुणस्थान में भी निरुपराग योग की परिणति नहीं बनती है और उसे सिद्धि नहीं होती है, ऐसा गाथा ३९ और उसकी टीका में कहा है। इसी से स्पष्ट है कि क्षपक श्रेणी वाले 'आत्मज्ञान' को पण्डित जी पहले और चौथे गुणस्थान में कह रहे हैं जो आगमानुकूल नहीं है।

प्रश्न : यह आप क्या कह रहे हैं?

उत्तर : हाँ, हाँ! सही कह रहा हूँ। और भी कुछ कह रहा हूँ, उसे सुनो। छहढाला में भी पण्डित दौलतराम जी ने कुछ विषय अप्रासंगिक ले लिया है और कुछ भूलवश भी हुआ है, उसे बताना चाहते हैं।

प्रश्न : छहढालाकार तो सर्वमान्य रहे हैं, आप उन पर प्रश्नचिह्न लगाकर कहीं जैनवाणी का अपलाप तो नहीं कर रहे हैं?

उत्तर : भाई ! अभी तक जो मान्य रहा है वही सही है, यह तो कोई युक्तिपूर्ण वचन नहीं है। पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार, पं. जवाहरलाल जी आदि ने भी वर्तमान के कई प्रचलित ग्रंथों में रही भूलों की ओर संकेत किया है। रही बात प्रश्नचिह्न लगाने की, सो पंडित जी स्वयं कृति के अन्त में लिखते हैं कि 'सुधी सुधार पढो सदा जो पावो भवकूल।' जो बात अप्रासंगिक हुई हो या जिसे पढ़कर पाठक गलत धारणा बना रहे हों तो उसका स्पष्टीकरण जिनवाणी का अपलाप तो कदापि नहीं कहा जा सकता है। जिनवाणी का अपलाप तो तब हो जब कोई शास्त्र के विरुद्ध, पूर्वाचार्यों के विपरीत, मनमानी करके किसी तथ्य को गलत साबित करे।

प्रश्न : फिर तो आप जरूर बतायें कि आप क्या कहना चाहते हैं ?

उत्तर : देखो भाई! छहढाला की चौथी ढाल में सम्यग्ज्ञान का वर्णन है और अन्त में उसी में श्रावक के देशचारित्र का वर्णन है। जैसे सम्यग्दर्शन के प्रकरण में तीसरी ढाल में व्यवहार और निश्चय सम्यग्दर्शन का वर्णन कारण-कार्य के साथ किया है, वैसा सम्यग्ज्ञान के प्रकरण में नहीं हुआ है। यह कमी रही है। व्यवहार और निश्चय सम्यग्ज्ञान का स्पष्टतया उल्लेख न होने से व्यवहार सम्यग्ज्ञानी के लक्षण में निश्चय सम्यग्ज्ञान की बात विधिपरक न हो करके निषेधपरक हो गई है। वह अप्रासंगिक भी है और शास्त्रविरुद्ध भी है।

प्रश्न : आखिर वह प्रसंग कौनसा है ?

उत्तर : कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिन माँहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते ।।४/४ ।।

यहाँ प्रकरण चल रहा था सम्यग्दर्शन के साथ होने वाले सम्यग्ज्ञान का। यह सम्यग्ज्ञान तब तक व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहलाता है जब तक कोई श्रमण बन कर तीन गुप्तियों के साथ आत्मा मात्र की अनुभूति नहीं करता है। ऐसा होने पर वह आत्मज्ञान ही निश्चय सम्यग्ज्ञान कहलाता है। निश्चय सम्यग्ज्ञान, निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यक् चारित्र त्रिगुप्ति में लीन मुनिराज के आत्मध्यान में एक साथ होता है। यह बात प्रवचनसार की इस गाथा से सिद्ध होती है गाथा देखें-

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्स कोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण।। प्र.सा.२३८।।

अर्थात् अज्ञानी जो कर्म सौ, हजार, करोड़ भवों में क्षय करता है ज्ञानी उन्हीं कर्मों को तीन गुप्तियों से गुप्त हुआ उच्छ्वास मात्र में क्षय कर देता है।

यहाँ ज्ञानी, अज्ञानी का अर्थ वह नहीं है जो सामान्य व्यक्ति इन शब्दों को पढ़-सुनकर समझ लेता है। प्रवचनसार की चारित्र चूलिका में यह कथन मात्र श्रमणों के लिए है और छहढाला में सम्यग्ज्ञान का यह प्रकरण मात्र श्रावकों के लिए है। छहढाला का यह विषय अपने प्रकरण से कोई संगति नहीं रखता है इसलिए यहाँ यह अप्रासंगिक और असम्बद्ध है। प्रवचनसार में इस प्रकरण में आत्मज्ञानी को ज्ञानी कहा है। प्रवचनसार की दोनों संस्कृत टीकाओं की उत्थानिका से स्पष्ट है कि आगमज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयतपना इन तीनों के मिलने से भेद रत्नत्रय होता है। यह भेद रत्नत्रय मुनिराज को ही होता है। भेद रत्नत्रय का योग हो जाने पर भी जो अभेद रत्नत्रयात्मक निर्विकल्प समाधिलक्षण वाला आत्मज्ञान मुनिराज को ही होता है, वही निश्चय ज्ञान है।

वह निश्चय ज्ञान, आत्मज्ञान ही मुक्ति का कारण है। इस निश्चय रूप निर्विकल्प समाधि में लीन मुनि आत्मज्ञानी है और इस निर्विकल्प समाधि के अभाव में सभी अज्ञानी हैं चाहे वह कोई भी हो।

निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर रागादि से निवृत्त होने पर ही जीव ज्ञानी कहलाता है, उससे पूर्व वह ज्ञानी नहीं है। अतः छहढाला की इस पंक्ति ''कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान बिन कर्म झरैं जै'' का अर्थ मात्र मिथ्यादृष्टि जीव ग्रहण नहीं करना किन्तु निर्विकल्प समाधि से रहित जितने भी जीव हैं, उनको ग्रहण करना चाहिए क्योंकि श्री कुन्दकुन्दाचार्य की दृष्टि में निर्विकल्प समाधि से रहित जीव अज्ञानी है। प्रवचनसार की २३८ वीं गाथा यही कहती है- (जं अण्णाणी कम्मं खवेदि) इसी गाथा का अनुवाद छहढालाकार ने उस पद्य द्वारा किया है।

इस गाथा की टीका में श्री जयसेनाचार्य ने ज्ञानी और अज्ञानी की परिभाषा इस प्रकार की है- ''यन्निर्विकल्पसमाधिरूपं निश्चयरत्नत्रयलक्षणं, विशिष्टस्वसंवेदनज्ञानं, तदभावादज्ञानी जीवो बहुभवकोटिभिर्यत्कर्मक्षपयति तत्कर्मज्ञानी जीवः पूर्वोक्तज्ञानगुणसद्भावात् त्रिगुप्तिगुप्तः सन्नुच्छ्वासमात्रेण लीलयैव क्षपयतीति।''

यदि 'ज्ञान बिन' अर्थात् 'अण्णाणी' का अर्थ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि किया जाएगा तो श्री कुन्दकुन्दाचार्य की उपर्युक्त गाथा का अर्थ ठीक नहीं बैठेगा। क्योंकि मिथ्यादृष्टि तो कर्मों का क्षय नहीं करता है किन्तु उपर्युक्त गाथा में अज्ञानी के कर्मों का क्षय बतलाया है। कर्मों का क्षय सम्यग्दृष्टि के ही सम्भव है। अतः उपर्युक्त गाथा व छहढाला के पद्य में अज्ञानी से अभिप्राय उन सम्यग्दृष्टि जीवों से है जो निर्विकल्प समाधि से रहित हैं। जो सम्यग्दृष्टि निर्विकल्प समाधि में स्थित हैं वे ही ज्ञानी हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य की यही दृष्टि समयसार आदि ग्रन्थों में भी रही है अतः वहाँ पर भी ज्ञानी शब्द से वीतराग सम्यग्दृष्टि अर्थात् निर्विकल्पसमाधि में स्थित सम्यग्दृष्टि को ग्रहण करना चाहिए क्योंकि ज्ञान श्रद्धान के अनुरूप आचरण करने के कारण निर्विकल्प समाधि में स्थित

वीतराग सम्यग्दृष्टि ही वास्तविक ज्ञानी है। निर्विकल्प समाधि से रहित सविकल्प चारित्र वाले सम्यग्दृष्टि भी वास्तविक ज्ञानी नहीं हैं, अज्ञानी हैं। फिर ज्ञानी शब्द से असंयत सम्यग्दृष्टि का ग्रहण कैसे हो सकता है। इसीलिए श्री जयसेनाचार्य ने समयसार की टीका में लिखा है-

'अत्र ग्रन्थे वस्तुवृत्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं।' अर्थात् इस ग्रंथ में वस्तुतः वीतराग सम्यग्दृष्टि का ग्रहण किया गया है।

आज स्थिति यह है कि एक अलग पंथ इस बात की पुष्टि को करने के कारण ही बन गया है।

आप स्वयं विचार करो कि अभेद रत्नत्रय रूप तीन गुप्तियों में लीन मुनिराज आत्मज्ञानी हैं और छहढालाकार ने जिसे ज्ञानी कहा है वह इस प्रकरण में बिलकुल अनुपयुक्त है। यह बात यदि छठी ढाल में केवलज्ञान होने से पहले शुक्लध्यान में लीन मुनिराज को स्वरूपाचरण चारित्र के समय कही जाती तो वह न्यायसंगत होती।

प्रवचनसार में यदि ज्ञानी की प्रशंसा है तो वह आत्मज्ञानी निर्विकल्प ध्यानी मुनिराज की है। उन्हीं को क्षण मात्र में कर्मक्षय होकर केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। यहाँ छहढाला के प्रकरण में सामान्य व्यवहार सम्यग्ज्ञानी की बात आत्मज्ञानी मानकर की गई है और उसे ही ज्ञान कहा है। ''ज्ञान बिन कर्म झरैं जे'' यहाँ कौन से ज्ञान के बिना कर्म झर रहे हैं ? सभी को यही पढाया जाता है कि सम्यग्दर्शन के बिना जो ज्ञान है उसी ज्ञान के बिना जो कर्म झरते हैं। ''यह परमामृत जन्म-जरा-मृतु रोग निवारन'' कौन सा ज्ञान परमामृत है? मात्र सम्यग्दर्शन हो जाने से हुआ सम्यग्ज्ञान? या और कुछ? सभी ने इस सम्यग्ज्ञान के प्रकरण में इसी ज्ञान से यहाँ प्रयोजन समझा है। किन्तु यह समझ यहाँ विपरीत अर्थ का प्रतिभास कराने का कारण बनी है। कारण कि केवलज्ञान से पूर्व होने वाली निर्विकल्प समाधि में श्रमण को जो आत्मानुभूति या आत्मज्ञान होता है; वही आत्मज्ञान प्रवचनसार में कहा है न कि सम्यग्ज्ञान मात्र हो जाना आत्मज्ञान होना है।

उसी के आगे फिर लिखा है-

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान बिना सुख लेश न पायो।। ४/४।।

यह कौन सा 'आत्मज्ञान' है ? जिसके बिना सुख नहीं मिलता है। छहढाला पढाने वाले कहते हैं ''आत्मा का ज्ञान ही आत्मज्ञान है, बस। आत्मा का ज्ञान करो। आत्मस्वरूप का श्रद्धान करो। इसी से मोक्ष होता है। देखो। यहाँ लिखा है कि 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो' मुनि बनने से कुछ नहीं होता है मुनिव्रत तो अनन्तों बार धारण किया है परन्तु मोक्ष नहीं हुआ क्योंकि आत्मा का ज्ञान नहीं।''

जिसे अभी धर्म की कोई जानकारी नहीं, उसे सीधे ही यह पढाने लगो कि ''मुनिव्रत धार अनन्तबार.....'' तो उसकी बुद्धि पर क्या असर पड़ेगा? असर यही पड़ता है कि छहढाला सीखने

वाला अपने को ज्ञानी समझने लगता है और मुनिराज को अज्ञानी। प्रवचनसार की ३/३८ गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र जी और आचार्य जयसेन जी ने ज्ञानी उसे कहा है जो आगमज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयतपना इन तीनों के युगपत् अतिशय के प्रसाद से विशुद्ध ज्ञानमयात्मक अनुभूति प्राप्त करते हैं। अर्थात् जो भेद रत्नत्रय रूप परमागम का ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयतपने को धारण करता हुआ भी जब तक अभेदरत्नत्रय रूप स्वसंवेदन ज्ञान की अनुभूति नहीं करता है तब तक ज्ञानी नहीं है। तीन गुप्तियों से गुप्त वह संयत साधु ही उस स्वसंवेदन ज्ञान/आत्मज्ञान से उच्छ्वास में अनेक भवों के संचित कर्मों का क्षय कर देता है। आगे की गाथा ४० में कहा है कि ऐसा आत्मज्ञानी कौन होता है? जो पुरुष श्रमण है, संयमी है, पाँच समितियों का पालन करता है, तीन गुप्तियों से गुप्त है, पाँच इन्द्रियों को रोकने वाला है, कषायों को जीतने वाला है और दर्शन ज्ञान से पूर्ण है ऐसी आत्मा का अनुभव करने वाला 'आत्मज्ञानी' है। इस अभेद रत्नत्रय के साथ क्षपकश्रेणी के बारहवें गुणस्थान में होने वाले 'आत्मज्ञान' को चौथे गुणस्थान में कह कर आगम का अपलाप किया है तथा ''मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो'' ऐसी घोषणा किन्हीं भी आचार्यों ने अपने ग्रंथों में नहीं की है। आचार्यों का यदि कुछ सम्बोधन कहीं इस तरह का है भी तो वह मुनिराज को सम्बोधने के लिए है, न कि गृहस्थों को समझाने के लिए कि तुम सभी मुनिराज को यही समझकर उनसे घृणा करना। अनन्त बार कौनसा मुनिराज ग्रैवेयक में जा सकता है? भव्य या अभव्य? अभव्य ही अनन्त बार जा सकता है। इसमें उस अभव्य की कोई गलती नहीं है। यह तो पारिणामिक भाव है जो किसी भी तरह अलग नहीं किया जा सकता है। यह तो उस अभव्य जीव की बहुत बडी उपलब्धि है जो इस लिंग का जिनाज्ञा के अनुसार पालन करके ग्रैवेयक में उत्पन्न हुआ। इससे ज्यादा उस जीव को कोई सुख संसार में मिल नहीं सकता है। उस अभव्य जीव की परिणति से हमें क्या प्रेरणा लेना है? भव्य मुनि कभी भी अनन्त बार ग्रैवेयक में उत्पन्न हुआ हो ऐसा कोई उदाहरण जिनागम में नहीं है। भव्य मुनि अधिक से अधिक बत्तीस बार भाव संयम धारण करता है। यदि कहो कि पंच परावर्तन में बताया जाता है कि ३१ सागर की आयु वाले भव परावर्तन को इस जीव ने अनन्त बार किया है। तो इससे सिद्ध है कि मुनिव्रत से ही अनन्तबार जन्म होता है। इसका समाधान यह है कि पंच परावर्तन में कहीं यह नहीं लिखा है कि भव्यमुनि भी अनन्त बार वहाँ उत्पन्न होते हैं। पंच परावर्तन का स्वरूप सामान्य कथन है जो सामान्य रूप से कहा गया है। किसी विशेष मुनि के लिए नहीं। किसी विशेष काल के लिए नहीं। किसी विशेष क्षेत्र के लिए नहीं। यह सामान्य कथन है जो तीन काल में ऐसे ही सदा कहा जाएगा। बहुत से जीव ऐसे भी हैं जिनका भव परिवर्तन नहीं होता है और मोक्ष हो जाता है। भरत चक्री के ९२३ पुत्र निगोद से निकलकर सीधे मुनि बने और मोक्ष गये इसलिए सिद्धान्त ग्रन्थों से भी यह बात सर्वथा सिद्ध नहीं होती है कि प्रत्येक जीव अनन्तबार मुनि बन ही चुका है। प्रामाणिक सिद्धान्त शास्त्रों में लिखा है कि यह जीव सीधा निगोद से निकलकर मनुष्य बन सकता है और वह आठ वर्ष का होते ही

एक साथ सम्यक्त्व और सकल संयम को प्राप्त कर सकता है। फिर सात अन्तर्मुहूर्त कालों में कर्मक्षपण आदि विधि करके तत्काल केवलज्ञान प्राप्त कर सकता है। कहा भी है-

अट्ठवस्सेहिं अट्ठेहिं अत्तोमुहूत्तोहि य।
उण पुव्वकोडी सजोगकेवलि कालो होदि ।।

अर्थात् आठ वर्ष और आठ अन्तर्मुहूर्त से कम पूर्व कोटि काल सयोग केवली का उत्कृष्ट काल है।

सभी जीवों को यह परावर्तन होता है, यह भी नियम नहीं। आगम में सामान्य और विशेष कथन क्यों किया जाता है, यह ज्ञान जिन्हें नहीं वे आगम के मर्मज्ञ कैसे कहे जा सकते हैं।

भव परावर्तन का यह स्वरूप किसी काल विशेष के लिए नहीं है। चौथे काल में भी यही कथन रहता है। कभी भी किसी ग्रंथ में नहीं पढा गया कि आचार्यों ने यह शिक्षा दी हो या स्वयं सर्वज्ञ, केवलज्ञानी तीर्थंकरों ने यह प्रचारित किया हो कि 'मुनिव्रत धार अनन्तबार.....'। यह भ्रान्ति इस पंचम काल में भी हमेशा से नहीं थी। निश्चय एकान्त आग्रह करने वालों ने इसे बहुत बढाया है। उनके हर प्रवचन में चाहे कोई भी विषय हो, चाहे कोई भी शास्त्र हो, व्रत संयम की निन्दा इस रूप में अवश्य मिलेगी। बिना प्रसंग के भी यही प्रसंग बार-बार लाकर रखना एकान्त मिथ्यादृष्टियों की ही प्रवृत्ति है। भव परावर्तन का यह स्वरूप किसी विशेष क्षेत्र के लिए नहीं है। विदेहक्षेत्र में भी यही नियम लागू होता है।

देखो! कथन शैली से भावों में कितना अन्तर हो जाता है। जब आचार्य कहते हैं कि 'अनन्तबार ग्रैवेयक में जन्म लेने वाले मुनि से भव परावर्तन पूर्ण होता है।' इस कथन में कहीं भी मुनि से या मुनिव्रत से घृणा उत्पन्न नहीं होती है और न विपरीत धारणा ही बनती है किन्तु जब इस तरह कहा जाता है कि 'मुनिव्रत धार.....' तो यही प्रतीत होता है कि मुनिव्रतों को धारण करने से 'ग्रीवक' ही मिलता है, मुनि को आत्मज्ञान नहीं होता है, मुनिव्रतों की सार्थकता कुछ नहीं है, इससे तो गृहस्थ में रहकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान की चर्चा करना ही पर्याप्त है।

सिद्धान्त ग्रन्थों के अनुसार भी देखें तो अभव्य जीवों से भव्य जीव अधिक होते हैं। उपरिम-उपरिम स्वर्गों में, ग्रैवेयक में सम्यग्दृष्टि देव अधिक होते हैं, मिथ्यादृष्टि कम होते हैं। इससे स्पष्ट है कि सभी मुनि आत्मज्ञान के बिना रहने वाले नहीं होते हैं। इनकी संख्या तो आत्मज्ञानियों की अपेक्षा कम ही होगी। सभी तरह के मुनि सभी कालों में सभी तीर्थंकरों के तीर्थ में सदैव पाये जाते हैं इसलिए वर्तमान में पंचम काल में ऐसी पंक्तियों को पढ़कर जो यह धारणा बनाई जा रही है कि पंचमकाल में मुनि नहीं होते हैं या आत्मज्ञानी नहीं होते हैं, यह शास्त्रविरुद्ध कथन है।

न्याय की दृष्टि से कारण-कार्य व्यवस्था से ही प्रत्येक कार्य की सिद्धि की जाती है। कारण एवं कार्य में व्याप्ति अवश्य होती है। कारण-कार्य का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध होता है। कहा भी है-

'जस्स अण्ण-विदिरेगेहि णियमेण जस्सण्णय-विदिरेगा उवलंभंति तं तस्स कज्जमियरं च कारणं।'' (ध.पु. ७)

जिसके अन्वय और व्यतिरेक के साथ नियम से जिसका अन्वय और व्यतिरेक पाया जाय वह उसका कार्य और दूसरा उसका कारण होता है। इसी को आप्त परीक्षा में उदाहरण देकर समझाया है कि जैसे कुम्हार से उत्पन्न होने वाले घड़े आदि में कुम्हार का अन्वय व्यतिरेक स्पष्टत: प्रसिद्ध है अत: सब जगह बाधकों के अभाव से अन्वय व्यतिरेक कार्य व्यवस्थित होते हैं। अर्थात् जो जिसका कारण है उसके साथ अन्वय व्यतिरेक अवश्य पाया जाता है। इस कारण-कार्य की अन्वय-व्यतिरेक व्यवस्था को नहीं समझने के कारण यद्वा-तद्वा लेखन और व्याख्यान हो जाता है। घडा आदि कार्य में कुम्हार कारण है। कुम्हार के होने पर ही घडा बनता है अत: कुम्हार कारण है। कारण के होने पर कार्य होवे यह नियम नहीं है लेकिन कार्य जब भी होगा, कारण के होने पर ही होगा। कारण के सद्भाव में कार्य का होना अन्वय सम्बन्ध है, कारण के अभाव में कार्य का अभाव व्यतिरेक सम्बन्ध है। इसी को इस तरह से कहा है-

''यद्यस्मिन् सत्येव भवति नासति तत्तस्य कारणमिति न्यायात्।''

जो जिसके होने पर ही होता है और न होने पर नहीं होता है वह उसका कारण होता है, ऐसा न्याय है (ध.पु. १२)। इसी न्याय को सर्वत्र घटित करना चाहिए। इसी तरह अग्नि के होने पर ही धूम होता है, अग्नि के नहीं होने पर नहीं, इसलिए अग्नि कारण है, धूम कार्य है। इस उदाहरण में भी कारण-कार्य व्यवस्था पूर्णत: सिद्ध है। 'अग्नि के होने पर ही धूम होता है। ऐसा यदि कहो तो यह कारण-कार्य व्यवस्था को न समझने का कुतर्क है। निर्धूम अग्नि के होने पर धूम भले न होवे किन्तु यहाँ धूम के लिए शर्त है कि वह जब भी होगा, अग्नि के होने पर ही होगा। यही अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध कारण-कार्य व्यवस्था को न्याय से सिद्ध करता है। इसी तरह निश्चयचारित्र के साथ आत्मज्ञान कार्य है। निर्ग्रन्थ मुनिव्रत रूप व्यवहार चारित्र कारण है। निश्चय और व्यवहार चारित्र में कार्य-कारण भाव न्यायसिद्ध है। निर्ग्रन्थ लिंग के साथ व्यवहार चारित्र होने पर ही निश्चय चारित्र में आत्मज्ञान होता है, व्यवहार चारित्र के नहीं होने पर नहीं होता है। यहाँ भी कुतर्क दिया जा सकता है कि अभव्य के मिथ्यादृष्टि के निर्ग्रन्थ लिंग, व्रत व्यवहार चारित्र होता है किन्तु उसके आत्मज्ञान नहीं होता है। इस कुतर्क से भी अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध और कारण-कार्य व्यवस्था बाधित नहीं होती है। न्याय कहता है कि निश्चय चारित्र जब भी होगा व्यवहार चारित्र पूर्वक ही होगा, व्यवहार चारित्र के नहीं होने पर नहीं। यह न्याय यहाँ भी अबाधित है। यदि तुम निश्चय चारित्र रूप आत्मज्ञान को प्राप्त करना चाहते हो तो व्यवहार चारित्र रूप कारण की निन्दा या उसका अभाव सिद्ध करके आत्मज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते हो। कारण के बिना कार्य आकाशपुष्प के समान है। ऊपर जिस तर्क के माध्यम से 'मुनिव्रत धारण' की निन्दा की गई है सो वह तो न्यायविरुद्ध है। सिद्धान्तत: मिथ्यादृष्टि और अभव्य का चारित्र कभी व्यवहार चारित्र भी

नहीं कहा जाता है क्योंकि सम्यक्त्व के साथ ही यह संयम व्यवहार चारित्र कहा जाता है। यह व्रत, मुनिलिंग रूप बाह्य कारण तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में बाहर से समान है किन्तु व्रत रूप, मुनिलिंग को देखकर सभी को अभव्य समान समझना या मिथ्यादृष्टि मानना यह तो स्वयं अपनी ही भूल है। इस निर्ग्रन्थ लिंग रूप कारण के होने पर आत्मज्ञान रूप कार्य होवे ही, ऐसा कोई अन्वय-सम्बन्ध नहीं है। किन्तु आत्मज्ञान रूप कार्य निर्ग्रन्थ लिंग रूप कारण के होने पर ही होगा, नहीं होने पर नहीं होगा इसलिए अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध धूम-अग्नि या कुम्हार-घड़ेकी तरह सिद्ध है। अब इस न्याय से इस पद्य को समझें कि 'मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेशन पायो' यहाँ पण्डित जी से भूल हो गई है कि वे कारण के बिना कार्य की सिद्धि गगनकुसुमवत् कर रहे हैं। मुनिव्रत के बिना निश्चय चारित्र नहीं है। निश्चय-चारित्र को ही प्रवचनसार में आत्मज्ञान कहा है, यह पहले कह चुके हैं। यदि व्यवहार चारित्र के बिना केवल सम्यग्दर्शन होने मात्र से आत्मज्ञान का सुख माना जाता है तो यह सिद्धान्त की दृष्टि से भूल है और त्रिगुप्ति में गुप्त मुनि की कर्म-निर्जरा को जानते हुए भी, उनमें ही आत्मज्ञान का सुख है, यह बात यदि कृतिकार जानते थे तो फिर मुनिव्रत के अभाव में आत्मज्ञान होना जो उन्होंने लिखा है, वह उनकी भूल है। यदि 'मुनिव्रत' से यहाँ अभव्य मिथ्यादृष्टि का संकेत है तो भी कारण-कार्य व्यवस्था को तोड़ने वाली पंक्ति होने से यह अन्ततः न्याय-विरुद्ध और गलत ही सिद्ध होती है। तात्पर्य यह निकला कि सामान्य कथन को विशेष रूप में प्रस्तुत कर देने से यह विपरीत ज्ञान लोगों को होने लगा। पंच परावर्तन के स्वरूप में यही बात कोई पढ़ेगा तो उसके मस्तिष्क में कभी मुनिव्रतधारण की विरोधी धारणा नहीं बनेगी क्योंकि और भी बहुत सी बातें हैं जो अनन्त-अनन्त बार घटित हो चुकी हैं, किन्तु जब बात को अलग से, विशेष रूप से, कहा जाता है तो वह संयम विरोधी बन जाती है और सम्यग्ज्ञान की जगह मिथ्याज्ञान को पुष्ट करने वाली हो जाती है। एक सामान्य श्रावक को ऐसा कथन नियम से विपरीतता का ज्ञान कराता है। पंच परावर्तन में तो यह भी आता है कि आज हम जिस द्रव्य का उपभोग कर रहे हैं उसे अनन्त बार भोगकर छोड़ दिया गया है। यदि इसी सामान्य कथन को विशेष बना दिया जाय और कहें कि ''तुम जो रोटी-दाल अभी खा रहे हो वो तुम्हारी ही विष्ठा का परिणमन है, तुम्हारा ही उगाल है।'' विचार करो कि भोजन करते समय यह बात कहना क्या उचित है ? कोई भी सम्यग्ज्ञानी भोजन को विष्ठा समझकर घृणा करके क्यों नहीं छोड़ देता है। जिस तरह इस सामान्य कथन को विशेष बना देने से भोजन छूट जाने पर मरण नियम से होगा, वैसे ही पंच परावर्तन के अन्तर्गत ग्रैवेयक में उत्पन्न होने वाले उस कथन से मुनिव्रत धारण-विरोधी धारणा अवश्य बनेगी, जिनशासन खण्डित होगा तथा असंयम पूर्वक ही मरण होगा। इसी तरह पंच परावर्तन में यह भी तो कहा गया है कि इस जीव ने प्रत्येक आत्मा से अपना संयोग अनेक रूपों में किया है। आज जो तुम्हारी पत्नी है, वह कभी तुम्हारी बेटी थी, कभी माँ थी। अब यदि इस सामान्य कथन को विशेष बना दिया जाय तो सोचो

क्या होगा? क्या वर्तमान में कोई व्यवहार चल पाएगा या संसार भी रहेगा। फिर भी संसार चल रहा है क्योंकि सब कुछ पढ़ने के बाद किसी भी भगवान आत्मा ने अपनी पत्नी से संभोग करते समय यह नहीं सोचा होगा कि मैं अपनी पूर्व जन्म की माँ से संभोग कर रहा हूँ या पूर्व जन्म की बहिन और बेटी से आलिंगित हूँ। विषयभोगों में संलग्न गृहस्थ को तो यह विचार करना चाहिए कि मैंने इन विषयभोगों को अनन्त बार भोगा है। विवाह अनन्त बार किया है, मिष्टान्न अनन्त बार खाये हैं। इन्द्रियों का कोई ऐसा विषय नहीं है जो अनन्तबार भोग कर न छोडा हो। आचार्य कुन्दकुन्द का समयसार विषयभोगों से विरक्त ऐसे ही योगी के लिए है, तभी तो वे कहते हैं-

''सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्सवि कामभोगबंधकहा''

अर्थात् काम-भोग, बंध की कथा तो सभी ने अच्छी तरह सुनी है, सभी के परिचय में आयी है, सभी के द्वारा अनुभूत की गई है। विषयों से विरक्ति कराना ही जैनाचार्यों का प्रमुख उद्देश्य और उपदेश है, न कि व्रत संयम धारण से विरक्ति कराना। यदि कहीं पर क्वचित् कदाचित् यह उपदेश है भी तो वह एक श्रमण को श्रमण के द्वारा सम्बोधन करने के लिए है; न कि असंयमियों को असंयम में ही बने रहने के लिए और फिर असंयमियों द्वारा संयमियों को उलाहना देने के लिए। सभी आचार्यों ने विषयों से विरक्ति का ही उपदेश दिया है। अन्त में, इतना और कहना चाहूँगा कि यह जिनशासन का ही शासन है। उन्हीं से इस शासन की प्रवाहता और प्रभावना है। जो लोग जिनशासन में दीक्षित ऐसे श्रमणों को मात्र द्रव्यसंयमी कहकर निन्दा करते हैं वे जिनशासन से विपरीत चल रहे हैं। जिन प्रकरणों से मुनि विरोधी धारणा बनती है वे प्रकरण भी जिनशासन के विरुद्ध हैं। स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ने बताया है कि पंचमकाल में भी आत्मभावना में निमग्न मुनिराज के धर्मध्यान होता है, इसे जो नहीं मानता वह अज्ञानी है -

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ।।७६ ।। मोक्षपाहुड़

और इस पंचमकाल में होने वाले धर्मध्यान का फल है-

अज्जवि तिरयण सुद्धा अप्पा झाएवि तहइ इंदत्तं।
लोयंतिय देवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ।।७७ ।। मोक्षपाहुड़

अर्थ - इस पंचमकाल में भी साधु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक चारित्र रूप निर्मल रत्नत्रय से अलंकृत हो अपनी आत्मा का ध्यान करके इन्द्रपद की प्राप्त करते हैं और लौकान्तिक देव हो सकते है। इसके अनन्तर वहां से चय करके मानव पर्याय प्राप्त कर निर्ग्रन्थ मुनि होकर मोक्ष जाते है। यद्यपि पंचम काल में भरतक्षेत्र में तद्भव मोक्षगामी मुनि नहीं होते है तथापि दिगम्बर मुद्राधारी भावलिंगी मुनि होते है। जो कोई कहते है कि इस काल में महाव्रतधारी भावलिंगी मुनि नहीं होते है वे नास्तिक जिनसूत्र से बाह्य है, मिथ्यादृष्टि हैं।

मुनि प्रणम्यसागर

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

卐 शास्त्रस्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण 卐

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ! ॐ नमः सिद्धेभ्यः ! ॐ नमः सिद्धेभ्यः

श्रीश्रुतभक्ति

अथ पौर्वाह्णिक-स्वाध्याय-क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं, भावपूजावंदनास्तवसमेतं श्रीश्रुतभक्ति कायोत्सर्गं कुर्वेऽहं ।

ओकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमोनमः ॥
अविरलशब्दघनौघ-प्रक्षालितसकल-भूतलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था, सरस्वती हरतु नो दुरितम् ॥
अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरुभ्यो नमः । सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं **'समयसार'** नामधेयं अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारतामासाद्य **आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव विरचितं** इदं शास्त्रं । श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ।

मङ्गलं भगवान् **वीरो**, मङ्गलं **गौतमो** गणी ।
मङ्गलं **कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु** मङ्गलम् ॥
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारणम् ।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयतु शासनम् ॥

कोटीशतं द्वादश चैव कोट्यो, लक्षाण्यशीतिस्त्र्यधिकानि चैव ।
पञ्चाशदष्टौ च सहस्रसंख्यमेतच्छ्रुतं पञ्चपदं नमामि ॥१॥
अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सव्वं ।
पणमामि भत्तिजुत्तो सुदणाणमहोवहिं सिरसा ॥२॥

इच्छामि भंते ! सुदभत्ति काउस्सग्गोकओ, तस्सालोचेउं अंगोवंगपइण्णयपाहुडयपरियम्मसुत्तपढमाणि ओगपुव्वगयचूलिया चेव सुत्तत्थयथुइधम्मकहाइयं णिच्चकालं अंचेमि, पुज्जेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होदु मज्झं।

श्रीआचार्यभक्ति

अथ पौर्वाह्णिक स्वाध्याय क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण, सकलकर्मक्षयार्थं, भावपूजावन्दना स्तवसमेतं, श्री आचार्य भक्ति कायोत्सर्गं कुर्वेऽहं।

श्रुतजलधिपारगेभ्यः, स्वपरमत-विभावनापटुमतिभ्यः।
सुचरिततपोनिधिभ्यो, नमो गुरुभ्यो गुणगुरुभ्यः ॥१॥
छत्तीसगुणसमग्गे, पञ्चविहाचारकरणसंदरिसे ।
सिस्साणुग्गहकुसले, धम्माइरिए सदा वन्दे ॥२॥
गुरुभत्तिसंजमेण य, तरन्ति संसारसायरं घोरम् ।
छिण्णंति अट्ठकम्मं, जम्मणमरणं ण पावेंति ॥३॥
ये नित्यं व्रतमन्त्र-होमनिरताः ध्यानाग्निहोत्राकुलाः ।
षट्कर्माभिरतास्तपोधनधनाः, साधुक्रियाः साधवः ॥
शीलप्रावरणागुणप्रहरणाशु, चन्द्रार्कतेजोऽधिका ।
मोक्षद्वारकपाटपाटनभटाः, प्रीणन्तु मां साधवः ॥४॥
गुरवः पांतु नो नित्यं, ज्ञानदर्शननायकाः ।
चारित्रार्णवगम्भीराः, मोक्षमार्गोपदेशकाः ॥५॥

इच्छामि भंते ! आयरियभत्तिकाउस्सग्गो कओ, तस्सालोचेउं, सम्मणाण-सम्मदंसणसम्मचारित्त-जुत्ताणं, पंचविहाचाराणं, आयरियाणं; आयारादिसुदणाणोवदेसयाणं उवज्झायाणं तिरयणगुण-पालणरयाणं सव्वसाहूणं; णिच्चकालं अंचेमि, पुज्जेमि, वंदामि, णमंसामि, दुक्खक्खओ, कम्मक्खओ, बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं, जिणगुणसंपत्ति होदु मज्झं।

आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव विरचित

समयसार

(जीवाजीवाधिकार)

(आत्मख्यातिटीका, तात्पर्यवृत्तिटीका एवं
परमाध्यात्मतरंगिणी सहित)

(प.अ.त. का मंगलाचरण)

शुद्धं सच्चिद्रूपं भव्यांबुजचंद्रममृतमकलङ्कम्।
ज्ञानाभूषं वंदे सर्वविभावस्वभावसंमुक्तम्।।१।।

सुधाचंद्रमुनेर्वाक्यपद्यान्युद्धृत्य रम्याणि।
विवृणोमि भक्तितोहं चिद्रूपे रक्तचित्तश्च।।२।।

अर्थ- सत् चैतन्य रूप, शुद्ध, भव्य कमलों को खिलाने के लिए चन्द्रमा, अमृत, अकलंक एवं समस्त विभाव-स्वभाव से मुक्त ज्ञान आभूषण की वन्दना करता हूँ।। १।।

अमृतचन्द्र मुनि के रम्य वाक्य पद्यों को उद्धृत करके चिद्रूप में लीनचित्त होता हुआ भक्ति से मैं उन पद्यों का विवरण करता हूँ।। २।।

विशेष - यह कारिका आ. शुभचन्द्र जी की है। अतः अमृतचन्द्र सूरि जी की आत्मख्यातिटीका में जो पद्य काव्य हैं उनकी संस्कृत टीका करते हुए यह मंगलाचरण स्वरूप है।

अथ श्रीमदमृतचंद्रसूरिः श्रीकुंदकुंदाचार्योक्तसमयसारप्राभृतव्याख्यानं कुर्वाणः संस्तदन्तरे चित्स्वरूपप्रकाशकानि-चिन्नाटकरङ्गावनि वितीर्णानि पद्यानि परमाध्यात्मतरंगिण्यपरनामधेयानि रचयन् प्रथमतः परमात्मादिनमस्कृतिरूपमंगलमाचष्टे-

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे।।१।।

सं.टी.- समयसाराय भावाय नमः-सं-सम्यक् त्रिकालावच्छिन्नतया अयन्ति-गच्छन्ति-प्राप्नुवन्ति स्वगुणपर्यायानिति समयाः पदार्थाः, तेषां मध्ये सारः-सरति-गच्छति सर्वोत्कृष्टत्वमिति सारः-परमात्मा, तस्मै। भूयते सत्स्वरूपेणेति भावः-पदार्थस्तस्मै परमात्मरूपपदार्थाय, नमः-त्रिशुद्ध्या नमस्कारोऽस्तु। किं लक्षणाय? चकासते-देदीप्यमानाय। कया? स्वानुभूत्या-स्वस्य आत्मनः, अनुभूतिः-अनुभवनं तया, स्वानुभवप्रत्यक्षेण चकासते। पुनः किंभूताय? चित्स्वभावाय-चित्-ज्ञानदर्शनरूपा सैव स्वभावः स्वरूपं यस्य तस्मै। पुनः किं लक्षणाय? सर्वभावान्तरच्छिदे-आत्मनो भावात् अन्ये भावाः-स्वभावाः पदार्था वा भावान्तराः, सर्वे च ते भावान्तराश्च, सर्वभावान्तराः, तान् छिनत्ति-स्वस्वभावात्पृथक्करोतीति सर्वभावान्तरच्छित् तस्मै। **सामान्यपक्षोयं। जिनपक्षे-**समयसाराय सं-सम्यक्-यथोक्तरूपेण, अयंति जानंति स्याद्वादात्मकं वस्तु निश्चिन्वंति, ते समयाः-

---

उत्थानिका - अब श्रीमान् अमृतचन्द्रसूरि श्री कुन्दकुन्द आचार्य के द्वारा कहे हुए समयसार प्राभृत की टीका करते हुए उसी के बीच में चित्स्वरूप के प्रकाशक चित् रूपी नाटक की रंगभूमि पर 'परम अध्यात्म तरंगिणी' इस दूसरे नाम से रचना करते हुए सर्वप्रथम परमात्मा आदि को नमस्कार करने रूप मंगल कहते हैं -

अन्वयार्थ- (चित्स्वभावाय) चैतन्य ही है स्वभाव जिसका ऐसा (समयसाराय भावाय) शुद्धात्मस्वरूप पदार्थ जो (स्वानुभूत्या चकासते) स्वानुभूति से प्रकाशमान होता है तथा (सर्वभावान्तरच्छिदे) जो सम्पूर्ण पदार्थान्तरों से सर्वथा भिन्न है (नमः) उसे नमस्कार करता हूँ। अथवा सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञायक केवलज्ञान की प्राप्ति अर्थ नमस्कार करता हूँ।

अर्थ- जो आत्मा की अनुभूति से प्रकट होता है जिसका स्वभाव चैतन्य है, जो सभी विभावरूप भावों का नाश करता है और केवलज्ञान जिसका स्थिर अर्थात् अविनश्वर स्वभाव है ऐसे आत्मा को मेरा नमस्कार है।

विशेष - आचार्य अमृतचन्द्र जी ने जो समयसार की टीका में पद्यात्मक छन्द बनाये हैं उनका अपर नाम **परम अध्यात्म तरंगिणी** है, ऐसा यहाँ शुभचन्द्राचार्य ने उन छन्दों की टीका करते हुए लिखा है। इन्हीं को विद्वानों ने 'कलश' नाम दिया है। इन पद्य कलशों की टीका संस्कृत में शुभचन्द्राचार्य ने की है, जिसका हिन्दी अनुवाद **प्रश्नोत्तर** के माध्यम से यहाँ दिया है।

सातिशयसम्यग्दृष्टिप्रभृतिक्षीणकषायपर्यन्ता जीवाः, तेषां पूज्यत्वेन सारो जिनस्तस्मै नमः। स्वानुभूत्या-स्वस्यानुभूतिः विभूतिः समवसरणादिलक्षणा तया, चकासते-प्रकाशमानाय, चित्स्वभावाय-घातिकर्मक्षयात्साक्षात् चित्स्वभावाय, भावाय-भानि-नक्षत्राणि, उपलक्षणात् चतुर्निकायदैवतानि अवति-रक्षति-पातीति भावस्तस्मै। सर्वभावानां, अंतरं भेदं- 'जीवाजीवादिकं भिन्नमित्यादिरूपं विचारं' छिनत्ति-परिछिनत्ति-जानातीति सर्वभावांतरच्छित् तस्मै। **सिद्धपक्षे**-परमात्मवत्प्रक्रिया। समं-साम्यं यांति-प्राप्नुवंतीति समया योगिनस्तेषां मध्ये ध्येयतया सारः सिद्धपरमेष्ठी। स्वानुभूत्या सु-सुष्ठु, जगत्त्रयासंभाविनी, आ अतिशयेनानुभूतिर्वृद्धिः-अगुरुलघ्वादिगुणानां षट्वृद्धिः तया। भूधातुर्वृद्ध्यर्थे वर्तते, तथाचोक्तं- 'सत्तायां मंगले वृद्धौ निवासे व्याप्तिसंपदोः। अभिप्राये च शक्तौ च प्रादुर्भावे गतौ च भूः'।। इति। चकासते। चित्स्वभावाय, पूर्ववत्। भावाय-भाः-दीप्तिः-ज्ञानज्योतिः, तया वाति-प्राप्नोति जगदिति भावः-सकलस्य जगतः ज्ञानांतर्गतत्वात्, वा गतिगंधनयोः, ये गत्यर्थास्ते

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. समय किसे कहते हैं ?

उत्तर- सम्- समीचीन रूप से तीनों कालों की निरन्तरता से जो अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त होता है, वह समय है। सभी पदार्थ समय हैं।

प्रश्न-२. समयसार किसे कहते हैं ?

उत्तर- सभी पदार्थों का रूप समयसार है। वह परमात्मा है जो सभी पदार्थों में सर्वोत्कृष्टपने को प्राप्त हैं, वह परमात्मा ही समयसार है।

प्रश्न-३. यहाँ किसे नमस्कार किया है ?

उत्तर- यहाँ समयसार भाव के लिए नमस्कार किया है। भाव पदार्थ को कहते हैं। उस परमात्म रूप पदार्थ के लिए यहाँ नमस्कार किया है।

प्रश्न-४. वह समयसार किस लक्षण वाला है ?

उत्तर- स्वानुभव प्रत्यक्ष से देदीप्यमान लक्षण वाला वह समयसार है।

प्रश्न-५. वह समयसार और कैसा है ?

उत्तर- अपने स्वभाव से सभी अन्य भावान्तरों को दूर करने वाला होने से वह समयसार कहा जाता है ।

प्रश्न-६. यह समयसार का सामान्य पक्ष है या विशेष पक्ष है ?

उत्तर- समयसार शब्द का परमात्मा रूप अर्थ सामान्य पक्ष से है। विशेष पक्ष से जिन, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु और रत्नत्रय इन अर्थों में भी समयसार शब्द का अर्थ किया जाता है।

प्रश्न-७. समयसार का जिनेन्द्र भगवान् अर्थ कैसे होगा ?

उत्तर- जिनपक्षे- सं- सम्यक् या यथोक्त रूप से। अय - जानना। स्याद्वादात्मक वस्तु को जैसा

प्राप्त्यर्थाः, 'आतोऽनुपसर्गात्कः' इति कप्रत्ययेन सिद्धं। सर्वेत्यादि-सर्वभावानामंतः-अभ्यंतरं तेषां अच्छित्-अविच्छेदोऽविनाशो यस्मात्स तथोक्तस्तस्मै, सिद्धपरमेष्ठिनः केषांचित् पदार्थानां विनाशाभावात्। **आचार्यपक्षे**-सं-सम्यक् ,अयनं-गमनं यतं चरेदित्यादिलक्षणं चरणं येषां ते समया योगिनस्तेषु सारः-आचार्यः, तस्मै। स्वानुभूत्या षट्त्रिंशद्गुणलक्षणया चकासते-प्रकाशमानाय। चित्स्वभावाय भावाय-चित्सु-चिद्रूपेषु, स्वस्य आत्मनः भावः परिणतिः स एव अयभावः शुभावहभावो यस्य स तथोक्तस्तस्मै। सर्वभावेत्यादि पूर्ववत्। **उपाध्यायपक्षे**-समयः-सिद्धांतः-

---

कहा है वैसा ही जानते हैं, उसका निश्चय करते हैं वे समय हैं। सातिशय सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीण कषायवर्ती (बारहवें गुणस्थानवर्ती) जीव समय कहलाते हैं। उनके द्वारा पूज्य होने से सारभूत जिन हैं। उन जिन भगवान् के लिए भी 'समयसार' शब्द से नमस्कार किया है।

प्रश्न-८. जिन भगवान् के लिए अन्य विशेषण कैसे घटित होंगे ?

उत्तर- **१. स्वानुभूत्या चकासते -** यहाँ स्वानुभूति से समवसरण आदि लक्षण से उत्पन्न हुआ वैभव लिया गया है। वे जिन भगवान् उस वैभव से सुशोभित होते हैं।

२. चित्स्वभावाय - घातिकर्मों के क्षय से साक्षात् चित्स्वभाव वाले जिन भगवान हैं।

३. भावाय - भा - नक्षत्र को कहते हैं। उपलक्षण से चारों निकाय के देव भी हैं। उनकी जो रक्षा करते हैं वह जिन है उनके लिए नमस्कार है।

४. सर्वभावान्तरच्छिदे - सभी जीव-अजीव आदि भिन्न हैं इत्यादि रूप विचार अर्थात् भेद को जो जानते हैं वह जिन हैं। उन जिन भगवान् के लिए नमस्कार है।

प्रश्न-९. सिद्ध पक्ष में समयसार आदि पद कैसे व्याख्यायित होगा ?

उत्तर- सिद्ध पक्ष में परमात्मा के समान अर्थ निकालने की प्रक्रिया है। दूसरी तरह से- जो साम्य को प्राप्त करते हैं वे योगी समय कहलाते हैं। उन योगियों के लिए ध्येय रूप से होने से सिद्ध परमेष्ठी सार हैं। स्वानुभूत्या- सु - सुष्ठु - तीन जगत् में असम्भव, आ - अतिशय रूप से। यहाँ अनुभूति को वृद्धि अर्थ में लिया है। जिस भू धातु से अनुभूति शब्द बना है वह भू धातु वृद्धि अर्थ में प्रयुक्त होती है। कहा भी है- 'सत्ता में, मंगल में, वृद्धि में, निवास में, व्याप्ति और संपदा में, अभिप्राय में, शक्ति में, प्रादुर्भाव में और गति में भू धातु का प्रयोग होता है।'

तीनों जगत् में असंभव अगुरुलघु आदि गुणों की षट्वृद्धि अतिशय रूप से होने से वह सिद्ध परमेष्ठी स्वानुभूति से प्रकाशमान हैं। **चित्स्वभावाय** का अर्थ तो पूर्ववत् है।

भावाय- भा दीप्ति यानी ज्ञानज्योति है। उस ज्ञानज्योति से जो जगत् को प्राप्त करते हैं वह भाव शब्द से कहा जाता है; क्योंकि सारा जगत् उनके ज्ञान में आ जाता है। अथवा गति और गंधन दोनों अर्थ में भू धातु है। जो गति अर्थ वाली धातुएँ हैं वे प्राप्ति अर्थ में भी होती हैं । इस अर्थ में 'क' प्रत्यय से यह भाव शब्द सिद्ध होता है।

स्रियते, प्राप्यते येन स तथोक्तस्तस्मै स्वानुभूत्येति पूर्ववत्। चित्स्वभावाय भावाय-चित्सु-चेतनेषु पदार्थेषु, उपलक्षणादचेतनेष्वपि अभावः स्यान्नास्तित्वं तेन सह आयः भणनं कथनमिति यावत्-इङ् अध्ययनेऽस्य धातोर्भावे घञ्प्रत्ययविधानात्, भावस्यः स्यादस्तित्वरूपस्य यस्योपाध्यायस्य तथोक्तस्तस्मै पदार्थेष्वस्तित्वं नास्तित्वेनोपलक्षितमिति कथकायेत्यर्थः। **साधुपक्षे**-समयेषु कालावलिषु सारःसाधुः शेषं पूर्ववत्। मयो-गतिः, मय गतावस्य धातोः प्रयोगः, तेषु सारं-रत्नत्रयं, तेन सह वर्तत इति समयसारः साधुरित्यर्थो वा। **रत्नत्रयपक्षे**-सं-सम्यक्त्वं, अयो-ज्ञानं, सरणं-सारः-चरित्रं, द्वंद्वैकत्वं, तस्मै, शेषं पूर्ववद्यथासंभवं व्याख्येयं। एवमर्थाष्टकं व्याख्यातं। अत्याक्षिप्यमाणं बहुशोऽर्थेन व्याख्यायते, विस्तरभयान्नेक्षितं पद्यं।

सर्व भावान्तरच्छिद्- सभी पदार्थों का जिनके ज्ञान के अन्दर कभी विच्छेद नहीं होता है अर्थात् जिस ज्ञानज्योति से पदार्थों का कभी विनाश नहीं होता है; क्योंकि किन्ही भी पदार्थों का विनाश नहीं होता है। उन सिद्ध परमेष्ठी के लिए नमस्कार हो।

प्रश्न-१०. आचार्य पक्ष में समयसार आदि पदों की व्याख्या कैसे होगी ?

उत्तर- **समयसार** सं- सम्यक् रूप से, अयनम्- गमन करना, चलना, आचरण करना जिनको होता है वे योगी समय कहलाते हैं। उन योगियों में सार आचार्य हैं। उन आचार्य के लिए नमस्कार हो।

स्वानुभूत्या चकासते- जो छत्तीस गुणों रूप लक्षण से प्रकाशमान होते हैं, उन आचार्य परमेष्ठी के लिए नमस्कार हो।

चित्स्वभाव भावाय- चैतन्य रूपों में जो स्व, आत्मा का भाव या परिणति है वही शुभ देने वाला भाव है। जिनको ऐसा शुभावह भाव है उन आचार्य के लिए नमस्कार हो। अन्य पदों के अर्थ पूर्ववत् जानना।

प्रश्न-११. उपाध्याय पक्ष में समयसार आदि पदों का अर्थ कैसे घटित होगा ?

उत्तर- सिद्धान्त को समय कहते हैं। वह समय जिन्होंने प्राप्त किया है वह उपाध्याय हैं। उनके लिए नमस्कार हो। स्वानुभूत्या का अर्थ पूर्ववत् जानना।

चित्स्वभावाय भावाय- चित्सु - चेतन पदार्थों में तथा उपलक्षण से अचेतन पदार्थों में भी अभाव का कथन होता है। स्यात् नास्तित्वम्- इस नास्ति धर्म का कथन चेतन-अचेतन सभी पदार्थों में होता है। इस कथन के साथ अध्ययन करने में, जिनका सद्भाव के साथ या अस्तित्व रूप के साथ कथन होता है वे उपाध्याय हैं। तात्पर्य यह है कि पदार्थों के अस्तित्व और नास्तित्व धर्म का कथन करने वाले उपाध्याय परमेष्ठी के लिए नमस्कार हो।

प्रश्न-१२. साधुपक्ष में समयसार आदि पदों का अर्थ क्या है ?

उत्तर- काल की अवधि वाले समयों में सारभूत साधु हैं। शेष अर्थ पूर्ववत् है। अथवा मय् धातु

अथ सरस्वतीमभिष्टौति-

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम्।। २।।

सं. टी.- अनेकांतमयी मूर्तिः-अनेकांतेन-स्याद्वादेन निर्वृत्ता स्याद्वादात्मिका मूर्तिर्यस्याः सा अनेकांतमयी मूर्तिः-जिनवाणी, जिनवाण्या अनेकांतात्मकत्वादनुक्तापि सामर्थ्याज्जिनवाणी लभ्यते। नित्यं-सदैव, त्रिकालं प्रकाशतां-नित्योद्योतं कुरुतां। किं विशिष्टा सा? प्रत्यगात्मनः-परमात्मनः-

---

गति अर्थ में है। सर्व गति में सार रत्नत्रय है। उस रत्नत्रय से जो सहित है, वह समयसार साधु है।

प्रश्न-१३. रत्नत्रय पक्ष में समयसार आदि पदों का क्या अर्थ है ?

उत्तर- समयसाराय- सम्- सम्यक्त्व है, अयः- ज्ञान है, सार- चारित्र है। अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रय के लिए नमस्कार है। शेष सभी पदों की यथासंभव पूर्ववत् व्याख्या करना चाहिए।

उत्थानिका - अब सरस्वती की स्तुति करते हैं-

अन्वयार्थ- (प्रत्यगात्मनः) पर द्रव्यों से भिन्न अपने स्वरूप के एकत्व में स्थित आत्मा के (अनन्त धर्मणस्तत्त्वं) अनन्त धर्मों के रहस्य को (पश्यन्ती) प्रकाशित करने वाली (अनेकान्तमयीमूर्तिः) अनेकान्तस्वरूपता ही जिसकी मूर्त्ति है ऐसी जिनवाणी (नित्यमेव) सदाकाल (प्रकाशताम्) संसार के प्राणीमात्र के हृदय में प्रकाशित हो।

अर्थ- निश्चयनय की दृष्टि से अविनश्वर ज्ञानमात्र स्वभाव वाली और व्यवहारनय की दृष्टि से अनन्त धर्मों वाली आत्मा का स्वरूप अन्तरंग में देखने वाली अनेकान्त प्रधान स्याद्वाद्विद्या नित्य ही प्रकाशित हो- मेरी आत्मा में प्रकट हो।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. अनेकान्तमयी मूर्ति का क्या अर्थ है ?

उत्तर - अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद से जो बनी है या जो स्याद्वाद आत्मक है ऐसी जिनवाणी को ही अनेकान्तमयी मूर्ति कहा है।

प्रश्न-२. वह मूर्ति किस विशेषता सहित है ?

उत्तर - वह मूर्ति परमात्मा के स्वरूप को प्रकाशित करने वाली है। अथवा चैतन्य आत्मा के तत्त्व को भिन्न रूप से दिखाने वाली है।

प्रश्न-३. यहाँ प्रत्यगात्मा से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर - परमात्मा अथवा चैतन्य आत्मा को प्रत्यगात्मा कहा है।

अथवा आत्मनः-चिद्रूपस्य, प्रत्यक् तत्त्वं पश्यंती-भिन्नं तत्त्वं-स्वरूपं अवलोकयंती-प्रकाशयंतीत्यर्थः। किंविशिष्टस्य तस्य? अनंतधर्मणः- अनंता द्विकवारानंतप्रमाणाः अस्तित्वनास्तित्व-नित्यत्वानेकत्वादिरूपा धर्माः-स्वभावा यस्य स तथोक्तस्तस्य। धर्मशब्दोत्र स्वभाववाची, 'धर्माः पुण्यसामान्यस्वभावाचारसोमपाः' इत्यनेकार्थः।

अथ स्वचित्तविशुद्ध्यर्थं प्रार्थयति-

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः।।३।।

सं. टी.- मम-मे, भवतु-अस्तु। का? परमविशुद्धिः-परमा उत्कृष्टा-कर्ममलकलंकरहिता, सा चासौ विशुद्धिश्च-विशुद्धता, कुतः? अनुभूतेः-अनुभवात्, कया? समयसारव्याख्ययैव-समयेषु-पदार्थेषु सारः-परमात्मा, तस्य व्याख्या-विशेषेण वर्णनं, एव-निश्चयेन, परमात्मव्यावर्णनात्, अनुभूतिः, ततो विशुद्धिर्भवतु। अथवा-समयसाराख्यमिदं शास्त्रं तद्व्याख्यया कृत्वा अनुभूतिः ततः शुद्धिश्च। कस्याः? शुद्धेत्यादि-शुद्धं कर्मकलंकरहितं, चिन्मात्रं-ज्ञानमात्रं तदेव मूर्तिर्यस्याः सा तथोक्ता तस्याः,

---

प्रश्न-४. वह प्रत्यगात्मा किस विशेषता को धारण करता है ?

उत्तर - वह अनन्त धर्मो को धारण करने वाला है। अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनेकत्व आदि रूप अनेक धर्म या स्वभाव जिसके हों वह अनन्तधर्मा कहलाता है। यहाँ अनन्त से दो बार अनन्त का प्रमाण लेना अर्थात् अनंतानंत धर्म हैं।

प्रश्न-५. यहाँ धर्म शब्द किस अर्थ में है ?

उत्तर - धर्म शब्द यहाँ स्वभाव को कहने वाला है। अनेकार्थ कोश में कहा है- 'धर्म शब्द पुण्य, सामान्य स्वभाव, आचार और सोमरस पीने वाले (इन्द्र) के लिए प्रयुक्त होता है।'

उत्थानिका- अब अपने चित्त की विशुद्धि के लिए प्रार्थना करते हैं।

अन्वयार्थ- (शुद्धचिन्मात्रमूर्तेः) शुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टि से मैं शुद्ध चैतन्य का पिण्ड हूँ सो मेरे (पर परिणति हेतोर्मोहनाम्नः अनुभावात्) पर-परिणति के निमित्त के कारण, मोहनीय कर्म के उदय से (अविरतम्) अनादिकाल से (अनुभाव्य-व्याप्ति-कल्माषितायाः) भावित रागादि व्याप्ति से जो कलुषित हो रही है ऐसी (मम अनुभूतेः) मेरी अनुभूति की (समयसार व्याख्यया एव) समयसार ग्रन्थ की व्याख्या से ही (परमविशुद्धिः भवतु) परम विशुद्धि हो।

अर्थ - मैं शुद्ध चिन्मात्रमूर्ति हूँ। मोह कर्म के सामर्थ्य से परपरिणति के कारण निरन्तर अनुभव किए गये रागादि की व्याप्ति से वह मेरी शुद्ध चिन्मात्र अनुभूति कलुषित हो गई है। उस अनुभूति की परम विशुद्धि समयसार की व्याख्या से ही हो।

व्यवहारदशायां तु किंलक्षणा? अविरतं-निरंतरं, अनुभेत्यादि-संसारिणां, अनुभवितुं योग्याः-अनुभाव्याः-विषयाः, तेषां व्याप्तिः प्राचुर्ये तया कल्माषिता-कश्मलीकृता या सा तथोक्ता तस्याः, कुतः? अनुभावात्-प्रभावात्, कस्य? मोहनाम्नः शत्रोरित्याध्याहार्यं, किंलक्षणस्य तस्य? परेत्यादि-परेभ्यः पुत्रमित्रकलत्रशत्रुभ्यः, उत्पन्ना परिणतिः-परिणामः। अथवा परा आत्मस्वरूपाद्भिन्ना विभावरूपा परिणतिः सैव हेतुः कारणं यस्य स तथोक्तस्तस्य।।३।।

कलश-३. (प्रश्नोत्तर टीका)

प्रश्न-१. यहाँ आचार्यदेव ने क्या भावना व्यक्त की है ?

उत्तर- मुझे परम विशुद्धि की अनुभूति हो।

प्रश्न-२. परम विशुद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर- कर्ममल कलंक से रहित जो विशुद्धि है उसे परम विशुद्धि कहते हैं।

प्रश्न-३. कैसे यह परम विशुद्धि प्राप्त हो?

उत्तर- समयसार की व्याख्या से ही मुझे वह परम विशुद्धि प्राप्त हो। समय अर्थात् पदार्थों में सारभूत परमात्मा है। उस परमात्मा की व्याख्या का विशेष वर्णन ही निश्चय से परमात्मा का वर्णन है। उस वर्णन से अनुभूति हो उससे विशुद्धि होवे। अथवा समयसार नाम का यह शास्त्र है, उस शास्त्र की व्याख्या करके अनुभूति हो, उससे शुद्धि की प्राप्ति होवे।

प्रश्न-४. किसकी शुद्धि प्राप्त होवे ?

उत्तर- जो निश्चय से कर्म कलंक से रहित शुद्ध ज्ञान मात्र चैतन्य मूर्ति है उस शुद्ध चिन्मात्र मूर्ति की शुद्धि होवे।

प्रश्न-५. वह शुद्ध चिन्मात्र मूर्ति व्यवहार दशा में कैसी है?

उत्तर- निरन्तर संसारी प्राणियों के अनुभव में आने योग्य विषय की व्याप्ति या प्रचुरता से कलुषित हुई है। ऐसी वह शुद्ध चिन्मूर्ति व्यवहारनय से कालिमा धारण करती है।

प्रश्न-६. यह कलुषता क्यों उत्पन्न हुई है ?

उत्तर- मोह रूपी शत्रु के प्रभाव से आत्मा में यह कल्मषता आई है।

प्रश्न-७. उस मोह शत्रु का लक्षण क्या है ?

उत्तर- परपरिणति का कारण होना ही मोह शत्रु का लक्षण है।

प्रश्न-८. परपरिणति किसे कहा है ?

उत्तर- पुत्र, मित्र,स्त्री, शत्रु आदि पर हैं। इन पर सम्बन्धों से उत्पन्न परिणति अर्थात् परिणाम ही मोह का कारण है। इसलिए इन सम्बन्धों को पर परिणति कहा है। अथवा आत्मस्वरूप से भिन्न विभाव रूप परिणति पर-परिणति है।

अथ सूत्रावतार:

वंदित्तु सव्वसिद्धे, धुवममलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं।।१।।

आ.टी. -अथ प्रथमत एव स्वभावभावभूततया ध्रुवत्वमवलम्बमानामनादिभावान्तर-परपरिवृत्तिविश्रान्ति-वशेनाचलत्वमुपगतामखिलोपमानविलक्षणाद्भुतमाहात्म्यत्वेना-विद्यमानौपम्यामपवर्गसंज्ञिकां गतिमापन्नान् भगवत: सर्वसिद्धान् सिद्धत्वेन साध्यस्यात्मन: प्रतिच्छन्दस्थानीयान् भावद्रव्यस्तवाभ्यां स्वात्मनि परात्मनि च निधायानादिनिधनश्रुतप्रकाशितत्वेन निखिलार्थसार्थसाक्षात्कारि-केवलिप्रणीतत्वेन श्रुतकेवलिभि: स्वयमनुभवद्भिरभिहितत्वेन च प्रमाणतामुपगतस्यास्य समय-प्रकाशकस्य प्राभृताह्वयस्यार्हत्प्रवचनावयवस्य स्वपरयोरनादिमोहप्रहाणाय भाववाचा द्रव्यवाचा च परिभाषणमुपक्रम्यते ।।१

उत्थानिका- अब गाथा सूत्र का अवतरण होता है-

अन्वयार्थ - (धुवं) ध्रुव (अमलं) अमल और (अणोवमं) अनुपम-इन तीनों विशेषणों से युक्त (गदिं) गति को (पत्ते) प्राप्त हुए (सव्वसिद्धे) सर्व सिद्धों को (वंदित्तु) नमस्कार करके (ओ) अहो! (सुदकेवली भणिदं) श्रुतकेवलियों के द्वारा कथित (इणं) यह (समयपाहुडं) समयसार नामक प्राभृत (वोच्छामि) कहूँगा।

अर्थ- ध्रुव, अमल/अचल और अनुपम गति को प्राप्त सर्व सिद्धों को नमस्कार करके हे भव्यो! श्रुतकेवलियों द्वारा कहा हुआ यह समयसार नामक प्राभृत को कहता हूँ।

आ. व्या. - अब सर्वप्रथम अपने स्वभावगत भावों से जो ध्रुवत्व का अवलम्बन करने वाली है, अनादिकालीन विभावात्मक परिणमन जिसका रुक गया है इसलिए जो अचलत्व को प्राप्त हुई है। अखिल उपमानभूत पदार्थों में न पाये जाने से विलक्षण ऐसे माहात्म्य के कारण जिसकी उपमा अन्यत्र कहीं पर भी पायी नहीं जाती, ऐसी जो अपवर्ग (मोक्ष) नाम की सिद्धगति को प्राप्त हुए हैं उन सिद्धत्वरूप से साध्य रूप तथा आत्मा के प्रतिबिम्ब सदृश सभी सिद्धों की भावस्तुति और द्रव्यस्तुति करने के लिए अपनी आत्मा में और पर की आत्मा में स्थापित करके, अनादि-अनिधन श्रुत के द्वारा प्रकाशित किये जाने से सम्पूर्ण पदार्थों को उनके सभी पर्यायों के साथ सकल प्रत्यक्ष के द्वारा जानने वाले केवली भगवान् के द्वारा कहा होने से तथा स्वयं अनुभव करने वाले श्रुतकेवली जीवों के द्वारा कहा होने से प्रमाणभूत बने हुए समय के प्रकाशक, प्राभृतसंज्ञक, अर्हत् प्रवचन के अवयवभूत इस समयसार प्राभृत नामक ग्रन्थ का अपने और दूसरों के अनादिकालीन मोह का नाश करने के लिए भावात्मक और द्रव्यात्मक वचनों के द्वारा कथन आरम्भ किया जाता है। ।।१।।

मैं वन्दना कर उन्हें शिवको पधारे, जो सिद्ध हैं अतुल अव्यय सौख्य धारे।
भाई! वही समयसार सुनो सुनाता, जो भद्रबाहु श्रुत-केवलि ने कहा था ।।१।।

ता.टी. - 'वंदित्तु' इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। **वंदित्तु** निश्चयनयेन स्वस्मिन्नेवाराध्याराधकभावरूपेण निर्विकल्पसमाधिलक्षणेन भावनमस्कारेण, व्यवहारेण तु वचनात्मक द्रव्य नमस्कारेण वन्दित्वा कान्? **सव्वसिद्धे** स्वात्मोपलब्धिसिद्धिलक्षणसर्वसिद्धान्। किंविशिष्टान्? **पत्ते** प्राप्तान्। कां? **गदिं** सिद्धपरिणतिम्। कथंभूताम्? **धुवं** टंकोत्कीर्ण ज्ञायकै कस्वभावत्वेन ध्रुवामविनश्वराम्। **अमलं** भावकर्म द्रव्यकर्म नोकर्म मलरहितत्वेन शुद्धस्वभावसहितत्वेन च निर्मलाम् अथवा **अचलम्** इति पाठान्तरे द्रव्यक्षेत्रादिपंचप्रकारसंसारभ्रमणरहितत्वेन स्वस्वरूप निश्चलत्वेन च चलनरहितामचलाम्। **अणोवमं** निखिलोपमान रहितत्वेन निरुपमामद्भुतस्वस्वभाव सहितत्वेन अनुपमाम्। एवं पूर्वार्धेन नमस्कारं कृत्वापरार्धेन सम्बन्धाभिधेय-प्रयोजन-सूचनार्थं प्रतिज्ञां करोति। **वोच्छामि** वक्ष्यामि। किं **समयपाहुडं** समयप्राभृतं सम्यग् अयः बोधो यस्य भवति स समय आत्मा, अथवा समं एकीभावेनायनं गमनं समयः प्राभृतं सारं सारः शुद्धावस्था समयस्यात्मनः प्राभृतं समय प्राभृतं, अथवा समय एव प्राभृतं समय प्राभृतं। **इणं** इदं प्रत्यक्षीभूतं। **ओ** अहो भव्याः कथंभूतं? **सुदकेवलीभणिदं** प्राकृतलक्षण-बलात्केवलीशब्ददीर्घत्वम् श्रुते परमागमे केवलिभिः सर्वज्ञैर्भणितं श्रुतकेवलिभणितम्। अथवा श्रुतकेवलिभणितं गणधरदेव कथितमिति।

(ता.टी.) अब पदच्छेद करके अर्थ किया जाता है-

टीकार्थ- वंदित्तु निश्चयनय से तो अपने आप में ही आराध्य आराधकभाव को स्वीकार करने रूप निर्विकल्पसमाधि है लक्षण जिसका ऐसे भाव नमस्कार के द्वारा और व्यवहार नय से वचनात्मक द्रव्य नमस्कार के द्वारा वन्दना करके किनको? **सव्वसिद्धे** स्वात्मोपलब्धि की सिद्धि है लक्षण जिनका ऐसे सम्पूर्ण सिद्धों को **गदिं पत्ते** जो सिद्ध गति को प्राप्त हो गये हैं। **धुवं** जो सिद्धगति टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावरूप से अडिग है या अविनश्वर है **अमलं** भावकर्म, द्रव्यकर्म व नोकर्म से रहित होने के कारण तथा शुद्धस्वभाव सहित होने से निर्मल है अथवा (अचलम्) द्रव्य, क्षेत्र, कालादि पंच प्रकार संसार परिभ्रमण से रहित तथा अपने स्वरूप में निश्चल होने से चलपने से रहित है। **अणोवमं** संसार में कोई भी उपमा नहीं होने से वह उपमा रहित है, ऐसी सिद्ध अवस्था को जो प्राप्त हो गये हैं। इस प्रकार गाथा के पूर्वार्द्ध से सिद्धों को नमस्कार करके व उत्तरार्द्ध से संबंधाभिधेय और प्रयोजन की सूचना के लिए प्रतिज्ञा करते हैं कि **वोच्छामि** कहूँगा **समयपाहुडं** समयप्राभृत ग्रन्थ को सम्यक् -समीचीनं अय-बोध, ज्ञान है जिसके वह समय अर्थात् आत्मा। अथवा समम्-एकीभावेनायनम्-गमनं 'समयः' अर्थात् एकमेकरूप से जो गमन उसका नाम समय -प्राभृत अर्थात् सार-शुद्धावस्था, इस प्रकार समय नाम आत्मा उसका प्राभृत अर्थात् शुद्धावस्था वही हुआ समय-प्राभृत हमारे सामने है। **सुदकेवली भणिदं** प्राकृत भाषा के नियम अनुसार केवली शब्द दीर्घ है। श्रुत में परमागम में जो केवली हैं अर्थात् सर्वज्ञ हैं उनके द्वारा कहा गया है अथवा श्रुतकेवली जो गणधर देव उनके द्वारा कहा गया है।

सम्बन्धाभिधेय प्रयोजनानि कथ्यन्ते व्याख्यानं वृत्तिग्रन्थः, व्याख्येयं तत्प्रतिपादकसूत्रमिति, तयोस्सम्बन्धो व्याख्यानव्याख्येयसम्बन्धः। सूत्रमभिधानं सूत्रार्थोऽभिधेयस्तयोः सम्बन्धोऽभिधानाभिधेयसम्बन्धः। निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेन शुद्धात्मपरिज्ञानं प्राप्तिर्वा प्रयोजनमित्यभिप्रायः ।।१।।

अब संबंध, अभिधेय और प्रयोजन कहते हैं- व्याख्यान तो वृत्ति ग्रन्थ (टीका) व्याख्येय-व्याख्यान के प्रतिपादक सूत्र, इन दोनों का संबंध व्याख्यानव्याख्येय संबंध है। सूत्र तो वाचक है और सूत्र का अभिधेय-वाच्य है इन दोनों का संबंध 'अभिधान-अभिधेय' संबंध है। निर्विकार स्वसंवेदन-ज्ञान के द्वारा शुद्धात्मा का जानना इसका 'प्रयोजन' है।।१।।

विशेषार्थ - इसमें आचार्य देव ने आराध्य-आराधक भाव की उपयोगिता, वाणी की प्रामाणिकता और अपने आपका ग्रन्थकर्तृत्व ये तीन बातें बतायी हैं। आराधक तो हम लोग संसारी छद्मस्थ हैं और आराध्य श्री सिद्ध भगवान् हैं। उनकी आराधना करके हम लोग अपने कर्मों को नष्ट कर सकते हैं। आराधना दो प्रकार की है (१) व्यवहार आराधना (२) निश्चय आराधना। वचन विकल्पात्मक व्यवहार आराधना है और निर्विकल्प समाधि में तन्मय होकर शुद्धात्मा का ध्यान करना निश्चय आराधना है। छट्ठे गुणस्थान तक व्यवहार आराधना होती है और सातवें से आगे निश्चय आराधना है। इन दोनों प्रकार की आराधनाओं के द्वारा छद्मस्थ आत्मायें अपने पूर्वोपार्जित कर्मों को क्रमशः ढीला करते हुए नष्ट कर देती हैं।।।१ ।।

वाणी की सार्थकता - भगवान् अर्हन्तदेव की वाणी अथवा द्वादशांग के ज्ञाता-श्रुतकेवली गणधरादिक की वाणी प्रमाणभूत होती है जिसका संबंध इस ग्रन्थ से है और जिसके द्वारा हम सरीखे संसारी आत्माओं का भला होता है। इस ग्रन्थ के कर्त्ता स्वयं कुन्दकुन्द आचार्य देव हैं जिनकी प्रामाणिकता को लेकर हम लोगों की इस ग्रन्थ के पढ़ने की अभिरुचि होती है।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. यह ग्रन्थ किनके द्वारा रचा गया है ?

उत्तर - यह ग्रन्थ आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव द्वारा रचित है।

प्रश्न-२. इस ग्रन्थ में जिन सिद्धों को नमस्कार किया है, उनकी विशेषतायें क्या हैं ?

उत्तर - वह सिद्ध भगवान् ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त हैं।

प्रश्न-३. वह गति ध्रुव गति क्यों है ?

उत्तर - वह गति जीव का स्वभावभूत होने से ध्रुव है। ऐसा आत्मख्याति टीका में कहा है। इस विशेषण से यह सिद्ध होता है कि अन्य चारों गतियाँ पर निमित्त से होती हैं इसलिए ध्रुव नहीं है, नश्वर हैं।

प्रश्न-४. आत्मख्याति टीका से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर - आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने इस समयसार ग्रन्थ पर सर्वप्रथम संस्कृत भाषा में टीका अर्थात् व्याख्यान लिखा है। उस टीका का नाम उन्होंने आत्म ख्याति टीका दिया है। इसे 'आ.टी.' इस तरह संक्षिप्त रूप में लिखा जायेगा।

प्रश्न-५. क्या और भी किसी आचार्य ने इस समयसार की टीका की है ?

उत्तर - हाँ! आचार्य जयसेन महाराज ने तात्पर्यवृत्ति नाम की टीका लिखी है। इसे 'ता.टी.' इस संक्षिप्त रूप में लिखा जाएगा। एक टीका आचार्य प्रभाचन्द्र जी द्वारा भी लिखित है, जो अभी तक अप्रकाशित है।

प्रश्न-६. इन दोनों आचार्यों की टीका में क्या विशेषता एवं अन्तर है ?

उत्तर - आचार्य अमृतचन्द्र जी दसवीं शताब्दी के लगभग हुए हैं। आपकी टीका बहुत पाण्डित्यपूर्ण होने से संस्कृत टीकाओं में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। आपने समयसार की गद्य और पद्य (काव्य) दोनों की मिश्रित शैली को अपनाकर टीका की है। पद्य काव्य बहुत ही रोचक और आनन्ददायी हैं। इन्ही पद्यों को एकत्रित करके **'समयसार कलश'** के नाम से अलग संस्करण प्रकाशित है। टीका में प्रयुक्त इन पद्य छन्दों को ही **'कलश'** संज्ञा दी गई है। गद्य भाग बहुत ही दुरूह है, समझने में कठिन है, किन्तु आध्यात्मिक और दार्शनिक शैली का उत्कृष्ट प्रयोग है। आचार्य जयसेन जी बारहवीं शताब्दी के विद्वान् हैं। इनकी टीका की भाषा बहुत सरल और सर्व सामान्य जन से पठनीय है, हृदयग्राही है। इस टीका में निश्चय और व्यवहार नय का अद्भुत सामंजस्य बिठाते हुए विषय का स्पष्टीकरण और उलझनों को दूर किया गया है। हम इस **'प्रश्नोत्तरी टीका'** में हिन्दी भाषा में दोनों आचार्यों की टीकाओं का उल्लेख यथा अवसर करेंगे।

प्रश्न-७. ता.टी. में ध्रुवगति किसे कहा है ?

उत्तर - टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाव रूप रहने से यह गति ध्रुव है, अविनश्वर है।

प्रश्न-८. अचलगति से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर - यह गति अनादिकाल से अन्य भावों के निमित्त से पर में भ्रमण का अभाव होने से अचलदशा को प्राप्त हुई है (आ.टी.)। वस्तुतः ता.टी. में 'अचल' पाठ न लेकर 'अमल' पाठ मुख्य रूप से स्वीकारा है। यह पाठ ज्यादा उचित प्रतीत होता है; क्योंकि ध्रुव और अचल एकार्थवाची हैं।

प्रश्न-९. यह पाठभेद क्यों है ?

उत्तर - ज्ञान की परम्परा बहुत समय तक मौखिक चलने से और लिखने वाला कोई और तथा बोलने वाला कोई अन्य होने से भी यह स्खलन संभव है। जिससे पाठभेद हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ की प्रतियों में पाठभेद बहुत पहले से चला आ रहा है। यह इस बात से भी पुष्ट होता है कि कुछ गाथाएँ आत्मख्याति टीका के बिना हैं, यानी श्री अमृतचन्द्रसूरि जी के समक्ष ये

गाथाएँ उपलब्ध न हों और श्री जयसेनाचार्य को ये गाथाएँ उपलब्ध रही हों, यह भी स्पष्ट हो जाता है।

प्रश्न-१०. अनुपम गति का क्या अर्थ है ?

उत्तर - जगत् में जो समस्त उपमा योग्य पदार्थ हैं, उनसे विलक्षण अद्भुत माहात्म्य होने से जिसकी कोई उपमा नहीं है, वह अनुपम गति है। (आ.टी.)

प्रश्न-११. इस गति का कोई और नाम भी है क्या ?

उत्तर - हाँ! इस गति की अपवर्ग संज्ञा है। (आ.टी.)। धर्म, अर्थ, काम ये तीन वर्ग हैं। इनसे रहित होने से मोक्ष या सिद्ध गति अपवर्ग संज्ञा वाली है।

प्रश्न-१२. सिद्ध गति को प्राप्त सिद्ध भगवान् और कैसे हैं ?

उत्तर - वे सिद्ध भगवान् सिद्ध नाम से साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्द के स्थान हैं अर्थात् आदर्श हैं। (आ.टी.)अर्थात् जिनके स्वरूप का संसारी भव्य जीव चिन्तन करके स्वयं उनके समान हो जाते हैं।

प्रश्न-१३. उन सिद्धों की स्तुति भव्य जीव किस तरह करते हैं ?

उत्तर - उन सिद्धों की स्तुति दो प्रकार से की जाती है। भाव स्तुति और द्रव्य स्तुति (आ.टी.)।

प्रश्न-१४. भाव स्तुति से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर - निश्चयनय से अपनी आत्मा में ही आराध्य-आराधक भाव रूप निर्विकल्प-समाधि के लक्षण से भाव नमस्कार होता है, यही भाव स्तुति है। (ता.टी.)

प्रश्न-१५. यह स्तुति कौन करता है ?

उत्तर - जिनको निर्विकल्प समाधि होती है, वे योगी ऐसी निश्चय स्तुति करते हैं। निर्विकल्प समाधि मे ंही आराध्य-आराधक भाव का यह द्वैत मिटता है। अपनी आत्मा ही आराधक और अपनी आत्मा ही आराध्य यहाँ अनुभव में आती है।

प्रश्न-१६. द्रव्य स्तुति से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर - वचनात्मक द्रव्य नमस्कार करना द्रव्य स्तुति है।

प्रश्न-१७. यह ग्रन्थ किनके द्वारा कहा गया है ?

उत्तर - यह ग्रन्थ श्रुतकेवलियों के द्वारा कहा गया है।

प्रश्न-१८. श्रुतकेवली से यहाँ क्या तात्पर्य है ?

उत्तर - श्रुत अर्थात् परमागम। उस परमागम में केवलियों, सर्वज्ञ भगवन्तों को यहाँ श्रुतकेवली कहा गया है। अथवा गणधर देव को यहाँ श्रुतकेवली कहा है। (ता.टी.) अनादि निधन परमागम शब्द ब्रह्म द्वारा प्रकाशित होने से तथा सब पदार्थों के समूह को साक्षात् करने वाले केवली भगवान् सर्वज्ञ देव के द्वारा प्रणीत होने से और केवलियों के निकटवर्ती साक्षात् सुनने वाले और स्वयं अनुभव करने वाले ऐसे श्रुतकेवली हैं। (आ.टी.)

तत्र तावत्समय एवाभिधीयते-

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मुवदेसट्ठियं च, तं जाण परसमयं ।।२।।

आ.टी.-योऽयं नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावे अवतिष्ठमानत्वात् उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यानुभूतिलक्षणया सत्तयानुस्यूतश्चैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविशददृशिज्ञप्तिज्योतिरनन्तधर्माधिरूढैकधर्मित्वादुद्योत-

---

प्रश्न-१९. यह ग्रन्थ प्रामाणिक क्यों है ?

उत्तर - उपर्युक्त स्वरूप वाले श्रुतकेवलियों के द्वारा कहा होने से यह ग्रन्थ प्रमाणता को प्राप्त है। (आ.टी.)

प्रश्न-२०. इस ग्रन्थ का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर - निर्विकार स्व संवेदन ज्ञान से शुद्धात्मा का परिज्ञान होना अथवा शुद्धात्मा की प्राप्ति होना ही इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। (ता.टी.)

प्रश्न-२१. समय प्राभृत का निरुक्ति अर्थ क्या है ?

उत्तर - सम् अर्थात् सम्यक् , अयः अर्थात् बोध, सम्यक् बोध जिसके पास होता है वह समय आत्मा है। अथवा 'सम' यानी एकीभाव से 'अयनं' यानी परिणमन को 'समय' कहते हैं। प्राभृत सार को कहते हैं। वह सार शुद्धावस्था है। जिससे सिद्ध हुआ कि समय यानि आत्मा और प्राभृत यानी शुद्धावस्था। आत्मा की शुद्धावस्था ही समय प्राभृत है। अथवा आत्मा ही प्राभृत यानी सार है, इसलिए समय प्राभृत है। (ता.टी.)

उत्थानिका - उसमें सर्वप्रथम समय कहा जाता है -

अन्वयार्थ - हे भव्य! (जीवो) जो जीव (चरित्तदंसणणाणट्ठिदो) दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित हो रहा है (तं) उसे (हि) निश्चय से (ससमयं) स्वसमय (जाण) जानो (च) और जो जीव (पुग्गलकम्मुवदेसट्ठियं) पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित है (तं) उसे (परसमयं) परसमय (जाण) जानो।। २।।

अर्थ- जो जीव चारित्र, दर्शन और ज्ञान में स्थित है, उसे निश्चय से स्वसमय जानो और जो जीव पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित है, उसे परसमय जानो।

जो शुद्धबोधव्रत दर्शन में समाता, होता निजी समय जीव वही सुहाता।
रागादि का रसिक वो निजको भुलाया, माना गया समय में समया पराया ।।२।।

मानद्रव्यत्वः क्रमाक्रमप्रवृत्तविचित्रभावस्वभावत्वादुत्संगितगुणपर्यायः स्वपराकारावभासनसमर्थ-त्वादुपात्तवैश्वरूप्यैकरूपः प्रतिविशिष्टावगाहगतिस्थितिवर्त्तननिमित्तत्वरूपित्वाभावादसाधारण चिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाशधर्माधर्म-कालपुद्गलेभ्यो भिन्नोऽत्यन्तमनन्तद्रव्यसंकरेऽपि स्वरूपादप्रच्यवनाट्टङ्कोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः स समयः। 'समयत एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति चेति' निरुक्तेः अयं खलु यदा सकलभावस्वभावभासन-समर्थविद्यासमुत्पादकविवेकज्योति रुद्गमनात्समस्तपरद्रव्यात्प्रच्युत्य दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्ति रूपात्मतत्त्वैकत्व- गतत्वेन वर्त्तते तदा दर्शनज्ञानचारित्रस्थितत्वात्स्वमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च स्वसमय इति। यदा

आ. व्या. - जो यह नित्य ही अपने परिणामस्वरूप आत्म स्वभाव में ठहरा होने के कारण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इनकी एकता की अनुभूति लक्षण वाली सत्ता के साथ तादात्म्य संबंध को प्राप्त हुआ है, चैतन्य स्वभाववाला होने से जिसकी दर्शनोपयोग रूप और ज्ञानोपयोगरूप ज्योति नित्य व्यक्त रहती है, अनन्त धर्मों से युक्त एक धर्मिरूप होने से जिसका द्रव्यत्व प्रकाशित हो रहा है, क्रम से उत्पन्न होने वाली पर्यायों के भाव और अक्रम से होने वाले गुण के स्वभाव को जिसने अपनाया है, स्व और पर के प्रकट करने की सामर्थ्य से युक्त होने के कारण अनेकरूपता को स्वीकार करने वाला होने पर भी जो एकरूप होता है, जीव और पुद्गल द्रव्यों के अवगाह में, उनकी गतिरूप परिणति में, स्थितिरूप परिणति में और उनकी वर्तना में निमित्त न होने से और रूपीद्रव्य न होने से तथा असाधारण चिद्रूपता स्वभाववाला होने से जो आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल इन द्रव्यों से भिन्न होता है, अनन्त द्रव्यों के साथ अत्यन्त मिला होने पर भी अपने स्वरूप से प्रच्युत न होने के कारण जिसका चैतन्य स्वभाव टंकोत्कीर्ण के समान नित्य अविनश्वर होता है, ऐसा जो जीवनामक पदार्थ है वह 'समय' है। क्योंकि समय शब्द की निरुक्ति है कि 'जो अपने गुणों को और पर्यायों को अपने से अभिन्न जानता है और परिणत होता है वह समय है' यह जीव जब सम्पूर्ण पदार्थों के स्वभावों को प्रकट करने की सामर्थ्य से युक्त केवलज्ञान रूपी विद्या को उत्पन्न करने वाले भेदज्ञानरूप सूर्य के उदय हो जाने से सम्पूर्ण परद्रव्यों से छूटकर दर्शनोपयोगरूप और ज्ञानोपयोगरूप अपने स्वभाव में निश्चलरूप से आत्म तत्त्व के साथ एकरूप (अभिन्न) होकर रहता है तब दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थिर रहने के कारण अपने को (दर्शनादि के साथ) अभिन्नरूप से जानने वाला और (उन दर्शनादि के साथ) अभेद रूप से परिणमन करने वाला होने से वह जीव स्वसमय है। वही जीव जब अनादि अविद्यारूप कंदली (केले) के उत्पत्ति स्थानभूत मूलकन्द का आचरण करने वाले मोह के अनुकूल अपनी परिणति की प्रधानता से दर्शनज्ञानात्मक स्वभाव में निश्चलरूप आत्मतत्त्व से च्युत होकर परद्रव्य के कारण आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोहरूप, रागरूप और द्वेषादिरूप विभाव परिणामों के साथ अभेद को प्राप्त होकर रहता है, तब पुद्गल कर्म प्रदेशों में स्थितपना होने से पर-रूप (द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मो) को युगपत् अभिन्न

त्वनाद्यविद्याकन्दलीमूलकन्दायमानमोहानुवृत्तितन्त्रतया दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपादात्मतत्त्वात्प्रच्युत्य परद्रव्यप्रत्ययमोहरागद्वेषादिभावैकत्वगतत्वेन वर्त्तते तदा पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वात्परमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च परसमय इति प्रतीयते। एवं किल समयस्य द्वैविध्यमुद्भावति ।।२।।

अथ गाथापूर्वार्द्धेन स्वसमयमपरार्धेन परसमयं च कथयामीत्यभिप्रायं मनसि सम्प्रधार्य सूत्रमिदं निरूपयति-

ता.टी. - 'जीवो चरित्त' इत्यादि **'जीवो'** शुद्धनिश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावनिश्चयप्राणेन तथैवाशुद्धनिश्चयेन क्षायोपशमिकाशुद्धभावप्राणैरसद्भूतव्यवहारेण यथासंभवद्रव्यप्राणैश्च जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः। **चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण** स च जीवश्चारित्रदर्शनज्ञानस्थितो यदा भवति तदा काले तमेव जीवं हि स्फुटं स्वसमयं जानीहि। तथाहि - विशुद्धज्ञानदर्शन

रूप से जानता है और उनको आत्मीय समझकर परिणमन कर लेता है, वह परसमय है ऐसा जाना जाता है। इस प्रकार दो प्रकार का समय है, यह स्पष्ट हो जाता है।।।२।।

(ता. टी.)

उत्थानिका- अब गाथा के पूर्वार्ध से स्व समय को और अपरार्ध से पर समय को कहुंगा। इस प्रकार के अभिप्राय को मन में धारण करके यह सूत्र कहा जाता है।

टीकार्थ - जीवो जो शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से शुद्धबुद्ध एक स्वभाव रूप निश्चय प्राण के द्वारा तथा अशुद्ध निश्चयनय से क्षायोपशमिक रूप अशुद्ध भाव प्राणों द्वारा और असद्भूत व्यवहारनय से यथासंभव द्रव्यप्राणों द्वारा जो जी रहा है, आगे जीता रहेगा और जो पूर्व में जीता था, वह जीव है। **चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण** वह जीव जब चारित्र, दर्शन और ज्ञान में स्थित रहता है, उस समय उसे स्वसमय समझो। अर्थात् विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव वाले निज परमात्मा में रुचि रूप सम्यग्दर्शन और उसी में रागादि रहित स्वसंवेदन का होना वह सम्यग्ज्ञान तथा निश्चल स्वानुभूतिरूप वीतरागचारित्र है। इस प्रकार कहे गये लक्षण वाले निश्चय रत्नत्रय के द्वारा परिणत जीव पदार्थ को हे शिष्य! तू स्वसमय समझ। **पुग्गलकम्मुवदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं** पुद्गल कर्मोपदेश में स्थित उसी जीव को तू पर समय समझ। अर्थात् पुद्गल कर्मोदय के द्वारा उत्पन्न हुई जो नारकादि नामवाली संज्ञायें हैं उनमें पूर्वोक्त निश्चय रत्नत्रय न होने से जो स्थित है उसे उस काल में परसमय समझो। इस प्रकार स्वसमय और परसमय का लक्षण जानने योग्य है। ।। २ ।।

विशेषार्थ - यह उपर्युक्त लेख तो तात्पर्य वृत्तिकार का है, आत्मख्याति में भी यही लिखा है कि जब यह सर्व पदार्थों के स्वभाव के प्रकाश करने में समर्थ ऐसे केवलज्ञान को उत्पन्न करने

स्वभावे निज परमात्मनि यद्रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं तत्रैव रागादिरहितस्वसंवेदनं ज्ञानं तथैव निश्चलानुभूतिरूपं वीतरागचारित्रमित्युक्तलक्षणेन निश्चयरत्नत्रयेण परिणतजीवपदार्थं हे शिष्य! स्वसमयं जानीहि । **पुग्गलकम्मुवदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं** पुद्गलकर्मोपदेशस्थितं च तमेव जानीहि परसमयम्। तद्यथा पुद्गलकर्मोदयेन जनिता ये नारकाद्युपदेशा व्यपदेशाः संज्ञाः पूर्वोक्तनिश्चयरत्नत्रयाभावात्तत्र यदा स्थितो भवत्ययं जीवस्तदा तं जीवं परसमयं जानीहीति स्वसमयपरसमयलक्षणं ज्ञातव्यम्।।।२।।

वाली भेद-ज्ञान-ज्योति के उदय होने से सब पर-द्रव्यों से पृथक् होकर दर्शन-ज्ञान में निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्त्व से एकरूप होकर प्रवृत्ति करता है, तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थिर होने से अपने स्वरूप को एकत्वरूप से एक काल में जानता तथा परिणमन करता हुआ स्वसमय है। और जब अनादि अविद्या रूप मूल वाले कंद के समान मोह के उदयानुसार प्रवृत्ति की आधीनता से दर्शन ज्ञान स्वभाव में निश्चितवृत्ति रूप आत्मस्वरूप से छूट पर-द्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह-राग-द्वेषादि भावों में एकरूप होकर प्रवृत्त होता है तब पुद्गल के कार्माण प्रदेशों में स्थित होने से पर-द्रव्य को अपने से अभिन्न एक काल में जानता है तथा परिणमन करता है, तब परसमय है।। २।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. समयसार में जो 'समय' शब्द आया है, उसका स्वरूप क्या है ?

उत्तर - उस समय शब्द के निम्नलिखित अर्थ हैं। (आ.टी.)-

१. योऽयं नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावेऽवतिष्ठमानत्वात् उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यानुभूति लक्षणया सत्तयानुस्यूतः - जो नित्य ही परिणमनात्मक स्वभाव में रहने से उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य की एकता रूप अनुभूति लक्षण वाली सत्ता से अनुस्यूत (जुडा) है, वह जीव नाम का पदार्थ समय है।

२. चैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविशददृशि ज्ञप्तिज्योतिः - जो चैतन्य स्वरूपी होने से नित्य उदित रहने वाली विशद (निर्मल) दर्शन, ज्ञान ज्योति स्वरूप है, वह जीव नाम का पदार्थ समय है।

३. अनन्तधर्माधिरूढैकधर्मित्वादुद्योतमानद्रव्यत्वः- अनन्त धर्मों में रहने वाला एक धर्मित्व होने से जिसका द्रव्यत्व प्रकट रहता है वह जीव नाम का पदार्थ समय है।

४. क्रमाक्रमप्रवृत्त विचित्रभावस्वभावत्वादुत्संगित गुणपर्यायः - क्रमवर्ती (पर्याय) और अक्रमवर्ती (गुण) रूप प्रवृत्त हुए विचित्र (अनेक) भाव रूप स्वभाव वाला होने से जिसने गुण, पर्यायों को उत्संगित (अंगीकार) किया है वह जीव नाम का पदार्थ समय है।

५. स्वपराकारावभासन- समर्थत्वादुपात्तवैश्वरूप्यैकरूपः - स्व-पर के आकार का प्रकाशन करने में समर्थ होने से जिसने समस्त रूपों का एक रूप प्राप्त कर लिया है अर्थात् एक ज्ञान

के स्व-पर प्रकाशी लक्षण में ही विश्व की समस्त वस्तुओं के आकार समा जाते हैं, ऐसा वह जीव नाम का पदार्थ समय है।

६. प्रतिविशिष्टावगाह गति - स्थिति - वर्तना - निमित्तत्व रूपित्वाभावात् - असाधारण- चिद्रूपता-स्वभाव- सद्भावात् च आकाशधर्माधर्मकालपुद्गलेभ्यो भिन्नोऽत्यन्तम्- प्रतिविशिष्ट (अपने-अपने) जो अवगाहन गति, स्थिति वर्तना में निमित्तपने को लिये हुए और रूपित्व का अभाव होने से तथा असाधारण चिद्रूपपने के स्वभाव का सद्भाव होने से जो आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल द्रव्यों से अत्यन्त भिन्न है, वह जीव नाम का पदार्थ समय है।

७. अनन्त द्रव्यसंकरेऽपि स्वरूपादप्रच्यवनात् टंकोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः स समयः - अनन्त द्रव्यों से संकर होने पर भी अर्थात् एकक्षेत्रावगाह रूप होने पर भी अपने स्वरूप से प्रच्यवन (छूटना) नहीं होने के कारण जो टंकोत्कीर्ण चैतन्य स्वभाव वाला जीव नाम का पदार्थ वह समय है।

प्रश्न-२. जीव किसे कहते है ?

उत्तर- **१. शुद्ध निश्चयनय से-** जो शुद्ध, बुद्ध, एक स्वभाव रूप निश्चय प्राण से जीता है, जीता रहेगा व पूर्व में जीता था, वह जीव है।

२. अशुद्ध निश्चयनय से- क्षायोपशमिक अशुद्ध भाव प्राणों से जो जीता है, जीता रहेगा और पूर्व में जीता था, वह जीव है।

३.असद्भूत व्यवहारनय से- जो यथासंभव द्रव्य प्राणों से जीता है, जीता रहेगा और पूर्व में जिया था वह जीव है (ता.टी.)

प्रश्न-३. निरुक्ति से समय शब्द का क्या अर्थ है ?

प्रतिप्रश्न- निरुक्ति किसे कहते है ?

उत्तर- शब्द की व्युत्पत्ति को व्याकरण लक्षण से सिद्ध करना निरुक्ति कहलाता है। जैसे समय शब्द, 'सम्' उपसर्ग और 'अय गतौ' धातु से बना है। 'अय' धातु गमन अर्थ में और ज्ञान अर्थ में भी प्रयुक्त होती है। 'सम्' का अर्थ है, एक साथ। यानी एक साथ जानने वाला और परिणमन करने वाला जीव समय कहलाता है। यह जीव पदार्थ एक काल में ही परिणमन करता है और जानता भी है, इसलिए यही समय है। समयते एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति चेति निरुक्तेः। (आ.टी.)

प्रश्न-४. इस समय के गाथा में कितने भेद हैं ?

उत्तर- इस समय के इस दूसरी गाथा में दो भेद किये हैं। १. स्वसमय, २. परसमय।

प्रश्न-५. स्वसमय किसे कहते हैं ?

उत्तर- १. जो जीव अपने चरित्र-दर्शन-ज्ञान स्वभाव में स्थित है, वह स्वसमय है (गाथा)

२. जब यह जीव सकल पदार्थों के स्वभाव के प्रकाशन में समर्थ केवलज्ञान (विद्या) को उत्पन्न करने वाली विवेक (भेदज्ञान) ज्योति के उदित होने से समस्त पर द्रव्यों से छूट

करके दर्शन, ज्ञान स्वभाव में निश्चित वृत्ति रूप आत्मतत्त्व में एकत्व को प्राप्त होकर रहता है तब दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थितपना होने से स्व को एकत्व से एक साथ जानता तथा परिणमन करता हुआ स्वसमय कहलाता है। (आ.टी.)

३. हे शिष्य! विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव वाले अपने उत्कृष्ट आत्मा में जो रुचि रूप सम्यग्दर्शन है, उस आत्मा में ही रागादि रहित स्व का संवेदन होने रूप जो ज्ञान है और उसी प्रकार से ही निश्चल अनुभूति रूप जो वीतराग चारित्र है, इन कहे हुए लक्षण वाले निश्चय रत्नत्रय से जो जीव पदार्थ परिणत है उसे स्वसमय जानो। (ता.टी.)

प्रश्न-६. परसमय किसे कहते हैं ?

उत्तर- १. जो जीव पुद्गल कर्म प्रदेशों में स्थित है, वह परसमय है। (गाथा)

२. जब यह जीव अनादि अविद्या रूप मूल वाले कंद के समान मोह की अधीनता से दर्शन-ज्ञान स्वभाव में निश्चित वृत्ति रूप आत्मतत्त्व से च्युत होकर पर द्रव्य के निमित्त होने वाले मोह, राग, द्वेष आदि भावों में एकत्व रूप से प्रवृत्त होता है तब पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थितपना होने से पर द्रव्य को एकत्वरूप से एक साथ जानता हुआ तथा परिणमन करता हुआ परसमय कहलाता है। (आ.टी.)

प्रश्न-७. इस गाथा का तात्पर्य क्या है ?

उत्तर- जो जीव निश्चय रत्नत्रय लक्षण वाले निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में स्थित रहता है उतने काल तक ही वह स्वसमय है। अन्य सभी जीव जो पुद्गल कर्म के उदय से होने वाली नारकी, मनुष्य आदि नाम वाली संज्ञाओं में स्थित हैं, वे परसमय हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि व्यवहार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में रहने वाले जीव भी परसमय हैं और मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र में वर्तने वाले जीव भी परसमय हैं।

प्रश्न-८ क्या स्वसमय और परसमय में जीव एकसाथ नहीं हो सकता है जैसे कि मैं शुद्ध-बुद्ध-एक ज्ञान स्वभाव वाला आत्मा हूँ, ऐसा विचार करना स्वसमय है और पर के बारे में सोचना परसमय है ?

उत्तर - नहीं, नहीं! यह व्याख्यान मात्र विचार का नहीं है। यहाँ आत्मा में एकत्व की अनुभूति का विषय है। जब आत्मा स्वसमय में होगा तो वह अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त कर लेगा; क्योंकि आचार्य अमृतचन्द्र जी ने उसी भेद ज्ञान ज्योति को स्वसमय कहा है, जो केवलज्ञान का कारण है। देखो प्रश्न ५ की नं० २ की परिभाषा। यहाँ भेदज्ञान का विचार करने वाला आत्मा स्वसमय नहीं है किन्तु भेदज्ञान में लीन होकर स्वसंवेदन करने वाले ध्यानी मुनि को स्वसमय कहा है। इसलिए जिस समय ऐसा स्वसमय वाला आत्मा होगा उस समय वह परसमय नहीं होगा।

अथैतद्बाध्यते-

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुंदरो लोगे।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि ।।३।।

आ.टी. - समयशब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते। 'समयते एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति' निरुक्तेः। ततः सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके यावन्तः

प्रश्न-९ नारक आदि संज्ञा में स्थित होने से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर- जब तक मोह के उदय से उत्पन्न हुई इन नारक, मनुष्य, तिर्यंच आदि पर्यायों में मैं नारकी हूँ , मैं मनुष्य हूँ , इत्यादि भावों में यह जीव स्थित रहता है तब तक यह परसमय वाला जीव है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब जीव आत्मध्यान की उस एकाग्रता को प्राप्त करले जिसमें कि 'मैं मनुष्य हूँ' इस भाव का संवेदन भी न रह जाए तब वह स्वसमय कहलाता है और जब तक मनुष्य, नरक आदि पर्याय का संवेदन करता है तब तक वह परसमय है।

प्रश्न-१० आचार्यदेव इस कथन से क्या प्रतिपादन करना चाहते हैं ?

उत्तर - अपने गुणों के साथ एकत्व से निश्चय को प्राप्त शुद्धात्मा ही उपादेय है तथा कर्मबन्ध के साथ एकत्व को प्राप्त अशुद्धात्मा हेय है। अथवा स्वसमय ही शुद्धात्मा का स्वरूप है, परसमय नहीं, इस अभिप्राय को धारण करना चाहिए। (ता.टी.)

उत्थानिका- अब समय की द्विविधता को बाधित करते हैं-

अन्वयार्थ - (एयत्तणिच्छयगदो) एकत्वनिश्चय को प्राप्त जो (समओ) समय है वह (लोगे) लोक में (सव्वत्थ) सब जगह (सुंदरो) सुन्दर है (तेण) इसलिए (एयत्ते) एकत्व में (बंधकहा) दूसरे के साथ बंध की कथा (विसंवादिणी) विसंवाद-विरोध करने वाली (होदि) है।

अर्थ- एकत्वरूप निश्चय रूप में प्राप्त जो समय है वह लोक में सर्वत्र सुन्दर है इसलिए एकत्व में बंधकथा विसंवादिनी है।

प्यारा यही समय है निजधर्म कर्त्ता, एकत्व शाश्वत शुभाशुभ कर्म हर्त्ता।
पै बन्ध की वह कथा दुःखकारिणी है, अच्छी लगे न मुझको भव-वर्धिणी है ।।३।।

केचनाऽप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यान्तर्मग्नानन्तस्वधर्मचक्रचुम्बिनोऽपि परस्परमचुम्बन्तोऽत्यन्तप्रत्या-सत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपतन्तः पररूपेणापरिणमनादविनष्टानन्तव्यक्तित्वाट्टंङ्कोत्कीर्णा इव तिष्ठन्तः समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णन्तो नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौन्दर्यमापद्यन्ते, प्रकारान्तरेण सर्वसंकरादिदोषापत्तेः। एवमेकत्वे सर्वार्थानां प्रतिष्ठिते सति जीवाह्वयस्य समयस्य बन्धकथाया एव विसंवादापत्तिः। कुतस्तन्मूलपुद्गलकर्म -प्रदेशस्थितत्वमूलपरसमयत्वोत्पादितमेतस्य द्वैविध्यम् । अतः समयस्यैकत्व-मेवावतिष्ठते ।।३।।

आ.व्या. - अपनी गुणपर्यायों के साथ एकरूपता रखने से जो अपने स्वरूप में रहता है वह समय है। इस प्रकार की समय शब्द की निरुक्ति होने से यहाँ समय शब्द के द्वारा सामान्य रूप से सभी पदार्थ कहे हैं। इसलिए सर्वत्र धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीवद्रव्य से परिपूर्ण ऐसे लोक में जो कोई जितने पदार्थ होते हैं, वे सभी पदार्थ अपने-अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न होकर रहने वाले अपने- अपने धर्मों के समूह को स्पर्श करने पर भी एक दूसरे को अपने स्वभाव से स्पर्श न करने वाले होने से उनमें अत्यधिक प्रत्यासत्ति/सामीप्य होने पर भी नित्य ही अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते हैं। परद्रव्य के रूप से परिणत नहीं होते हैं तथा उनका अनन्त रूप व्यक्तिपना नष्ट नहीं होता है, इस कारण से टंकोत्कीर्ण के समान रहने वाले, समस्त विरुद्ध और अविरुद्ध कार्यों का हेतु बनकर सर्वदा ही विश्व का उपकार करते हुए निश्चितरूप से एकत्व के निश्चय को प्राप्त हो जाने से सुन्दरता को (समीचीनता को) प्राप्त होते हैं क्योंकि अन्य प्रकार से होने पर सभी पदार्थों का संकर हो जाना आदि रूप दोष होने की आपत्ति आती है। इस प्रकार सभी पदार्थों का एकत्व सिद्ध हो जाने पर जीव नाम वाले समय का जो 'बंध होता है' ऐसी बंध कथा से ही विसंवादी होने की आपत्ति उपस्थित हो जाती है, जिससे बंध के मूलकारणभूत पुद्गल कर्मप्रदेश में स्थितपना ही परसमय की उत्पत्ति का मूल कारण है ऐसे समय की द्विविधता कैसे बनेगी? इसलिए इस समय का एकत्व ही सिद्ध होता है। ।।३।।

(ता.टी.)

अब अपने गुणों के साथ एकत्व के निश्चय को प्राप्त हुआ ऐसा शुद्धात्मा ही उपादेय है और कर्मबंध के साथ एकमेक हुआ आत्मा हेय है। अथवा स्वसमय ही शुद्धात्मा का स्वरूप है, पर समय शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं है इस अभिप्राय को मन में धरकर इस सूत्र के पश्चात् इसी सूत्र की आवश्यकता है ऐसा निश्चयकर विवक्षित सूत्र कहते हैं। इस प्रकार उत्थानिका सर्वत्र जानना चाहिये-

टीकार्थ- एयत्तणिच्छयगदो अपने ही शुद्ध गुण और पर्यायों में परिणमता हुआ अथवा अभेद रत्नत्रय में परिणमता हुआ एकता के निश्चय में प्राप्त हुआ **समओ** आत्मा-समय शब्द से आत्मा लेना योग्य है क्योंकि इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है 'सम्यक् अयते गच्छति परिणमति कान्

अथ स्वगुणैकत्वनिश्चयगतशुद्धात्मैवोपादेयः कर्मबन्धेन सहैकत्वगतो हेय इति, अथवा स्वसमय एव शुद्धात्मनः स्वरूपं, न पुनः परसमय इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा, अथवास्य सूत्रस्यानन्तरं सूत्रमिदमुचितं भवतीति निश्चित्य विवक्षितसूत्रं प्रतिपादयति, - इति पातनिकालक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यम्-

ता.टी. - एयत्तणिच्छयगदो- स्वकीयशुद्धगुणपर्यायपरिणतः, अभेदरत्नत्रयपरिणतो वा एकत्वनिश्चयगतः **समओ** समयशब्देनात्मा कस्माद्धेतोः? सम्यगयते गच्छति परिणमति। कान्? स्वकीय गुणपर्यायानिति व्युत्पत्तेः **सव्वत्थ सुंदरो** सर्वत्र समीचीनः। क्व? **लोगे** लोके अथवा सर्वत्रैकेन्द्रियाद्यवस्थासु शुद्ध निश्चयनयेन सुन्दर उपादेय इति। **बंधकहा**

स्वकीयगुणपर्यायान्' अर्थात् जो भले प्रकार अपने ही गुण और पर्यायों को परिणमन करे सो समय अर्थात् आत्मा **सव्वत्थ सुंदरो** सब ही ठिकाने सबको सुहावना है। **लोगे** इस संसार में सब ही एकेन्द्रियादि अवस्था में शुद्ध निश्चयनय से सुन्दर है उपादेय है। **बंध कहा** किन्तु कर्मबन्ध से होने वाली गुणस्थानादिरूप पर्यायों से एयत्ते तन्मय होकर रहने में बंध कथा प्रवर्तती है **तेण** पूर्वोक्त जीव पदार्थ के साथ **विसंवादिणी** विसंवाद पैदा करने वाली अर्थात् गडब्रड.पैदा करने वाली **होदि** होती है वह असत्य है अर्थात् प्रशंसा योग्य नहीं है क्योंकि वह शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि स्वसमय ही आत्मा का स्वरूप है ।।३।।

विशेषार्थ - यहाँ आचार्यदेव ने यह बताया है कि संसारी आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध है जो आत्मा के शुद्धस्वरूप को प्रकट नहीं होने देता। इसकी कथा यहाँ न करके यहाँ तो आत्मा के शुद्ध स्वरूप की कथा की जा रही है। ।।३।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. यहाँ 'समय' शब्द से क्या वही शुद्धात्मा कही है ?

उत्तर - नहीं! यहाँ समय शब्द से सामान्य से सभी पदार्थ (छह द्रव्य) कहे हैं। (आ.टी.)

प्रश्न-२. क्या जयसेन आचार्य ने भी 'समय' शब्द से यही अर्थ किया है ?

उत्तर- नहीं! उन्होंने समय शब्द से आत्मा का ही ग्रहण किया है। (ता.टी.)

प्रश्न-३. फिर अमृतचन्द्र सूरि ने 'समय' से सभी द्रव्यों का ग्रहण कैसे कर लिया ?

उत्तर- 'समय' शब्द का निरुक्ति से अर्थ करके। समयते एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेः (आ.टी.) अर्थात् एकीभाव से अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त हुआ जो परिणमन करे वह समय है।

प्रश्न-४. तो क्या सभी द्रव्य एकत्व के साथ निश्चय को प्राप्त हैं जैसा कि गाथा में लिखा है कि

कर्मबन्धजनितगुणस्थानादिपर्याया:। **एयत्ते** एकत्वे तन्मयत्वे या बन्धकथा प्रवर्तते **तेण** तेन पूर्वोक्त-जीवपदार्थेन सह सा **विसंवादिनी** विसंवादी को७र्थ: ? विसंवादिनी कथा। प्राकृतलक्षणबलात् पुल्लिंगे स्त्रीलिंगनिर्देश:। विसम्वादिनी असत्या **होदि** भवति। शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवस्वरूपं न भवतीत्यर्थ:। तत: स्थितं स्वसमय एवात्मन: स्वरूपमिति ।।३।।

'एयत्तणिच्छयगदो समओ' अर्थात् समय एकत्व के साथ निश्चय को प्राप्त है ?

उत्तर- हाँ! हाँ! सभी द्रव्य एकत्व के निश्चय को प्राप्त हैं।

प्रश्न-५. वह कैसे ?

उत्तर- धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य, काल द्रव्य, पुद्गल द्रव्य और जीव द्रव्य स्वरूप लोक में जितने भी पदार्थ हैं वे सभी एक अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न अनन्त अपने धर्मों (गुणों) के समूह से संयुक्त होते हुए भी परस्पर में अलग-अलग हैं। उन द्रव्यों में अत्यन्त निकटता होने पर भी सदैव ही अपने स्वरूप को नहीं छोडते हुए, परद्रव्य रूप से परिणमन नहीं करने से तथा अविनष्ट अनन्त व्यक्तिपने से टंकोत्कीर्ण के समान ही रहते हैं और समस्त विरुद्ध-अविरुद्ध कार्य में हेतु रूप से सभी का अनुग्रह करते हुए निश्चित ही एकत्व के निश्चय को प्राप्त हैं (आ.टी.)

प्रश्न-६. वह समय सुन्दर है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर - निश्चय से सभी पदार्थ (छहों द्रव्य) अपने-अपने स्वभाव में एकत्व को प्राप्त करके शोभा पाते हैं, इसलिए सुन्दर हैं। अन्य प्रकार से हो जाएँ तो सुन्दर न रहें किन्तु संकर-व्यतिकर आदि सभी दोष आ जाएंगे।

प्रश्न-७. फिर विसंवाद की बात किसमें और क्यों है ?

उत्तर - विसंवाद की बात केवल जीव पदार्थ में है क्योंकि यह जीव बंधकथा को प्राप्त है। यह जीव कर्मबन्ध से उत्पन्न गुणस्थान आदि पर्यायों वाला है और उसी में एकत्व से तन्मयपने से बन्ध कथा चल रही है। यह बन्धकथा अर्थात् बन्ध परम्परा ही विसंवादिनी है, असत्य है। (ता.टी.)

प्रश्न-८ इस विसंवाद का मूल कारण क्या है ?

उत्तर - इस बंधकथा का मूल कारण पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थित होना है। इसी कारण से परसमयता पैदा हुई है। इसी से आत्मा के द्विविधता आती है। (आ.टी.)

प्रश्न-९ 'एकत्व से निश्चय को प्राप्त' इसका क्या अर्थ लेना चाहिए ?

उत्तर- जो आत्मा अपने शुद्ध गुण और शुद्ध पर्यायों से परिणत है (ऐसा अरिहन्त, सिद्ध परमात्मा) अथवा अभेद रत्नत्रय से परिणत (ऐसा अप्रमत्त ध्यानी मुनि) एकत्व से निश्चय को प्राप्त कहा जाता है। (ता.टी.)

प्रश्न-१० इस गाथा का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर- विसंवादिनी होने से बंधकथा शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है। स्वसमय ही आत्मा का स्वरूप है, यह जानना ही इस गाथा का प्रयोजन है। (ता.टी.)

अथैतदसुलभत्वेन विभाव्यते -

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ।। ४ ।।

आ.टी. - इह किल सकलस्यापि जीवलोकस्य संसारचक्रक्रोडाधिरोपितस्याश्रान्तमनन्तद्रव्य-क्षेत्रकाल- भवभावपरावर्त्तैः समुपक्रान्तभ्रान्तेरेकच्छत्रीकृतविश्वतया महता मोहग्रहेण गोरिव वाह्यमानस्य प्रसभोज्जृम्भिततृष्णातङ्कत्वेन व्यक्तान्तराधेरुत्तम्योत्तम्य मृगतृष्णायमानं विषयग्राममुपरुन्धानस्य परस्परमाचार्यत्वमाचरतोऽनन्तशः श्रुतपूर्वानन्तशः परिचितपूर्वानन्तशोऽनुभूतपूर्वा चैकत्वविरुद्धत्वेनात्यन्तविसंवादिन्यपि कामभोगानुबद्धा कथा। इदं तु नित्यव्यक्ततयान्तःप्रकाशमानमपि

उत्थानिका- अब उस एकत्व की दुर्लभता कहते हैं-

अन्वयार्थ - (सव्वस्स वि) सर्व लोक को (कामभोगबंधकहा) कामभोगसंबंधी बन्ध की कथा तो (सुदपरिचिदाणुभूदा) सुनने में आ गई है, परिचय में आ गई है, और अनुभव में भी आ गई है, इसलिए सुलभ है, (णवरि) किन्तु (विहत्तस्स) भिन्न आत्मा का (एयत्तस्सुवलंभो) एकत्व होना कभी न तो सुना है, न परिचय में आया है और न अनुभव में आया है, इसलिए एक मात्र वही (ण सुलहो) सुलभ नहीं है

अर्थ - सभी के काम-भोग विषयक बंधकथा सुनने में आयी है, परिचय में आयी है और अनुभव में आयी है किन्तु केवल भिन्न आत्मा के एकत्व की प्राप्ति सुलभ नहीं है।

अनु.व्या. - इस जगत् में सकल जीव समूह संसार चक्र के मध्य में पड़े हैं। बिना थके हुए अनन्त द्रव्य परावर्तन, अनन्त क्षेत्र परावर्तन, अनन्तकाल परावर्तन, अनन्त भवपरावर्तन और अनन्त भाव परावर्तनों के द्वारा भ्रान्ति को प्राप्त हुए हैं। जिसका सम्पूर्ण विश्व पर एकछत्र राज्य है, ऐसे बहुत बलवान मोह रूप पिशाच के द्वारा सकल जीव समूह बैल के समान जोते जा रहे हैं। अत्यधिक बढती हुई तृष्णा के रोग से अन्तरंग में मानसिक पीड़ा स्पष्ट बनी रहती है जिससे दुःखी हो-हो कर मृगतृष्णा के समान दिखने वाले पाँच इन्द्रियों के विषय समूह को समस्त जीव समूह प्राप्त कर रहा है। वे विषय समूह परस्पर में आचार्यत्व कर रहे हैं अर्थात् एक-दूसरे से और अधिक विषय समूह प्राप्त करने की दौड़ में लगे हैं। अनन्त बार जिन्हें पहले सुना है, अनन्त बार जिनसे पहले परिचय

हैं काम भोग विधि बन्धन की कथायें, भोगी सुनी बहुत की पर ये व्यथायें।
एकत्व की निज कथा सुखदा अकेली, अत्यन्त दुर्लभ करूँ उस संग केली ।।४।।

कषायचक्रेण सहैकीक्रियमाणत्वादत्यन्ततिरोभूतं सत् स्वस्यानात्मज्ञतया परेषामात्मज्ञानामनुपासनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं न कदाचिदपि परिचितपूर्वं न कदाचिदप्यनुभूतपूर्वं च निर्मलविवेकालोक-विविक्तं केवलमेकत्वम्। अत एकत्वस्य न सुलभत्वम् ।। ४।।

अथैकत्वपरिणतं शुद्धात्मस्वरूपं सुलभं न भवतीत्याख्याति -

ता.टी. - सुदा श्रुता अनन्तशो भवति **परिचिदा** परिचिता सा पूर्वमनन्तशो भवति। **अणुभूदा** अनुभूतानन्तशो भवति। कस्य ? **सव्वस्सवि** सर्वस्यापि जीवलोकस्य। कासौ ? **कामभोगबंधकहा** कामरूपभोगाः कामभोगाः अथवा कामशब्देन स्पर्शनरसनेन्द्रियद्वयं भोगशब्देन घ्राणचक्षुःश्रोत्रत्रयं तेषां कामभोगानां बन्धः सम्बन्धस्तस्य कथा। अथवा बन्धशब्देन प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धास्तत्फलं

हुआ है और अनन्त बार पहले जिनको अनुभूत किया है ऐसी काम-भोग सम्बन्धी कथा एकत्व के विरुद्धपने से अत्यन्त विसंवादिनी अर्थात् पूर्णतः असत्य है। और यह आत्म तत्त्व नित्य व्यक्तपने से अन्तरंग में प्रकाशमान होकर भी कषाय समूह के साथ एक-रूप हो जाने से अत्यन्त आच्छादित हुआ है। अर्थात् आत्मा का स्वभाव कषायों के कारण अप्रकट है। जिस कारण से यह आत्मा स्वयं के आत्मतत्त्व को नहीं जानता है और जो दूसरे आत्मज्ञ हैं उनकी उपासना नहीं करता है। इसलिए निर्मल भेद-विज्ञान के प्रकाश एकत्व स्वरूप केवल आत्मा को न पहले कभी भी सुना है, न कभी पहले उससे परिचित हुआ है और न पहले कभी उसको अनुभूत किया है। अतः एकत्व स्वरूप आत्मा की सुलभता नहीं है।

(ता.टी.)

टीकार्थ- सुदा अनन्तबार सुनी गई है **परिचिदा** अनन्तबार परिचय में आई है **अणुभूदा** अनन्तबार अनुभव में भी आई है **सव्वस्स वि** सब ही संसारी जीवों के **कामभोगबंधकहा** काम शब्द से स्पर्शन और रसना इन्द्रिय के विषय और भोग शब्द से घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय के विषय लिये गये हैं। उनके बंध या सम्बन्ध की कथा अथवा बंध शब्द के द्वारा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध एवं उसका फल नरनारकादिरूप लिया जा सकता है। इस प्रकार काम, भोग और बन्ध की कथा जो पूर्वोक्त प्रकार से श्रुत-परिचित और अनुभूत है, इसलिए दुर्लभ नहीं किन्तु सुलभ है। **एयत्तस्स** परन्तु एकत्व का अर्थ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र के साथ एकता को लिए हुए परिणमन रूप जो निर्विकल्प समाधि उसके बल से अपने आपके अनुभव में आने योग्य शुद्धात्मा का स्वरूप है। उसके एकत्व का **उवलंभो** उपलम्भ संप्राप्ति अर्थात् अपने उपयोग में ले आना **णवरि** वह केवल **ण सुलभो** सुलभ नहीं है **विहत्तस्स** कैसे एकत्व का ? रागादि से रहित एकत्व का। क्योंकि वह न तो कभी सुना गया न कभी परिचय में आया और न अनुभव में ही लाया गया है ।।४।।

च नरनारकादिरूपं भण्यते। कामभोगबन्धानां कथा कामभोगबन्धकथा, यतः पूर्वोक्तप्रकारेण श्रुतपरिचितानुभूता भवति ततो न दुर्लभा किन्तु सुलभैव। **एयत्तस्स** एकत्वस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैक्यपरिणतिरूपनिर्विकल्पसमाधिबलेन स्वसंवेद्यशुद्धात्मस्वरूपस्य तस्यैकत्वस्य। **उवलंभो** उपलम्भः प्राप्तिर्लाभः। **णवरि** केवलं अथवा नवरि किन्तु **ण सुलभो** नैव सुलभः। कथंभूतस्यैकत्वस्य? **विहत्तस्स** विभक्तस्य रागादिरहितस्य। कथं न सुलभ इति चेत् , श्रुतपरिचितानुभूतत्वाभावादिति ।।४।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. काम-भोग बंधकथा से क्या अर्थ है ?

उत्तर- काम रूप भोगों को कामभोग कहते हैं। (ता.टी.)- यह प्रथम अर्थ है। यहाँ काम-भोग एक ही शब्द जानना। अपनी इच्छा पूर्ति के लिए इन्द्रियों के विषयों का भोग काम-भोग कहलाता है। अथवा स्पर्शन और रसना इन्द्रिय ये दोनों काम शब्द से कही जाती है। घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये तीन इन्द्रियाँ भोग शब्द से कही जाती हैं। इन काम-भोग इन्द्रियों का जो संबंध है वही काम- भोग बंध का अर्थ है। अथवा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध हैं और उनका फल नर, नारक आदि रूप है। इस तरह पूर्वोक्त कहे काम, भोग और इस बंध की कथा काम भोग बंध कथा है। (ता.टी.) यह तृतीय अर्थ है।

प्रश्न-२. यह काम भोग बंधकथा सुलभ क्यों है ?

उत्तर- क्योंकि पहले अनन्त बार इस कथा को सुना है, इससे परिचय किया है और इसे अनुभूत किया है इसलिए सुलभ है।

प्रश्न-३. फिर दुर्लभ क्या है ?

उत्तर- एकत्व विभक्त आत्मा की प्राप्ति दुर्लभ है।

प्रश्न-४. एकत्व किसे कहते हैं ?

उत्तर- निर्मलविवेकालोकविविक्तं केवलमेकत्वम्- निर्मलभेद ज्ञान रूपी प्रकाश से भिन्न और इन्द्रिय मन से रहित आत्मपरिणति एकत्व कहलाती है। (आ.टी.) तथा सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र की ऐक्य परिणति रूप निर्विकल्प समाधि के बल से स्वसंवेदन के योग्य शुद्धात्मा का स्वरूप एकत्व कहा जाता है। (ता.टी.)

प्रश्न-५. विभक्त किसे कहते हैं ?

उत्तर- रागादि से रहित आत्मा विभक्त कहलाती है। (ता.टी.) यह 'विभक्त' शब्द एकत्व परिणति का फल है। जब आत्मा एकत्व स्वरूप से परिणत हो जाता है तब वह रागादि से पृथक् हो जाने से विभक्त कहलाता है। तभी वह आत्मा एकत्व विभक्त कहलाता है।

प्रश्न-६. इस एकत्व विभक्त आत्मा की प्राप्ति दुर्लभ क्यों है ?

उत्तर- इसके दो कारण हैं। प्रथम कारण- अपनी अज्ञानता। दूसरा कारण- आत्मज्ञानियों की उपासना का अभाव। जो इस प्रकार कहा है- यह एकत्व नित्य-व्यक्त रहने से अन्तरंग में प्रकाशमान है तो भी वह कषायसमूह से एकीकृत हो जाने से अत्यन्त तिरोभूत (आच्छन्न) हो गया है। इस कारण स्वयं की अज्ञानता से कभी अपने को स्वयं नहीं जाना है। तथा दूसरे आत्मज्ञान रखने वालों की उपासना नहीं करने से इस एकत्व विभक्त आत्मा के स्वरूप को न पहले कहीं सुना, न कभी पहले इससे परिचित हुआ, न कभी इसकी अनुभूति पहले हुई। (आ.टी.)

प्रश्न-७. यह एकत्व नित्य व्यक्त है, ऐसा क्यों कहा है ?

उत्तर- आत्मा का यह एकत्वरूप शुद्ध स्वभाव परम पारिणामिक भाव की अपेक्षा से आत्मा में सदैव प्रकट रहता है। अपने चित्स्वरूप का अभाव कभी नहीं हुआ है, इसलिए नित्य व्यक्त कहा है।

प्रश्न-८. यह स्वभाव क्या सभी आत्माओं में है ?

उत्तर- हाँ! 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' सभी जीव शुद्ध नय की अपेक्षा नित्य शुद्ध हैं। यह इसलिए कहा है कि सभी आत्माएँ यद्यपि शुद्धनय से शुद्ध हैं, नित्य व्यक्त हैं तथापि वर्तमान पर्याय की अपेक्षा अशुद्ध हैं, संसारी हैं। चाहे भव्य जीव हों या अभव्य जीव हों, सभी में यह समान रूप से पाया जाता है। कहा भी है - 'अथायं जीवत्व पारिणामिको भावो भव्याभव्यानां सदृशः' - (नि.सा. गा. ४१ की टीका)

प्रश्न-९ श्रुत, परिचित और अनुभूत ये तीनों बातें एक हैं या इनमें कुछ विशेषता है?

उत्तर- सामान्यतः एक है किन्तु विशेषतः विशेष भी है। मनोयोग पूर्वक सुनना ही सुनना है। बहुत बार सुनने से उस वस्तु का परिचय हो जाता है और बार-बार परिचित होने से वह अनुभूत होने लगता है।

प्रश्न-१० क्या यह काम, भोग, बंध कथा के साथ ही घटित है या एकत्व विभक्त आत्मा के साथ भी घटित हो सकता है ?

उत्तर- काम-भोग बंध के साथ तो स्पष्टतः घटित ही है। एकत्व विभक्त आत्मा की बात सुनना सुलभ नहीं है। इस कथा को सुन-सुन करके इसके द्वारा आत्मा स्वरूप से अच्छी तरह परिचित हो जाना और दुर्लभ है। फिर इस परिचय की अधिकता से स्वरूप में लीन होकर आत्मानुभूति करना और अधिक दुर्लभ है।

प्रश्न-११. क्या इसे गुणस्थान की अपेक्षा भी समझ सकते हैं ?

उत्तर- हाँ! मिथ्यात्व गुणस्थान में देशनालब्धि में भी इस एकत्व विभक्त आत्मा की कथा सुनी जा सकती है। फिर चतुर्थ गुणस्थान की प्राप्ति होने पर सुनने में परमानन्द आता है। जिससे आत्म कथा परिचित हो जाती है। चतुर्थ गुणस्थान से भेद रत्नत्रय रूप प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थान तक इस आत्मकथा का सुनना और परिचत होना खूब होता रहता है। इसके बाद निवृत्तिरूप अप्रमत्त

गुणस्थान से उपरिम गुणस्थानों में अभेद रत्नत्रय की परिणति हो जाने से इस एकत्व विभक्त की अनुभूति होती है। इस तरह यह उत्तरोत्तर दुर्लभ है।

प्रश्न-१२. शुभ और अशुभ भाव रूपी परावर्तन अनन्तबार हो गए हैं। दया, दान, व्रत, तप, पूजा, भक्ति आदि शुभभाव जीव ने अनन्तबार किए हैं। शुभ विकल्पों में एक रूप मानता हुआ भगवान् आत्मा का एकपना ढक गया है?

उत्तर- यह कथन एकान्त निश्चय का है, अनेकान्त शासन का नहीं है। दया, अहिंसा, व्रत, तप आदि शुभभाव हैं। इन शुभभावों में धर्म नहीं, यह कहना पूर्वाचार्यों की वाणी को गलत ठहराना है। स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं-

धम्मो दया विसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो उदययरो भव्वजीवाणं ।। २४ बोध प्रा.।।

अर्थ- धर्म वह है जो दया से विशुद्ध है, दीक्षा वह है जो सर्व परिग्रह से रहित है और देव वह है जिसका मोह दूर हो गया है तथा जो भव्यों का अभ्युदय करने वाला हो।

आचार्य समन्तभद्र देव युक्त्यनुशासन में कहते हैं कि भगवान् का शासन दया, दम, त्याग से ही निष्ठ है।

दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं नयप्रमाणप्रकृतांजसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैः जिनत्वदीयमतमद्वितीयम् ।।

अर्थ - हे जिनेन्द्र भगवन्! आपका मत (शासन) दया, दम, त्याग और समाधि से निष्ठ है। नय और प्रमाण से अन्य सभी प्रवादियों (एकान्तवादियों) से ऐसा आपका मत अद्वितीय है।

स्वयंभू स्तोत्र में महान् दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र देव कहते हैं कि

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं न सा तत्रारम्भोस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं भवानेवात्याक्षीन् न च विकृतवेषोपधिरतः।।

अर्थात्- हे भगवन्! आपने इस जगत् में प्राणियों के लिए अहिंसा को ही परम ब्रह्म कहा है। उस अहिंसा आश्रम में अणुमात्र भी आरम्भ नहीं है। उस अहिंसा की सिद्धि के लिए आपने दोनों प्रकार के परिग्रहों को परम करुणावान् होते हुए त्याग दिया और आप विकृत वेष धारण करने वाले परिग्रह में रत नहीं हुए।

आचार्य कुन्दकुन्द देव अष्टपाहुड.में कहते हैं- कि धर्म वही है जो हिंसा से रहित हो।

हिंसा रहिए धम्मे अट्ठादसदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्धाणं होइ सम्मत्तं।।

करुणा, दया आत्मा का शुभ भाव मात्र नहीं है। वह आत्मा का स्वभाव भाव है। आचार्य वीरसेन जी महाराज श्री धवला में कहते हैं- 'करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो' अर्थात् करुणा जीव का स्वभाव है उसे कर्मजनित कहना विरोध को प्राप्त होता है।
स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द देव शुभभावों को देने वाली शुभ चर्या (वैयावृत्ति, दान आदि) को परम्परा से मोक्ष का कारण कहते हैं।

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्तिभणिदा ता एव परं लहदि सोक्खं ।। प्र.सा..२५४।।

शुभराग रूप प्रवृत्ति मुनियों के लिए गौण रूप में होती है और गृहस्थों के लिए यह मुख्य रूप में होती है। इस चर्या से परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। आचार्य अमृतचन्द्र जी भी अपनी टीका में इसी बात का समर्थन करते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द देव श्रमणों को आदेश देते हैं कि शुभोपयोग में आने पर श्रावकों के लिए जिनेन्द्र पूजा का उपदेश देना चाहिए। शुभोपयोग में यह उपदेश निन्दनीय नहीं है। शुभोपयोगी मुनि का लक्षण बताया है कि 'जो मुनि अरहन्त आदि में भक्ति तथा परमागम से युक्त महामुनियों में वत्सलता रखते हैं यह उनकी शुभोपयोग से युक्त चर्या है।' आत्मा का स्वरूप शुभभावों से ढकता नहीं है किन्तु और प्रकट होता है। निदान रहित होकर जो जीव भगवान् की पूजा, व्रत, दर्शन आदि आचरण करता है, वह नियम से परम्परा से मोक्ष को प्राप्त होता है। शुद्ध बुद्ध स्वभाव तो लक्ष्य में रहता है, करना तो शुभ भाव ही पडता है। जब तक शुद्ध भावों की योग्यता के लिए उपादान समर्थ नहीं होता है तब तक ये शुभ भाव उपाय होने से कथंचित् उपादेय हैं। शुभभाव सम्यग्दृष्टि के भी होते हैं और मिथ्यादृष्टि के भी होते हैं। अनन्तबार शुभभाव मिथ्यादृष्टि के तो हो सकते हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि के नहीं। 'शुभभाव मिथ्यादृष्टि के ही होते हैं'। यह कथन आगम विरुद्ध है। दया, दान आदि सभी क्रियाओं को शुभभाव कहकर अधर्म बतलाना अनेकान्त धर्म का मर्म नहीं समझना है। इन शुभ भावों की तुलना मिथ्यात्व के साथ होन वाले शुभ भावों से नहीं करना चाहिए। शुभ भाव मिथ्यात्व एवं सम्यक्त्व दोनों के साथ होते हैं किन्तु शुभोपयोग सम्यग्दृष्टि को ही होता है। शुभोपयोग की तुलना अशुभोपयोग मय भावों से करना बहुत बडी अज्ञानता है। शुभोपयोग को प्रवचनसार में धर्म कहा है। अशुभोपयोग को धर्म नहीं कहा है। इसी तरह शुभोपयोग रूप शुभभाव कर्मनिर्जरा के लिए कारण हैं, यह शुभोपयोग शुद्धोपयोग का कारण है। द्रव्य संयम एकान्त से मिथ्यात्व के साथ नहीं रहता है। सम्यक्त्व के साथ भी यह द्रव्य संयम रहता है। यह व्यवहार चारित्र रूप द्रव्य संयम मिथ्यादृष्टि को कहना व्यवहार चारित्र का स्वरूप नहीं समझना है। द्रव्यलिंगी को सम्यग्दर्शन के बिना द्रव्य संयम होता है तो इसका अर्थ यह नहीं कि सभी का द्रव्य संयम ऐसा ही होता है।

अत एवैतदुपदर्श्यते-

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं ।। ५।।

आ.टी. - इह किल सकलोद्भासिस्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा समस्तविपक्षक्षोदक्षमातिनिस्तुष-युक्त्यवलंबनजन्मा निर्मलविज्ञानघनान्तर्निमग्नपरापरगुरुप्रसादीकृत शुद्धात्मतत्त्वानुशासनजन्मा अनवरतस्यन्दिसुन्दरानन्दमुद्रितामन्दसंविदात्मकस्वसंवेदनजन्मा च यः कश्चनापि ममात्मनः स्वोविभवस्तेन समस्तेनापि तमेकत्वविभक्तमात्मानं दर्शयेहमिति बद्धव्यवसायोऽस्मि। किंतु यदि दर्शयेयं तदा स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्षेण परीक्ष्य प्रमाणीकर्तव्यम्। यदि तु स्खलेयं तदा तु न छलग्रहणजागरूकैर्भवितव्यम्।। ५।।

उत्थानिका - इसलिए ही इस एकत्व विभक्त को दिखाते हैं-

अन्वयार्थ - (तं) उस (एयत्तविहत्तं) एकत्वविभक्त आत्मा को (अहं) मैं (अप्पणो) आत्मा के (सविहवेण) निज वैभव से (दाएहं) दिखाता हूँ ; (जदि) यदि मैं (दाएज्ज) दिखाऊँ तो (पमाणं) प्रमाण स्वीकार करना और (जदि) यदि (चुक्किज्ज) कहीं चूक जाऊँ तो (छलं) छल (ण) नहीं (घेतव्वं) ग्रहण करना।

अर्थ- उस एकत्व विभक्त आत्मा को मैं अपने आत्मा के निज वैभव के द्वारा दिखलाता हूँ। जो मैं दिखलाऊँगा उसे प्रमाण करना और यदि चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना।

अनु.व्या. - इस संसार में जो निश्चितरूप से सकल पदार्थों को प्रकट करने वाले 'स्यात्' इस पद से चिह्नित शब्दात्मक ब्रह्म अर्थात् द्रव्यश्रुतात्मक आध्यात्मिक शास्त्र की उपासना से प्रकट हुआ है। जो सम्पूर्ण विरोधी मतों का खण्डन करने में समर्थ है और निर्दोष युक्तियों के अवलम्बन से उत्पन्न हुआ है। निर्मल विशिष्ट ज्ञान के घन पिण्ड में अन्तर्मग्न (तीर्थंकररूप) परमगुरुओं और (गणधरादि) अपर गुरुओं की कृपा से जो शुद्ध आत्मतत्त्व की शिक्षा से उत्पन्न हुआ है। जो निरन्तर रूप से प्रवाहित होने वाले शुद्ध आनन्द से चिह्नित ज्ञानस्वरूप स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञान से व्यक्त हुआ है ऐसी मेरी आत्मा का जो वैभव है उस सम्पूर्ण वैभव से भी इस एकत्व विभक्त आत्मद्रव्य को प्रकट करने की मैंने प्रतिज्ञा की है। यदि मैं इस आत्मद्रव्य को दिखाऊँ तो जिज्ञासुओं को स्वानुभव प्रत्यक्ष से परीक्षण करने के बाद प्रमाणभूत बना लेना है। यदि मैं भूल करूँ तो उस भूल या छल को ग्रहण करने में जागरूक नहीं होना है अर्थात् छिद्रान्वेषी नहीं बनना है। ।। ५।।

स्वात्मानुभूति बल से तुमको दिखाता, एकत्वरूप शुचि आतम जो सुहाता।
भाई! दिखा यदि सका उर में सुधारो, हो काश! भूल इसमें छल हा! न धारो ।।५।।

अथ यस्मादेकत्वं सुलभं न भवति तस्मात्तदेव कथ्यते -

ता.टी. - तं तत्पूर्वोक्तम्। **एयत्तविहत्तं** एकत्वविभक्तं अभेदरत्नत्रयैक-परिणतं मिथ्यात्वरागादिरहितं परमात्मस्वरूपमित्यर्थः। **दाएहं** दर्शयेऽहम्। केन ? **अप्पणो सविहवेण** आत्मनः स्वकीयमतिविभवेन आगमतर्कपरमगुरूपदेशस्वसंवेदनप्रत्यक्षेणेति। **जदि दाएज्ज** यदि दर्शयेयं तदा। पमाणं स्वसंवेदनज्ञानेन परीक्ष्य प्रमाणीकर्त्तव्यं भवद्भिः। **चुक्केज्ज** यदि च्युतो भवामि। **छलं ण घेत्तव्वं** तर्हि छलं न ग्राह्यं दुर्जनवदिति ।। ५।।

(ता.वृ.)

टीकार्थ- तं एयत्तविहत्तं वह पूर्वोक्त एकत्व विभक्त शुद्धात्मा जो अभेद रत्नत्रय के साथ एकमेक होकर रहता है एवं मिथ्यात्व तथा रागादि से रहित है ऐसे उस परमात्मा के स्वरूप को **दाएहं** दिखलाता हूँ **अप्पणो सविहवेण** अपने आपकी बुद्धि के वैभव से अर्थात् आगम, तर्क और परम गुरुओं के उपदेश के साथ होने वाले स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा **जदि दाएज्ज** यदि बतला सकूँ तो पमाणं अपने स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा तौलकर हे भव्यो! आप लोग उसे स्वीकार करना। **चुक्केज्ज** यदि भूल जाऊँ तो **छलं ण घेत्तव्वं** दुर्जन के समान उलटा अभिप्राय नहीं ग्रहण कर लेना ।। ५।।

विशेषार्थ- आचार्य देव ने इस गाथा में यह बात कही है कि भले आदमी को जो भी बात कहना हो वह आगम-परम्परा, युक्ति का बल और परमगुरुओं के आदेश व उपदेश के साथ अपने विचार में भी अच्छी प्रकार तौलकर कहना चाहिए ।।५।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१ आत्मा का निज वैभव कैसे प्रकट हुआ है ?

उत्तर- आत्मा का निज वैभव चार कारणों से प्रकट हुआ है (आ.टी.)-

१. समस्त वस्तुओं को प्रकाशित करने वाले 'स्यात्' पद से चिह्नित शब्द ब्रह्म (परमागम) की उपासना से निज वैभव का जन्म हुआ है।

२. इस वैभव का जन्म समस्त विपक्षियों द्वारा ग्रहण किए गए सर्वथा एकान्त रूप निराकरण में समर्थ अति स्पष्ट युक्तियों के अवलम्बन से हुआ है।

३. इस वैभव का जन्म निर्मल विज्ञान घन आत्मा में निमग्न परम गुरु (सर्वज्ञ देव) और अपर गुरु (गणधरादि देव) के प्रसाद से उत्पन्न हुए शुद्धात्म तत्त्व के उपदेश से हुआ है।

४. इस वैभव का जन्म निरन्तर झरते हुए आस्वाद में आये हुए और सुन्दर आनन्द से मिले हुए प्रचुर ज्ञान स्वरूप आत्मा के स्वसंवेदन से हुआ है।

प्रश्न-२. तो क्या अपनी आत्मा का निज वैभव भी प्रकट हो सकता है ?

उत्तर- हाँ! अपनी आत्मा का निज वैभव भी इन चार कारणों की क्रम से आराधना करने पर प्रकट होता है। भेदों को सरलता से इस क्रम से समझना। आगमतर्कपरमगुरूपदेश स्वसंवेदन प्रत्यक्षेणेति (ता.टी.) अर्थात् -

१. जिनागम का अभ्यास होना- सर्वप्रथम हमें चारों अनुयोगों का अभ्यास करना है।

२. तर्कशास्त्र का ज्ञान- परीक्षामुख, आलाप पद्धति आदि तर्कशास्त्रों का विशेष अध्ययन करना चाहिए।

३. परमगुरु का उपदेश श्रवण करना- परमगुरु आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी के श्रीमुख से अध्यात्म विषय का श्रवण करना।

४. स्वसंवेदन प्रत्यक्ष करना- इसके बाद स्वसंवेदन ज्ञान से आत्म अनुभव को करके प्रमाण करना।

प्रश्न-३. जो मैं एकत्व विभक्त आत्मा को दिखलाऊँगा उसे कैसे स्वीकारना ?

उत्तर- आचार्य कहते हैं कि यदि मैं दिखलाऊँगा तो स्वयं ही स्वानुभव प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना चाहिए। (आ.टी.)

प्रश्न-४. यदि दिखलाने में चूक जाऊँ तो क्या नहीं करना ?

उत्तर- यदि ऐसा दिखलाने में चूक हो जाए तो छल ग्रहण करने में जागरूक नहीं रहना। (आ.टी.)

प्रश्न-५. किस तरह छल ग्रहण नहीं करना ?

उत्तर- दुर्जन की तरह छलग्रहण की दृष्टि नहीं रखना। (ता.टी.)- जैसे दुर्जन को योग्य वस्तु न मिले तो वह छल से उसे बुरा कहता है, दोष लगाता है, ऐसे ही यदि तुम्हें शुद्धात्मा का अनुभव न हो तो अन्यथा प्ररूपणा नहीं करना।

प्रश्न-६. पुण्य-पाप से भिन्न रहकर अन्तर अनुभव से अनाकुल शान्ति और आनन्द अनुभव करे, यही निश्चय धर्म है। व्यवहार करते-करते निश्चय होगा, यह बात झूठी है।

उत्तर- यह विचार नितान्त मिथ्या है। जिसे प्रश्नकर्ता निश्चय धर्म समझ रहा है वह निश्चय धर्म का स्वरूप ही नहीं है। निश्चय धर्म यानी निश्चय मोक्षमार्ग। यह निश्चय मार्ग तो व्यवहार करते-करते ही आता है। व्यवहार धर्म किए बिना इस अनाकुल शान्ति और आनन्द का अनुभवन त्रिकाल में संभव नहीं है। केवल बातों से और विचार से ऐसे निश्चय धर्म की प्राप्ति होती तो तीर्थंकरों सदृश सम्यग्ज्ञानियों को गृह त्याग की आवश्यकता न पडती। आचार्य अमृतचन्द्र जी स्वयं कहते हैं कि व्यवहार धर्म साधन है, निश्चय धर्म साध्य है। साधन पहले होता है, साध्य बाद में। यदि साध्य पहले प्राप्त हो गया, तो साधन की आवश्यकता ही क्या है? यह उलटी गंगा बहाने का प्रयास कथन की मिथ्या अवधारणा को दिखाता है। देखें समयसार के स्याद्वाद अधिकार में-

'यत्साधकरूपं स उपायः, यत्सिद्धरूपं स उपेयः।' अर्थात् जो साधक रूप है वह उपाय है

और जो सिद्ध रूप है वह उपेय (प्राप्त करने योग्य है।) आगे कहते हैं कि-

'सुनिश्चलपरिगृहीतव्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपाकप्रकर्षपरम्परया क्रमेण स्वरूपमारोप्यमाणस्यान्तर्मग्न-निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र विशेषतया साधकरूपेण।'

अर्थात्- अच्छी तरह निश्चल रूप से ग्रहण किए हुए व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिपाक (पकना, फलना) के बढ़ने की परम्परा से क्रम से स्वरूप में आरोपण करने वाले के अन्तर्मग्न निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की विशेषता से साधक रूप है। इस कथन से अत्यन्त स्पष्ट होता है कि व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का परिपाक अर्थात् फल जैसे-जैसे बढ़ता है उसी क्रम से आगे-आगे (परम्परा से) वह अपने स्वरूप में अन्तर्मग्न होता है। उस समय उसका वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र निश्चय रूप होता है और ये दोनों ही व्यवहार और निश्चय सम्यग्दर्शन आदि साधक रूप हैं।

यदि व्यवहार करते-करते निश्चय नहीं होता तो व्यवहार को प्रकर्ष रूप से पाक अर्थात् आगे बढाने की परम्परा के क्रम से निश्चय तक पहुँचाने की बात नहीं होती। यहाँ पाक का प्रकर्ष होना, यह शब्द बहुत महत्वपूर्ण है। जितना-जितना व्यवहार का पकना (बढ़ना) होगा उतना-उतना वह क्रम से निश्चय को पाता है। यहाँ क्रमेण भी कहा है। व्यवहार की परम्परा के क्रम से निश्चय होगा। यहाँ व्यवहार और निश्चय दोनों को साधक रूप उपाय बताया है और सिद्ध रूप से परिणत होना उपेय कहा है। इनमें भी व्यवहार साधन है और निश्चय साध्य है।

आगे सिद्धत्व प्राप्त करने की अपेक्षा निश्चय भी साधन (उपाय) हो जाता है और सिद्ध परिणति उपेय (साध्य) हो जाती है। यदि यह व्यवहार निश्चय में परिणत न होता तो इसके लिए 'अच्छी तरह निश्चल रूप से' ग्रहण करने के लिए नहीं कहा जाता।

प्रश्न-७. एकत्व विभक्त आत्मा कौन है ?

उत्तर- एकत्वविभक्तं अभेदरत्नत्रयैक परिणतं मिथ्यात्वरागादिरहितं परमात्मस्वरूपमित्यर्थः (ता.टी.) अर्थात् - अभेद रत्नत्रय से एकरूप परिणत, मिथ्यात्व रागादि से रहित जो परमात्मा का स्वरूप है, वह एकत्वविभक्त आत्मा है। यह लक्षण सप्तम गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक घटित होता है।

प्रश्न-८. सप्तम गुणस्थान से नीचे सम्यग्दृष्टि जीव इस एकत्वविभक्त आत्मा का कुछ अनुभव तो करता होगा?

उत्तर- सप्तम गुणस्थान से पहले आत्मा को एकत्वविभक्त स्वभाव वाला शुद्ध निश्चय से श्रद्धा में लाता है, जानता है, भावना करता है, अनुभूत नहीं करता है।

कोऽसौ शुद्ध आत्मेति चेत् -

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव ।। ६ ।।

आ.टी. - यो हि नाम स्वतः सिद्धत्वेनानादिरनन्तो नित्योद्योतो विशदज्योतिर्ज्ञायक एको भावः स संसारावस्थायामनादिबन्धपर्यायनिरूपणया क्षीरोदकवत्कर्मपुद्गलैः सममेकत्वेऽपि द्रव्यस्वभाव-निरूपणया दुरन्तकषाय- चक्रोदयवैचित्र्यवशेन प्रवर्त्तमानानां पुण्यपापनिर्वर्त्तकानामुपात्तवैश्वरूप्याणां शुभाशुभभावानां स्वभावेनापरिणमनात्प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च न भवति।

उत्थानिका - वह शुद्धात्मा कौन हैं ? ऐसा प्रश्न हो तो -

अन्वयार्थ - (जो दु) जो (जाणगो भावो) ज्ञायक भाव है वह (अप्पमत्तो वि) अप्रमत्त भी (ण होदि) नहीं है और (ण पमत्तो) प्रमत्त भी नहीं है ; (एवं) इस प्रकार (सुद्धं) इसे शुद्ध (भणंति) कहते हैं (च जो) और जो (णादो) ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ (सो दु) वह तो (सो एव) वही है, अन्य कोई नहीं।

अर्थ- जो ज्ञायक भाव है वह अप्रमत्त भी नहीं है, प्रमत्त भी नहीं है। इस तरह उसे शुद्ध कहते हैं और जो ज्ञायक भाव द्वारा जान लिया गया है, वह वही है।

अनु.व्या. - वह शुद्ध आत्मा कौन है, इस प्रकार पूछने पर कहते हैं - जो स्वतः सिद्ध होने से अनादि और अनन्त है, जिसकी प्रकटता नित्य है, जिसका ज्ञानरूप तेज है, ऐसा जो ज्ञायकरूप एक भाव है वह ज्ञायक भाव अपनी संसार अवस्था में अनादिकाल से चली आयी बन्ध पर्याय की अपेक्षा से क्षीर और नीर के मिश्रण के समान कर्म पुद्गलों के साथ एकत्व को प्राप्त हो रहा है, फिर भी जिनका अन्त होना कठिन है, ऐसे कषायों के समूह के उदय की विचित्रता से प्रवर्तमान पुण्य बन्ध और पापबन्ध करने वाले और अनेकविधता को धारण करने वाले ये शुभाशुभ भाव हैं। शुभाशुभ परिणामों के स्वभावों के रूप से परिणत न होने से वह आत्मा द्रव्य स्वभाव के कथन की अपेक्षा से प्रमत्त और अप्रमत्त नहीं होता है। जीव का यह ज्ञायकभाव ही जब अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्नरूप से उपासना को प्राप्त होता है, तब 'वह शुद्ध है' ऐसा कहा जाता है। तपाने योग्य सुवर्ण में प्रविष्ट हुई जो अग्नि होती है, उसका दाहकभाव जिस प्रकार अशुद्ध नहीं बनता, उसी प्रकार जीव की ज्ञेयनिष्ठता के कारण उसके ज्ञायकत्व की सिद्धि हो जाने से उसकी अशुद्धता सिद्ध नहीं होती,

---

ना अप्रमत्त मम आतम ना प्रमत्त, है शुद्ध शुद्धनय से मद-मान-मुक्त।
ज्ञाता वही सकल ज्ञायक यों बताते, वे साधु शुद्धनय आश्रय ले सुहाते ।।६।।

एष एवाशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्यते । न चास्य ज्ञेयनिष्ठत्वेन ज्ञायकत्वप्रसिद्धेः दाह्यनिष्ठदहनस्येवाशुद्धत्वं, यतो हि तस्यामवस्थायां ज्ञायकत्वेन यो ज्ञातः स स्वरूपप्रकाशनदशायां प्रदीपस्येव कर्तृकर्मणोरनन्यत्वात् ज्ञायक एव ।।६।।

अथ कोऽयं शुद्धात्मेति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति -

ता.टी. - णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुभाशुभपरिणमनाभावान्न भवत्यप्रमत्तः प्रमत्तश्चः। प्रमत्तशब्देन मिथ्यादृष्ट्यादिप्रमत्तान्तानि, षड्गुणस्थानानि, अप्रमत्तशब्देन पुनरप्रमत्ताद्ययोग्यन्तान्यष्ट-गुणस्थानानि गृह्यन्ते। स कः कर्त्ताः? **जाणगो दु जो भावो** ज्ञायको ज्ञानस्वरूपो योऽसौ भावः पदार्थः शुद्धात्मा। **एवं भणंति सुद्धा** शुद्धनयावलम्बिनः, तर्हि किं भवति? **णादा जो सो दु सो चेव** ज्ञाता शुद्धात्मा यः कथ्यते स तु स चैव ज्ञातैवेत्यर्थः ।। ६।। इति स्वतन्त्रगाथाषट्केन प्रथमस्थलं गतम्।

क्योंकि उस ज्ञेयनिष्ठ अवस्था में जो ज्ञायकरूप से जाना जाता है वह अपने स्वरूप को प्रकाशित करने की अवस्था में प्रदीप के समान कर्त्ता और कर्म के साथ में अभेद रूप होने से ज्ञायक ही बना रहता है। ।। ६ ।।

उत्थानिका - अब शुद्धात्मा कौन है? उसका क्या स्वरूप है? ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं-

टीकार्थ- णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से जिसमें शुभ और अशुभ रूप परिणमन करने का अभाव होने से जो न तो प्रमत्त ही है और न अप्रमत्त ही है। यहाँ पर प्रमत्त शब्द से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर प्रमत्तविरत गुणस्थान तक ६ गुणस्थान और अप्रमत्त शब्द से अप्रमत्तादि अयोगकेवली पर्यन्त ८ गुणस्थान समझने चाहिए। इनसे जो अतीत हैं **जाणगो दु जो भावो** वह केवल ज्ञायकभाव को प्राप्त हुआ ही शुद्धात्मा है। **एवं भणंति सुद्धा** शुद्धनय के जानने वाले कहते हैं **णादा जो सोदु सो चेव** कि उसे ज्ञाता कहो या शुद्धात्मा, एक ही बात है ।।६।। इस प्रकार छह स्वतंत्र गाथाओं द्वारा प्रथमस्थल पूर्ण हुआ।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. शुद्ध आत्मा कौन है ?

उत्तर- जो न प्रमत्त है, न अप्रमत्त है, एकमात्र ज्ञायक भाव को धारण करने वाला है, वह शुद्ध आत्मा है।

प्रश्न-२. यह शुद्ध आत्मा किस नय की अपेक्षा है ?

उत्तर- शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से शुद्ध आत्मा का यह कथन है। (ता.टी.) अर्थात् संसारी जीवों में शुद्ध नय की अपेक्षा ज्ञायकभाव को शुद्ध कहा है सर्वथा नहीं है।

प्रश्न-३. उस ज्ञायकभाव की क्या विशेषता है ?

उत्तर- १. वह ज्ञायकभाव अपने आप से ही सिद्ध है। अर्थात् किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है।

२. स्वतः सिद्ध होने से यह अनादि अनन्त है अर्थात् जब से आत्मा है तब से है और अनन्त काल तक रहेगा।

३. नित्य उद्योत रूप है। उसका कभी विनाश नहीं होता है।

४. विशद ज्योतिरूप है अर्थात् प्रकाशमान ज्ञान ज्योतिरूप है।

प्रश्न-४. इस ज्ञायक भाव से क्या कहा जा रहा है ?

उत्तर- आत्मा ज्ञान स्वरूप पदार्थ है। उसका वह ज्ञान स्वभाव या चैतन्य स्वभाव त्रैकालिक है। अखण्ड है। कभी विनष्ट नहीं होता है। सूक्ष्म निगोद जीव में भी वह नित्य उद्घाटित रहता है। इस ज्ञायक भाव का अभाव हो जाने पर जीव का ही अभाव हो जाएगा।

प्रश्न-५. यह ज्ञायक भाव क्या सभी आत्माओं में है? थोडा स्पष्ट करें। ?

उत्तर- हाँ! यह ज्ञायक भाव सभी आत्माओं में स्वभाव से है। स्वभाव कभी नष्ट नहीं होता है। इसी स्वभाव को द्रव्यदृष्टि से कहा जाता है। वह ज्ञायक शुद्ध कहलाता है। सूक्ष्म निगोद जीव में 'लब्ध्यक्षर' नाम का श्रुतज्ञान होता है जो सर्वजघन्य ज्ञान कहलाता है। इतना अल्प होते हुए भी वह 'णिच्चुग्घाणं णिरावरणं' वह नित्योद्घाटित और निरावरण कहा गया है। नित्य उद्घाटित अर्थात् नित्य प्रकट रहने वाला और निरावरण अर्थात् इस ज्ञान पर कोई आवरण नहीं पड.सकता है। इसलिए यह सदा शुद्ध है। यदि इस ज्ञान पर आवरण आ जाए तो जीव का स्वरूप ही नष्ट हो जाए और ऐसा कभी होता नहीं है। जीव का अस्तित्व कभी समाप्त नहीं होता है। इस ज्ञायक भाव पर कोई आवरण नहीं है, शुद्ध है, इसका तात्पर्य इसी लब्ध्यक्षर नामक श्रुतज्ञान से है। भाव श्रुतज्ञान के जिनागम में बीस भेद हैं जो कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होते हैं। सर्वजघन्य ज्ञान यही सूक्ष्म निगोद जीव का है। आगे जैसे-जैसे ज्ञान का क्षयोपशम बढता है तो अक्षर, अक्षर समास, पद, पद समास, आदि के भेद से वह ज्ञान बढता चला जाता है तथा यह ज्ञायक भाव प्रमत्त-अप्रमत्त अवस्था से रहित हो सिद्धो में पूर्ण प्रकट होता है और संसारी जीवों में शुद्धनय की मुख्यता से या द्रव्यस्वभाव निरूपणया (आ.टी.) द्रव्य के स्वभाव को कहने की अपेक्षा से यह शुभ-अशुभ भावों से परिणमन नहीं करने वाला त्रिकाल शुद्ध रहता है।

प्रश्न-६. इस ज्ञायक भाव को शुद्ध क्यों कहा है ?

उत्तर- यह ज्ञायक भाव अन्य सभी द्रव्यों के भावों से भिन्न रूप से सेवित हुआ 'शुद्ध' ऐसा कहा जाता है। (आ.टी.)

प्रश्न-७. कौन इसे शुद्ध कहते हैं ?

उत्तर- जो शुद्धनय का अवलम्बन लेते हैं वे इस ज्ञायकभाव को शुद्ध कहते हैं। (ता.टी.)

प्रश्न-८. वह ज्ञायक भाव प्रमत्त और अप्रमत्त क्यों नहीं होता है ?

उत्तर- संसार अवस्था में अनादि बंध पर्याय की अपेक्षा से कर्म पुद्गलों के साथ दूध और जल की तरह एकमेक होने पर भी द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से भिन्नरूप परिणमन नहीं होता है ।

इसलिए वह प्रमत्त भी नहीं है, अप्रमत्त भी नहीं है। (आ.टी.) इससे स्पष्ट है कि ज्ञायक स्वभाव जो (शब्द) कहा है वह द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से है। चेतन स्वभाव वाला ज्ञायक जीव अचेतन रूप नहीं होता है, यह तात्पर्य है।

प्रश्न-९. आत्मा ज्ञायक है तो ज्ञेय के द्वारा ज्ञेयाकार हो जाने से ज्ञायक भाव में अशुद्धता होनी चाहिए ?

उत्तर- नहीं! जैसे जलने योग्य (दाह्य) ईंधन के आकार ही अग्नि होती है इसलिए अग्नि को दहन कहते हैं। किन्तु अग्नि तो अग्नि ही है, ईंधन अग्नि नहीं है। उसी प्रकार आत्मा तो ज्ञायक ही है। ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञायकभाव द्वारा जाना जाता है। ज्ञेय रूप नहीं होता है। (आ.टी.)

प्रश्न-१०. क्या कर्त्ता-कर्म की अपेक्षा से ज्ञायक कर्त्ता है और ज्ञेय कर्म हैं? ऐसा कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध घटित नहीं होता है?

उत्तर- हो सकता है किन्तु यहाँ अभेद विवक्षा से कथन है। अभेद विवक्षा से कर्त्ता तो आप ज्ञायक और कर्म अपने को जानना, ये दोनों एक आत्मा ही हैं, अन्य नहीं हैं। जैसे दीपक अपने स्वरूप से प्रकाशन की दशा में अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है किन्तु अपनी (दीपक की) लौ के प्रकाशन की दशा में दीपक ही है, अन्य कुछ नहीं है। इसी तरह ज्ञायक आत्मा स्वयं ही कर्त्ता और कर्म में अभिन्न होने से ज्ञायक ही है।

प्रश्न -११. पं. जयचन्द्र जी की हिन्दी टीका जो भाषा वचनिका के रूप में प्रचलित है उस हिन्दी टीका के **भावार्थ** की भाषा तो इस प्रकार है -

'अशुद्धता पर-द्रव्य के संयोग से आती है। वहाँ मूल द्रव्य तो अन्य द्रव्य रूप होता ही नहीं, पर द्रव्य के निमित्त से अवस्था कुछ मलिन हो जाती है। उस जगह द्रव्यदृष्टि से तो द्रव्य जो है वही है और पर्यायदृष्टि से देखा जाय तब वह मलिन ही दिखता है। उसी तरह आत्मा का स्वभाव ज्ञायकत्व मात्र है और उसकी अवस्था पुद्गल कर्म के निमित्त से रागादि रूप मलिन है, वह पर्याय है। उसकी दृष्टि से देखा जाय तब मलिन ही दिखता है और द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तब ज्ञायकत्व ही ज्ञायकत्व है, कुछ जड़त्व नहीं हुआ। यहाँ पर द्रव्य दृष्टि को प्रधान कर कहा है। जो प्रमत्त-अप्रमत्त का भेद है, वह तो पर-द्रव्य के संयोगजनित पर्याय है। यह अशुद्धता द्रव्यदृष्टि में गौण है, द्रव्यदृष्टि शुद्ध है इसलिए आत्मा ज्ञायक है, इस कारण उसे प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं कहा जाता।'

उत्तर - इस कथन की एक-एक पंक्ति पर विचार करते हैं, मूल टीका के साथ -

१. भावार्थ में दूसरी पंक्ति में लिखा है कि पर-द्रव्य के निमित्त से अवस्था कुछ मलिन हो जाती है। हम पूछते हैं कि जिनागम में कहाँ लिखा है कि पर-द्रव्य के निमित्त से अवस्था कुछ मलिन हो जाती है। कुछ मलिन का क्या अर्थ है? कुछ माने तो कहीं-कहीं या थोड़ी सी या ऊपर-ऊपर से कुछ-कुछ सी कही जाती है। इसी गाथा की संस्कृत टीका में लिखा है कि 'क्षीरोदकवत् कर्मपुद्गलैः सममेकत्वेपि' अर्थात् 'यह आत्मा दूध-पानी की तरह कर्म पुद्गलों के साथ एकत्व

(अभेदपने) को प्राप्त है।' जब दूध-पानी की तरह आत्मा और कर्म का एक-मेक सम्बन्ध हुआ है तो 'कुछ मलिन हो जाती है' यह कहना कैसे सत्य सिद्ध हुआ? क्या दूध में पानी कहीं मिलता है, कहीं नहीं मिलता - क्या ऐसा होता है? यदि नहीं, तो आत्मा में कर्म का एकक्षेत्रावगाह संश्लेष सम्बन्ध है। आत्मा और कर्म पुद्गलों का एकमेकपना हुआ है, ऐसी स्थिति में 'कुछ मलिन' कहना सर्वथा आगम विरुद्ध है।

२. आगे कहा है कि - 'उस जगह द्रव्यदृष्टि से तो द्रव्य जो है वही है और पर्याय दृष्टि से देखा जाय तब वह मलिन ही दिखता है।' यह भावार्थ की दिशा भी मूल टीका के अभिप्राय से बदल गयी है। पहली बात तो यह है कि यह द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि - इन शब्दों ने ही सबसे बड़ा अनर्थ किया है।

द्रव्यदृष्टि, पर्यायदृष्टि का यहाँ कथन होना यह सिद्ध करता है कि ये शब्द इसी गाथा की टीका से निकले हैं। आचार्य अमृतचन्द्र जी ने लिखा है - 'संसारावस्थायामनादिबन्धपर्यायनिरूपणया' और 'द्रव्य स्वभावनिरूपणया' टीका के इन वाक्यों से ही यह द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि शब्दावली निकली है, ऐसा प्रतीत होता है। प्रथम वाक्यांश का अर्थ है - 'संसार अवस्था में अनादिकाल से चली आई बन्ध पर्याय की निरूपणा (कथन) की अपेक्षा से' और द्वितीय वाक्यांश का अर्थ है - 'द्रव्य के स्वभाव की निरूपणा (कथन) की अपेक्षा से' आचार्यदेव के अभिप्राय में दो नयों की दृष्टि है। पहली अनादिकाल से संसारी आत्मा में जो बंध की परिणति चली आ रही है उस अपेक्षा से आत्मा के स्वभाव को दिखाना और दूसरे में आत्मा के द्रव्यगत स्वभाव को दिखाना मुख्य प्रयोजन रहा है। ये दोनों ही नय द्रव्यार्थिक नय हैं। दोनों ही अपेक्षाओं में द्रव्य के स्वभाव को दिखाने का प्रयोजन है। एक में पर्याय दिखाने और दूसरे में द्रव्य को दिखाने का प्रयोजन नहीं है। देखो आलापपद्धति में द्रव्यार्थिक नय के दश भेदों में ये दो भेद कैसे लिखे हैं -

१. कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्ध द्रव्यार्थिको यथा क्रोधादि कर्मजभाव आत्मा।

अर्थ - कर्म उपाधि के सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है जैसे क्रोध आदि कर्म से उत्पन्न भाव वाला आत्मा है अर्थात् आत्मा क्रोधादि कर्म से उत्पन्न भाव वाला है यह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय है।

२. परमभावग्राहक द्रव्यार्थिको यथा ज्ञान स्वरूप आत्मा।

अर्थात् - परमभाव को ग्रहण करने वाले द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा आत्मा ज्ञान स्वरूप है। यह नय परम पारिणामिक भाव को बताता है। इस नय की दृष्टि से आत्मा का ज्ञान भाव भव्य-अभव्य, शुद्ध-अशुद्ध के भेदों से रहित होता है।

इससे स्पष्ट है कि आत्मख्याति टीका में भी द्रव्य की शुद्ध-अशुद्ध अवस्था की अपेक्षा से कथन है न कि एक कथन पर्याय की दृष्टि से और दूसरा द्रव्य की दृष्टि से ।

इस भूल का कारण भी यह है कि प्रथम वाक्यांश में जो 'बन्धपर्याय' शब्द आया है उससे

मात्र पर्याय दृष्टि का ग्रहण कर लिया है, जबकि 'पर्याय' शब्द यहाँ 'परिणति' का द्योतक है और यह पर्याय दो द्रव्यों के मेल से उत्पन्न हुई है। जीव और पुद्गल के संयोग से यह आस्रव, बंध आदि पर्याय बनती है तो इसका अर्थ यह नहीं कि आस्रव, बंध आदि पर्याय मात्र हैं। ध्यान रखो कि पर्याय कभी भी द्रव्य के बिना नहीं रहती है। **पर्याय का स्वभाव द्रव्य के स्वभाव पर निर्भर करता है। पर्याय की अशुद्धता द्रव्य की अशुद्धता को बताती है और पर्याय की शुद्धता द्रव्य की शुद्धता को दिखाती है।**

जिस नय से द्रव्य को शुद्ध कहा है वह शुद्ध भाव पारिणामिक भाव था। यह शुद्धता निगोद से लेकर सिद्ध पर्यन्त तक न कभी घटती है और न बढती है। यह एक नय का एक अभिप्राय है। अध्यात्म में इसकी मुख्यता रहती है लेकिन इसी-इसी की भावना से जो एकान्त भाव उत्पन्न होता है वह अहित का कारण बन जाता है। द्रव्यार्थिक नय में इस शुद्ध भाव को कहने की जो शक्ति है वह शक्ति रूप ही है, सदा-सदा से पड़ी हुई। इस शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से न तो बंध है और न मोक्ष है। इस परम पारिणामिक भाव का बंध, मोक्ष से कोई लेना देना नहीं है। यह भाव न कारण है न कार्य है। इसी को शुद्ध निश्चय नय कहा है। वृहद्द्रव्यसंग्रह की टीका में कहा है -

'यस्तु शुद्धद्रव्यशक्तिरूपः शुद्ध पारिणामिक परमभाव लक्षण परम निश्चय मोक्षः स च पूर्वमेव जीवे तिष्ठतीदानीं भविष्यतीत्येवं न'

अर्थ - शुद्ध निश्चय से मोक्ष नहीं है। जो शुद्ध द्रव्य की शक्ति रूप शुद्ध पारिणाामिक परम भाव रूप निश्चय मोक्ष है वह जीव में पहले ही विद्यमान है। वह परमनिश्चय मोक्ष जीव में अब होगा, ऐसा नहीं है।

यहाँ भी शक्ति को बताने की बात है। वह शक्ति की अपेक्षा तो प्रगट है। मोक्ष भी प्रत्येक संसारी जीव में त्रिकाल से पड़ा है। वह पड़ा हुआ मोक्ष अब प्रगट भी नहीं करना है क्योंकि इस नय की दृष्टि में तो वह सदा प्रगट है। इसी शक्ति को दिखाना ही यदि प्रयोजन मात्र रहे तो यह नय भव्य जीवों को हितकारी है। यदि इस नय से अपने अन्दर मोक्ष ही हो गया है और द्रव्य दृष्टि से हम सर्वथा शुद्ध मोक्ष रूप हैं, ऐसा एकान्त अभिप्राय आ जावे तो भ्रम उत्पन्न होवे क्योंकि जो वास्तव में अभी तत्कालपर्याय में नहीं है उसे सर्वथा प्रगट रूप मानना सबसे बड़ा अज्ञान है। यह नय अनुमान गम्य है। इस शुद्ध निश्चय को दृष्टि में रखकर साधक जब निर्विकल्प समाधि मे लीन होता है तभी यह आलंबन योग्य है, सर्वथा नहीं। चतुर्थ आदि गुणस्थान में सभी नयों से आत्मा का श्रद्धान और ज्ञान किया जाना प्रयोजनभूत है।

आलाप पद्धति में द्रव्यार्थिक नय के दस भेद दिये हैं। 'जो परस्पर विरोधी धर्म को सापेक्षता से कहते हैं, यदि शुद्ध द्रव्यार्थिक नय है तो उसके सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय भी है।'

आलाप पद्धति में कहा है - 'शुद्ध द्रव्यार्थिक नयेन शुद्धस्वभावः, अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयेनाशुद्ध स्वभावः' शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से शुद्ध स्वभाव वाला जीव है और अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय से अशुद्ध स्वभाव वाला जीव है। (८/१११) **कषाय पाहुड़ सिद्धान्त ग्रन्थ** में कहा है - 'अशुद्ध द्रव्यार्थिक पर्यायकलंक द्रव्य विषयः व्यवहारः' (१/१८२/२१९) पर्याय कलंक से युक्त द्रव्य को विषय करने वाला जो व्यवहार नय है वह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है।

इस अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का प्रयोजन वस्तु में गुण व पर्याय के भेद को दिखाना है। गुण व पर्याय के भेद भी वस्तु के सत् हैं, असत् नहीं। द्रव्य मात्र की अपेक्षा करने पर जहाँ शुद्ध द्रव्यार्थिक नय गुण व पर्यायों से निरपेक्ष एक निर्विकल्प, अकथनीय तत्त्व को द्रव्य कहता है वहीं यह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय उसे उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त तथा गुण पर्यायों सहित कहता है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सब अपेक्षाओं से द्रव्य को अभेद बताता है वहीं अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय उस अभेद में ही भेद दिखाता है। यदि इस शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के विषयभूत तत्त्व को सर्वथा निर्विकल्प तथा अनिर्वचनीय (नहीं कहने योग्य) मानकर चला जाय तो द्रव्य के गुण, पर्यायों का कथन भी नहीं बन सकेगा। अरे भाई! इस नय की दृष्टि में मात्र व्रत, तप, संयम ही पर्याय नहीं हैं, इस नय की दृष्टि में केवलज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि अनेक शुद्ध गुण और शुद्ध पर्यायों का भी होना नहीं बनता है क्योंकि द्रव्य एक अभेद अखण्ड ज्ञायक स्वभाव के अलावा इस नय की दृष्टि में कुछ भी नहीं है।

जिनेन्द्र वर्णी जी ने 'नय दर्पण' में इस तात्पर्य को लिखा है - तात्पर्य यह है कि इस नय के द्वारा वस्तु का केवल एक विविक्त (पृथकभूत) त्रिकाली शुद्ध स्वभाव ही माना जाता है। जैसे जीव ज्ञान स्वभावी है, द्रव्य सामान्य सत् स्वभावी है, कर्म व शरीर अचेतन मूर्त स्वभावी हैं, कालाणु व पुद्गलाणु एकप्रदेश स्वभावी हैं, इत्यादि। एक द्रव्य के स्वभाव में अन्य द्रव्य के कर्तृत्व आदि की भी यहाँ कोई अपेक्षा ग्रहण नहीं की जा सकती, क्योंकि स्वभाव स्वतः सिद्ध होता है। इसलिए कर्मों के उदय की अथवा क्षय आदि की अपेक्षा से रहित जीव का स्वभाव त्रिकाली शुद्ध है। न उसमें बन्ध था और न बन्ध दूर हुआ। वह पहले ही से मुक्त था और अब भी मुक्त है। मुक्ति उत्पन्न करने का प्रश्न ही क्या? अतः संसार व मोक्ष का द्वैत ही यहाँ टिकता नहीं। मोक्षमार्ग कोई चीज नहीं। स्वतः सिद्ध स्वभाव में न किसी का कर्तापन है और न भोक्तापन, न बन्ध है और न मोक्ष, तथा उनका कोई कारण भी नहीं है। सांख्य मत में पुरुष तत्त्व को त्रिकाली शुद्ध तथा परिणामी माना है। वही इस नय की अपेक्षा समझना, सर्वथा नहीं। जीव का पारिणामिक भाव वास्तव में वैसा ही है।

मेरी समझ में द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि ये प्रयोग ही अनुचित हैं। इनकी जगह द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय या अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का यदि प्रयोग किया जाता तो भ्रान्ति को अवकाश नहीं रहता। दूसरे वाक्यांश में द्रव्य के स्वभाव की मुख्यता से कथन है जिसका अभिप्राय

इतना ही है कि द्रव्य सदा अपने मूल स्वभाव में ही रहता है। अर्थात् - चेतन द्रव्य कभी अचेतन नहीं होता और अचेतन द्रव्य कभी चेतन नहीं होता है। इस स्वभाव की दृष्टि से किये गए कथन को द्रव्यदृष्टि बनाकर पर्याय को मलिन, अशुद्ध, मिथ्या, व्यवहार सब कुछ कह दिया जिससे द्रव्य अलग स्वभाव वाला और पर्याय अलग स्वभाव वाली हो गई। यही सबसे बड़ा अनर्थ हुआ है।

प्रश्न - १२. तो क्या द्रव्यदृष्टि और पर्याय दृष्टि ये शब्द सही अर्थ का प्रतिभास नहीं कराते हैं?

उत्तर - हाँ, नहीं कराते हैं। द्रव्यदृष्टि कहने से मात्र द्रव्य ही दिखता है और पर्यायदृष्टि कहने से मात्र पर्याय ही ज्ञान का विषय बनती है। जबकि ये पूर्ण दृष्टि नहीं दृष्टिकोण हैं। दृष्टिकोण नय के द्वारा कहने से दिखता है। इसे कहने का सही ढंग तो यह है कि - द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से द्रव्य ऐसा है और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से पर्याय ऐसी है। नय शब्द का प्रयोग किए बिना अनेकान्त दर्शन की अनुभूति हमें कभी नहीं हो सकती है। नय शब्द का प्रयोग किए बिना गौण, मुख्य विवक्षा का आभास भी नहीं होता है। नय शब्द का प्रयोग करने से ही किसी दृष्टिकोण विशेष से बात कही जा रही है, यह आभास होता है।

दृष्टि कहने से दृष्टिकोण नहीं दिखता है जिससे मुख्य गौण का भाव नहीं प्रतिभासित होने से भ्रमपूर्ण स्थिति बनती है। यह स्पष्ट अनुभव में आता है। अत: हमें ऐसे शब्दों के प्रयोग से बचना चाहिए। ज्ञेय कृत अशुद्धता ज्ञान में नहीं है। जैसे दाह्य (कोयला, लकडी आदि ईंधन) कृत अशुद्धता अग्नि में नहीं होती है।

दर्शनज्ञानचारित्रवत्त्वेनास्याशुद्धत्वमिति चेत् -

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ।। ७ ।।

आ.टी. - आस्तां तावद्बन्धप्रत्ययात् ज्ञायकस्याशुद्धत्वं, दर्शनज्ञानचारित्राण्येव न विद्यन्ते । यतो ह्यनन्त- धर्मण्येकस्मिन् धर्मिण्यनिष्णातस्यान्तेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभिः कैश्चिद्धर्मैस्तमनुशासतां सूरिणां धर्मधर्मिणोः स्वभावतोऽभेदेऽपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शनं ज्ञानं चारित्रमित्युपदेशः। परमार्थतस्त्वेकद्रव्यनिष्पीतानन्तपर्यायतयैकं किंचिन्मिलितास्वादमभेदमेकस्वभावमनुभवतो न दर्शनं न ज्ञानं न चारित्रं, ज्ञायक एवैकः शुद्धः।

उत्थानिका - दर्शन, ज्ञान, चारित्र वाला होने से आत्मा को अशुद्धपना है, इस प्रकार पूछने पर कहते हैं-

अन्वयार्थ - (णाणिस्स) ज्ञानी के (चरित्तदंसणं णाणं) चारित्र, दर्शन, ज्ञान-ये तीन भाव (ववहारेण) व्यवहार से (उवदिस्सदि) कहे जाते हैं ; निश्चय से (णाणं णवि ण) ज्ञान भी नहीं है, (चरित्तं ण) चारित्र भी नहीं है और (दंसणं ण) दर्शन भी नहीं है; ज्ञानी तो एक (जागणो सुद्धो) शुद्ध ज्ञायक ही है।

अर्थ - ज्ञानी के चारित्र, दर्शन और ज्ञान व्यवहार से कहे जाते हैं। निश्चय से आत्मा के न ज्ञान है, न चारित्र है, न दर्शन है। वह ज्ञायक शुद्ध है।

आ.व्या. - दर्शन, ज्ञान, चारित्र से आत्मा को अशुद्धपना होता है, ऐसा प्रश्न करने पर कहते हैं - बंध के कारण से ज्ञायक आत्मा का जो अशुद्धत्व सिद्ध होता है वह दूर ही ठहरे किन्तु आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही नहीं है। जिसके अनन्त धर्म होते हैं ऐसे एक (एक धर्मात्मक) धर्मी के विषय में जो कुशल नहीं है ऐसे शिष्य को उस धर्मी का ज्ञान कराने वाले कुछ धर्मों के द्वारा शिक्षा देने वाले आचार्यों का धर्म और धर्मी इनमें स्वभाव से अभेद होने पर भी किसी उपाय से भेद प्रकट करा कर व्यवहार मात्र से ही ज्ञानी आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चारित्र होते हैं, ऐसा उपदेश है। परमार्थ से तो अनन्त पर्यायें अपने साथ एकरूप अभिन्न रूप से समायी होने से एक रूप हैं तथा जिसका अनुभव किंचित् मिला हुआ है, ऐसे भेद रहित और एक स्वभाव का अनुभव करने वाली आत्मा के न दर्शन होता है, न ज्ञान होता है और न चारित्र ही होता है। उसका ज्ञायकरूप ही एक शुद्ध भाव होता है। ।। ७ ।।

विज्ञान औ चरित दर्शन विज्ञ के हैं, जाते कहे सकल ये व्यवहार से हैं।
ज्ञानी परन्तु यह ज्ञायक शुद्ध प्यारा, ऐसा नितान्त नय निश्चय ने निहारा ।।७।।

अथानन्तरं यथा प्रमत्तादिगुणस्थानविकल्पा जीवस्य व्यवहारनयेन विद्यन्ते, शुद्धद्रव्यार्थिकनिश्चयनयेन न विद्यन्ते तथा दर्शनज्ञानचारित्रविकल्पोऽपीत्युपदिशति -

ता.टी.- ववहारेण सद्भूत व्यवहारनयेन **उवदिस्सदि** उपदिश्यते कथ्यते। कस्य ? **णाणिस्स** ज्ञानिनो जीवस्य। किम् ? **चरित्तदसंणं णाणं** चारित्र दर्शन ज्ञानस्वरूपम्। **णवि णाणं ण चरित्तं दंसणं** शुद्धनिश्चयनयेन न पुनर्ज्ञानं न चारित्रं न दर्शनम्। तर्हि किमस्तीति चेत् ? **जाणगो** ज्ञायकः शुद्ध चैतन्य स्वभावः। **सुद्धो** शुद्ध एव रागादिरहित इति। अयमत्रार्थः। यथा निश्चयनयेनाभेदरूपेणाग्निरेक एव पश्चाद्भेदरूपव्यवहारेण दहतीति दाहकः पचतीति पाचकः, प्रकाशं करोतीति प्रकाशकः इति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते। तथा जीवोऽपि अभेद रूप निश्चयनयेन शुद्ध चैतन्य रूपोऽपि भेदरूपव्यवहारनयेन जानातीति ज्ञानं, पश्यतीति दर्शनं, चरतीति चारित्रमिति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते इति ।। ७।।

उत्थानिका- आगे जैसा कि जीव के प्रमत्तादि गुणस्थानों का विकल्प व्यवहारनय से है, शुद्धद्रव्यार्थिक निश्चयनय से नहीं, उसी प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र का विकल्प भी नहीं होता है, ऐसा बताते हैं -

टीकार्थ- ववहारेण सद्भूतव्यवहारनय से **उवदिस्सदि** कहा जाता है **णाणिस्स** कि ज्ञानी जीव के चरित्तदंसणं णाणं चारित्र, दर्शन और ज्ञान है, जो कि उसके स्वरूप में है। किन्तु **ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं** शुद्ध निश्चयनय से तो न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है। तो फिर क्या है? कि **जाणगो** ज्ञायक मात्र है, शुद्ध चैतन्य स्वभाव है **सुद्धो** जो कि रागादि रहित शुद्ध है। सार यह है कि जैसे अभेदरूप निश्चयनय से अग्नि एक ही है फिर भी भेदरूप व्यवहार के द्वारा जो दहति अर्थात् जलाती है वह दाहक, पचति अर्थात् पचाती है वह पाचक, जो प्रकाश करती है वह प्रकाशक। इस प्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा विषयभेद से वही अग्नि तीन प्रकार भिन्न-भिन्न कर बतलाई जाती है, वैसे ही जीव भी अभेदरूप निश्चयनय से तो शुद्ध चैतन्य स्वरूप है फिर भी भेदरूप व्यवहारनय से जो जानता है वह ज्ञान, जो देखता है वह दर्शन और जो आचरण करता है वह चारित्र। इस प्रकार व्युत्पत्ति के द्वारा विषय-भेद से वह जीव तीन प्रकार से भिन्न-भिन्न कहा जाता है ।। ७।।

विशेषार्थ- गाथा नं. २ में बताया गया था कि जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित है वह स्वसमय है अर्थात् शुद्ध आत्मा है एकत्वविभक्त है। इस कथन को लेकर शिष्य का मन में जिज्ञासा पैदा हुई कि आपके बताने में ही दर्शन, ज्ञान, चारित्र के द्वारा उसमें भेद है। इस शंका का निवारण करने के लिए आचार्यदेव ने यहाँ बतलाया है कि वास्तव में तो आत्मा अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड एक ज्ञायकमात्र है। इसमें जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र को भिन्न-भिन्न कर बतलाया गया है वह सद्भूत व्यवहारनय से बतलाया गया है। सद्भूत व्यवहारनय का काम है कि जो गुण, गुणी के साथ अभिन्न होकर रहते हैं उनको भिन्न-भिन्न कर बतलाये।। ७।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस गाथा के प्रसंग का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर- यह गाथा अभेद रत्नत्रय की मुख्यता के कथन की अपेक्षा अवतरित है। (ता.टी.)

प्रश्न-२. इस गाथा में निश्चय नय से ज्ञायक शुद्ध स्वभाव कैसा कहा है ?

उत्तर- निश्चय नय से आत्मा के शुद्ध ज्ञायक स्वभाव में दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों गुणों का भेद भी नहीं है।

प्रश्न-३. यह भेद कौनसी आत्मा में नहीं है ?

उत्तर- परमार्थ से तो एक द्रव्य में समाये हुए अनन्त पर्याय की एकरूपता से एकमेक मिले हुए अभेद स्वभाव रूप, एकरूप अनुभव करने वाले आत्मा को पृथक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र का आभास नहीं होता (आ.टी.)

प्रश्न-४. यह अनुभव किनको होता है ?

उत्तर- जो आत्माएँ अभेद रत्नत्रय से परिणत होकर एक ज्ञायक भाव का अनुभव करती हैं और जो शुद्ध निश्चय नय का विषय बनती हैं, उनको होता है

प्रश्न-५. जिनके पास रत्नत्रय नहीं है, उन्हें इस कथन से क्या प्रयोजन है ?

उत्तर- जिनके पास रत्नत्रय नहीं है ऐसे अविरत सम्यग्दृष्टियों को या सातिशय मिथ्यादृष्टियों को यह विचार करना, भावना करना कि शुद्ध आत्मा के ज्ञायक भाव में इन तीन गुणों की पृथक् -पृथक् अनुभूति नहीं होती है। आत्मा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता से एक मात्र ज्ञायक स्वभाव वाला निर्विकल्प है।

प्रश्न-६. गाथा नं. ६ में तो त्रैकालिक शुद्ध ज्ञायक स्वभाव का कथन किया था और यहाँ अभेद रत्नत्रय से परिणत आत्मा को शुद्ध कहा है, ऐसा क्यों ?

उत्तर- आचार्य जयसेन महाराज ने कहा है कि पहली छह गाथाओं तक प्रथम स्थल में स्वतन्त्र रूप से छह गाथा कही हैं। उसके बाद दो गाथाएँ (गाथा नं. ७ एवं ८) भेद-अभेद रत्नत्रय की मुख्यता से हैं। इससे स्पष्ट है कि गाथा नं. ६ में द्रव्य स्वभाव के निरूपर्ण की अपेक्षा ज्ञायक भाव शुद्ध कहा है। (आ.टी.) तथा यहाँ गाथा नं. ७ में परमार्थ से एक स्वभावभूत आत्मा का अनुभव करने वालों को ज्ञायक आत्मा एक है, शुद्ध है (आ.टी.) ऐसा कहा है।

प्रश्न-७. तो क्या आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र से भेद रूप नहीं है ?

उत्तर- ऐसा नहीं है, निश्चय रूप अभेद नय की अपेक्षा आत्मा शुद्ध चैतन्य रूप है और भेदरूप व्यवहार नय की अपेक्षा आत्मा तीन रूप होता है।

प्रश्न-८. वह कैसे ? उदाहरण देकर समझाइये ?

उत्तर- जैसे अग्नि निश्चय से, अभेद रूप से एक है, बाद में भेद रूप व्यवहार से जलाती है इसलिए दाहक है, पकाती है, इसलिए पाचक है, प्रकाश करती है इसलिए प्रकाशक है। इस

व्युत्पत्ति से विषयभेद से तीन प्रकार की होती है ।

प्रश्न-९. इस उदाहरण से तो यह भी कहा जा सकता है कि व्यवहार और निश्चय रत्नत्रय में वस्तुत: विषयभेद से ही भेद है वास्तविकता में नहीं ?

उत्तर- नहीं। यहाँ व्यवहार और निश्चय रत्नत्रय के लिए यह उदाहरण नहीं दिया है। यह गुण-गुणी या पर्याय -पर्यायी में कथंचित् भेद-अभेद समझाने के लिए है। व्यवहार और निश्चय रत्नत्रय के लिए पानक का उदाहरण देकर आगे गुणस्थान की भूमिका के अनुसार भेद किया जाएगा। यहाँ भेद-अभेदात्मक आत्मवस्तु को समझाने के लिए यह उदाहरण है, अनुभूत करने के लिए नहीं।

प्रश्न-१०. यदि द्रव्य शुद्ध है तो उसके गुण और उसकी पर्यायें भी शुद्ध होंगी ? फिर उन शुद्ध गुणों का भी यहाँ ग्रहण क्यों नहीं किया है ?

उत्तर- कथन की मुख्यता से यहाँ गुण-गुणी के भेद को गौण किया है। यहाँ ज्ञान गुण से अभिन्न एक ज्ञायक मात्र शुद्ध जीव द्रव्य का कथन ही मुख्यता से है इसलिए परम भाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय का यह विषय बनता है।

प्रश्न-११. परम भाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा आत्मा कैसा है ?

उत्तर- आलाप पद्धति में कहा है- 'परमभावग्राहकद्रव्यार्थिको यथा ज्ञानस्वरूप आत्मा, अत्रानेकस्वभावानां मध्ये ज्ञानाख्य: परम स्वभावो गृहीत:' अर्थात् परम भाव ग्राहक द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा आत्मा ज्ञान स्वरूप (ज्ञायक) मात्र है। यहाँ अनेक स्वभावों में से ज्ञान नाम का परम स्वभाव ही ग्रहण किया है। चूंकि यह द्रव्यार्थिक नय है इसलिए मात्र द्रव्य को ही ग्रहण करता है। दर्शन, ज्ञान आदि गुणों को नहीं। इसी को शुद्ध निश्चय से भी कहा जाता है।

प्रश्न-१२. तो फिर शुद्ध आत्मा के शुद्ध गुण, पर्याय को किस नय से जाना जाता है ?

उत्तर- शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय से।

प्रश्न-१३. इस नय का विषयभूत पदार्थ क्या है ?

उत्तर- 'शुद्ध सद्भूत व्यवहारो यथा शुद्धगुणशुद्धगुणिनो: शुद्ध पर्याय शुद्ध पर्यायिणोर्भेदकथनम्' (आ. पद्धति ८२) शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय शुद्ध गुण और शुद्ध गुणी (द्रव्य) में तथा शुद्ध पर्याय और शुद्ध पर्यायी (द्रव्य) में भेद का कथन करता है। सद्भूत इसलिए कहा है कि यह नय वस्तु के अपने भीतर रहने वाले गुण-पर्याय को ही विषय बनाता है। शुद्ध इसलिए है कि यह आत्मा के औपाधिक भावों से होने वाले गुण, पर्याय को नहीं कहता है।

तर्हि परमार्थ एवैको वक्तव्य इति चेत्-

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ।।८।।

आ.टी. - यथा खलु म्लेच्छः स्वस्तीत्यभिहिते सति तथाविधवाच्यवाचकसम्बन्धावबोध-बहिष्कृतत्वान्न किञ्चिदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव। यदा तु स एव तदेतद्भाषासम्बन्धैकार्थज्ञेनान्येन तेनैव वा म्लेच्छभाषां समुपादाय स्वस्तिपदस्याविनाशो भवतो भवत्वित्यभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमन्दानन्दमयाश्रुझलज्झलल्लोचनपात्रस्तत्प्रतिपद्यत एव। तथा किल लोकोप्यात्मेत्यभिहिते सति यथावस्थितात्मस्वरूपरिज्ञानबहिष्कृतत्वान्न किंचिदपि

उत्थानिका - फिर तो एक परमार्थ का ही कथन करना चाहिए-

अन्वयार्थ - (जह) जैसे (अणज्जो) अनार्य को (अणज्जभासं विणा) अनार्य भाषा के बिना (दु गाहेदुं) किसी वस्तु का स्वरूप ग्रहण कराना (णवि सक्कं) शक्य नहीं है (तह) उसी प्रकार (ववहारेण विणा) व्यवहार के बिना (परमत्थुवदेसणं) परमार्थ का उपदेश देना (असक्कं) अशक्य है।

अर्थ- जिस प्रकार किसी अनार्य (अनाड़ी) पुरुष को उसकी भाषा में बोले बिना नहीं समझाया जा सकता, उसी प्रकार परमार्थ का उपदेश भी व्यवहार के बिना नहीं हो सकता अर्थात् परमार्थ को समझाने के लिए व्यवहारनय का अवलंबन लिया जाता है।

आ.व्या.- जैसे कोई म्लेच्छ व्यक्ति है, उसको 'स्वस्ति' इस प्रकार करने पर वह उस प्रकार के वाच्य-वाचक सम्बन्ध के ज्ञान से रहित होने से कुछ भी नहीं समझ पाता है तो मेंढे की तरह टकटकी लगाकर आँख से देखता ही रह जाता है। किन्तु जब उसकी भाषा से सम्बन्ध रखने वाले उसी एक अर्थ का ज्ञान रखने वाला कोई अन्य व्यक्ति या वही वक्ता म्लेच्छ भाषा को ग्रहण कर स्वस्ति पद का अर्थ- 'आपका विनाश न हो' (या आपका कल्याण हो) इस प्रकार अर्थ उसे समझाता है तब शीघ्र ही उत्पन्न हुए अत्यधिक आनन्दमय आँसुओं से उसकी आँखें भर आती हैं और उस स्वस्ति शब्द का अर्थ वह निश्चित ही समझ लेता है। उसी प्रकार से संसारी प्राणी 'आत्मा' इस प्रकार कहने पर - जैसा आत्मा का स्वरूप है वैसे आत्मा के परिज्ञान से रहित होने से कुछ भी समझ में नहीं समझता है और वह मेंढे की तरह टकटकी लगाकर आँखों से देखता ही रह जाता

बोलो न आंग्ल नर से यदि आंग्ल भाषा, कैसे उसे सदुपदेश मिले प्रकाशा ?
सत्यार्थ को न व्यवहार बिना बताया, जाता सुबोध शिशु में गुरु से जगाया ।।८।।

प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव । यदा तु स एव व्यवहारपरमार्थपथप्रस्थापितसम्यग्-बोधमहारथरथिनान्येन तेनैव वा व्यवहारपथमास्थाय दर्शनज्ञानचारित्राण्यततीत्यात्मेत्यात्मपदस्याभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमन्दानन्दान्तः सुन्दरबोधतरङ्गस्तत्प्रतिपद्यत एव। एवं म्लेच्छस्थानीयत्वाज्जगतो व्यवहारनयोऽपि म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन परमार्थप्रतिपादक-त्वादुपन्यसनीयः, अथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इति वचनाद्व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्यः ।।८।।

अथ यदि शुद्ध निश्चयेन जीवस्य दर्शनज्ञानचारित्राणि न संति तर्हि परमार्थ एव एको वक्तव्यो न व्यवहार इति चेत्तन्न -

ता.टी.-जह णवि सक्कं यथा न शक्यः। कोऽसौ ? **अणज्जो** अनार्यो म्लेच्छः। किम् कर्तुम् ? **गाहेदुं** अर्थग्रहणरूपेण सम्बोधयितुम्। कथम् ? **अणज्जभासं विणा** अनार्यभाषा म्लेच्छभाषा तां विना। तथा दृष्टान्तो गतः। इदानीं दार्ष्टान्तमाह **तह** तथा **ववहारेण विणा** व्यवहारनयं विना परमत्थुवदेसणमसक्कं परमार्थोपदेशनं कर्तुमशक्यमिति। अयमत्राभिप्रायः। यथा कश्चिद् ब्राह्मणो

है। किन्तु जब वही व्यक्ति व्यवहार और निश्चय मार्ग पर स्थित सम्यग्ज्ञान रूपी महारथ को चलाने वाले अन्य महारथी या उसी महारथी से व्यवहार पथ पर स्थापित करके 'दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप से परिणत होता रहता है, वह आत्मा है' इस प्रकार आत्मा शब्द का अर्थ समझाया जाता है तब शीघ्र ही अत्यधिक आनन्द के कारण उसके अन्तरंग में सुन्दर उछलती हुई आनंद की तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं। और वह उस आत्मा के अर्थ को समझ भी जाता है। इसी प्रकार संसारी जीव म्लेच्छ के समान होने से तथा व्यवहार नय परमार्थ का प्रतिपादक होने के कारण म्लेच्छ भाषा के समान होने से स्थापित करने योग्य है। तदुपरान्त 'ब्राह्मण को म्लेच्छ होना योग्य नहीं है' इस लौकिक वचन की तरह व्यवहार नय का अनुसरण नहीं भी करना चाहिए।।८।।

(ता.टी.)

अब शिष्य कहता है कि जब शुद्ध निश्चयनय से दर्शन, ज्ञान और चारित्र नाम के गुण जीव से भिन्न नहीं हैं तो फिर उन्हें भिन्न-भिन्न क्यों कहा जाता है ? एक परमार्थ रूप अखण्ड आत्मा का ही वर्णन करना चाहिए, व्यवहार की (भेद करने की) आवश्यकता ही क्या है ? इस पर आचार्य उत्तर देते हैं-

टीकार्थ- जह अणज्जो जैसे कि अनार्य पुरुष को **अणज्जभासं विणा** अनार्यभाषा या म्लेच्छ भाषा में बोले बिना **गाहेदुं णवि सक्कं** अर्थ ग्रहण नहीं कराया जा सकता। यह तो दृष्टान्त हुआ, अब दार्ष्टान्त पर आते हैं। **तह ववहारेण विणा** उसी प्रकार व्यवहारनय के बिना परमत्थुवदेसणमसक्कं परमार्थ का उपदेश नहीं किया जा सकता। यहाँ यह अभिप्राय है कि कोई ब्राह्मण अथवा यति म्लेच्छों की बस्ती में चला गया, वहाँ किसी म्लेच्छ ने जब उन्हें नमस्कार किया तब उस ब्राह्मण या यति ने उसे 'स्वस्ति' इस प्रकार आशीर्वाद दिया तो 'स्वस्ति' का अर्थ जो 'नहीं नष्ट होना है' उसको नहीं जानने के कारण वह मेंढे के समान इधर-उधर देखता है कि ये क्या कह

यतिर्वा म्लेच्छपल्ल्यां गतः तेन नमस्कारे कृते सति ब्राह्मणेन यतिना वा स्वस्तीति भणिते स्वस्त्यर्थमविनश्वरत्वमजानन्सन् निरीक्षते मेष इव। तथायमज्ञानिजनोप्यात्मेति भणिते सत्यात्मशब्दस्यार्थमजानन्सन् भ्रान्त्या निरीक्षत एव। यदा पुनर्निश्चयव्यवहारनयज्ञपुरुषेण सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि जीव शब्दस्यार्थ इति कथ्यते तदा सन्तुष्टो भूत्वा जानातीति। एवं भेदाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यतया गाथाद्वयेन द्वितीयं स्थलं गतम् ।।८।।

रहे हैं। उसी प्रकार यह अज्ञानी (व्यवहारी) प्राणी 'आत्मा' इस प्रकार कहने पर आत्मा शब्द का क्या अर्थ है, इसको न जानता हुआ भ्रम में पडक़र इधर-उधर देखने लगता है कि ये क्या कह रहे हैं ? किन्तु जब किसी निश्चय और व्यवहार इन दोनों के अर्थ को जानने वाले पुरुष से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र यह जीव शब्द का अर्थ है ऐसा समझाया जाने पर वह सन्तुष्ट होकर समझ जाता है ।।८।।

इस प्रकार दो गाथाओं द्वारा भेद-अभेदरत्नत्रय के व्याख्यान की मुख्यता से दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

विशेषार्थ - आचार्यदेव ने यहाँ व्यवहारनय की उपयोगिता बतलाई है कि व्यवहार के बिना निश्चय का कथन नहीं किया जा सकता और न उसे समझाया ही जा सकता है। अतः निश्चय को समझने के लिए व्यवहार का उपदेश परमावश्यक है। इसके साथ यह भी बतलाया है कि उस व्यवहारनय का उपदेश देने के अधिकारी भी मुनि हैं, जो कि निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयों के तत्त्व को जानने वाले हैं ।।८।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. यदि आत्मा का स्वभाव अभेद रूप परमार्थ से है तो फिर उसका ही कथन करना चाहिए व्यवहार का नहीं ?

उत्तर- ऐसा नहीं समझना। व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश करना संभव नहीं है।

प्रश्न-२. व्यवहार से परमार्थ को कैसे समझाया जा सकता है ?

उत्तर- जैसे आत्मा कहने पर किसी अनभिज्ञ को ज्ञात नहीं होता है कि आत्मा क्या है। इस आत्मा रूप परमार्थ को जब हम 'दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप जो परिणमन करे वह आत्मा है।' ऐसा कहते हैं तो उसे आत्मा शब्द का अर्थ समझ आता है। चूंकि भेद को विषय करना व्यवहार का कार्य है और अभेद को विषय बनाना निश्चय का कार्य है। इसलिए भेद से ही अभेद की यात्रा होती है। व्यवहार के द्वारा ही परमार्थ रूप या निश्चय रूप अभेदात्मक आत्म तत्त्व का प्रतिपादन होता है।

प्रश्न-३. कृपया उदाहरण देकर इस भाव को समझाइये ?

उत्तर- जैसे अनार्य पुरुष को समझाने के लिए उसी भाषा का प्रयोग किया जाता है उसी तरह व्यवहारीजनों को समझाने के लिए व्यवहारनय का आलम्बन लिया जाता है।

प्रश्न-४. यहाँ अनार्य कौन है और अनार्य की भाषा किसके समान है ?

उत्तर- 'एवं म्लेच्छस्थानीयत्वाज्जगतो व्यवहारनयोऽपि म्लेच्छ भाषा स्थानीयत्वेन' (आ.टी.)। यहाँ सारा जगत् म्लेच्छ स्थानीय है और व्यवहारनय भी म्लेच्छ भाषा के स्थान योग्य है। म्लेच्छ या अनार्य एकार्थवाची हैं।

प्रश्न-५. तो क्या सारे जगत् को जिन्हें हम समझा रहे हैं वे म्लेच्छ हैं और जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भेद रूप व्याख्यान करे, वह म्लेच्छ भाषा हुई ?

उत्तर- हाँ! जो जीव भी इस उपदेश को सुन रहे हैं, वे सभी म्लेच्छ है और जिनमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का पृथक् -पृथक् वर्णन है वह सब म्लेच्छों की भाषा हुई। जैसे कि दर्शन पाहुड, चारित्र पाहुड, तत्त्वार्थसूत्र और उसकी टीकाएँ, प्रथमानुयोग आदि सभी अनुयोग के ग्रन्थ म्लेच्छ भाषा स्थानीय हैं।

प्रश्न-६. तो क्या मात्र समयसार ही आर्या भाषा स्थानीय ग्रन्थ है ?

उत्तर- नहीं! इस दृष्टि से पूरा समयसार परमार्थ का प्रतिपादन व्यवहार का आश्रय लेकर ही कर रहा है।

प्रश्न-७. ये आप क्या कह रहे हैं ? इससे तो म्लेच्छ भाषा में समझाने वाले भी उस समय म्लेच्छ स्थानीय होंगे?

उत्तर- हाँ! जो-जो अज्ञानीजनों को समझाने के लिए उपदेश दे रहे हैं, या दे रहे थे या ग्रन्थ लिख रहे थे वे सब म्लेच्छ स्थानीय व्यवहारनय में हैं।

प्रश्न-८. तो फिर व्यवहारनय की स्थापना करना चाहिए या नहीं ?

उत्तर- अवश्य करना चाहिए अन्यथा परमार्थ का व्याख्यान कैसे होगा ? 'परमार्थप्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयो' (आ.टी.) परमार्थ का प्रतिपादकपना होने से व्यवहार नय मुख्य करने योग्य है, उपदेश योग्य है, स्थापना करने योग्य है।

प्रश्न-९. फिर म्लेच्छ से विपरीत ब्राह्मण कौन हुआ ?

उत्तर- जो ब्रह्म में रमण करे वह ब्राह्मण है।

प्रश्न-१०. उस ब्रह्म में रमण करने वाला कौन हुआ ?

उत्तर- कश्चित् ब्राह्मणो यतिर्वा (ता.टी.) अर्थात् ब्राह्मण कहो या यति कहो एक ही बात है, वह ही आर्य स्थानीय है।

प्रश्न-११. अभी आपने समयसार आदि ग्रन्थ लिखने वाले यतियों को भी म्लेच्छ स्थानीय कहा था अब उन्हें आर्य स्थानीय कह रहे हो, यह विरोधभास कैसे हुआ ?

उत्तर- नहीं! कोई विरोधाभास नहीं है। जब यति शुद्धात्म तत्त्व में अभेद, अखण्ड एक आत्मा

में लीन होता है तब वह आर्य स्थानीय है। अभेदात्मक निश्चयनय से अपनी आत्मा को विषय बनाकर शुद्धात्मा की अनुभूति कर रहा है। उस समय अभेद रत्नत्रय से परिणत परम ब्रह्म आत्म स्वरूप में लीन वह यति ब्राह्मण है। ऐसा यति अप्रमत्त आदि गुणस्थानवर्ती ध्यान निमग्न होता है। जब वह यति उस ध्यान को छोडक़र व्यवहार दशा को प्राप्त होकर समिति, व्रत, स्वाध्याय, उपदेश, ग्रन्थ लेखन आदि कार्य में प्रवृत्त होता है तो वह म्लेच्छ स्थानीय है। ऐसा समझने से कोई विरोधाभास नहीं होता है ।

प्रश्न-१२. यहाँ तो अमृतचन्द्राचार्य जी ने तो कहा है कि 'व्यवहारनयो नाऽनुसर्तव्यः' अर्थात् व्यवहारनय का अनुसरण नहीं करना चाहिए ?

उत्तर- आपने अभिप्राय नहीं समझा कि किस अपेक्षा से कहा और किसको कहा है। इससे ठीक पहले से पढो और पूरा वाक्य समझो। 'ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इति वचनाद् व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः' यह पूरा वाक्य है। अर्थात् 'ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं होना चाहिए' ऐसी लोक में कहावत है। उसके अनुसार यहाँ समझाते हुए कह रहे हैं कि जो अभेद रत्नत्रय में लीन परम ब्रह्म का अनुभव करने की योग्यता रखते हैं उन्हें भेद रत्नत्रय आदि व्यवहार में आकर म्लेच्छ नहीं होना चाहिए। व्यवहार नय का अनुसरण नहीं करना, यह उन यतियों के लिए उपदेश है जो भेद रत्नत्रय को धारण किए हैं, उन्हें आत्म स्वरूप में पुनः-पुनः लीन कराने के लिए ऐसा कहा जाता है। या जो आत्मा में लीन हैं, अभेद रत्नत्रय वाले हैं उन्हें भेद रत्नत्रय में नहीं आने की प्रेरणा दी जाती है।

प्रश्न-१३. तो क्या यह उपदेश मात्र यतियों के लिए है, गृहस्थों के लिए नहीं ?

उत्तर- हाँ! मुख्य रूप से यह उपदेश यतियों के लिए ही है। गृहस्थों के लिए यह उपदेश गौण है। गृहस्थों को भी व्यवहार छोडक़र क्वचित् सामायिक आदि के काल में भेद-अभेद रत्नत्रय स्वरूप आत्मा की भावना करना चाहिए।

प्रश्न-१४. व्यवहार और निश्चय में सर्वप्रथम किस पथ पर स्थापित किया जाता है ?

उत्तर- व्यवहार पथमास्थाय दर्शनज्ञानचारित्राण्यततीत्यात्मेत्यात्मपदस्य प्रतिपाद्यते (आ.टी.)। जब कोई सम्यग्ज्ञान का महारथी व्यवहार मार्ग में ठहरकर 'दर्शन, ज्ञान, चारित्र में जो परिणमन करे वह आत्मा है, ऐसा आत्म शब्द का अर्थ समझाता है तभी उसे आत्मा समझ आता है, इससे स्पष्ट है कि सर्वप्रथम व्यवहार पथ से ही आत्मा को समझा जाता है।'

प्रश्न-१५. आत्मा का इस तरह अर्थ समझाने वाले कौन होते हैं ?

उत्तर- व्यवहारपरमार्थ पथ- प्रस्थापित- सम्यग्बोधमहारथरथिनान्येन तेनैव वा (आ.टी.) अर्थात् व्यवहार और परमार्थ पथ पर सम्यग्ज्ञान रूपी महारथ को स्थापित करने वाला सारथी ही समझाने वाला होता है। वह सारथी वह स्वयं भी हो सकता है या कोई अन्य हो, जिससे पहले उसने यह अर्थ समझा है। इसी को ता.टी. में 'यतिना' कहकर स्पष्ट किया है कि इस निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का उपदेश देने के अधिकारी मुनि होते हैं।

प्रश्न-१६. व्यवहार नय से प्रतिपादन किए बिना जीव की स्थिति कैसी बनती है ? उदाहरण देकर समझाइए?

उत्तर- कोई ब्राह्मण अथवा यति म्लेच्छों की बस्ती में गया, वहाँ किसी म्लेच्छ ने जब उन्हें नमस्कार किया तो आशीर्वाद में 'स्वस्ति' कहा। वह म्लेच्छ स्वस्ति का अर्थ 'अविनाशी रहो' या 'अमर रहो' यह अर्थ वह जानता नहीं तो मेंढे की तरह आँख फाडक़र टकटकी लगाकर देखता है किन्तु जब उसे उसका उसी हिन्दी भाषा में अर्थ समझाते हैं तो वह आनन्दित होता है और सन्तुष्ट होता है। इसी तरह आत्मा के विषय में जानना। (आ.टी.) एवं (ता.टी.)।

प्रश्न-१७. मूल गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द देव ने आर्य, अनार्य शब्दों का प्रयोग किया है, यह ही उपयुक्त लगते हैं, न कि ब्राह्मण और म्लेच्छ ?

उत्तर- हाँ हाँ। मूल और टीका में लगभग एक हजार वर्ष का अन्तर है इसलिए कभी-कभी मूल का भाव समझना ही उचित लगता है।

हे ज्ञान स्वभाव आत्मन्! आचार्य समन्तभद्र देव आप्तमीमांसा के श्लोक ९८ में कहते हैं कि थोडे ज्ञान से भी मोक्ष हो जाता है किन्तु वह ज्ञान मोह रहित हो। मोह-माया से दूर करे वही ज्ञान सार्थक है और मोह रहित होना ही सम्यग्ज्ञान है। मोक्षमार्ग में ज्ञान की आवश्यकता नहीं है, सम्यग्ज्ञान की नियामकता है। सम्यग्ज्ञान बातों से नहीं आता है व्रतों से आता है। सम्यग्ज्ञान भोजन में आनन्द से नहीं भगवत् भजन में आनन्द से आता है।

कथं व्यवहारस्य प्रतिपादकत्वमिति चेत्-

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा ।।९।।

जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा।
सुदणाणमाद सव्वं जह्मा सुदकेवली तह्मा ।।१०।। (युगलम्)

आ.टी. - यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति तावत्परमार्थो, यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति तु व्यवहारः। तदत्र सर्वमेव तावत् ज्ञानं निरूप्यमाणं किमात्मा किमनात्मा? न तावदनात्मा समस्तस्याप्यनात्मनश्चेतनेतरपदार्थपञ्चतयस्य ज्ञानतादात्म्यानुपपत्तेः।

उत्थानिका - उस व्यवहार को परमार्थ का प्रतिपादकपना कैसे है? ऐसा पूछने पर कहते हैं-

अन्वयार्थ - (जो) जो जीव (हि) निश्चय से (सुदेण तु) श्रुतज्ञान के द्वारा (इणं) इस अनुभवगोचर (केवलं सुद्धं) केवल एक शुद्ध (अप्पाणम्) आत्मा को (अहिगच्छदि) सम्मुख होकर जानता है, (तं) उसे (लोगप्पदीवयरा) लोक को प्रगट जाननेवाले (इसिणो) ऋषीश्वर (सुदकेवलिं) श्रुतकेवली (भणितं) कहते हैं (जो) जो जीव (सव्वं) समस्त (सुदणाणं) श्रुतज्ञान को (जाणदि) जानता है (तं) उसे (जिणा) जिनदेव (सुदकेवलिं) श्रुतकेवली (आहु) कहते हैं, (सुदणाणमाद सव्वं) क्योंकि ज्ञान सब (अप्पाणं) आत्मा ही है (तह्मा) इसलिए (सुदकेवली) श्रुतकेवली हैं।

अर्थ - जो द्वादशांग श्रुतज्ञान के द्वारा केवल अपनी शुद्ध आत्मा को अपने अनुभव में लाता है उसे सर्वज्ञ भगवान् निश्चय-श्रुतकेवली कहते हैं। और उसी श्रुतज्ञान के द्वारा जो सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है उसे जिन-भगवान् द्रव्य-श्रुतकेवली कहते हैं।

आ.व्या. - जो श्रुत के द्वारा केवल शुद्ध आत्मा को जानता है, वह श्रुतकेवली है। यह परमार्थ है। और जो सम्पूर्ण द्रव्यश्रुतरूप श्रुतज्ञान को जानता है, वह श्रुत केवली है। यह व्यवहार है। अब यहाँ बताया जाने वाला सर्वज्ञान आत्मा है या आत्मा से भिन्न द्रव्य है ? वह ज्ञान आत्मा

सिद्धान्त के मनन से जिसने निहारा, शुद्धात्म को सहज से, तज राग सारा।
है पूर्ण भाव-श्रुतकेवलि वो निहाला, ऐसा कहें ऋषि करें जग में उजाला ।।९।।

जाना समस्त श्रुत को श्रुत-केवली हैं, ऐसे महेश कहते जिन केवली हैं।
औचित्य ज्ञानमय आतम है सदी से, हैं वन्द्य द्रव्य श्रुतकेवलि वो इसी से ।।१०।।

ततो गत्यन्तराभावात् ज्ञानमात्मेत्यायाति। अतः श्रुतज्ञानमप्यात्मैव स्यात् । एवं सति यः आत्मानं जानाति स श्रुतकेवलीत्यायाति, स तु परमार्थ एव । एवं ज्ञानज्ञानिनोर्भेदेन व्यपदिश्यता व्यवहारेणापि परमार्थमात्रमेव प्रतिपाद्यते, न किञ्चिदप्यतिरिक्तम् । अथ च यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति परमार्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वाद्यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति व्यवहारः परमार्थप्रतिपादकत्वेनात्मानं प्रतिष्ठापयति ।।९-१० ।।

अथ पूर्वगाथायां भणितं व्यवहारेण परमार्थो ज्ञायते ततस्तमेवार्थं कथयति-

ता.टी.- जो यः कत्ता **हि** स्फुटं **सुदेण** भावश्रुतेन स्वसंवेदनज्ञानेन निर्विकल्पसमाधिना करणभूतेन, **अहिगच्छदि** अभि समन्ताज्जानात्यनुभवति। कम् ? **अप्पाणं** आत्मानम्। **इणं** इमं प्रत्यक्षीभूतं तु पुनः। किम्विशिष्टम्? **केवलम्** असहायं। **सुद्धं** रागादिरहितं। तं पुरुषं। **सुदकेवलिं** निश्चयश्रुतकेवलिनम्। **इसिणो** परमऋषयः। **भणंति** कथयन्ति। **लोगप्पदीवयरा** लोकप्रदीपकराः लोकप्रकाशका इति। अनया गाथया निश्चयश्रुतकेवलिलक्षणमुक्तम्।

से भिन्न द्रव्य तो नहीं है, क्योंकि सभी के सभी आत्मद्रव्य से भिन्न पाँच प्रकार के अचेतन द्रव्यों का ज्ञान के साथ तादात्म्य (अभेद) घटित नहीं होता। उस कारण से अन्य उपाय का सद्भाव न होने से ज्ञान आत्मा है, यह पक्ष सिद्ध हो जाता है। इससे भाव श्रुतज्ञान भी आत्मरूप ही होगा। ऐसा होने पर 'जो आत्मा को जानता है, (उसका अनुभव करता है) वह श्रुतकेवली है' यह (अभिप्राय) सिद्ध हो जाता है। वह परमार्थ ही है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानी इनका भेद से कथन करने वाले व्यवहारनय के द्वारा भी सिर्फ परमार्थ का ही प्रतिपादन किया जाता है। किंचित् भी अतिरिक्त का प्रतिपादन नहीं किया जाता। अब जो श्रुत के द्वारा केवल शुद्ध आत्मा को जानता है, (उसका अनुभव करता है) वह श्रुतकेवली है, इस प्रकार के परमार्थ का प्रतिपादन करना अशक्य होने से 'जो सम्पूर्ण श्रुत को जानता है, वह श्रुतकेवली है' इस प्रकार का व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक होने से अपने आप प्रतिष्ठापना/सिद्धि करता है। ।।९-१०।।

(ता.वृ.)

अब जैसा पूर्व गाथा में कहा गया है कि व्यवहारनय के द्वारा ही परमार्थ को जाना जा सकता है उसी के अर्थ को दृढ.करने के लिए कहते हैं।

टीकार्थ- जो हि सुदेणहिगच्छदि जो जीव (कर्त्ता) करणता को प्राप्त हुए निर्विकल्प समाधि रूप स्वसंवेदन ज्ञानात्मक भावश्रुत के द्वारा पूर्णरूप से अपने अनुभव में लाता है **इणं अप्पाणं** इस प्रत्यक्षीभूत अपने आपकी आत्मा को केवल सहाय रहित **सुद्धं** रागादि से रहित अनुभव में लाता है **तं सुदकेवलि** उस पुरुष को निश्चय श्रुतकेवली **भणंति** कहते हैं। कौन कहते हैं ? **लोगप्पदीवयरा इसिणो** लोकालोक के प्रकाशक परम-ऋषि कहते हैं। इस प्रकार इस गाथा

अथ 'जो सुदणाणं' इत्यादि- **जो** यः कर्त्ता। **सुदणाणं** द्वादशांगद्रव्यश्रुतं । **सव्वं** सर्वं परिपूर्णं। **जाणदि** जानाति। सुदकेवलिं व्यवहार श्रुत- केवलिनं **तमाहु जिणा** तं पुरुषमाहुः ब्रुवन्ति। के ते ? जिनाः सर्वज्ञाः कस्मादिति चेत् ? **जह्मा** यस्मात्कारणात्। **सुदणाणं** द्रव्यश्रुताधारेणोत्पन्नं भावश्रुतज्ञानम्। **आद** आत्मा भवति। कथंभूतं? **सव्वं** सर्वमात्मसम्वित्तिविषयं परपरिच्छित्तिविषयं वा। **तह्मा** तस्मात्कारणात्। **सुदकेवली** द्रव्यश्रुतकेवली स भवतीति। अयमत्रार्थः-यो भावश्रुतरूपेण स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धात्मानं जानाति निश्चयश्रुतकेवली स भवति। यस्तु स्वशुद्धात्मानं न सम्वेदयति न भावयति बहिर्विषयं द्रव्यश्रुतार्थं जानाति स व्यवहारश्रुतकेवली भवतीति। ननु तर्हि स्वसम्वेदन-ज्ञानबलेनास्मिन् काले७पि श्रुतकेवली भवति ? तन्न यादृशं पूर्व-पुरुषाणां शुक्लध्यानरूपं स्वसंवेदनज्ञानं तादृशमिदानीं नास्ति किन्तु धर्म्यध्यानं योग्यमस्तीत्यर्थः। एवं निश्चयव्यवहार-श्रुतकेवलिव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयेन तृतीयस्थलं गतम् ।। ९-१०।।

के द्वारा निश्चय श्रुतकेवली का लक्षण कहा गया। जो **सुदणाणं** किन्तु जो पुरुष द्वादशांग द्रव्य श्रुतज्ञान को **सव्वं** परिपूर्णरूप से **जाणदि** जानता है **तं** उसे **जिणा** जिन भगवान् **सुदकेवलिं आहु** द्रव्य श्रुतकेवली कहते हैं। **जह्मा** क्योंकि **सुदणाणं** द्रव्य श्रुत के आधार से उत्पन्न हुआ जो भाव श्रुतज्ञान है वह **आदा** आत्मा ही है **सव्वं** जो कि आत्मा की संवित्ति को विषय करने वाला और पर की परिच्छित्ति को विषय करने वाला होता है। **तह्मा** इसलिए **सुदकेवली** वह द्रव्य श्रुतकेवली होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो भावश्रुत रूप स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा केवल अपनी शुद्ध आत्मा को जानता है वह निश्चय श्रुतकेवली होता है, किन्तु जो अपनी शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं कर रहा है, न उसकी भावना कर रहा है, केवल बहिर्विषयक द्रव्यश्रुत के विषयभूत पदार्थों को जानता है वह व्यवहार श्रुतकेवली होता है।

प्रश्न- स्वसंवेदन ज्ञान के बल से इस काल में भी श्रुतकेवली हो सकता है, ऐसा समझना चाहिए क्या? इसका **समाधान** यह है कि नहीं हो सकता, क्योंकि जैसा शुक्लध्यानात्मक स्वसंवेदनज्ञान पूर्व पुरुषों को होता था वैसा इस समय नहीं होता, किन्तु इस समय तो यथायोग्य धर्म्यध्यान होता है। अथवा धर्म्यध्यान के योग्य होता है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार श्रुतकेवली का व्याख्यान करने वाली दो गाथाओं के द्वारा तृतीय स्थल पूर्ण हुआ ।।९-१०।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक कैसे है ?

उत्तर- व्यवहार नय के विषयभूत द्वादशांग के ज्ञान के बिना श्रुतकेवली भी परमार्थभूत आत्मा का अनुभव नहीं कर पाते हैं, **इसलिए व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक** है।

प्रश्न-२. श्रुतकेवली किन्हें कहते हैं ?

उत्तर- जो ज्ञानावरण के क्षयोपशम विशेष से बारह अंगों को पूर्ण रूप से अवधारण कर लेते हैं वे श्रमण श्रुतकेवली होते हैं।

प्रश्न-३. उन्हें व्यवहार श्रुतकेवली क्यों कहा ?

उत्तर- सम्पूर्ण श्रुतज्ञान अर्थात् द्वादशांग को वे जब तक जानते हैं, तब तक वे व्यवहार केवली कहे जाते हैं।

प्रश्न-४. निश्चय श्रुतकेवली कब कहलाते हैं ?

उत्तर- जिस समय वे द्वादशांग रूप श्रुतज्ञान से उपयोग हटाकर केवल अपनी शुद्ध आत्मा को जानते हैं उस समय वे निश्चय श्रुतकेवली होते हैं।

प्रश्न-५. निश्चय श्रुतकेवली आत्मा को जानते मात्र हैं या अनुभव करते हैं ?

उत्तर- आत्मा को जानना मात्र तो द्वादशांग का ज्ञान होने पर भी होता है। इसलिए 'आत्मा को जानने वाले निश्चय श्रुतकेवली हैं' इस कथन का अर्थ यही है कि जो करणभूत निर्विकल्प समाधि के द्वारा स्वसंवेदन ज्ञान रूप भावश्रुत ज्ञान से प्रत्यक्षीभूत आत्मा का अनुभव करते हैं वे निश्चय श्रुतकेवली हैं। **(ता.टी.)।**

प्रश्न-६.क्या श्रावक वा असंयत सम्यग्दृष्टि निश्चय श्रुतकेवली हो सकते हैं ?

उत्तर- नहीं! कदापि नहीं। जिन्हें अंग, पूर्वरूप श्रुतज्ञान तथा भेदरत्नत्रय की परिणति होना संभव नहीं है वे जब व्यवहार श्रुतकेवली भी नहीं हो सकते हैं तो निश्चय श्रुतकेवली कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते हैं।

प्रश्न-७. क्या द्रव्यलिंगी मुनि व्यवहार श्रुतकेवली हो सकते हैं ?

उत्तर- नहीं! द्रव्यलिंगी मुनि को भी द्वादशांग का ज्ञान नहीं होता है। उन्हें मात्र ग्यारह अंग तक का ज्ञान हो सकता है। इसलिए उन्हें व्यवहार श्रुतकेवली नहीं कह सकते हैं।

प्रश्न-८. तो क्या गणधर आदि परमेष्ठी भी द्रव्य श्रुत की रचना और व्याख्यान के समय व्यवहार श्रुतकेवली हैं?

उत्तर- हाँ! शुद्ध आत्मा की अनुभूति के अभाव में उस काल में वे भी द्रव्य श्रुतकेवली हैं।

प्रश्न-९. क्या वर्तमान में श्रुतकेवली होते हैं ?

उत्तर- नहीं! भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद पाँच श्रुतकेवली आचार्य हुए हैं। उनमें अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी हुए हैं। उसके बाद कोई श्रुतकेवली नहीं हुए हैं। स्वयं श्री कुन्दकुन्दाचार्य आदि भी श्रुतकेवली नहीं हैं।

प्रश्न-१०. तो फिर जो शुद्ध आत्मा को जानता है (अनुभव करता है) वह निश्चय श्रुतकेवली है, इसका अर्थ क्या हुआ ?

उत्तर- जो शुद्ध आत्मा का अनुभवन आज भी निर्विकल्प समाधि के द्वारा करते हैं उनको भावश्रुतज्ञान से स्वसंवेदन ज्ञान के बल से निश्चय श्रुतकेवली कहा जाता है।

प्रश्न-११. तब तो स्वसंवेदन ज्ञान के बल से इस पंचमकाल में भी श्रुतकेवली होते हैं, ऐसा माना जाए ?

उत्तर- ऐसा नहीं है। जैसा पूर्व पुरुषों को शुक्लध्यान रूप स्वसंवेदन ज्ञान होता था, वैसा इस समय नहीं है किन्तु धर्म्यध्यान के योग्य होता है। **(ता.टी.)**

प्रश्न-१२. धर्म्यध्यान के योग्य तो असंयत सम्यग्दृष्टि आदि भी होता है ?

उत्तर- नहीं! उस धर्म ध्यान को यहाँ निश्चय श्रुतकेवली के रूप में नहीं लिया है। धर्म ध्यान भी मुख्यता से तभी कहा है जब मुनि आत्मध्यान में स्थित होता है। आत्मध्यान में स्थित मुनि ही होते हैं, अन्य श्रावक आदि नहीं। जैसा कि **आचार्य कुन्दकुन्द देव ने अष्टपाहुड़** में कहा है-

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स ।
तं अप्पसहाव ठिदे ण हु मण्णइ सो दु अण्णाणी ।।

अर्थात्- इस भरत क्षेत्र में दु:षम काल में भी साधु के धर्मध्यान होता है। वह भी आत्म स्वभाव में स्थित साधु के ही होता है, जो ऐसा नहीं मानता है वह अज्ञानी है।

प्रश्न-१३. इन दो गाथाओं का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर- द्रव्य श्रुतज्ञान से अपने उपयोग को हटाकर भावश्रुतज्ञान से मुनिराज को आत्मानुभवन करना चाहिए। श्रावक आदि को भी शास्त्र अवलम्बन त्याग कर एकाग्रमना होकर आत्म अनुभवन की भावना करना चाहिए।

प्रश्न-१४. पहले भावश्रुतज्ञान होता है कि द्रव्य श्रुतज्ञान ?

उत्तर- पहले द्रव्य श्रुतज्ञान होता है। **'द्रव्यश्रुताधारेणोत्पन्नं भावश्रुतज्ञानं आत्मा भवति' (ता.टी.)** इससे स्पष्ट है कि द्रव्य श्रुतज्ञान के आधार से उत्पन्न भाव श्रुतज्ञान ही आत्मा है।

प्रश्न-१५. व्यवहार पूर्वक निश्चय होता है या निश्चय पूर्वक व्यवहार होता है ?

उत्तर- इस प्रसंग से स्पष्ट है कि व्यवहार श्रुतज्ञान पूर्वक ही निश्चय श्रुतज्ञान होता है। द्रव्य श्रुत व्यवहार है और भावश्रुत आत्मा का अनुभवन है। द्रव्य श्रुत रूप व्यवहार को आधार कहा है। बिना आधार के आधेय नहीं होता है। इसलिए व्यवहारपूर्वक निश्चय होता है। दूसरी बात यह कि व्यवहार ही परमार्थ का प्रतिपादक है। बिना व्यवहार के परमार्थ का प्रतिपादन करना अशक्य है, इससे भी सिद्ध होता है कि व्यवहार आधार के रूप में अपने आपको प्रतिष्ठापित करता है। **'परमार्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् य: श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति व्यवहार: परमार्थ प्रतिपादकत्वेनात्मानं प्रतिष्ठापयति।' (आ.टी.)**

प्रश्न-१६. 'केवल' आत्मा को जानता है तो यहाँ 'केवल' शब्द का अर्थ क्या है ?

उत्तर- केवलं असहायं (ता.टी.) अर्थात् जो इन्द्रिय, मन की सहायता के बिना अतीन्द्रिय ज्ञान से आत्मा को जानता है वही केवल आत्मा को जानता है।

प्रश्न-१७. 'शुद्ध' आत्मा को जानता है, यहाँ 'शुद्ध' शब्द का अर्थ क्या है ?

उत्तर- **शुद्धं रागादिरहितं (ता.टी.)** जो रागादि से रहित आत्मा को जानता है वह शुद्ध आत्मा का अनुभवन करता है।

प्रश्न-१८. व्यवहार श्रुतकेवली और निश्चय श्रुतकेवली के गुणस्थान कौन से होते हैं ?

उत्तर- छठे सातवें गुणस्थान में व्यवहार श्रुतकेवली होते हैं। सातवें गुणस्थान की दो अवस्थाएँ हैं। प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप। उनमें प्रवृत्तिरूप अवस्था व्यवहार श्रुतकेवली के होती है। निवृत्तिरूप अप्रमत्त अवस्था में यथायोग्य धर्मध्यान के साथ निश्चय श्रुतकेवली हैं। इसके आगे शुक्ल ध्यान के साथ आठवें आदि गुणस्थानों में निश्चय श्रुतकेवली कहे जाते हैं।

प्रश्न-१९. 'यथायोग्य' का यहाँ क्या अर्थ है ?

उत्तर- 'यथायोग्य' का अर्थ यह नहीं है कि जहाँ जैसी योग्यता हो वहाँ वैसा धर्मध्यान लेना है। यहाँ 'यथायोग्य' का अर्थ है कि धर्मध्यान के योग्य 'यथा' यानी जैसा लक्षण कहा है उस लक्षण को ग्रहण करना। अर्थात् आत्मस्वभाव में स्थित साधु परमेष्ठी के योग्य धर्मध्यान को यथायोग्य धर्मध्यान कहा है। वस्तुतः टीका में 'धर्मध्यानं योग्यमिति' शब्द है जिससे धर्मध्यान के योग्य होता है। ऐसा अर्थ भी निकलता है।

प्रश्न-२०. यह आत्मा अखण्ड, एकरूप, शुद्ध, सामान्य, ध्रुव, अनुभवगोचर वस्तु है। इसके सम्मुख होकर उसे स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जो प्रत्यक्ष जाने, अनुभवे वह सम्यग्दृष्टि जीव है। उसे केवली भगवान् और ऋषीश्वर भाव श्रुतकेवली कहते हैं?

उत्तर- यदि ऐसा होता तो इतना विचार मात्र किसी भी अनादि मिथ्यादृष्टि को रटा दिया जाता और उसे भी सम्यग्दर्शन हो जाता। यह अखण्ड, एकरूप आत्मा का स्वभाव शुद्ध निश्चयनय से कहा है। शुद्ध निश्चय अशुद्ध आत्मा के लिए शुद्ध स्वभाव का विचार करने के लिए होता है। विचार करना, भावना करना तो ठीक था किन्तु उस नय से आत्मा को प्रत्यक्ष जानना, अनुभव करना इस पंचमकाल में नहीं होता है, ऐसा आचार्य कुन्दकुन्द देव कहते हैं-

को विदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं ।। १९८।।

अर्थात्- कौन समझदार साधु यह कह सकता है कि आत्मतत्त्व वर्तमान काल में इस छद्मस्थ के प्रत्यक्ष हो जाता है क्योंकि इसका साक्षात्कार तो केवलज्ञान में ही होता है। परन्तु परोक्ष मानसिक ज्ञान के द्वारा वह छद्मस्थ ज्ञान से भी जान लिया जाता है।

देखो! आचार्य कहते हैं कि कोई समझदार साधु, ज्ञानवान् साधु इस तरह से नहीं कह सकता है कि आत्मा को प्रत्यक्ष जाने, अनुभवे वही सम्यग्दृष्टि जीव है। जब आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव ज्ञानवान् साधु को नहीं है तो तुम्हें कैसे हो गया? इससे यह भी स्पष्ट है कि आत्मा को

प्रत्यक्ष दिखाने, जानने वाला खुद स्वयं न साधु है, न समझदार है। और जो इस तरह आत्मा को प्रत्यक्ष जाने, अनुभवे वह सम्यग्दृष्टि जीव है, तो मैं पूछता हूँ कि गणधर आदि देव, श्रुतकेवली भगवन्त जिस समय उपदेश आदि कर रहे हैं तो वे प्रत्यक्ष तो आत्मा को अनुभव नहीं कर रहे हैं तो क्या उन्हें उस समय सम्यग्दृष्टि न कहा जावे ? तुम्हारी सम्यग्दर्शन की परिभाषा अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोष से सहित है। छठे-सातवें गुणस्थान में साधु जब आहार, विहार आदि क्रियाओं में प्रवृत्ति करता है, तब भी सम्यग्दृष्टि ही होता है इसलिए स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जो प्रत्यक्ष जाने, अनुभवे वह सम्यग्दृष्टि जीव है। यह परिभाषा अव्याप्ति दोष सहित हुई।

और जिसके पास सम्यग्दर्शन आत्मा में नहीं है ऐसा कोई भी छली, लोभी, मानी जीव भी इस तरह के वाक्यांश को रटकर अहा-हा..... आत्मा! कर सकता है तो वह सम्यग्दृष्टि तो नहीं हो गया। तब सम्यग्दृष्टि का यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष सहित हुआ। केवली भगवान् किसे भाव श्रुतकेवली कहते हैं, यह ऊपर बता चुके हैं।

णाणह्मि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य।
ते पुण तिण्णिवि आदा तह्मा कुण भावणं आदे ।।११।। (ता.टी.)

अथ गाथाया: पूर्वार्द्धेन भेदरत्नत्रयभावनामत्तरार्द्धेनाभेदरत्नत्रयभावनां च प्रतिपादयति-

ता.टी.- सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयभावना खलु स्फुटं कर्त्तव्या भवति। तानि पुनस्त्रीण्यपि निश्चयेनात्मैव यत: कारणात् तस्मात् कुरु भावनां शुद्धात्मनीति ।।११।।

अर्थ - ज्ञान में, दर्शन में और चारित्र में दृढता से भावना करनी चाहिए क्योंकि ये तीनों आत्मा के स्वरूप हैं। इसलिए आत्मा की भावना बार-बार करनी चाहिए।।११।।

अब गाथा के पूर्वार्द्ध से भेदरत्नत्रय की भावना और उत्तरार्द्ध से अभेदरत्नत्रय की भावना का वर्णन करते हैं-

टीकार्थ- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का पुन:-पुन: अनुचिन्तन अवश्य ही स्पष्टरूप से करते रहना चाहिए। क्योंकि निश्चयनय से ये तीनों आत्मस्वरूप ही हैं। इसलिए शुद्धात्मा की भावना भी हे भव्य! अवश्य करना चाहिए ।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. यह गाथा अलग से क्यों है ?

उत्तर- यह गाथा अलग से नहीं है। आचार्य जयसेन जी महाराज ने इस गाथा को पीठिका अधिकार में जोडा है और इस पर टीका भी की है।

प्रश्न-२. इस गाथा का मुख्य विषय क्या है ?

उत्तर- इस गाथा के पूर्वार्द्ध से भेद रत्नत्रय की भावना और उत्तरार्द्ध से अभेद रत्नत्रय की भावना का प्रतिपादन किया है।

प्रश्न-३. भेद भावना से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की भावना पृथक् -पृथक् करना भेद भावना है। यही भेद रत्नत्रय की भावना है।

प्रश्न-४. अभेद रत्नत्रय की भावना कैसे करें ?

उत्तर- सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीनों निश्चय से आत्मा ही हैं, अत: अपने शुद्ध आत्मा की भावना करना अभेद रत्नत्रय की भावना है।

सौभाग्य! बोध दृग की समुपासना हो, चारित्र की बस निरन्तर साधना हो।
तीनों अभिन्न गुण आतम के इसी से, हो जा विलीन निज आतम में खुशी से ।।

जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्व-दुक्ख-मोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ।। १२।। (ता.टी.)

अथ भेदाभेदरत्नत्रयभावनाफलं दर्शयति-

ता.टी.- यः कर्त्ता आत्मभावनामिमां नित्योद्यतः सन् मुनिस्तपोधनः समाचरति सम्यगाचरति भावयति स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण स्तोककालेनेत्यर्थः। इति निश्चय व्यवहार रत्नत्रयभावना भावनाफलव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयेन चतुर्थं स्थलं गतम् ।। १२।।

अर्थ - जो मुनि या तपोधन तत्परता के साथ इस आत्मभावना को स्वीकार करता है वह सम्पूर्ण दुःखों से थोड़े ही काल में मुक्त हो जाता है।

अब इस भेदाभेदरत्नत्रय की भावना का फल बतलाते हैं-

टीकार्थ - इस तात्पर्यवृत्ति का अर्थ मूल गाथा में आ चुका है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय की भावना का फल बतलाते हुए दो गाथाओं के द्वारा चौथा स्थल पूर्ण हुआ।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१ इस गाथा में क्या कहा गया है ?

उत्तर- इस गाथा में पूर्वोक्त भेद-अभेद रत्नत्रय की भावना का फल बताया है।

प्रश्न-२ इस तरह आत्म भावना को कौन करता है ?

उत्तर- स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा है कि मुनि, तपोधन नित्य ही उद्यत होते हुए इस भेदाभेद रत्नत्रय की भावना करता है।

प्रश्न-३ इस आत्म भावना का फल क्या है ?

उत्तर- इस आत्म भावना में उद्यत हुआ मुनि शीघ्र ही सर्व दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न-४ क्या इस गाथा की टीका भी अमृतचन्द्र जी सूरि ने नहीं की ?

उत्तर- हाँ! नहीं की। यह गाथा आचार्य जयसेन महाराज जी ने ही अपनी टीका में शामिल की है ।

शुद्धात्म की विमल निर्मल भावना को, भाते सहर्ष ऋषि वे तज वासना को।
पाते विमुक्ति भव से अघ को मिटाके, सद्यः निवास करते शिव-धाम जा के ।।

कुतो व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्य इति चेत् -

ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ।।११।। ता.वृ. १३

आ.टी. - व्यवहारनयो हि सर्व एवाभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतयति, शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वात् भूतमर्थं प्रद्योतयति। तथा हि-यथा प्रबलपंकसंवलनतिरोहितसहजैकाच्छभावस्य पयसोनुभवितारः पुरूषाः पंकपयसोर्विवेकमकुर्वन्तो बहवोऽनच्छमेव तदनुभवन्ति । केचित्तु स्वकरविकीर्णकतकनिपातमात्रोपजनितपंकपयोविवेकतया स्वपुरुषाकाराविर्भावित-सहजैकाच्छभावत्वादच्छमेव तदनुभवन्ति। तथा प्रबलकर्मसंवलनतिरोहित-सहजैकज्ञायकभावस्यात्मनोऽनुभवितारः पुरुषा आत्मकर्मणोर्विवेकमकुर्वन्तो व्यवहारविमोहितहृदयाः प्रद्योतमानभाववैश्वरूप्यं तमनुभवन्ति। भूतार्थदर्शिनस्तु स्वमतिनिपातितशुद्धनयानुबोध-

---

उत्थानिका - व्यवहार नय का अनुसरण क्यों नहीं करना चाहिए ऐसा पूछने पर कहते हैं-

अन्वयार्थ - (ववहारोऽभूदत्थो) व्यवहारनय अभूतार्थ है (दु) और (सुद्धणओ) शुद्धनय (भूदत्थो) भूतार्थ है, ऐसा (देसिदो)ऋषीश्वरों ने बताया है; (जीवो) जो जीव (भूदत्थमस्सिदो) भूतार्थ का आश्रय लेता है वह जीव (खलु) निश्चय से (सम्मादिट्ठी) सम्यग्दृष्टि (हवदि) है।

अर्थ - व्यवहारनय अभूतार्थ है अर्थात् विशेषता को दृष्टि में रखकर विषमता को पैदा करने वाला है किन्तु शुद्धनय भूतार्थ है क्योंकि वह समता को अपनाकर एकत्व को लाता है। समता को अपनाकर ही सम्यग्दृष्टि अर्थात् समीचीनतया देखने वाला होता है। ।।१३।।

आ.व्या.- सर्व ही व्यवहारनय अभूतार्थपने के कारण अभूत (मिले-जुले) अर्थ को प्रकट करता है। एक शुद्धनय ही भूतार्थपने से भूत (शुद्ध) अर्थ को प्रकट करता है। वह इस प्रकार है- जिस प्रकार अत्यधिक कीचड.के संयोग से, जिसका सहज स्वभाव, तिरोहित हुआ है, ऐसे जल का अनुभव करने वाले बहुत से लोग कीचड.और जल का पृथक्करण न करते हुए उस कीचड.सहित जल का अनुभव करते हैं। कुछ लोग अपने हाथ से डाले गये कतकफल के मिलने मात्र से उत्पन्न किये गए जल और कीचड.के पृथग्भाव से अपने पुरुषार्थ से जल का स्वाभाविक निर्मलत्व प्रकट किया गया होने से उस निर्मल स्वच्छ जल का ही अनुभव करते हैं। इसी प्रकार प्रबल कर्म के संयोग से जिसका सहज एक ज्ञायक भाव प्रच्छादित हो गया है, ऐसी आत्मा का अनुभव करने वाले पुरुष

भूतार्थ शुद्धनय है निज को दिखाता, भूतार्थ है न व्यवहार हमें भुलाता।
भूतार्थ की शरण लेकर जीव होता, सम्यक्त्व मंडित वही मन-मैल धोता ।।११।।

मात्रोपजनितात्मकर्मविवेकतया स्वपुरुषाकाराविर्भावितसहजैकज्ञायकभावत्वात् प्रद्योतमानैकज्ञायकभावं तमनुभवन्ति। तदत्र ये भूतार्थमाश्रयन्ति त एव सम्यक् पश्यन्तः सम्यग्दृष्टयो भवन्ति, न पुनरन्ये, कतकस्थानीयत्वात् शुद्धनयस्य । अतः प्रत्यगात्मदर्शिभिर्व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्यः ।।११।।

अथ यथा कोऽपि ब्राह्मणादिविशिष्टो जनो म्लेच्छप्रतिबोधनकाले एव म्लेच्छभाषां ब्रूते न च शेषकाले तथैव ज्ञानी पुनरप्यज्ञानिप्रतिबोधनकाले व्यवहारमाश्रयति न च शेषकाले। कस्मादभूतार्थत्वादिति प्रकाशयति-

ता.टी. - ववहारो व्यवहारनयः। **अभूदत्थो** अभूतार्थः असत्यार्थो भवति। **भूदत्थो** भूतार्थः सत्यार्थः। **देसिदो** देशितः कथितः। दु पुनः कोऽसौ? **सुद्धणओ** शुद्धनयः निश्चयनयः। तर्हि केन नयेन सम्यग्दृष्टिर्भवतीति चेत्? **भूदत्थं** भूतार्थं सत्यार्थं निश्चयनयम्। **अस्सिदो** आश्रितो गतः

आत्मा और कर्म का भेद न करते हुए व्यवहारनय के द्वारा मोहित हृदय वाले बने हुए हैं। ऐसे पुरुष जिसमें धर्मों की नानाविधता प्रकट हो रही है, ऐसी आत्मा का अनुभव करते हैं। किन्तु भूतार्थ (शुद्ध अर्थ) को देखने वाले जो होते हैं वे अपनी बुद्धि में डाली गयी शुद्धनय के अनुबोध से आत्मा और कर्म के भेदज्ञान के द्वारा अपने पुरुषार्थ से सहज एक ज्ञायक भाव का आविर्भाव (प्रकटीकरण) किया जाने से जिसका एक ज्ञायकभाव प्रकट हो रहा है, ऐसी आत्मा का अनुभव करते हैं। उसमें जो भूतार्थ (शुद्धनय) का आश्रय लेते हैं वे ही पदार्थ को स्पष्टरूप से देखने वाले सम्यग्दृष्टि हुआ करते हैं अन्यजन नहीं होते, क्योंकि शुद्धनय कतकफल (निर्मली के बीज) के समान होता है। अतः अन्तरंग में अपनी भिन्न आत्मा का दर्शन/साक्षात्कार करने वालों को व्यवहारनय का अनुसरण करना योग्य नहीं है। ।। ११।।

(ता.टी.)

आगे कहते हैं कि जिस प्रकार कोई ब्राह्मण आदि विशिष्ट-पुरुष म्लेच्छों को समझाने के समय में ही म्लेच्छभाषा को बोला करते हैं, अन्य काल में नहीं। उसी प्रकार ज्ञानी (संयमी) पुरुष भी अज्ञानी (असंयत) पुरुषों को प्रतिबोध देने के समय में ही व्यवहार का आश्रय लेता है अन्य काल में नहीं, क्योंकि व्यवहार अभूतार्थ होता है ऐसा बतलाते हैं-

टीकार्थ- ववहारो व्यवहारनय **अभूदत्थो** अभूतार्थ अर्थात् असत्यार्थ है **भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ** किन्तु शुद्ध निश्चयनय भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ कहा गया है। इन दोनों नयों में किसका आश्रय लेकर सम्यग्दृष्टि होता है ? इसका समाधान करते हैं कि **भूदत्थं** भूतार्थ सत्यार्थ रूप जो निश्चयनय है उसका **अस्सिदो** आश्रय लेकर उसमें पूर्णरूप से स्थिर होकर **सम्मादिट्ठी हवदि जीवो** यह जीव सम्यग्दृष्टि होता है। इस प्रकार टीकाकार (अमृतचन्द्राचार्य) का एक व्याख्यान है। अब दूसरा व्याख्यान करते हैं। **ववहारो अभूदत्थो भूदत्थो देसिदो** व्यवहारनय अभूतार्थ भी है और

स्थितः। **खलु** स्फुटं। **सम्मादिट्ठी हवदि जीवो** सम्यग्दृष्टिर्भवति जीव इति टीकाव्याख्यानम्। द्वितीयव्याख्यानेन पुनः। **ववहारो अभूदत्थो** व्यवहारोऽभूतार्थो। **भूदत्थो** भूतार्थश्च। **देसिदो** देशितः कथितः न केवल व्यवहारो देशितः। **सुद्धणओ** शुद्धनिश्चयनयोऽपि। दु शब्दादयं शुद्धनिश्चयनयोऽपीति व्याख्यानेन भूतार्थाभूतार्थभेदेन व्यवहारोऽपि द्विधा, शुद्धनिश्चयाशुद्धनिश्चयभेदेन निश्चयनयोऽपि द्विधा इति नयचतुष्टयम्। इदमत्रतात्पर्यं यथा कोऽपि ग्राम्यजनः सकर्दमं नीरं पिबति, नागरिकः पुनः विवेकीजनः कतकफलं निक्षिप्य निर्मलोदकं पिबति। तथा स्वसंवेदनरूप भेदभावनाशून्यजनो मिथ्यात्वरागादिविभाव परिणाम सहितमात्मानमनुभवति, सद्दृष्टिजनः पुनरभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिबलेन कतकफलस्थानीयं निश्चयनयमाश्रित्य शुद्धात्मानमनुभवतीत्यर्थः।।१३।।

भूतार्थ भी है, ऐसे दो प्रकार का कहा गया है। केवल व्यवहारनय ही दो प्रकार का नहीं, किन्तु **सुद्धणओ** निश्चयनय भी शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय के भेद से दो प्रकार का है, ऐसा गाथा में आए हुए 'दु' शब्द से प्रकट होता है।

यहाँ यह तात्पर्य है कि जैसे कोई ग्रामीण पुरुष तो कीचड.सहित तालाब आदि का जल पी लेता है किन्तु नागरिक विवेकी पुरुष तो उसमें कतकफल-निर्मली डालकर उसे निर्मल बनाकर पीता है उसी प्रकार स्वसंवेदन ज्ञानरूप भेद-भावना से रहित जो मनुष्य है वह तो मिथ्यात्व और रागादिरूप विभावपरिणाम सहित ही आत्मा का अनुभव करता है। किन्तु जो सम्यग्दृष्टि मनुष्य होता है वह तो अभेदरत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधि के बल से कतक स्थानीय निश्चयनय का आश्रय लेकर शुद्ध-आत्मा का अनुभव करता है ।। १३।।

विशेषार्थ - यहाँ तात्पर्य वृत्तिकार ने इस गाथा का अर्थ दो प्रकार से किया है। एक तो यह कि व्यवहारनय तो अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ है जो कि अमृतचन्द्र आचार्य द्वारा भी सम्मत है किन्तु इन्ही आचार्य ने गाथा के 'दु' शब्द को लेकर दूसरे प्रकार से भी अर्थ किया है कि व्यवहारनय भूतार्थ व अभूतार्थ के भेद से दो प्रकार है, इसी प्रकार निश्चयनय भी शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय के भेद से दो प्रकार है। उसमें भूतार्थ को आश्रय करने वाला सम्यग्दृष्टि होता है।

यहाँ पर भूतार्थ शब्द का अर्थ सत्यार्थ व अभूतार्थ का अर्थ असत्यार्थ किया है, किन्तु यहाँ पर असत्यार्थ का अर्थ सर्वथा निस्सार नहीं लेना चाहिए, किन्तु 'अ' का अर्थ ईषत् लेकर व्यवहारनय अभूतार्थ अर्थात् तात्कालिक प्रयोजनवान् है, ऐसा लेना चाहिए। जैसा कि स्वयं जयसेनाचार्य ने भी अपने तात्पर्यार्थ में बतलाया है।

किंच भूत शब्द का अर्थ संस्कृत भाषा के विश्वलोचनकोश में जिस प्रकार सत्य बतलाया

है उसी प्रकार उसका अर्थ 'सम' भी बतलाया है। अत: भूतार्थ का अर्थ जबकि सम होता है अर्थात् सामान्य धर्म को स्वीकार करने वाला है तो अभूतार्थ का अर्थ विषम अर्थात् विशेषता को कहने वाला अपने आप हो जाता है, जिससे व्यवहारनय अर्थात् पर्यायार्थिकनय और निश्चयनय अर्थात् द्रव्यार्थिकनय इस प्रकार का अर्थ अनायास ही निकल जाता है। जो कि इतर आचार्यों के द्वारा भी सर्वसम्मत है और 'निश्चयनय को स्वीकार कर लेने पर ही सम्यग्दृष्टि होता है' यह बात भी कुन्दकुन्दाचार्य की सर्वथा ठीक बैठती है क्योंकि जब यह जीव जिस पर्याय में जाता है उस पर्याय रूप ही अपने आपको (पशु होने पर पशु, मनुष्य होने पर मनुष्य इत्यादि) मानता रहता है किन्तु जब अपने आपको पशु या मनुष्य इत्यादि रूप न मानकर सर्वदा शाश्वत रहने वाला, ज्ञान का धारक आत्मा मानने लगता है तब ही सम्यग्दृष्टि होता है ।।११।। (ता.टी. १३)

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस गाथा का अवतरण क्यों हो रहा है ?

उत्तर- जो पहले कहा था कि व्यवहार नय का अनुसरण नहीं करना चाहिए। उसी की सिद्धि के लिए यह गाथा अवतरित है।

प्रश्न-२. इस गाथा में कैसे सिद्ध किया है कि व्यवहार नय का अनुसरण नहीं करना चाहिए ?

उत्तर- व्यवहार नय अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ है। भूतार्थ का आश्रय लेने वाला जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि होता है। (गाथा अर्थ)

प्रश्न-३. अभूतार्थ का अर्थ क्या है ?

उत्तर- **अभूतार्थ: असत्यार्थ:** (ता.टी.)। अभूतार्थ का अर्थ असत्यार्थ है।

प्रश्न-४. यदि अभूतार्थ का अर्थ असत्यार्थ है और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है, फिर तो असत्यार्थ का प्ररूपण करने वाले व्यवहार नय का आलंबन कभी भी किसी को नहीं लेना चाहिए ?

उत्तर- आपने अभी न तो अभूतार्थ का सही अर्थ समझा है और न ही व्यवहार का। इसलिए उतावलेपन में ऐसा कह रहे हो। धैर्यपूर्वक हम पहले आचार्यों के कथन का अभिप्राय समझ लें फिर निर्णय लेंगे ।

जैसे कोई ब्राह्मण आदि विशिष्ट पुरुष (या अभेद रत्नत्रय परिणत यति) म्लेच्छ को (या अभेद रत्नत्रय से रहित सभी जनों को) समझाते समय ही म्लेच्छ भाषा बोलते हैं, अन्य समय नहीं, उसी प्रकार से ज्ञानी (संयमी) पुरुष भी अज्ञानी जनों को समझाने के समय ही व्यवहारनय का आश्रय लेते हैं, अन्य समय नहीं। ऐसा क्यों ? क्योंकि वह व्यवहारनय अभूतार्थ है। (ता.टी.)

प्रश्न-५. इससे क्या तात्पर्य निकला ?

उत्तर- भेदाभेद रत्नत्रय परिणत मुनिराज केवल व्याख्यान के समय दूसरों को समझाने के लिए ही व्यवहारनय का आश्रय लेते हैं, बाद में ध्यान में लीन होकर निश्चयनय का आश्रय लेते हैं।

प्रश्न-६. जब व्यवहारनय अभूतार्थ है तो उसका आश्रय ही क्यों लेना ?

उत्तर- व्यवहारनय अभूतार्थ है फिर भी उसका आश्रय लेना ही होता है। क्योंकि परमार्थ दशा तक पहुँचाने वाला व्यवहारनय प्रयोजनीय है, ऐसा आगे कहेंगे। इसलिए अभूतार्थ का अर्थ सर्वथा असत्य न लेकर 'अ' माने ईषत् (थोडा) लेना चाहिए। जिससे कि भूमिका अनुसार यह व्यवहारनय प्रयोजनवान् और कथंचित् सत्यार्थ होता है।

प्रश्न-७. अभूतार्थ का यह अर्थ आप अपने मन से निकाल रहे हैं या किन्हीं आचार्यों ने भी माना है ?

उत्तर- आचार्य जयसेन म. जी ने इस गाथा के दो अर्थ किए हैं। प्रथम अर्थ तो अमृतचन्द्र सूरि की टीका के अनुसार ही किया है। द्वितीय अर्थ में 'दु' शब्द से कहा है कि व्यवहारनय भी भूतार्थ और अभूतार्थ के भेद से दो प्रकार का है। तथा निश्चयनय भी शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय के भेद से दो प्रकार का होता है। (ता.टी.)

इसी तरह आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने विशेषार्थ में कहा है कि 'भूत' शब्द का अर्थ संस्कृत भाषा के 'विश्वलोचन कोश' में जिस प्रकार 'सत्य' बतलाया है। उसी प्रकार दूसरा अर्थ 'सम' भी बतलाया है। 'सम' यानी सामान्य। इससे स्पष्ट होता है कि भूतार्थ का अर्थ सामान्य धर्म को स्वीकार करने वाला है तो अभूतार्थ का अर्थ विशेष अर्थ को कहने वाला है। सामान्य द्रव्य होता है जो अभेद रूप होता है। विशेष गुण या पर्याय होते हैं जो भेद रूप होते हैं। व्यवहारनय पर्यायार्थिक नय है और निश्चयनय द्रव्यार्थिक नय है, यह स्पष्ट होता है।

प्रश्न-८. क्या यह अर्थ आचार्य कुन्दकुन्द देव को अभीष्ट है ?

उत्तर- अवश्य है। तभी तो उन्होंने कहा कि जब आत्मा एक अभेद ज्ञायक स्वभाव का अनुभव करता है, तो वह शुद्ध निश्चयनय से है। आत्मा में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुण हैं, यह भेद करना भी आत्मा को विशेष बनाकर व्यवहारनय का आश्रय लेना है। यह गाथा ७ में आचार्य कुन्दकुन्द देव ने कहा ही है। उसी अभेद, अखण्ड रूप एक द्रव्य स्वभाव में लीन होना 'स्वसमय' गाथा २ में कहा है। उसी को एकत्व विभक्त आत्मा कहा है और उसी का स्वरूप दिखलाना यहाँ प्रयोजन है, ऐसी आचार्य कुन्दकुन्द देव की प्रतिज्ञा है, देखें गाथा ५। इससे स्पष्ट है कि **आचार्य देव यहाँ पर भी जिसे सम्यग्दृष्टि कह रहे हैं वह भूतार्थ से अभेद मात्र एक ज्ञायक भाव का अनुभव करने वाला अभेद रत्नत्रय में परिणत आत्मा है।** भूतार्थ का आश्रय लेने वाला निश्चय से सम्यग्दृष्टि है, ऐसा कहकर **निश्चय सम्यग्दृष्टि** का यहाँ स्वरूप बतलाया है।

प्रश्न-९. भूतार्थ का आश्रय लेने वाले आत्मा का कैसा अनुभव करते हैं ?

उत्तर- भूतार्थदर्शी अपनी बुद्धि से अपनी आत्मा में शुद्ध नय के अनुसार ज्ञान मात्र से उत्पन्न हुए आत्मा और कर्म के भेदज्ञान के द्वारा अपने पुरुषाकार से सहज एक ज्ञायक स्वभाव को प्रकट कर लेने से प्रकाशमान एक ज्ञायक भाव स्वरूप उस शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं। (आ.टी.)

प्रश्न-१०. इससे तो अत्यन्त स्पष्ट है कि एक ज्ञायक स्वभाव मात्र शुद्ध आत्मा का अनुभव करना भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन है जो कि आत्मा की शुद्ध अवस्था में ही अनुभूत होगा ?

उत्तर- हाँ! हाँ! यह ज्ञायक स्वभाव मात्र ज्ञान का विषय नहीं है। ऐसे शुद्ध आत्मा को मैं जान रहा हूँ या विचार कर रहा हूँ किन्तु यहाँ पर 'अनुभवंति' अनुभव करते हैं, ऐसा कहा है और वह ज्ञायक स्वभाव केवल शुद्ध नय के आश्रित विचार करने से यहाँ अप्रकट हो ऐसा भी नहीं किन्तु उसका आविर्भाव हुआ है। **'स्वपुरुषाकाराविर्भावित सहजैक ज्ञायक स्वभावत्वात् प्रद्योतमानैकज्ञायकभावं तमनुभवन्ति' (आ.टी.)**। अहो-हो! जिस समय पर ऐसा ज्ञायक स्वभाव प्रकट होता है उस समय वह मात्र 'अपने पुरुषाकार से ही प्रतिभासित होता है।' यह शुद्ध आत्मदशा है।

प्रश्न-११. यहाँ 'स्वपुरुषाकाराविर्भावित' इस पद का अर्थ स्पष्ट करें ?

उत्तर- यहाँ स्वपुरुषाकार के दो अर्थ हैं। पहला तो 'अपने पुरुषाकार से प्रकट हुए' इससे स्पष्ट होता है कि यह पुरुष का आकार रूप आत्मा का अनुभव और देखना उन्हीं को होता है जो शुक्ल ध्यान करने योग्य हैं क्योंकि पुरुष ही शुक्ल ध्यान से निर्विकल्प दशा में पुरुषाकार आत्मा को देखता है। स्त्री को भी सम्यग्दर्शन होता है किन्तु निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता है, यह भी इसी से स्पष्ट होता है। क्योंकि स्त्री को यदि सम्यग्दर्शन के साथ आत्मा दिखती तो वह स्व स्त्री आकार में दिखती। यहाँ पुरुषाकार से पुरुष को ही सम्यग्दर्शन होता है, जो कि निश्चय सम्यग्दर्शन है, यह स्पष्ट है। ऐसे शुद्धनय के आश्रित, निश्चय सम्यग्दर्शन में निर्विकल्प आत्मा की अनुभूति अभेद रत्नत्रय परिणत मुनिराजों को ही होती है, किसी बहिन या स्त्री को नहीं। दूसरा अर्थ स्वपुरुषकार से पुरुषार्थ भी लिया जाता है। कहीं 'पुरुषकार' यह पाठ भी मिलता है। जिन्होंने अपने पुरुषार्थ से प्रकाशमान शुद्ध ज्ञायक भाव को प्रकट किया है और उसी का अनुभव करते हैं वे भूतार्थदर्शी या निश्चय सम्यग्दृष्टि हैं।

प्रश्न-१२. आचार्य अमृतचन्द्र जी ने भी टीका में कहा है कि 'जो भूतार्थ का आश्रय लेते हैं, वे ही सम्यक् अवलोकन करते हुए सम्यग्दृष्टि होते हैं, अन्य नहीं' इससे तो जिसके पास निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं है, वह सम्यग्दृष्टि नहीं है, यह सिद्ध होता है ?

उत्तर- शुद्धनय की अपेक्षा से यह कथन विरोध रहित है। जहाँ जिस नय की मुख्यता रहती है, वहाँ कथन भी उसी नय की मुख्यता से कहा जाता है। इसी का नाम विवक्षा है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं- **'विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणो विवक्षो न निरात्मकस्ते'** अर्थात् हे भगवन्! आपके मत में जो विवक्षित है अर्थात् वक्ता जिस पक्ष को कहने की इच्छा रखता है, वह मुख्य होता है, अन्य पक्ष गौण हो जाता है। किन्तु उसका सर्वथा निराकरण या अभाव नहीं होता है। यह समयसार अध्यात्म प्रधान ग्रन्थ है और इसमें शुद्धनय की मुख्यता से कथन है इसलिए निश्चयनय के विषयभूत निश्चय सम्यग्दृष्टि का यहाँ कथन है। व्यवहार नय के विषयभूत व्यवहार

सम्यग्दृष्टि का कथन इस ग्रन्थ में गौण है किन्तु उनका सर्वथा अभाव नहीं है।

प्रश्न-१३. शुद्धनय के प्रयोग से शुद्ध आत्मा का दर्शन होता है, यह तथ्य उदाहरण देकर समझायें?

उत्तर- जैसे बहुत सी कीचड.के संयोग से जिसका सहज एक स्वच्छ स्वभाव गायब हो जाता है ऐसे मलिन जल को पीने वाले बहुत से लोग कीचड.और जल को अलग-अलग न करते हुए उसी गन्दे जल को पीने का अनुभव करते हैं। किन्तु कुछ लोग उसी गन्दे जल में अपने हाथ से कतक फल (निर्मली औषधि) को डालकर कीचड.और जल के भिन्न-भिन्न हो जाने से अपने पुरुषाकार को दिखलाने वाले निर्मल स्वभाव रूप जल को पीने का ही अनुभव करते हैं। उसी तरह व्यवहारी और निश्चयी जन के सम्यग्दर्शन में अन्तर जानना।

प्रश्न-१४. तो क्या व्यवहारनय से अपने शुद्धज्ञायक स्वभाव का अनुभव नहीं होता है ? यदि नहीं तो क्यों ?

उत्तर- नहीं होता है। क्योंकि 'प्रबल कर्म संवलनतिरोहित सहजैकज्ञायक स्यात्मनोऽनुभवितार: पुरुषा:' (आ.टी.११) प्रबल कर्म के सम्पर्क से ऐसी आत्माओ का सहज एक ज्ञायक स्वभाव आच्छादित हो रहा है। ऐसे पुरुषों को कर्म सहित ही आत्मा का अनुभव होता है।

प्रश्न-१५. पहले गाथा ६ में तो कहा था कि आत्मा का ज्ञायक स्वभाव किसी कर्म से आच्छादित नहीं होता है और यहाँ कह रहे हैं कि कर्म के संयोग से वह ज्ञायक स्वभाव भी आच्छादित हो जाता है, यह विरोधाभास क्यों?

उत्तर- नय विवक्षा को समझे बिना आपको सर्वत्र विरोध दिखेगा। जब यह कहा था कि ज्ञायक स्वभाव सदैव प्रकट है तो वह द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से या शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से कहा था जो सत्य है। किन्तु सत्य उतना ही नहीं था। कर्मसंयोग की दशा में व्यवहार नय से आत्मा का ज्ञायक स्वभाव ढक गया है, यह भी सत्य है। इसलिए विरोध नहीं है।

प्रश्न-१६. सम्यग्दृष्टि जीव शुद्धात्मा का अनुभव कैसे करता है ?

उत्तर- सम्यग्दृष्टि जीव अभेद रत्नत्रय लक्षण वाली निर्विकल्प समाधि के बल से कतक फल स्थानीय निश्चयनय का आश्रय लेकर शुद्धात्मा का अनुभव करता है। (ता.टी.)

प्रश्न-१७. यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव सामान्य से कहा है, फिर इससे क्या समझना ?

उत्तर- यहाँ सम्यग्दृष्टि कहते हुए भी निश्चय नय का आश्रय लेने वाला निश्चय सम्यग्दृष्टि होता है । इसी को वीतराग सम्यग्दृष्टि भी कहते हैं। यह भी स्पष्ट है कि यह निश्चय सम्यग्दर्शन निर्विकल्प समाधि के बल से होता है। निर्विकल्प समाधि मात्र ध्यान अवस्था में होती है। वह ध्यान कौन करने वाला है तो इसका कथन भी उपर्युक्त लक्षण में दिया है कि वह समाधि अभेद रत्नत्रय लक्षण वाली है । जिनके पास भेद रत्नत्रय होगा वही अभेद रत्नत्रय में परिणत होगा। इससे स्पष्ट है कि निश्चय सम्यग्दर्शन भेदाभेद रत्नत्रय को धारण करने वाले महामुनिराज के होता है।

प्रश्न-१८. जिनको ऐसी शुद्धात्मा की अनुभूति नहीं है, तो क्या वे मिथ्यादृष्टि हैं ?

उत्तर- नहीं! जिनको ऐसी शुद्धात्मा की अनुभूति नहीं होती है, वे सम्यग्दृष्टि होते हुए भी व्यवहार सम्यग्दृष्टि या सराग सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने गाथा में सम्यग्दृष्टि शब्द को ही परिभाषित किया है। तो उसी को ध्यान में रखकर आचार्य अमृतचन्द्र जी एवं आचार्य जयसेन जी ने मात्र निश्चय नय के आश्रित सम्यग्दृष्टि के लिए ही सम्यग्दृष्टि शब्द का प्रयोग किया है।

प्रश्न-१९. जो सम्यग्दृष्टि नहीं हैं उनके लिए क्या विशेषण दिया है ?

उत्तर- आत्मा और कर्म का भेद नहीं करने वाले, व्यवहार में विमोहित हृदय वाले अनेक भाव स्वरूप उस अशुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं। **(आ.टी.)** तथा स्वसंवेदनरूप भेद भावना से शून्य जन मिथ्यात्व, रागादि विभाव परिणामों से सहित आत्मा का अनुभव करते हैं **(ता.टी.)**

प्रश्न-२०. इन दोनों टीकाओं में दिए विशेषण से क्या स्पष्ट होता है ?

उत्तर- आ.टी. से स्पष्ट है कि जब तक भेद विज्ञान के द्वारा शुद्ध आत्मा का अनुभव नहीं है तब तक वह आत्मा व्यवहार में विमोहित चित्त वाला होता है। उसे अशुद्ध आत्मा का ही अनुभव होता है। ता.टी. से स्पष्ट है कि शुद्ध आत्मा के अनुभव के बिना वह आत्मा स्वसंवेदन रूप भेद भावना नहीं करता है। ऐसा आत्मा मिथ्यात्व से युक्त भी हो सकता है और मिथ्यात्व के अभाव में जब तक रागादि विभाव परिणाम रहते हैं तब तक सम्यक्त्व से सहित भी हो सकता है।

प्रश्न-२१. ता.टी. में तो मिथ्यात्व युक्त और रागादि विभाव परिणामों से सहित सबको एक साथ भेद भावना से शून्य कह दिया जो कैसे संभव है ? जबकि सम्यग्दृष्टि जीव को भेद भावना होती है, भेद विज्ञान होता है?

उत्तर- यह ठीक है कि सम्यग्दृष्टि जीव को भेद भावना होती है किन्तु ऐसी भेद भावना नहीं होती है जिसमें स्वसंवेदन मात्र अनुभव में आए। इसीलिए सम्यग्दृष्टि जीव को स्वसंवेदन रूप भेद भावना से रहित कहा है। भेद विज्ञान भी उसे शास्त्रज्ञान से विचारात्मक ही होता है किन्तु यहाँ जिस भेद विज्ञान के बल से शुद्धात्मा और कर्म का पृथक्-पृथक् अनुभव होवे वही भेद विज्ञान ग्राह्य है, अन्य नहीं। मात्र अपनी शुद्धात्मा का अनुभव कराने वाला भेद विज्ञान अभेद रत्नत्रय रूप निर्विकल्प समाधि के बिना नहीं होता है। इसीलिए उस निर्विकल्प समाधि से रहित नीचे के छठे गुणस्थान से लेकर पहले गुणस्थान तक के सभी जीवों को एक साथ ग्रहण कर लिया है क्योंकि सभी व्यवहार नय के विषय से जानने में आते हैं।

प्रश्न-२२. इस व्यवहारनय का अनुसरण नहीं करना चाहिए, यह उपदेश किनके लिए है ?

उत्तर- प्रत्यक् आत्मदर्शियों को व्यवहारनय का अनुसरण नहीं करना चाहिए।

प्रश्न-२३. प्रत्यक् आत्मदर्शी कौन कहलाते हैं ?

उत्तर- पुद्गल कर्मों से पृथक् , भिन्न अपनी आत्मा को देखने वाले या अनुभव करने वाले प्रत्यक् आत्मदर्शी होते हैं। इन्हें ही भूतार्थदर्शी कहा है।

प्रश्न-२४. इनके लिए व्यवहारनय तो अपने आप छूट ही जाता है फिर अलग से कहने की क्या आवश्यकता है कि व्यवहार नय का अनुसरण नहीं करना चाहिए ?

उत्तर- अहो! आचार्य कुन्दकुन्द देव आदि अध्यात्मज्ञानियों का यही तो अभिप्राय है कि रत्नत्रयधारी महामुनियों को व्यवहारनय का अनुसरण नहीं करना चाहिए। आत्मानुभव में लीन रहना चाहिए। यदि लीनता हट जावे तो भी यही भावना करते हुए पुनः-पुनः उसी आत्मानन्द में लीन होना चाहिए। जब वे अपने आत्मानुभव में लीन होंगे तो उनके लिए व्यवहार नय अपने आप छूट ही गया। वे ही इस व्यवहार नय का अनुसरण नहीं करें, ऐसी योग्यता रखते हैं अतः उनके लिए व्यवहारनय का अनुसरण करना नहीं चाहिए यह ठीक ही कहा है।

प्रश्न-२५. यदि उनके अलावा चौथे, पाँचवें, छठे, सातवें गुणस्थान वालों को निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं होता है तो फिर व्यवहार तो करना ही पडेग़ा, ऐसी स्थिति में वह व्यवहार हेय कैसे हो सकता है ?

उत्तर- बिल्कुल ठीक कहा है। जो व्यवहार नय का आलम्बन रखने की योग्यता रखते हैं, ऐसे व्यवहार सम्यग्दृष्टियों को व्यवहार नय का अनुसरण करना चाहिए अन्यथा निश्चय की प्राप्ति के अभाव में कुछ भी हाथ नहीं लगेगा और विषय कषायों में ही आत्मा की परिणति बनी रहेगी। यह बात अपने आप स्पष्ट हो जाती है। निश्चय नय से अपनी आत्मा में लीनता जब हो जायेगी तब व्यवहार अपने आप छूट जाता है। उस दशा में वह छूट गया इसलिए छोडऩे योग्य/हेय कहने में आता है, प्रारम्भ में वह हेय नहीं है।

प्रश्न-२६. तो क्या अविरत सम्यग्दृष्टि आदि निश्चय नय को जानते नहीं हैं?

उत्तर- ऐसा तो नहीं कहा है। व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों से जाने बिना वस्तु का यथार्थ श्रद्धान भी नहीं होता है। अविरत सम्यग्दृष्टि आदि जीव भी व्यवहार सम्यग्दर्शन का अनुभव करते हुए निश्चय नय के विषयभूत निश्चय सम्यग्दर्शन में आत्मा की अनुभव दशा का व्याख्यान सुनकर आनन्दित होता है और विचारता है- अहो! अहो! ऐसे परम शुद्ध भाव रूप एक ज्ञायक मात्र आत्म ज्योति का अनुभव कब होगा ? अनुभव नहीं होते हुए भी ज्ञायक स्वभाव पर दृष्टि रखकर निर्विकल्प बनने का अन्तरंग पुरुषार्थ भी करता रहता है। इसी से वह अपना श्रद्धान, ज्ञान बढाता रहता है। और ऐसी भावना करता है कि हमें आत्मस्वभाव में लीन होना चाहिए। जब वे अपने आत्मानुभव में लीन होंगे तो उनके लिए व्यवहार नय अपने आप छूट ही गया। वे ही इस व्यवहार नय का अनुसरण नहीं करें, ऐसी योग्यता रखते हैं अतः उनके लिए **व्यवहारनय का अनुसरण करना नहीं चाहिए** यह ठीक ही कहा है।

विशेष - श्री पद्मनन्दि आचार्य ने अपनी पंचविंशतिका श्लोक ६०६ में इस प्रकार कहा है -

व्यवहारो भूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनयः ।
शुद्धनयमाश्रिता ये प्राप्नुवन्ति यतयः पदं परमम् ।।

संस्कृत टीका - व्यवहारः भूतार्थः भूतानां प्राणिनाम् अर्थः भूतार्थः व्यवहारः देशितः कथितः। शुद्धनयः सत्यार्थः कथितः। ये यतयः मुनयः शुद्धनयम् आश्रिताः ते मुनुयः परमं पदं प्राप्नुवन्ति।

अर्थात् व्यवहार नय प्राणियों के प्रयोजन का कथन करता है और शुद्धनय सत्यार्थ का कथन करता है। मुनि शुद्धनय का आश्रय करते हैं वे मुनि परम पद को प्राप्त करते हैं। यही समयसार गाथा ११ में कहा गया है क्योंकि अगली गाथा १२ से व्यवहारदेसिदा पुण जेदु अपरमेट्ठिदाभावे इन शब्दों द्वारा कहा गया है कि जो अनुत्कृष्ट अवस्था में स्थित हैं वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

अथ च केषांचित्कदाचित्सोऽपि प्रयोजनवान् । यतः

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदो पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ।। १२।। ता.टी.१४

आ.टी. - ये खलु पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयं परमं भावमनुभवन्ति तेषां प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरम्परापच्यमानकार्त्तस्वरानुभवस्थानीयापरमभावानुभवनशून्यत्वाच्छुद्धद्रव्यादेशितया समुद्योतितास्खलितैक-स्वभावैकभावः शुद्धनय एवोपरितनैकप्रतिवर्णिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानः प्रयोजनवान्। अन्ये तु प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरम्परापच्यमानकार्त्तस्वरस्थानीयमपरमं भावमनुभवन्ति तेषां पर्यंतपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयपरमभावानुभवनशून्यत्वादशुद्धद्रव्यादेशितयोपदर्शित-प्रतिविशिष्टैकभावानेकभावो व्यवहारनयो विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात् ।। १२।। उक्तं च - ''जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह। एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।।''

उत्थानिका - अब व्यवहार नय भी कभी किसी को किसी काल में प्रयोजनवान है क्योंकि-

अन्वयार्थ - (परमभावदरिसीहिं) जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए तथा पूर्ण ज्ञान चारित्रवान हो गये है उन्हें तो (सुद्धादेसो) शुद्ध आत्मा का उपदेश करने वाला (सुद्धो) शुद्धनय (णादव्वो) जानने योग्य है; (पुण) और (जे दु) जो जीव (अपरमे भावे) अपरम भाव में - अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञानचारित्र के पूर्ण भाव को नहीं पहुँच सके हैं, साधक अवस्था में ही (ट्ठिदा) स्थित हैं वे (ववहारदेसिदो) व्यवहार नय द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

अर्थ- शुद्ध निश्चयनय शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला है। वह परम शुद्धात्मा की भावना में लगे हुए पुरुषों के द्वारा अंगीकार करने योग्य है। परन्तु जो पुरुष अशुद्ध व नीचे की अवस्था में स्थित है उनके लिए व्यवहारनय ही कार्यकारी है। ।।१२।।

आ.व्या. - जो पुरुष अन्तिम पाक से पार हुए शुद्ध स्वर्ण के समान वस्तु के परम (उत्कृष्ट) भाव का अनुभव करते हैं उनके लिए पहले, दूसरे आदि अनेक पाकों की परम्परा क्रम से पकते हुए अशुद्ध स्वर्ण के अनुभव के समान अपरम (अनुत्कृष्ट) भाव का अनुभव नहीं होता है। उनके लिए शुद्ध नय ही प्रयोजनवान है क्योंकि अन्तिम पाक से उतरे शुद्ध स्वर्ण के समान शुद्ध द्रव्यार्थिक नय

शुद्धात्म में निरत हो जब सन्त त्यागी, जीवे विशुद्धनय आश्रय ले विरागी।
शुद्धात्म से च्युत सराग चरित्र वाले, भूले न 'लक्ष्य' व्यवहार अभी संभाले ।।१४।।

अथ पूर्वगाथायां भणितं भूतार्थनयमाश्रितो जीवः सम्यग्दृष्टिर्भवति। अत्र तु न केवल भूतार्थो निश्चयनयो निर्विकल्पसमाधिरतानां प्रयोजनवान् भवति। किन्तु निर्विकल्पसमाधिरहितानां पुनः षोडशवर्णिका सुवर्णलाभाभावे अधस्तनवर्णिकासुवर्णलाभवत्केषाञ्चित् प्राथमिकानां कदाचित् सविकल्पावस्थायां मिथ्यात्वविषयकषाय दुर्ध्यान वंचनार्थं व्यवहारनयोऽपि प्रयोजनवान् भवतीति

की मुख्यता से आत्मा कभी स्खलित नहीं होने वाले एक स्वभाव रूप अद्वितीय भाव को जानने (अनुभवने) वाला होता है। किन्तु जो प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पकते हुए अशुद्ध स्वर्ण के समान अनुत्कृष्ट भाव का अनुभव करते हैं उनके लिए अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान उत्कृष्ट भाव का अनुभवन नहीं होता है। अशुद्ध द्रव्य के आदेश की अपेक्षा से प्रतिविशिष्ट भिन्न-भिन्न भाव रूप अनेक भावों को दिखलाने वाला व्यवहार नय है जो अनेक वर्णों के समूह वाले स्वर्ण सदृश होने से जानने में आता है। यह व्यवहार नय उस काल में प्रयोजनवान है क्योंकि तीर्थ और तीर्थफल इस प्रकार से ही व्यवस्थित होता है। अन्यत्र भी कहा है कि- 'हे भव्य! यदि तुम जिनमत का प्रवर्तन चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों को मत छोड़ो क्योंकि व्यवहार नय के बिना तीर्थ का नाश हो जायेगा और निश्चय नय के बिना तत्त्व का नाश हो जायेगा।

(ता.टी.)

जो पूर्वोक्त गाथा में कहा गया है कि भूतार्थनय को आश्रय लेकर ही सम्यग्दृष्टि होता है किन्तु इस गाथा में स्पष्टीकरण करते हैं कि निर्विकल्प समाधि में निरत होकर रहने वाले सम्यग्दृष्टियों को भूतार्थ स्वरूप निश्चयनय ही प्रयोजनवान हो, ऐसा नहीं है। किन्तु उन्हीं निर्विकल्प-समाधिरतों में किन्हीं-२ को कभी सविकल्प अवस्था में मिथ्यात्व, विषय-कषायरूप दुर्ध्यान को दूर करने के लिए व्यवहारनय भी प्रयोजनवान होता है। जैसे किसी को शुद्ध सोलहवानी के स्वर्ण का लाभ न हो तो नीचे के ही अर्थात् पन्द्रह, चौदह वानी का सोना भी सम्मत समझा जाता है, ऐसा कहते हैं-

टीकार्थ- सुद्धो सुद्धादेसो शुद्ध निश्चयनय शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला है **णादव्वो परमभावदरसीहिं** वह शुद्धता को प्राप्त हुए आत्मदर्शियों के द्वारा जानने-भावने अर्थात् अनुभव करने योग्य है। क्योंकि वह सोलहवानी स्वर्ण के समान अभेदरत्नत्रय स्वरूप समाधिकाल में प्रयोजनवान होता है। **ववहारदेसिदो** किन्तु व्यवहार अर्थात् विकल्प, भेद अथवा पर्याय के द्वारा

प्रतिपादयति-

ता.टी. - सुद्धो शुद्धनयः निश्चयनयः। कथंभूतः ? **सुद्धादेसो** शुद्धद्रव्यस्यादेशः कथनं यत्र स भवति शुद्धादेशः। **णादव्वो** ज्ञातव्यो भावयितव्यः। कैः ? **परमभावदरसीहिं** शुद्धात्म-भावदर्शिभिः। कस्मादिति चेत् ? यतः षोडशवर्णिका कार्त्तस्वरलाभवदभेदरत्नत्रयस्वरूपसमाधिकाले सप्रयोजनो भवति, निः प्रयोजनो न भवतीत्यर्थः। **ववहारदेसिदो** व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेण देशितः कथित इति व्यवहारदेशितो व्यवहारनयः। **पुण** पुनः अधस्तनवर्णिक सुवर्णलाभवत्प्रयोजनवान् भवति। केषाम् ? **जे** ये पुरुषाः **दु** पुनः **अपरमे** अशुद्धे असंयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा। ठिदा स्थिताः, कस्मिन् स्थिताः ? **भावे** जीवपदार्थे तेषामितिभावार्थः।।१२।। एवं निश्चयव्यवहारनयव्याख्यानप्रतिपादनरूपेण गाथाद्वयेन पञ्चमं स्थलं गतं।

इति चतुर्दशगाथाभिः स्थल पञ्चकेन पीठिका समाप्ता।

कहा गया जो व्यवहारनय है वह **पुण** पन्द्रह, चौदह आदि वानी के स्वर्ण लाभ के समान उन लोगों के लिए प्रयोजनवान है, **जे दु** जो लोग **अपरमे ट्ठिदा भावे** अशुद्धरूप शुभोपयोग में, जो कि असंयत सम्यग्दृष्टि अथवा श्रावक की अपेक्षा तो सराग सम्यग्दृष्टि लक्षण वाला है और प्रमत्त-अप्रमत्त संयत लोगों की अपेक्षा भेद रत्नत्रय लक्षण वाला है ऐसे शुभोपयोग रूप जीव पदार्थ में स्थित हैं ।। १४।।

इस प्रकार निश्चयनय व व्यवहारनय का व्याख्यान प्रतिपादन करते हुए दो गाथाओं में पंचम स्थल पूर्ण हुआ। यहाँ तक १४ गाथाओं द्वारा पाँच स्थलों में पीठिका पूर्ण हुई।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. शुद्ध नय किनके द्वारा जानने योग्य है ?

उत्तर- जो परम (उत्कृष्ट) भाव के दर्शी हैं उनको शुद्ध आत्मा का कथन करने वाला शुद्ध नय ही जानने योग्य है।

प्रश्न-२. व्यवहार नय से किन जीवों का कथन किया जाता है ?

उत्तर- जो उत्कृष्ट भाव में स्थित न होकर अपरम (अनुत्कृष्ट) भाव में स्थित हैं वे व्यवहार नय से जानने योग्य हैं या कथन करने योग्य हैं।

प्रश्न-३. जो परम भाव के दर्शी हैं, वे शुद्ध नय से शुद्ध आत्मा को जानते हैं या अनुभव करते हैं?

उत्तर- शुद्ध नय से आत्मा को जानना तो वह भी कर सकता है, जो परम भाव में स्थित नहीं है। यहाँ शुद्ध नय से जानने योग्य का अर्थ शुद्ध नय से आत्मा का अनुभव करते हैं। **(आ.टी.)**

प्रश्न-४. शुद्ध नय से आत्मा के परम भाव को देखने वाले पुरुष किसके समान कैसा अनुभव करते हैं ?

उत्तर- ऐसे पुरुष प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि पाकों की परम्परा से पकाए जाते हुए अशुद्ध स्वर्ण के समान अपरम भाव के अनुभव से शून्य होने से जिसने अस्खलित एक स्वभाव रूप एक परमभाव को प्रकाशित किया है, ऐसे शुद्ध द्रव्य का कथन करने वाले शुद्ध नय को ही एक उपरितन (सर्वोत्कृष्ट) शुद्ध स्वर्णावस्था के समान परम शुद्ध भाव का अनुभव करते हैं। **(आ.टी.)**

प्रश्न-५. ऐसा परम भाव अनुभव करने की दशा में कौन सा नय प्रयोजनवान है ?

उत्तर- ऐसी दशा में एक शुद्ध नय ही प्रयोजनवान है। (आ.टी.)

प्रश्न-६. यह शुद्ध नय या निश्चय नय किनको प्रयोजनवान होता है ?

उत्तर- भूतार्थो निश्चयनयो निर्विकल्पसमाधिरतानां प्रयोजनवान् भवति (ता.टी.) यह भूतार्थ या निश्चय नय निर्विकल्प समाधि में लीन रहने वालों को प्रयोजनवान होता है।

प्रश्न-७. व्यवहार नय से आत्मा के अपरम भाव का अनुभव करने वाले पुरुष किसके समान कैसा अनुभव करते हैं ?

उत्तर- जो प्रथम, द्वितीय आदिक अनेक पाकों की परम्परा से पकाए जाते हुए अशुद्ध स्वर्ण के समान अपरम भाव का अनुभव करते हैं वे अन्तिम पाक से उत्तीर्ण (पार हुए) शुद्ध स्वर्ण के सदृश परम भाव के अनुभवन से शून्य हैं। (आ.टी.)

प्रश्न-८. ऐसे अपरमभाव में रहने वालों को कौन सा नय प्रयोजनवान् है ?

उत्तर- अशुद्ध द्रव्य की मुख्यता से जिसमें एक भाव (चैतन्य स्वभाव) रूप अनेक भाव दिखाई दे रहे हैं, ऐसा व्यवहारनय प्रयोजनवान् है। (आ.टी.)

प्रश्न-९. यह व्यवहार नय कब, किनको प्रयोजनवान है ?

उत्तर- निर्विकल्प समाधि से रहित पुरुषों को सोलह वानी (ताव) के स्वर्ण के समान लाभ नहीं होने पर निचली वानी के स्वर्ण लाभ के समान किन्हीं प्राथमिक जनों को कभी-कभी सविकल्प अवस्था में मिथ्यात्व, विषय कषाय, दुर्ध्यान से बचने के लिए व्यवहार नय भी प्रयोजनवान होता हैं (ता.टी.)

प्रश्न-१०. इस अपरम भाव में रहने वाले जीव कौन से हैं और उनका क्या लक्षण है?

उत्तर- यह अपरम भाव अशुद्ध द्रव्य के साथ स्थित जीवों का भाव है। ऐसे जीव तीन प्रकार के हैं तथा लक्षण इस प्रकार हैं- अशुद्धे असंयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टि लक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा। (ता.टी.)-

१. असंयत सम्यग्दृष्टि- असंयत सम्यग्दृष्टि जीव अपरम भाव का अनुभव करता है। उस समय उनका लक्षण सराग सम्यग्दृष्टि का होता है तथा उनके शुभोपयोग होता है। (ता.टी.)

२. देश संयत- देश संयत श्रावक जीव भी अपरम भाव का अनुभव करता है। उसका लक्षण भी सराग सम्यग्दृष्टि का होता है तथा उनके भी शुभोपयोग होता है। (ता.टी.)

३. प्रमत्त- अप्रमत्त संयत- छठे -सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि भी अपरम भाव का अनुभव

करते हैं। उनका लक्षण भी सराग सम्यग्दृष्टि का होता है और भेद रत्नत्रय लक्षण भी होता है। (ता.टी.)

प्रश्न-११. इन व्यवहार और निश्चय नयों से क्या लाभ होता है ?

उत्तर- तीर्थ तीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात् (आ.टी.) व्यवहार और निश्चय नय को इस प्रकार मानने से ही तीर्थ और तीर्थ के फल की सिद्धि होती है।

प्रश्न-१२. यदि व्यवहार नय का अभाव हुआ तो क्या हानि होगी ?

उत्तर- व्यवहार नय का अभाव होने पर तीर्थ का विच्छेद हो जाएगा अर्थात् भगवान महावीर का जिन शासन व्यवहार नय के बिना समाप्त हो जाएगा। (आ.टी.)

प्रश्न-१३. यदि निश्चय नय का अभाव हुआ तो क्या हानि होगी ?

उत्तर- निश्चय नय का अभाव होने पर तत्त्व का नाश हो जाएगा अर्थात् शुद्ध आत्मा की उपलब्धि नहीं होगी। (आ.टी.)

प्रश्न-१४. तो फिर हम कौन से नय को छोडे.और कौनसा नय ग्रहण करें ?

उत्तर- आचार्य अमृतचन्द्र जी कहते हैं-

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार णिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।।

अर्थात्- यदि तुम जिनमत में प्रवृत्ति करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों (में से किसी भी) नय को मत छोडो क्योंकि एक-व्यवहार नय के बिना तीर्थ का उच्छेद होगा और अन्य-निश्चय नय के बिना तत्त्व का अभाव हो जाएगा। (आ.टी.)

प्रश्न-१५. प्रश्न ९ में आपने कहा कि सविकल्प अवस्था में मिथ्यात्व, विषय कषाय से बचने के लिए व्यवहार नय का आलम्बन लेता है, तो क्या सविकल्प अवस्था में उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते हैं ?

उत्तर- अरे भाई! जरा विचार करो कि सविकल्प अवस्था में भी व्यवहार नय के द्वारा मिथ्यात्व से बच रहा है तो इसी से स्पष्ट है कि वह अपने सम्यक्त्व को भी सुरक्षित बनाए हुए है अन्यथा वह मिथ्यादृष्टि ही नहीं हो जाता। इसी प्रकार विषय कषायों से बचकर अपने सम्यक् चारित्र की रक्षा करता है अन्यथा असंयमी नहीं हो जाएगा। व्यवहार नय से इस तरह सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र पलते हैं तभी तो उसे व्यवहार सम्यग्दृष्टि, व्यवहार सम्यग्ज्ञानी और व्यवहार चारित्र वाला कहा जाता है। इससे ही फलित होता है कि व्यवहार सम्यग्दर्शन-ज्ञान- चारित्र ही हमें मिथ्यात्व, असंयम आदि भावों से बचाता है।

प्रश्न १६. समयसार गाथा ११ में जो व्यवहार को अभूतार्थ कहा है और गाथा १२ में व्यवहार को

भूतार्थ कहा है सो गाथा ११ का व्यवहार-मिथ्यादृष्टि का और गाथा १२ का व्यवहार सम्यग्दृष्टि का है। श्री अमृतचन्द्र और जयसेन दोनों आचार्यो की टीका से ऐसे समझ में आता है क्या यह ठीक है?

उत्तर - शंकाकार ने जो निष्कर्ष निकाला है, वह ठीक है। गाथा ११ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने लिखा है - प्रबल कर्मसंज्वलन ..... तमनुभवंति।

अर्थ - प्रबल कर्मो के मिलने से जिसका एक ज्ञायकस्वभाव तिरोभूत हो गया है, ऐसी आत्मा का अनुभव करने वाले **पुरुष आत्मा और कर्म का विवेक करने वाले, व्यवहार में विमोहित हृदय वाले** तो उस आत्मा को जिसमें भावों की विश्वरूपता प्रगट है ऐसा अनुभव करते हैं। टीका के इन शब्दों से प्रगट है कि यहाँ पर मिथ्या व्यवहारनय अर्थात् निश्चनय निरपेक्ष मात्र व्यवहारनय को मानने वाले का कथन है, और इसीलिए ऐसे व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है।

श्री जयसेनाचार्य ने भी टीका में इस प्रकार लिखा है - **स्वसंवेदन रूपभेदभावनाशून्यजनो मिथ्यात्वरागादि विभाव परिणामसहितमात्मानमनुभवति।** यहाँ पर भी स्वसंवेदनरूप भेदभावनाशून्यजन: इन शब्दों से स्पष्ट है कि यहाँ पर भी मिथ्यादृष्टि पुरुष के व्यवहारनय को अथवा निश्चयनय निरपेक्ष व्यवहार नय को अभूतार्थ कहा है।

समयसार गाथा १२ की टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है - **ये तु प्रथमद्वितीय..... प्रयोजनवान्।**

अर्थ - जो पुरुष प्रथम,द्वितीयादि अनेक पाकों की परम्परा से पच्यमान अशुद्धस्वर्ण के समान जो अनुत्कृष्ट मध्यम भाव का अनुभव करते है उन्हें अन्तिम ताव से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान उत्कृष्ट भाव का अनुभव नहीं होता, इसलिए अशुद्ध द्रव्य को कहने वाला होने से जिसने भिन्न-भिन्न एक-एक भाव स्वरूप अनेकभाव दिखाये हैं, ऐसा व्यवहारनय विचित्र अनेक वर्णमाला के समान होने से, जानने में आता हुआ उस काल में प्रयोजनवान है।

यहाँ पर यह बतलाया गया है कि जो संसारावस्था (अशुद्ध अवस्था) में स्थित है वह सिद्ध अवस्था (शुद्ध अवस्था) का अनुभव (स्वाद) नहीं कर सकता, किन्तु जो निश्चयाभासी संसारावस्था में भी अपने आपको शुद्ध मान लेता है उसके लिए जीव की नाना पर्यायों को बतलाने वाला व्यवहारनय प्रयोजनवान है। अत: यहाँ पर गाथा १२ में निश्चयनय व्यवहारनय अर्थात् सम्यग्व्यवहारनय का कथन है।

श्री जयसेनाचार्य ने इस प्रकार कहा है - **अपरमे अशुद्धे..... वा ठिदा स्थिता:।**

अर्थ - अपरमे अर्थात् अशुद्धे अर्थात् असंयतसम्यग्दृष्टि श्रावक सराग सम्यग्दृष्टि लक्षणवाले शुभोपयोगी प्रमत्त, अप्रमत्त गुणस्थानवाले अथवा भेद रत्नत्रय वाले। उससे भी स्पष्ट है कि यहाँ पर सम्यग्व्यवहार नय का कथन है और उसको प्रयोजनवान कहा है।

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परंज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ।।४।।

सं.टी.- ते- पुरुषाः, सपदि-तत्कालं एव-निश्चयेन, ईक्षन्ते-अवलोकयन्ति,-साक्षात्कुर्वंतीत्यर्थः। किं तत्? परंज्योतिः-परं उत्कृष्टं-अतिक्रांतसूर्यादि, तच्च तज्ज्योतिश्च-ज्ञानतेजः-परंब्रह्मेत्यर्थः। किंलक्षणं तत्? समयसारं-सर्वपदार्थेषु सारं, पुनः किंभूतं? उच्चैः-अतिशयेन, अनवं-न नवं अकृत्रिमं-पुराणमित्यर्थः, अनादिनिधनत्वात्। पुनः किंभूतं? अनयपक्षाक्षुण्णं-नयो नैगमादिः स्याद्वादसापेक्षः, ततो विपरीतः-एकान्तरूपोऽनयस्तेषु पक्षोऽभिनिवेशो येषां तेऽनयपक्षाः,

---

कलश - ४

अन्वयार्थ- (ये) जो जीव (उभयनयविरोधध्वंसिनि) व्यवहार-निश्चयादि दोनों नयों के परस्पर विरोध का नाश कर देने वाले (स्यात्पदांके) स्यात् पद अर्थात् 'कथंचित्' पद से चिह्नित (जिनवचसि) जिनेन्द्र भगवान् के वचनों में (रमन्ते) रमण करते हैं (ते) वे (स्वयंवान्तमोहाः) स्वयं मोह का वमन करते हैं और (सपदि एव) शीघ्र ही (अनवम्) अनाद्यनन्त (अनयपक्षाक्षुण्णम्) नयों के पक्षपात से रहित (उच्चैः परं ज्योतिः) उच्च ज्योति स्वरूप (समयसारम्) शुद्धात्म स्वरूप समयसार को (ईक्षन्ते) देखते हैं। ।।४।।

कलशार्थ - जिन्होंने मोह का वमन स्वयं कर दिया है ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों के विरोध को नष्ट करने वाले, स्यात् पद से चिह्नित, जिनेन्द्र भगवान् के वचनों में रमण करते हैं, वे शीघ्र ही उस समयसार को देखते हैं जो समयसार उत्कृष्ट ज्योति स्वरूप है, अविनाशी है (नया नहीं है) एकान्तवादी कुनयों के पक्षों से अखण्डित है।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. जिनेन्द्र भगवान् के वचन कैसे हैं ?

उत्तर- जिनेन्द्र भगवान् के वचन दो विशेषताओं सहित हैं-

१-जिनेन्द्र भगवान् के वचनों में व्यवहार और निश्चय नय का विरोध नहीं है। अपितु जो विरोध होता है उसको वे दूर करने वाले हैं। दोनों नय परस्पर अपेक्षा रखने से निर्विरोध रहते हैं।

२-जिनेन्द्र भगवान् के वचन स्यात् पद सहित हैं अर्थात् जहाँ कहीं भी कुछ भी प्ररूपण किया जाता है वहाँ स्यात् पद की मुख्यता से ही किया जाता है। स्यात् का अर्थ है 'कथंचित्' यानी किसी अपेक्षा से। जैसे यह समयसार निश्चयनय की अपेक्षा कथन करने की मुख्यता रखता है। जब आत्मा का स्वभाव ज्ञायक मात्र शुद्ध कहा तो वह स्यात् शुद्ध है। अर्थात् यह कथन निश्चयनय की अपेक्षा है। वहीं कर्मबन्ध पर्याय की अपेक्षा वही ज्ञायक स्वभाव तिरोहित होने से कथंचित् अशुद्ध है।

एकान्तवादिनः, तैरक्षुण्णं-अक्षुभितं अध्वस्तमित्यर्थः 'सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते' इति वचनात्। ते के? ये स्वयं-स्वत एव वान्तमोहाः सन्तः-वान्तो वमितो मोहो रागद्वेषरूपो यैस्तथोक्ताः, रमन्ते-क्रीडन्ति एकत्वं भजन्त इत्यर्थः। क्व? जिनवचसि-जिनोक्तसिद्धान्तसूत्रे, किं लक्षणे तस्मिन्? उभयेत्यादि-उभये नया द्रव्यपर्यायार्थिकाः अस्तित्वनास्तित्वं, एकत्वानेकत्वं, नित्यत्वानित्यत्वमित्येवमादयः,? तेषां विरोधः-परस्परं विरोधित्वं, यत्रास्तित्वं तत्र नास्तित्वस्य विरोधः, यत्र नास्तित्वं तत्रास्तित्वस्य विरोध इत्याद्येकान्तवादिनां विरोधः, तं ध्वंसते इत्येवंशीलस्तस्मिन् तथा चोक्तमष्टसहस्र्यां ''विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषां'' पुनः किंभूते? स्यात्पदांके-कथंचित्पदेन लक्षिते, जिनवचसः स्याद्वादात्मकत्वात्। तथा चोक्तं सोमदेवसूरिणा-स्याच्छब्दमन्तरेण उन्मिषितमात्रमपि न सिद्धिरधिवसतीति।। ४।।

प्रश्न-२. सम्यग्दृष्टि जीव कौन हैं ?

उत्तर- जिन्होंने मोह का वमन कर दिया है अर्थात् मोह का उपशम या क्षय कर दिया है।

प्रश्न-३. मोह से यहाँ क्या ग्रहण करना है ?

उत्तर- यहाँ मोह से सम्पूर्ण मोह को ग्रहण करना है। मोह दो प्रकार का है। दर्शन मोह, चारित्र मोह। दर्शन मोह और चारित्र मोह का अभाव होने पर ही समयसार स्वरूप आत्मा का दर्शन होता है। अध्यात्म तरंगिणी नाम की संस्कृत टीका में मोह का अर्थ राग-द्वेष किया है। मोहो राग-द्वेष रूपः इससे स्पष्ट है कि दर्शनमोह के अभाव में चारित्रमोह सम्बन्धी राग-द्वेष के दूर हो जाने पर ही यह परम ज्योति प्रकट होती है।

प्रश्न-४. क्या दर्शन मोह के अभाव से ऐसे समयसार आत्मा के दर्शन नहीं होते हैं ?

उत्तर- दर्शन मोह के अभाव से चतुर्थ आदि गुणस्थानवर्ती जीवों को मात्र श्रद्धा से वह उत्कृष्ट ज्योति स्वरूप समयसार देखने में आता है। सम्यक् श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान के साथ जो आत्मा का आनन्द अनुभव में आता है, वह चारित्रमोह के अभाव से ही सम्भव है।

प्रश्न-५. इस परम ज्योति स्वरूप समयसार को कौन देखते हैं ?

उत्तर- जिन्होंने दर्शन मोह को नष्ट करके पूर्ण वैराग्य के बल पर चारित्र मोह का नाश कर दिया है। जो अभेद रत्नत्रय में लीन निर्विकल्प समाधि को धारण करके आत्मा के शुद्धोपयोग में तन्मय होते हैं। ऐसे शुक्ल ध्यान में लीन महामुनि उसे साक्षात् देखते हैं।

प्रश्न-६. शुक्ल ध्यान में महामुनि को वह उत्कृष्ट ज्योति साक्षात् कैसे दिख सकती है ?

उत्तर- इन्द्रिय और मन के ज्ञान से रहित होकर अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा उस शुद्धात्मा का अनुभव शुद्धोपयोग से होता है। इसी को योगी प्रत्यक्ष कहा जाता है। स्वानुभव प्रत्यक्ष इसी दशा में होता है।

प्रश्न-७. यहाँ कोई प्रश्न करता है कि द्रव्य शुद्ध है तो पर्याय में अशुद्धता आई कहाँ से ? तो उसका

समाधान दिया है कि पर्याय में अशुद्धता का धर्म है, ऐसी ही उस पर्याय की योग्यता है। अशुद्धता कर्म के कारण नहीं आई है, अशुद्धता तत्समय की योग्यता रूप पर्याय का धर्म है। क्या ऐसा कहना उचित है ?

उत्तर- अहो! खेद है कि भगवान् जिनेन्द्र देव की वाणी से वाक्चातुर्य से कैसे वस्तु तत्त्व के साथ छलावा करने वालों ज्ञान का क्षयोपशम हुआ जो स्वयं प्रश्न भी गलत किया और समाधान भी अनुचित दिया है। द्रव्य शुद्ध है, पर्याय अशुद्ध है, ऐसी एकान्त अवधारणा ही गलत है। जहाँ द्रव्य शुद्ध है, वहाँ पर्याय भी शुद्ध होती है। जहाँ द्रव्य अशुद्ध है, वहाँ पर्याय भी अशुद्ध होती है। जब द्रव्य शुद्ध होता है तो उसकी पर्याय भी शुद्ध होती है। **आलाप पद्धति** में ऐसा कोई नय नहीं है जो द्रव्य की शुद्धता के साथ पर्याय की अशुद्धता का वर्णन करे। या द्रव्य की अशुद्धता के साथ पर्याय की शुद्धता का वर्णन करे। कहा भी है-

शुद्ध सद्भूत व्यवहारो यथा शुद्धगुणशुद्ध गुणिनोः शुद्ध पर्याय शुद्ध पर्यायिणोर्भेदकथनम्। अशुद्ध सद्भूत व्यवहारो यथाऽशुद्धगुणाशुद्ध गुणिनोः अशुद्धपर्यायाशुद्ध-पर्यायिणोर्भेदकथनम्।।

अर्थात्- शुद्ध गुण शुद्ध गुणी में तथा शुद्ध पर्याय और शुद्ध द्रव्य में भेद का कथन करने वाला शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय है। इसी प्रकार अशुद्ध गुण-गुणी तथा अशुद्ध पर्याय-पर्यायी में भेद करने वाला अशुद्ध असद्भूत व्यवहार नय है। द्रव्य को एकान्तिक शुद्ध मानना और मात्र पर्याय को ही अशुद्ध मानना, जिनमत के विरुद्ध है। द्रव्य चेतन स्वभाव मात्र की अपेक्षा शुद्ध है किन्तु कर्मबन्ध की अपेक्षा द्रव्य भी अशुद्ध है, तभी तो संसार की पर्याय है। अहो! जिनागम का कितना बडा अनर्थ है कि आत्मा की स्वतन्त्रता में कर्म की स्वतन्त्रता भी इतनी दिखाई देने लगी कि 'अशुद्धता कर्म के कारण नहीं आई, वह तो उस पर्याय की योग्यता और उसका धर्म है।' ऐसे कथन निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध को मिटाने के लिए, एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर प्रभाव नहीं मानने की एकान्तिक अवधारणा के हैं। जीव का चेतन स्वभाव मात्र शुद्ध रूप परमभाव के ग्राहक नय से ही नहीं होता है अपितु अशुद्ध रूप परमभाव के ग्राहक नय से भी होता है। **आलाप पद्धति** में एक सूत्र है- 'शुद्धाशुद्ध परमभाव ग्राहकेण चेतन स्वभावो जीवस्य' इस सूत्र से स्पष्ट है कि जीव का चेतन स्वभाव मात्र शुद्ध नय से ही ग्रहण नहीं किया जाता है और वह सर्वदा शुद्ध ही नहीं होता है अपितु शुद्ध, अशुद्ध दोनों रूप होता है। इसलिए द्रव्य त्रैकालिक शुद्ध है, यह मान्यता एकान्त मिथ्यात्व की पुष्टि करती है।

प्रश्न-८. यहाँ 'परं ज्योति' से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर- ज्ञान का तेज (प्रकाश) ही परं ब्रह्म है। वही परम उत्कृष्ट ज्योति है, जिसमें सूर्य आदि का प्रकाश भी अतिक्रांत हो जाता है अर्थात् फीका पडता है।

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहितपदानां हंत हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किंचित्।।५।।

सं. टी.- प्राथमिकानां व्यवहारनयोपयोगित्वं प्रदर्श्य निश्चयात्मकानां निश्चयं निश्चिनोति-हंत इति वाक्यालङ्कारे, इह जगति, यद्यपि व्यवहरणनयः-व्यवहाराख्यो नयः, हस्तावलंबः-करावलंबनं, स्यात्-भवति, केषां निहितपदानां-निहितं-आरोपितं, पदं-स्थानं सन्मार्गे यैस्ते तथोक्ताः तेषां, 'पदं-व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्मांघ्रिवस्तुषु' इत्यनेकार्थः। कदा? प्राक् पदव्यां शुद्धचिद्रूपप्राप्तितस्तत्संमुखत्वे सति पूर्वं-प्राथमिकावस्थायां, तदपि व्यवहारनयः पूर्वमुपयोगी यद्येषोऽस्ति तथापि एष व्यवहारनयः, न किंचित्कार्यकारी। केषां? पश्यतां-अवलोकयतां, कं? परममर्थं-शुद्धचिद्रूपलक्षणं पदार्थं, क्व? अंतः-अभ्यंतरे चेतसि, किं भूतं? चिच्चमत्कारमात्रं-चित्-दर्शनज्ञानलक्षणा, तस्याश्चमत्कारः-आश्चर्योद्रेकः, स एव मात्रा-प्रमाणं, यस्य स तथोक्तस्तं। भूयः किंभूतं? परविरहितं-परैः-पुद्गलादिद्रव्यैः, विरहितं-त्यक्तं, तथा चोक्तं-कुंदकुंदाचार्यवरैः 'ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ' इति।

प्रश्न-९. वह परं ज्योति कैसी है ?

उत्तर- वह परं ज्योति अनव है अर्थात् नयी नहीं है। किन्तु अकृत्रिम है, प्राचीन है, अनादि निधन है।

कलश - ५

अन्वयार्थ- (यद्यपि इह प्राक् पदव्याम्) यद्यपि यहाँ प्रथम पदवी में (निहित पदानाम्) अपना कदम रखने वालों के लिए (व्यवहरणनयः) व्यवहारनय (हस्तावलम्बः) हस्तावलम्बनरूप है (हन्त) परन्तु यह खेद की बात है। (तदपि) वह भी (चिच्चमत्कारमात्रम्) चैतन्य के चमत्कार से परिपूर्ण (परविरहितम्) परद्रव्यों तथा पर भावों से भिन्न आत्मा के स्वरूप को (अन्तः पश्यताम्) अपने अन्तरंग में देखने वालों के लिए (नैष किंचित्) व्यवहारनय कुछ भी उपयोगी नहीं है। ।।५।।

कलशार्थ- यद्यपि इस (मोक्षमार्ग) की प्रथम पदवी पर कदम रखने वालों को व्यवहार नय हाथ का अवलम्बन लेने की तरह है फिर भी पर से विरहित, चिच्चमत्कार मात्र परम अर्थ को अपने अन्तरंग में देखने वालों के लिए यह व्यवहार नय कुछ भी नहीं है।

कलश-प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. यहाँ प्रथम पदवी पर कदम रखने वाले कौन हैं ?

उत्तर- जो मोक्षमार्ग की प्रथम सीढी पर कदम रखने वाले कहे जाते हैं वे भेदरत्नत्रय परिणत मुनिराज होते हैं क्योंकि वे ही निश्चयनय गत परम अर्थ को देखने वाले हैं। ऐसा नियमसार ग्रंथ की टीका करते हुए पद्मप्रभमलधारी देव द्वारा दिए गए सन्दर्भ से ज्ञात होता है। यह कलश **नियमसार** की गाथा ४९ में उद्धृत है। आत्मख्याती टीका में इन्हें ही प्रथम, द्वितीय आदि पाक

परम्परा से अपरम भाव का अनुभव करने वाला कहा है और इन्हीं के लिए व्यवहारनय प्रयोजनवान है, ऐसा कह चुके हैं। इन्हीं को ता.टी. में 'केषांचित् प्राथमिकानां कदाचित् सविकल्पावस्थायां' ऐसा कहकर स्पष्ट किया है कि कभी सविकल्प अवस्था में किन्हीं प्राथमिक जनों को यह व्यवहार नय प्रयोजनवान है।

प्रश्न-२. यह व्यवहार नय उन प्राथमिक जनों को हेय है या उपादेय है ?

उत्तर- उन प्राथमिक जनों को यह व्यवहार नय हाथ का आलम्बन लेने की तरह उपादेय है। व्यवहार नय के हेय हो जाने पर तो वे प्राथमिक जन न रहकर मिथ्यादृष्टि हो जायेंगे।

प्रश्न-३. कृपया उदाहरण देकर समझाइये ?

उत्तर- जैसे कोई नदी के जल के तीव्र प्रवाह में बह रहा था। जैसे-तैसे किनारा दिखा किन्तु अभी भी किनारे से तट पर आया नहीं है। तो ऐसा व्यक्ति किनारे पर आकर सविकल्प अवस्था में रहता है। वह अनादि कर्मबन्ध के तीव्र प्रवाह से बचकर किनारे तक आ गया है। जब तक वह किसी के हाथ का आलंबन नहीं लेता है तब तक वह पानी में ही है, ऐसी कर्मोदय सहित अवस्था का अनुभव करता है। फिर किसी के हाथ का आलंबन लेता है। लेकिन बाहर तट पर आ नहीं पा रहा है तब तक भी वह व्यवहार नय के आश्रित सविकल्प दशा में है। फिर जब हाथ का आलंबन लेकर, अच्छी तरह उस हाथ को पकडक़र तट पर आकर खडा हो जाता है, तब निर्विकल्प दशा का अनुभव होता है। तब वह हाथ छोड.देता है तो उसके लिए व्यवहार नय रूप हाथ का आलंबन स्वयं छूट जाता है। हेय-हेय कहकर यदि पहले किनारे पर डूबा रहता तो कभी भी तट पर आ नहीं सकता। इसलिए आचार्यों ने इस व्यवहार नय को आलंबन योग्य कहा है। निश्चय नय रूप निर्विकल्प अवस्था में हाथ का आलंबन छोड.देने पर भी ज्ञानी, कृतज्ञ पुरुष तो उस व्यवहार को आदरणीय, उपकारी समझता है किन्तु अज्ञानी, कृतघ्न पुरुष उस व्यवहार नय को हेय कहता है।

प्रश्न-४. यह व्यवहार नय किनके लिए कुछ भी कार्यकारी नहीं है ?

उत्तर- जो पर द्रव्य और पर भावों से रहित होकर, चैतन्य चमत्कार मात्र, परम आत्म अर्थ परमार्थ को देखते हैं, उनके लिए यह व्यवहार नय कुछ भी कार्यकारी नहीं है।

प्रश्न-५. यहाँ व्यवहार नय के लिए 'हंत' अव्यय का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ सर्वत्र खेद अर्थ में लिया। क्या यह उचित है ?

उत्तर- नहीं! इन कलशों पर **शुभचन्द्राचार्य** की टीका है जिसमें इस 'हंत' पद को मात्र वाक्यालङ्कार के अर्थ में लिया है। अर्थात् काव्य बनाते समय अलंकार रूप में इन अव्ययों का प्रयोग किया जाता है। हन्त अव्यय का दूसरा अर्थ 'निश्चय' भी होता है। 'दाने निश्चये च हन्तकारः' इति क्षीरस्वामी ने स्वोपज्ञ अमर टीका में ऐसा कहा है। पं. मोतीलाल कोठारी ने यही अर्थ अपनी तत्त्व प्रबोधिनी टीका में किया है। हन्त (अव्यय) के और भी अर्थ हैं - हर्ष (खुशी), दया, विषाद, आर्त्ति, खेद, किसी वाक्य का आरम्भ।

अथ आत्मन एकत्वं वितनोति-

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः।।६।।

सं. टी.-इह जगति नियमात्-निश्चयनयमाश्रित्य, एव-निश्चयेन, एतत्सम्यग्दर्शनं-शुद्धसम्यक्त्वं, एतत् किं? यत् अस्य जगत्प्रसिद्धस्य, आत्मनः-चिद्रूपस्य, दर्शनं-अवलोकनं, ध्यानेन आत्मनः साक्षात्करणमित्यर्थः। कथं द्रव्यान्तरेभ्यः-शुद्धचिद्रूपद्रव्यादन्यद्रव्याणि द्रव्यांतराणि पुद्गलादिद्रव्याणि, तेभ्यः, पृथक्-भिन्नं भवति, तथा किंविशिष्टस्यात्मनः? शुद्धनयतः निश्चयनयात्, एकत्वे-अहमात्मा, आत्माहमित्येतल्लक्षणे एकत्वे, नियतस्य रतिं प्राप्तस्य, पुनः किं भूतस्य? व्याप्तुः-स्वगुणपर्यायव्यापकस्य, व्यवहारनयाद्वा लोकालोकव्यापकस्य, ज्ञानेन ज्ञानत्वात्सर्वस्य, तथाचोक्तमकलंकपादैः-

---

उत्थानिका - अब आत्मा के एकत्व को विस्तारित करते हैं-

अन्वयार्थ- (पूर्णज्ञानघनस्य) अपने समस्त आत्मप्रदेशों में जो ज्ञानघन है (व्याप्तुः) अपने गुणों में तथा पर्यायों में व्याप्त रहने वाले (शुद्धनयतः एकत्वे नियतस्य) शुद्धनय से जो अपने ही एक स्वभाव में स्थित है। (यदस्यात्मनः) जो इस आत्मा का (द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् दर्शनम्) अन्य समस्त द्रव्यों से पृथक् दर्शन है, (एतदेव नियमात् सम्यग्दर्शनम्) यही निश्चय से सम्यग्दर्शन है। (आत्मा च तावान् अयं) जितना सम्यग्दर्शन है उतना ही मात्र आत्मा है, ऐसी स्थिति में (इमाम् नव तत्त्व संततिम्) नव पदार्थों की परम्परा और (तत्) उस व्यवहार को (मुक्त्वा) छोडक़र (आत्मायमेकोस्तु नः) अपने स्वरूप में एकत्व को लिए हुए यह आत्मा मुझे प्राप्त हो ।।६।।

कलशार्थ- शुद्ध नय से एकत्व में नियत, अपने गुण पर्यायों में व्यापक, अन्य द्रव्यों से पृथक्/पूर्ण ज्ञान घन आत्मा का दर्शन ही यह सम्यग्दर्शन है। नियम से आत्मा भी उतने मात्र ही है। इसलिए इस नव तत्त्व की परम्परा को छोडक़र हमें यह एक आत्मा ही प्राप्त होवे।

कलश-प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. यहाँ नव तत्त्व की संतति को छोडक़र हमें एक आत्मा ही प्राप्त होवे, इससे क्या इच्छा व्यक्त की है?

उत्तर- हमें आत्मा के एक शुद्ध ज्ञायक स्वभाव की प्राप्ति होवे, ऐसी इच्छा आचार्य महाराज ने व्यक्त की है।

'स्वदेहप्रमितिश्चात्मा ज्ञानमात्रोऽपि संमतः। ततः सर्वगतः सोऽपि विश्वव्यापी न सर्वथा'।। इति पूर्णज्ञानघनस्य-पूर्णः-परिपूर्णः, ज्ञानस्य-बोधस्य घनो यत्र स तथोक्तस्तस्य, च पुनः अयं-प्रत्यक्षीभूतः आत्मा-चिद्रूपः, तावान् मात्रः सम्यग्दर्शनमात्र इत्यर्थः। तत्-तस्मात् कारणात्, अयं-आत्मा-चिद्रूपः, नः-अस्माकं, एकः-अद्वितीयः, अस्तु भवतु। किं कृत्वा? इमां-प्रसिद्धां, नवतत्त्वसंहतिं-जीवादिनवतत्त्वानां समूहं, मुक्त्वा-त्यक्त्वा, कर्मकलंकितजीवादितत्त्वानि विहाय एकः आत्मा, नः शुद्धयेऽस्तु सदेति यावत्।।६।। अथात्मनः प्रकाशो द्योतत इति द्योतयति -

---

प्रश्न-२. शुद्ध नय की अपेक्षा से आत्मा का दर्शन सम्यग्दर्शन कहा है, सो यह सम्यग्दर्शन कब होता है ?

उत्तर- जब जीव शुद्ध नय से भेद विज्ञान के बल से अपने स्वरूप में ठहरता है, अन्य धर्म-अधर्म आदि अचेतन द्रव्यों से पृथक् अपने आत्म द्रव्य को शुद्ध स्वरूप में देखता है तब शुक्ल ध्यान की अवस्था में उसे शुद्ध नय की दृष्टि से सम्यग्दर्शन होता है।

प्रश्न-३. इससे पहले क्या जीव को सम्यग्दर्शन नहीं होता है ?

उत्तर- अवश्य होता है। यह सम्यग्दर्शन तत्त्वार्थ के श्रद्धान पूर्वक होता है। उसे सराग सम्यग्दर्शन कहते हैं और यहाँ भेदज्ञान पूर्वक होने वाले वीतराग सम्यग्दर्शन या निश्चय सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहा है।

प्रश्न-४ इससे पहले कलश संख्या ५ में व्यवहार नय का आलंबन लेना योग्य है और यहाँ शुद्ध नय से सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताया है तो क्या इन दोनों काव्यों का आपस में कुछ सम्बन्ध है ?

उत्तर- हाँ! अवश्य है। यह अभिप्राय यहाँ स्वयं प्रकट हो जाता है। सराग सम्यग्दृष्टि को शुद्धात्मा की अनुभूति की योग्यता की प्राप्ति के लिए व्यवहार नय के विषयभूत इस सराग या व्यवहार सम्यग्दर्शन का आलंबन लेना आवश्यक है।

प्रश्न-५. आत्मा उतनी ही है जितना कि सम्यग्दर्शन, इसका क्या अर्थ है?

उत्तर- व्यवहार नय की अपेक्षा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान में भेद होता है किन्तु निश्चय नय की दृष्टि में आत्मा में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का भेद न रहकर वह ज्ञान मात्र का संवेदन करता है अर्थात् आत्मा उतना ही अनुभव में आता है जितना वह निश्चय से ज्ञान प्रमाण है। कहा भी है-

अप्पा णाण पमाणं णाणं खलु होइ जीव परिमाणं ।
ण वि णूणं ण वि अहियं जह देवो तेउपरिमाणो ।।

अर्थ- आत्मा ज्ञानप्रमाण होता है और ज्ञान जीवप्रमाण होता है। वह आत्मा और उसका ज्ञान न एक दूसरे से कम होता है और न अधिक, जैसे तेज प्रमाण दीपक है।

प्रश्न-६. यहाँ आचार्य अमृतचन्द्र जी महाराज ने ऐसे सम्यग्दर्शन की भावना की है कि वह हमें प्राप्त हो; तो क्या उन्हें निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं था?

उत्तर- अवश्य ही नहीं था। वे आचार्यदेव भी दसवीं शताब्दी के इस पंचम काल के ही मुनिराज

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुंचति।।७।।

सं. टी.-अतः यतो नवतत्त्वेष्वपि, अयमेक आत्मास्तु नः, अतः कारणात्, चकास्ति-द्योतते। तत्प्रसिद्धं प्रत्यग्ज्योतिः-परंधाम, शुद्धनयायत्तं यत्-शुद्धनयस्य, निश्चयनयस्य, आयत्तं-अधीनं, शुद्धनिश्चयनयेनेति यावत्। यत् परं ज्योतिः-एकत्वं-अद्वितीयत्वं, न मुंचति-नो जहाति, क्व सति? नवतत्त्वगतत्वेऽपि-नवतत्त्वेषु गतत्वं प्राप्तत्वं तस्मिन् सत्यपि। अपिशब्दात्तेषु, अगतत्वेऽपि-सिद्धात्मनो नवतत्त्वेष्वगतत्वात्, संसार्यात्मनः, नवतत्त्वायत्तत्वान्नवतत्त्वगतत्वं।।७।।

हैं। इस पंचमकाल में शुक्ल ध्यान में प्रकट होने वाले भेदज्ञान के बल से शुद्ध आत्मज्योति की अनुभूति नहीं होती है। इसीलिए सराग सम्यग्दृष्टि व्यवहार नय के आलंबन से इन काव्यों के लिखने से, कोई पढ़ने से, कोई इनका चिन्तन करने से उस आत्मदर्शन की प्राप्ति की भावना करते हैं जिसे निश्चय सम्यग्दर्शन कहा जाता है। हाँ! धर्म ध्यान की स्थिरता में क्वचित् अभेद रत्नत्रय की अप्रमत्त गुणस्थान में परिणति होने पर वह गौण रूप से आत्म ज्योति अनुभव में आती है। छठे आदि निचले गुणस्थानों में तो वह भावना करने योग्य ही अनुभव में आती है।

अन्वयार्थ- (अतः) इसलिए (शुद्धनयायत्तं) शुद्धनय की अपेक्षा से (तत्)वह आत्मा (प्रत्यग्ज्योतिः चकास्ति) अन्तरंग में चैतन्य ज्योति वाला प्रकाशमान है। यद्यपि वह (नव तत्त्व गतत्वेऽपि) व्यवहारनय से नवतत्त्वों से व्याप्त है तो भी (यत् एकत्वं न मुंचति) वह अपने अद्वैत स्वरूप का त्याग नहीं करता है। ।।७।।

अर्थ- नव पदार्थों में शामिल होने पर भी जो एकत्व को/ ज्ञायक स्वभाव को नियतरूप से नहीं छोड़ती वह शुद्ध निश्चय के आश्रित रहने वाली ज्योति अन्तरंग में प्रकाशमान होती है। ।।७।।

कलश-प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. पर द्रव्यों से भिन्न (प्रत्यक्) वह शुद्ध आत्म ज्योति किस नय के अधीन होती है ?

उत्तर- वह शुद्धनय के अधीन होती है।

प्रश्न-२. उस शुद्धनय की प्राप्ति में नव तत्त्व अनुभूत होते हैं या नहीं ?

उत्तर- नहीं होते हैं। शुद्ध नय से भेद ज्ञान स्वरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो जाने पर जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन तत्त्वों की अनुभूति नहीं होती है। किन्तु इन तत्त्वों में अन्वयरूपता को प्राप्त एक ज्ञान मात्र स्वभाव वाला ज्ञायक भाव ही अनुभव में आता है।

प्रश्न-३. किस ज्ञान से ऐसे शुद्धनय के अधीन शुद्ध आत्मज्योति प्रकट होती है ?

उत्तर- भेदविज्ञान के होने पर प्रकट होने वाले स्वसंवेदन ज्ञान के बल से ऐसी आत्मज्योति अनुभव में प्रकट दिखाई देती है।

अथात्मनः प्रकाशो द्योतत इति द्योतयति-

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ।।१३।। ता.टी. १५

आ.टी. - अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेनाभिगतानि सम्यग्दर्शनं सम्पद्यन्त एव, अमीषु तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तमभूतार्थनयेन व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वेष्वेकत्वद्योतिना भूतार्थनयेनैकत्वमुपानीय शुद्धनयत्वेन व्यवस्थापितस्यात्मनोनुभूतेरात्म-ख्यातिलक्षणायाः सम्पद्यमानत्वात् । तत्र विकार्यविकारकोभयं पुण्यं तथा पापम्, आस्राव्यास्रावकोभयमास्रवः, संवार्यसंवारकोभयं संवरः, निर्जर्यनिर्जरकोभयं निर्जरा, बंध्यबंधकोभयं बंधः, मोच्यमोचकोभयं मोक्षः, स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षानुपपत्तेः । तदुभयं च जीवाजीवाविति । बहिर्दृष्ट्या नवतत्त्वान्यमूनि जीवपुद्गलयोरनादिबंधपर्यायमुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ (वै) चैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि । ततोऽमीषु नवतत्त्वेषु

उत्थानिका- अब आत्मा का प्रकाश प्रकाशित होता है, यह दिखाते हैं-

अन्वयार्थ - (भूदत्थेणाभिगदा) भूतार्थ नय से ज्ञात (जीवाजीवा) जीव, अजीव (च) और (पुण्णपावं) पुण्य,पाप (च) तथा (आसवसंवरणिज्जरबंधो) आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध (च) और (मोक्खो) मोक्ष (य सम्मत्तं) यह नव तत्त्व सम्यक्त्व हैं।

अर्थ- निश्चयनय से निर्णय किये हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये नव पदार्थ सम्यक्त्व कहे हैं। ।।१३।।

आ.व्या.- तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए व्यवहारनय की दृष्टि से जिनका प्रतिपादन किया जाता है ऐसे जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नव तत्त्व हैं। जो भूतार्थ नय से जाने हुए सम्यग्दर्शन ही होते हैं उन नव तत्त्वों में एकत्व को प्रकट करने वाले भूतार्थनय से एकत्व को स्वीकार कर जिसका शुद्धनय के रूप से निर्णय किया गया है, ऐसी आत्मा की आत्म-ख्याति संज्ञक अनुभूति हो जाती है। उन नव तत्त्वों में विकार्य और विकारक ये दोनों मिलकर पुण्य और पाप होते हैं। आस्राव्य और आस्रावक ये दोनों मिलकर आस्रव होता है। संवार्य और संवारक ये दोनों मिलकर संवर होता है। निर्जर्य और निर्जरक ये दोनों मिलकर निर्जरा होती है। बन्ध्य और बन्धक ये दोनों मिलकर बन्ध होता है। मोच्य और मोचक ये दोनों मिलकर मोक्ष होता है; क्योंकि स्वयं किसी एक के पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष परिणाम नहीं हो सकते हैं।

ये पुण्य पाप अरु जीव अजीव आदि, होते पदार्थ नव मानत साम्यवादी।
भूतार्थ से विदित हों जब ये पदार्थ, सम्यक्त्व के विषय हैं 'दृग' है यथार्थ ।।१५।।

भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते। तथांतर्दृष्ट्या ज्ञायको भावो जीवो, जीवस्य विकारहेतुरजीवः। केवलजीवविकाराश्च पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणाः, केवलाजीवविकारहेतवः पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षा इति। नवतत्त्वान्यमून्यपि जीवद्रव्यस्वभावमपोह्य स्वपरप्रत्ययैकद्रव्यपर्यायत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ च सकलकालमेवास्खलंतमेकं जीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि । ततोऽमीष्वपि नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते। एवमसावेकत्वेन द्योतमानः शुद्धनयत्वेनानुभूयत एव । या त्वनुभूतिः सात्मख्यातिरेवात्मख्यातिस्तु सम्यग्दर्शनमेव । इति समस्तमेव निरवद्यम्।।

वे पुण्य-पाप आदि जीव और अजीवरूप हैं। अनादिकाल से चली आई बन्ध पर्याय को स्वीकार कर जब नव तत्त्वों का अनुभव किये जाने की योग्यता होती है, तब ये नव तत्त्व बाह्य दृष्टि से भूतार्थ हैं, यथार्थ हैं। जब जीव द्रव्य के एक ज्ञायकस्वभाव को स्वीकार कर उनको अनुभव का विषय बनाया जाता है तब वे अभूतार्थ होते हैं। इसलिए तब इन नव तत्त्वों में भूतार्थनय की दृष्टि से एक जीव ही प्रकट होता है। उसी प्रकार अन्तरंग दृष्टि से जो ज्ञायक भाव है वह जीव है। जीव के विकार का निमित्त कारण अजीव होता है। पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये केवल जीव के विकार/परिणाम या भाव हैं। पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये जो द्रव्य रूप तत्त्व हैं वे केवल जीव के विकार में हेतु हैं। ये नव तत्त्व जीव द्रव्य के ज्ञायक एक स्वभाव को छोडक़र जब स्व-पर कारण के द्वारा एक आत्म द्रव्य की पर्यायों के रूप से अनुभूति का विषय बनाये जाते हैं तब भूतार्थ होते हैं। तीनों कालों में ही नहीं हटने वाले जीवद्रव्य के एकमात्र ज्ञायक स्वभाव को ग्रहण कर उनका अनुभव किया जाने पर वे अभूतार्थ होते हैं। इसलिए इन नव तत्त्वों में भी निश्चयनय से एक जीव ही प्रकट हो जाता है। इस प्रकार ज्ञायक स्वभावी एकरूप से प्रकट होने वाले जीव का शुद्धनय के रूप से ही अनुभव किया जाता है। जो अनुभूति है, वह आत्मख्याति है और जो आत्मख्याति है वह सम्यग्दर्शन ही है। इस प्रकार जो कुछ कहा गया है वह समस्त, सम्पूर्ण कथन ही निर्बाध है/निर्दोष है।

विशेष - इस टीका से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर आगे तत्त्वार्थवृत्ति टीका १५ के बाद देखें।

अथात्मैव दृश्य इति प्रेरयति-

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानं।।८।।

सं.टी.-अथ परंज्योतिषः प्रकाशकथनादनंतरं, इदं, आत्मज्योतिः-परमात्मज्योतिः दृश्यतां अन्तरदृष्ट्या अवलोक्यतां, इति-अमुना प्रकारेण, कोऽसौ प्रकारः? एकस्मिन् संसार्यात्मनि, जीवाजीवादिनवतत्त्वसद्भाव इति। चिरं-आसंसारं-पूर्वं पश्चाच्च, नवतत्त्वच्छन्नं-नवतत्त्वैः जीवाजीवादिभिः छन्नं-आच्छादितं, किमिव? कनकमिव, यथा स्वर्णे, वर्णमालाकलापे-वर्णस्य सप्ताष्टादिरूपवर्णस्य, माला-पंक्तिः, तस्याः कलापःसमूहस्तस्मिन्, निमग्नं-अंतःपतितं। ननु च तत्त्वाच्छादितं परंज्योतिः, वर्णमालाच्छादितं स्वर्णं च कथमस्तीति ज्ञायते? उन्नीयमानं-

---

उत्थानिका - अब आत्मा ही देखने योग्य है, इसकी प्रेरणा करते हैं-

अन्वयार्थ - (इति) इस प्रकार (चिरम्-नव-तत्त्व-च्छन्नम् इदम्) नव तत्त्वों में बहुत समय से छिपी हुई यह आत्मज्योति (उन्नीयमानं) शुद्धनय से बाहर निकालकर प्रगट की गई है, (वर्णमाला-कलापे निमग्नं कनकम् इव) जैसे वर्णों के समूह में छिपे हुए एकाकार स्वर्ण को बाहर निकालते हैं। (अथ) इसलिए अब हे भव्य जीवो! (सततविविक्तं) इसे सदा अन्य द्रव्यों से तथा उनसे होने वाले नैमित्तिक भावों से भिन्न, (एकरूपं) एकरूप (दृश्यताम्) देखो। (प्रतिपदम् उद्योतमानम्) यह-ज्योति, पद पद पर अर्थात् प्रत्येक पर्याय में एकरूप चित्चमत्कारमात्र उद्योतमान है।

अर्थ - चिरकाल से नवतत्त्वों में छिपी हुई यह आत्मज्योति शुद्धनय से बाहर निकाली गई है अर्थात् प्रकट की गई है। अनेक वर्णों के समूह में छिपे हुए एकाकार स्वर्ण की तरह पद-पद पर एक रूप से प्रकाशमान इस चिज्ज्योति को देखो।

कलश-प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. चिरकाल से आत्मा में परमात्मा की ज्योति किससे आच्छन्न है ?

उत्तर- संसारी आत्मा में वह परमात्मा की ज्योति जीव, अजीव आदि नव तत्त्वों से आच्छन्न है।

प्रश्न-२. वह परमात्मा की ज्योति कैसे आच्छन्न है, कृपया उदाहरण देकर समझाएँ ?

उत्तर- जैसे सातवें, आठवें आदि रूपवर्णों के समूह में स्वर्ण उसके अन्दर पडा हुआ छिपा रहता है, वैसे ही संसारी आत्मा में नव तत्त्वों में वह परम ज्योति छिपी हुई है।

प्रश्न-३. यहाँ सातवें, आठवें आदि ताव में स्वर्ण छिपा है ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर- 'वर्णमालाकलापे' इसकी प.अ.त. में जो व्याख्या आचार्य शुभचन्द्र जी ने की है, वह इसी प्रकार है। वर्णस्य- सप्ताष्टादिरूपवर्णस्य इससे यह स्पष्ट होता है।

नयप्रमाणादिभिर्निश्चीयमानम् निघर्षणच्छेदनादिभिर्ज्ञायमानं, सततं-निरंतरं, किं विशेषेण निश्चयनयेन, वि(वि)क्तं-द्रव्यभावमलाद्भिन्नं, स्वर्णं च निजकिट्टकालिकादिमलात् परमार्थतो भिन्नं, एकरूपं-सर्वत्र पर्यायेषु चिद्विवर्तत्वेनैकस्वरूपं, लब्ध्यपर्याप्तादिषु लब्ध्यक्षरादिचिद्विवर्तस्याऽपरित्यक्तत्वात्। स्वर्णे च पीतत्वादिस्वरूपेण सर्वत्र वर्णेषु एकस्वरूपं। प्रतिपदं-एकेंद्रियादिपदेषु ज्ञानादिशक्तितः, उद्योतमानं-प्रकाशमानं, स्पर्शनेंद्रियज्ञानात् द्वींद्रियादिषु रसनेंद्रियादिज्ञानानां वृद्धिस्वभावत्वात्, कनकमपि प्रतिपदं सप्ताष्टकादिवर्णकारस्थानेषु उद्योतमानं, इति छायार्थः कनकेष्वपि ज्ञातव्यः।।८।।

आ.टी. - अथैवमेकत्वेन द्योतमानस्यात्मनोऽधिगमोपायाः प्रमाणनयनिक्षेपाः ये ते खल्वभूतार्थास्तेष्वप्ययमेक एव भूतार्थः । प्रमाणं तावत्परोक्षं प्रत्यक्षं च। तत्रोपात्तानुपात्तपरद्वारेण प्रवर्त्तमानं परोक्षं केवलात्मप्रतिनियतत्वेन प्रवर्त्तमानं प्रत्यक्षं च। तदुभयमपि प्रमातृप्रमाणप्रमेय-

---

प्रश्न-४. वह परम ज्योति नव तत्त्वों से आच्छादित है और वर्णमाला में स्वर्ण आच्छादित है, इसको कैसे जाना जाता है ?

उत्तर- उन्नीयमानं- नयप्रमाणादिभिर्निश्चीयमानम् (प.अ.त.)- अर्थात् उन्नीयमान का अर्थ है कि नय, प्रमाण आदि के द्वारा उस परम ज्योति का निश्चय करना। जैसे स्वर्ण पाषाण को निर्घर्षण, छेदन आदि के द्वारा जाना जाता है। जैसे आत्मा निश्चय नय से द्रव्य मल, भाव मल आदि से भिन्न है वैसे ही स्वर्ण भी परमार्थ से अपनी किट्ट-कालिमा आदि मल से भिन्न है। (प.अ.त.)

प्रश्न-५. वह परम ज्योति सदा एक रूप ही है, यहाँ एक रूप का क्या अर्थ है ?

उत्तर- एक रूपं- सर्वत्र पर्यायेषु चिद्विवर्तनत्वेनैकस्वरूपम् (प.अ.त.) वह परम ज्योति सभी पर्यायों में चेतना की पर्याय से एक स्वरूप है। लब्ध्यपर्याप्त आदि अवस्था में भी लब्ध्यक्षर आदि चैतन्य पर्याय को नहीं छोडा है। स्वर्ण ने भी सभी वर्णों (रूपों) में अपने पीतत्व आदि स्वरूप को कभी नहीं छोडा है। इस तरह एकरूप चैतन्य की परिणति सदा ही बनी रहती है। यही इसकी एकरूपता है। (प.अ.त.)

प्रश्न-६. यह परम आत्मज्योति प्रतिपद में प्रकाशमान है, यहाँ प्रतिपद से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर- प्रतिपदं एकेन्द्रियादिपदेषु ज्ञानादि शक्तितः (प.अ.त.)- अर्थात् एकेन्द्रिय आदि पर्यायों में ज्ञान/दर्शन गुण आदि की शक्ति की अपेक्षा से यह परम ज्योति प्रत्येक पर्याय में प्रकाशमान है। जैसे स्पर्शनेन्द्रिय वाली एकेन्द्रिय की पर्याय में उत्पन्न ज्ञान से द्वीन्द्रिय आदि जीवों में रसना इन्द्रिय ज्ञान आदि की वृद्धि स्वभाव से ही हो जाती है। इसी तरह आगे तीन इन्द्रिय आदि पद में वृद्धि स्वभाव से ज्ञान आदि शक्ति बढती हुई प्रकाशमान है, यह तात्पर्य है। (प.अ.त.)

आ.व्या.- इस प्रकार एक रूप से प्रकाशमान रहने वाली आत्मा को जानने के जो प्रमाण, नय और निक्षेप ये साधन हैं, वे वस्तुतः अभूतार्थ हैं। उन प्रमाण, नय और निक्षेपों में एक ज्ञायक

भेदस्यानुभूयमानतायां भूतार्थम्। अथ च व्युदस्तसमस्तभेदैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। नयस्तु द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च । तत्र द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति द्रव्यार्थिकः, पर्यायं मुख्यतयानुभावयतीति पर्यायार्थिकः। तदुभयमपि द्रव्यपर्याययोः पर्यायेणानुभूयमानतायां भूतार्थम्, अथ च द्रव्यपर्यायानालीढशुद्धवस्तुमात्रजीवस्वभाव-स्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। निक्षेपस्तु नाम स्थापना द्रव्यं भावश्च। तत्रातद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं नाम। सोऽयमित्यन्यत्र प्रतिनिधिव्यवस्थापनं स्थापना। वर्त्तमानतत्पर्यायादन्यद् द्रव्यम् । वर्त्तमानतत्पर्यायो भावः। तच्चतुष्टयं स्वस्वलक्षणवैलक्षण्येनानुभूयमानतायां भूतार्थम्, अथ च निर्विलक्षणस्वलक्षणैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। अथैवममीषु प्रमाणनयनिक्षेपेषु भूतार्थत्वेनैको जीव एव प्रद्योतते ।। १३।।

भाव ही भूतार्थ है। उन तीनों में प्रमाण सर्वप्रथम प्रमाण परोक्ष और प्रत्यक्ष इस प्रकार दो भेदवाला है। उन दोनों में जो उपात्त और अनुपात्त रूप पर पदार्थों के द्वारा प्रवृत्त होता है वह **परोक्ष प्रमाण** है। जो मात्र आत्मा के साथ नित्य संबंध रखता हुआ प्रवृत्त होता है, वह **प्रत्यक्ष प्रमाण** है। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय इनका भेदरूप से अनुभव किये जाने पर वे दोनों भी (परोक्ष और प्रत्यक्ष प्रमाण) भूतार्थ हैं। किन्तु जिसके समस्त भेदों का अभाव किया गया है ऐसे एकमात्र जीव स्वभाव का अनुभव किये जाने पर वे दोनों भी अभूतार्थ हैं। द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय इस प्रकार से दो भेद वाले नय हैं। उन दोनों में जो द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु में मुख्यतया द्रव्य का अनुभव कराता है वह **द्रव्यार्थिक नय** है और जो मुख्य रूप से पर्याय का अनुभव कराता है वह **पर्यायार्थिक नय** है। द्रव्य और पर्याय इनको पर्याय (भेद से) अनुभव किये जाने पर वे दोनों भी भूतार्थ हैं। किन्तु द्रव्य और पर्यायों के भेद से रहित शुद्ध वस्तु मात्र रूप जीव के स्वभाव का अनुभव किया जाने पर वे दोनों अभूतार्थ हैं। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से निक्षेप चार भेद वाला है। उनमें जिसका जो गुण नहीं है ऐसी वस्तु के विषय में जो संज्ञा की जाती है उस संज्ञाकरण को **नाम निक्षेप** कहते हैं। जिसमें स्थापना की जाती है उसमें 'वह यह है' इस प्रकार अन्य वस्तु की आकृति की जो प्रतिष्ठापना की जाती है उसको **स्थापना निक्षेप** कहते हैं। द्रव्य की वर्तमान पर्याय से जो भिन्न पर्याय होती है उसे **द्रव्य निक्षेप** कहते हैं। द्रव्य की वर्तमान पर्याय को **भाव निक्षेप** कहते हैं। अपने-अपने लक्षणों की विभिन्नता से उन चारों को जब अनुभूति में लाया जाता है तब वे चारों निक्षेप भूतार्थ-सत्यार्थ हैं, किन्तु भेद रहित एकमात्र जीवस्वभाव की अनुभूति होने पर वे चारों निक्षेप अभूतार्थ हैं। इस प्रकार प्रमाण, नय और निक्षेप इनमें भूतार्थ रूप से एक जीव ही प्रकट होता है।।१३।।

विशेष - इस टीकाखण्ड से सम्बन्धित प्रश्नोत्तर भी आगे ता.टी. १५ के बाद प्रश्न ४५ के बाद देखे।

नवपदार्थाधिकारः

अथ कश्चिदासन्नभव्यः पीठिकाव्याख्यानमात्रेणैव हेयोपादेयतत्त्वं परिज्ञाय विशुद्धज्ञान- दर्शनस्वभावं निजस्वरूपं भावयति। विस्तररुचिः पुनर्नवभिरधिकारैः समयसारं ज्ञात्वा पश्चाद्भावनां करोति। तद्यथा विस्तररुचिशिष्यं प्रति जीवादिनवपदार्थाधिकारैः समयसारव्याख्यानं क्रियते। तत्रादौ नवपदार्थाधिकारगाथाया आर्त्तरौद्रपरित्यागलक्षणनिर्विकल्पसामायिकस्थितानां यच्छुद्धात्मरूपस्य दर्शनमनुभवन-मवलोकन-मुपलब्धिः संवित्तिः प्रतीतिः ख्यातिरनुभूतिस्तदेव निश्चयनयेन निश्चयचारित्राविनाभाविनिश्चयसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं भण्यते। तदेव च गुणगुण्यभेदरूप निश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूपं भवतीत्येका पातनिका। अथवा नवपदार्था भूतार्थेन ज्ञाताः सन्तस्त एवाभेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वाद् व्यवहारसम्यक्त्वनिमित्तं भवन्ति, निश्चयनयेन तु स्वकीय शुद्धपरिणाम एव सम्यक्त्वमिति द्वितीया चेति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्ररूपयति-

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं।। ता.वृ.१५

(ता.टी.)

कोई आसन्न भव्य जीव इस पीठिका मात्र व्याख्यान से हेय-उपादेय तत्त्व को जानकर विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव वाले अपने स्वरूप को प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसमें तल्लीन रहता है, किन्तु विस्तार रुचिवाला जीव नव अधिकारों से प्रस्तुत किये जाने वाले समयसार को जानकर फिर आत्मभावना करता है। इसलिए विस्तार रुचि शिष्य को लक्ष्य में रखकर जीवादि नव अधिकारों से समयसार का व्याख्यान किया जाता है। वहाँ पर सबसे पहले नव पदार्थ के अधिकार रूप जो गाथा है, उस गाथा में आर्त्त-रौद्र का त्याग कर देना है लक्षण जिसका ऐसे निर्विकल्प सामायिक समाधि में स्थित रहने वाले जो जीव हैं उनको, जो शुद्धात्मा के स्वरूप का दर्शन है, अनुभवन है, अवलोकन है, उपलब्धि है, संवित्ति है, प्रतीति है, ख्याति है, अनुभूति है, वही निश्चयनय से निश्चय सम्यक्त्व या वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है, जो निश्चय चारित्र के साथ अविनाभाव रखता है अर्थात् उसे (वीतराग चारित्र को) साथ में लिये हुए रहता है और वही गुण-गुणी में अभेद रूप जो निश्चयनय है उससे शुद्धात्मा का स्वरूप कहा जाता है। इस प्रकार एक उत्थानिका हुई। अथवा जीवादि नव पदार्थ, जब भूतार्थ नय से जाने जाते हैं, तब ये ही भेद उपचार नय से सम्यक्त्व के विषय होने के कारण व्यवहार सम्यक्त्व के निमित्त होते हैं। निश्चयनय से अपने शुद्धात्मा का परिणाम ही सम्यक्त्व है। यह दूसरी पातनिका है। इस प्रकार दोनों पातनिकाओं को मन में रखकर आगे का सूत्र कहते हैं -

ये पुण्य, पाप अरु जीव, अजीव आदि, होते पदार्थ नव मानत साम्यवादी।
भूतार्थ से विदित हों जब ये पदार्थ, सम्यक्त्व के विषय हैं 'दृग' है यथार्थ।।१५।।

ता.टी. - भूदत्थेण भूतार्थेन निश्चयनयेन शुद्धनयेन अभिगदा अभिगता निर्णीता निश्चिता ज्ञाताः सन्तः। के ते? **जीवाजीवा य पुण्णपावं च आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य** जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षस्वरूपा नव पदार्थाः। **सम्मत्तं** त एवाभेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वात्कारणत्वात्सम्यक्त्वं भवन्ति। निश्चयेन परिणाम एव सम्यक्त्वमिति। नवपदार्थाः भूतार्थेन ज्ञाताः सन्तः सम्यक्त्वं भवन्तीत्युक्तं भवद्भिस्तत्कीदृशं भूतार्थपरिज्ञानमिति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह। यद्यपि नव पदार्थाः तीर्थवर्त्तनानिमित्तं प्राथमिकशिष्यापेक्षया भूतार्था भण्यन्ते तथाप्यभेदरत्नत्रय-लक्षणनिर्विकल्प-समाधिकाले अभूतार्था असत्यार्थाः शुद्धात्मस्वरूपं न भवन्ति। तस्मिन् परम- समाधिकाले नवपदार्थमध्ये शुद्धनिश्चयनयेनैक एव शुद्धात्मा प्रद्योतते प्रकाशते प्रतीयते अनुभूयत इति। या चानुभूतिः प्रतीतिः शुद्धात्मोपलब्धिः सा चैव निश्चयसम्यक्त्वमिति सा चैवानुभूतिर्गुण- गुणिनोर्निश्चयनयेनाभेद विवक्षायां शुद्धात्मस्वरूपमिति तात्पर्यम्। किं च ये च प्रमाणनयनिक्षेपाः। परमात्मादितत्त्वविचारकाले सहकारिकारणभूतास्तेऽपि सविकल्पावस्थायामेव भूतार्थाः। परमसमाधिकाले पुनरभूतार्थास्तेषु मध्ये भूतार्थेन शुद्धजीव एक एव प्रतीयते।। १५।। इति नव- पदार्थाधिकारगाथा गता।

अर्थ - निश्चयनय से निर्णय किये हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नव पदार्थ सम्यक्त्व कहे जाते हैं।

टीकार्थ- भूदत्थेण भूतार्थरूप निश्चयनय-शुद्धनय के द्वारा **अभिगदा** निर्णय किये हुए, निश्चय किये हुए, जाने हुए **जीवाजीवा य पुण्णपावं च आसवसंवरणिज्जरबंधोमोक्खो य** जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष स्वरूप जो नव पदार्थ हैं। वे ही **सम्मत्तं** अभेद उपचार के द्वारा सम्यक्त्व के विषय होने से सम्यक्त्व हैं, किन्तु अभेदरूप निश्चयनय से देखें, तब तो आत्मा का परिणाम ही सम्यक्त्व है। अब शिष्य कहता है कि भूतार्थनय के द्वारा जाने हुए नव पदार्थ सम्यक्त्व होते हैं, ऐसा जो आपने कहा उस भूतार्थ के ज्ञान का क्या स्वरूप है ? ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए प्रारम्भिक शिष्य की अपेक्षा से नव पदार्थ भूतार्थ कहे जाते हैं। फिर अभेदरत्नत्रय लक्षण निर्विकल्प समाधि के काल में वे अभूतार्थ असत्यार्थ ठहरते हैं, अर्थात् वे शुद्धात्मा के स्वरूप नहीं होते, किन्तु इस परम-समाधिकाल में तो उन नव पदार्थों में शुद्ध निश्चयनय से एक शुद्धात्मा ही झलकता है, प्रकाशित होता है, प्रतीति में आता है, अनुभव किया जाता है और जो वहाँ पर अनुभूति, प्रतीति अथवा शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है वही निश्चय सम्यक्त्व है। वह अनुभूति ही गुण और गुणी में निश्चयनय से अभेद विवक्षा करने पर शुद्धात्मा का स्वरूप है, ऐसा तात्पर्य है और जो प्रमाण, नय, निक्षेप हैं वे केवल परमात्मादि तत्त्व विचारकाल में सम्यक्त्व के सहकारी कारणभूत होते हैं। वे भी सविकल्प अवस्था में ही भूतार्थ हैं, परम समाधिकाल में तो फिर वे भी अभूतार्थ हो जाते हैं। उन सब में भूतार्थरूप से एक शुद्ध जीव ही प्रतीति में आता है।। १५।।

विशेषार्थ- आचार्यदेव के कहने का यहाँ पर सार यह है कि जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष तथा पुण्य व पाप ये नव पदार्थ प्रत्येक संसारी आत्मा के साथ लगे हुए हैं। ये सब आत्मा की ही भिन्न-भिन्न प्रकार की परिणतियाँ हैं जो प्रारम्भिक अवस्था में तो भिन्न- भिन्न जानकर स्वीकार की जाती हैं, किन्तु आगे चलकर निर्विकल्प अवस्था में ये सब ओझल होकर केवल एक शुद्धात्मा ही दृष्टिगोचर होता है, स्पष्ट प्रतीति में आता है वही उपादेय है। इस प्रकार यह नव पदार्थों के अधिकार की गाथा हुई।

आ.टी. एवं ता.टी. की प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. नव तत्त्व कौन से हैं ?

उत्तर- जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष ये नव तत्त्व हैं।

प्रश्न-२. ये नव तत्त्व कौन से नय के आश्रित हैं ?

उत्तर- व्यवहार नय के आश्रित हैं।

प्रश्न-३. यह व्यवहार नय कौन से शिष्यों की अपेक्षा से प्रयुक्त है ?

उत्तर- प्राथमिक शिष्यों की अपेक्षा से है, जिनका वर्णन पहले कर चुके हैं।

प्रश्न-४. यहाँ व्यवहार नय आश्रित का कथन क्यों किया है ?

उत्तर- तीर्थप्रवृत्ति के निमित्त से व्यवहार नय आश्रित तत्त्वों का कथन किया है।

प्रश्न-५. तीर्थप्रवृत्ति से यहाँ क्या अर्थ है ?

उत्तर- व्यवहार धर्म की निरन्तर उन्नति के लिए और उसकी प्रचार परम्परा के लिए तीर्थप्रवृत्ति होती है।

प्रश्न-६. क्या ये नव तत्त्व सम्यग्दर्शन के निमित्त हैं ?

उत्तर- हाँ! ये नव तत्त्व (या पदार्थ) अभेद उपचार से (कारण में कार्य का उपचार करने से) सम्यक्त्व के विषय होने से तथा सम्यक्त्व के कारण होने से सम्यक्त्व ही हैं। (ता.टी.)

प्रश्न-७. ये नव तत्त्व भूतार्थ हैं या अभूतार्थ हैं ?

उत्तर- यद्यपि नव पदार्थ तीर्थवर्तना के निमित्त प्राथमिक शिष्य की अपेक्षा भूतार्थ कहे जाते हैं फिर भी अभेद रत्नत्रय लक्षण वाली निर्विकल्प समाधि के काल में अभूतार्थ (असत्यार्थ) हो जाते हैं। (ता.टी.) ये नव तत्त्व जीव द्रव्य के ज्ञायक भाव रूप एक स्वभाव को छोड़कर जब स्व-पर प्रत्यय (उपादान और निमित्त कारण) से एक आत्म द्रव्य की पर्यायपने से अनुभूति का विषय बनाये जाते हैं तब भूतार्थ होते हैं। जब तीन कालों में अस्खलित एक ज्ञायक जीव द्रव्य स्वभाव को लेकर अनुभूति का विषय बनाये जाते हैं तो वे अभूतार्थ होते हैं क्योंकि उस समय इन नव तत्त्वों में एक अर्थ को अपना विषय बनाने वाले निश्चय नय से एक जीव ही प्रकट हो जाता है। (आ.टी.)

इस प्रकार सिद्ध होता है कि ये नव तत्त्व व्यवहार नय से भूतार्थ हैं तथा निश्चय नय में एक ज्ञायक स्वभाव रूप शुद्ध आत्मा की अनुभूति होने पर ये अभूतार्थ हो जाते हैं।

प्रश्न-८. 'भूतार्थ से जाने हुए' इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर- भूतार्थ नय से यानी निश्चय नय से एकत्व को स्वीकार कर जिसका शुद्ध नय के रूप से निर्णय किया गया है ऐसी आत्मा की अनुभूति हो जाने से ये नव तत्त्व भूतार्थ रूप से जाने हुए हैं। (ता.टी.) अर्थात् जिन्होंने भूतार्थ से आत्मानुभूति की है उन्होंने ही इन नव तत्त्वों को कहा है।

प्रश्न-९. भूतार्थ से सम्यक्त्व क्या है ?

उत्तर- परम समाधि काल में नव पदार्थों में जब शुद्ध निश्चय नय से एक आत्मा प्रकट होती है या प्रकाशित होती है या प्रतीति में आती है या अनुभव की जाती है तब जो अनुभूति है, या प्रतीति है, या शुद्ध आत्मा की उपलब्धि है वही निश्चय सम्यक्त्व है। इससे स्पष्ट है कि भूतार्थ से आत्मा का एक परिणाम ही सम्यक्त्व है। (ता.टी.)

प्रश्न-१०. नव तत्त्वों में सम्यग्दर्शन का कथन उपचार क्यों है ?

उत्तर- चूंकि सम्यग्दर्शन आत्मा का परिणाम है, वह निश्चय से जीवस्वरूप है किन्तु कारण रूप नव तत्त्वों में कार्य रूप निश्चय सम्यग्दर्शन का उपचार किया जाता है जिससे नव तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

प्रश्न-११. तो क्या नव तत्त्वों से होने वाला पदार्थ आत्मा का परिणाम नहीं होता है ?

उत्तर- ऐसा नहीं कहा है। नव तत्त्वों के श्रद्धान से होने वाला सम्यग्दर्शन भी आत्मपरिणाम रूप होता है किन्तु नव तत्त्व एक जीव रूप नहीं हैं। वे नव तत्त्व जीव-अजीव दोनों रूप होते हैं। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में आचार्य अमृतचन्द्र जी ने कहा है-

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताऽभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ।। २२ ।।

अर्थात्- विपरीत अभिनिवेश से रहित जीव-अजीव आदि तत्त्वार्थों का श्रद्धान सदैव करना चाहिए वह सम्यग्दर्शन आत्मरूप है।

प्रश्न-१२. पहले भूतार्थ नय से सम्यग्दर्शन होता है या अभूतार्थ नय से ?

उत्तर- सर्व प्रथम अभूतार्थ नय से सात या नव तत्त्वों का श्रद्धान होने से व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है। यह व्यवहार सम्यग्दर्शन कारण रूप है। बाद में कार्य रूप निश्चय सम्यग्दर्शन होता है।

प्रश्न-१३. इस व्यवहार सम्यग्दर्शन में क्या आत्मा में औपशमिक आदि सम्यग्दर्शन घटित होते हैं?

उत्तर- नव तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान से जो आत्मा में औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है, वह व्यवहार सम्यग्दर्शन ही होता है।

प्रश्न-१४. तत्त्व का श्रद्धान सम्यग्दर्शन में निमित्त कारण है या सम्यग्दर्शन होने पर यथार्थ श्रद्धान होता है?

उत्तर- जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आदि इन नव पदार्थों का जैसा स्वरूप है, उस स्वरूप से ही जब वे जाने जाते हैं तब उनके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान सम्यक्त्व की उत्पत्ति में निमित्त कारण पडता है। सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय और सम्यक्त्वोत्पत्ति के बाद में इन तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान बना रहता है। इसे ही व्यवहार सम्यग्ज्ञान के साथ व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं।

प्रश्न-१५. इस व्यवहार सम्यग्दर्शन में भी आत्म दर्शन होता है तभी तो उसे शुद्ध नय से शुद्ध आत्मा का दर्शन होने पर निश्चय सम्यग्दर्शन कहा जाता है ?

उत्तर- ऐसा नहीं है, व्यवहार सम्यग्दर्शन में आत्मा का दर्शन नहीं होता है; क्योंकि दर्शन, अनुभूति, प्रतीति, उपलब्धि ये सभी एकार्थवाची शब्द हैं जो प्रश्न संख्या ९ में कहा है। व्यवहार सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा का यथार्थ श्रद्धान करता है। शुद्ध नय से आत्मा शुद्ध स्वरूप एक ज्ञायक मात्र स्वभाव वाला है, यह उसके लिए श्रद्धान होता है। शुद्ध नय से होने वाला शुद्धात्मा का दर्शन उसी श्रद्धा, ज्ञान और निरन्तर भावना का विषय बनता है। उसे यही श्रद्धान रहता है कि शुद्ध नय से इस शुद्ध आत्मा की अनुभूति या दर्शन तो निश्चय सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय ही होगा। इसलिए आत्मा का यथार्थ श्रद्धान और उसका यथार्थ दर्शन इन दोनों में कारण, कार्य का अन्तर है। यह कारण कार्य क्रमवर्ती है, सहवर्ती नहीं है।

प्रश्न-१६. क्या इन तीन सम्यग्दर्शन में भी कोई क्रम है ?

उत्तर- हाँ है। सर्व प्रथम अनादि मिथ्यादृष्टि को उपशम सम्यक्त्व ही प्राप्त होगा। उसके बाद ही क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन हो सकता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन तो नियम से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व पूर्वक ही होता है।

प्रश्न-१७. क्षायिक सम्यग्दर्शन में तो सात प्रकृतियों का क्षय हो गया है, जिससे वहाँ आत्मा का सम्यग्दर्शन हो गया है, फिर उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन क्यों कहा जाए ?

उत्तर- क्षायिक सम्यग्दर्शन में सात प्रकृतियों का क्षय हो गया है, जिससे आत्मा का श्रद्धान क्षायिक हुआ है न कि आत्मा का दर्शन प्रकट हो गया है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव से आत्मा के श्रद्धा गुण का विपरीत परिणमन सम्यक् हो जाता है, सभी गुणों का नहीं। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव तो उपशम सम्यक्त्व में भी है। अन्तर इतना है कि उपशम दशा मात्र अन्तर्मुहूर्त के लिए है और क्षायिक दशा अनन्तकाल के लिए है। सम्यक्त्व की पर्याय जो आत्मा में उत्पन्न हुई है, वह एक सी है और इन दोनों सम्यक्त्व की विशुद्धि भी समान है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि को अभी अविरत दशा में आत्मा का दर्शन नहीं होता है। हाँ आगे नियम से होगा। इसलिए उपचार से उसको निश्चय दर्शन भले ही कह दो जैसे कि राजा के पुत्र को राजा कहना। वस्तुतः क्षायिक सम्यग्दृष्टि भरत आदि का सम्यग्दर्शन व्यवहार सम्यग्दर्शन ही है। **परमात्म प्रकाश** की टीका में स्पष्ट कहा है कि -

शुद्धात्मभावनाच्युताः सन्तः भरतादयो ..... शुभरागयोगाद् सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति। या पुनस्तेषां सम्यक्त्वस्य निश्चयसम्यक्त्व संज्ञा वीतरागचारित्राविनाभूतस्य निश्चयसम्यक्त्वस्य परम्परया साधकत्वादिति। वस्तुवृत्त्या तु तत्सम्यक्त्वं सराग सम्यक्त्वाख्यं व्यवहारसम्यक्त्वमेवेति भावार्थः। पृ. १३३

अर्थ- शुद्धात्मा की भावना से रहित हुए वे भरत आदि निर्दोष परमात्मा अरहन्त, सिद्धों के गुणस्तवन, वस्तु स्तवन, रूप स्तवन आदि स्तोत्र करते हैं और उनके चरित्र, पुराण आदि को सुनते हैं। तथा इनके आराधक आचार्य, उपाध्याय, साधुजनों की भक्ति से दान, पूजा आदि करते हैं। यह शुभ कार्य विषय, कषाय, दुर्ध्यान से बचने के लिए और संसार की स्थिति का छेद करने के लिए होता है। इसी कारण शुभ राग का योग होने से वे सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं, फिर इन महापुरुषों के सम्यक्त्व की जो निश्चय संज्ञा दी जाती है, वह वीतराग चारित्र के अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्व का परम्परा से साधक होने के कारण होती है। वस्तुतः तो उनका सम्यक्त्व सराग सम्यक्त्व नाम का व्यवहार सम्यक्त्व ही है। इससे स्पष्ट है कि भरत आदि का वस्तुतः निश्चय से सराग सम्यक्त्व है, उन्हें उसी पर्याय में नियम से वीतराग सम्यक्त्व मुनि अवस्था में प्राप्त होगा। इसलिए परम्परा से साधक होने के कारण उपचार से वीतराग सम्यक्त्व कह दिया जाता है; क्योंकि क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव नियम से मुनिव्रत धारण कर वीतराग सम्यग्दृष्टि बनेंगे।

प्रश्न-१८. क्या पुण्य, पाप दोनों तत्त्व चेतनाचेतनात्मक दोनों पदार्थ रूप हैं, यदि हाँ तो कैसे ?

उत्तर- हाँ! पुण्य, पाप दोनों पदार्थ (या तत्त्व) दोनों रूप हैं।

तत्र विकार्यविकारोभयं पुण्यं तथा पापं (आ.टी.) इन नव तत्त्वों में पुण्य भी विकार्य-विकारक दोनों प्रकार का है तथा पाप भी विकार्य-विकारक दोनों प्रकार का है।

प्रश्न-१९. विकार्य तथा विकारक कौन सा पदार्थ है और कैसे ?

उत्तर- नैमित्तिक भावभूत शुभ-अशुभ परिणाम के रूप से परिणत होने की योग्यता से या शक्ति से युक्त होने से जीव विकार्य है। विकार्य अर्थात् विकारी होने योग्य। यह योग्यता जीव पदार्थ में है। तथा शुभ-अशुभ परिणामात्मक विकार उत्पन्न करने के योग्य परिणति क्रिया का आश्रय होने से द्रव्य कर्म विकारक है। यह योग्यता पुद्गल कर्म पदार्थ में है।

प्रश्न-२०. इस विकार्य-विकारक भाव को और क्या संज्ञा दी जा सकती है ?

उत्तर- विकार्य जीव को भाव रूप पुण्य-पाप का कर्त्ता कह सकते हैं और विकारक कर्म को द्रव्य रूप पुण्य-पाप का कर्त्ता कहा जाता है। अर्थात् भाव पुण्य- जीव, विकार्य है। द्रव्य पुण्य- कर्म विकारक है तथा भाव पाप- जीव विकार्य है तथा द्रव्य पाप- कर्म विकारक है।

प्रश्न-२१. इनमें से किसी एक का अभाव होने पर पुण्य-पाप पदार्थ संज्ञा बन सकती है ?

उत्तर- नहीं। विकार्य-विकारक में से किसी भी एक का अभाव होने पर ये पुण्य-पाप पदार्थ बन ही नहीं सकते हैं।

प्रश्न-२२. इन उभयात्मक पदार्थों में कौन सा सम्बन्ध यहाँ ग्राह्य है ?

उत्तर- निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध यहाँ ग्राह्य है। यह सम्बन्ध चेतनाचेतनात्मक दोनों द्रव्यों के परस्पर निमित्त से होता है।

प्रश्न-२३. क्या इसमें उपादान-निमित्त कर्तृत्व भी घटित होता है ?

उत्तर- हाँ, अवश्य घटित होता है। गौण- मुख्य की विवक्षा में जीव और पुद्गल कर्म दोनों मे उपादान - निमित्त कर्तृत्व बन जाता है। जीव जब निमित्त कर्त्ता होता है तब उपादान कर्तृत्व गौण होता है और जब वह उपादान कर्त्ता होता है तब उसका निमित्त कर्तृत्व गौण होता है। जैसे जीव के शुभ-अशुभ परिणामों के निमित्त से जब पुद्गल कर्म का बंध हुआ तो उस कर्म में पुण्य-पाप रूप भाव शक्ति पड.गयी। इस समय पर जीव निमित्तकर्त्ता है। इसका उपादान कर्तृत्व गौण है। जब पुण्य-पाप द्रव्य कर्म के उदय में जीव पुण्य-पाप रूप शुभ-अशुभ परिणाम करता है तब उस जीव का उपादान कर्तृत्व मुख्य होता है तथा निमित्त कर्तृत्व गौण होता है। इस तरह परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध चलता रहता है। आगे भी यथायोग्य इसी तरह जानना।

प्रश्न-२४. आस्रव पदार्थ दोनों प्रकार का कैसे होता है ?

उत्तर- आस्राव्यास्रावकोभयं आस्रवः (आ.टी.) आस्रव होने योग्य है और आस्रव करने वाला ऐसे आस्राव्य और आस्रावक दोनों रूप आस्रव तत्त्व है।

प्रश्न-२५. आस्राव्य और आस्रावक जीव तथा कर्म किस तरह होता है ?

उत्तर- द्रव्य कर्म के आस्रव के निमित्त पडऩे वाले मिथ्यादर्शन आदि रूप से परिणत होने की योग्यता से युक्त जीव आस्राव्य होता है और मिथ्यादर्शन आदि रूप जीव परिणति में निमित्त बनने वाला द्रव्य कर्म आस्रावक होता है।

प्रश्न-२६. क्या इन दोनों में से किसी एक का अभाव होने पर आस्रव पदार्थ का अस्तित्व बन सकता है ?

उत्तर- नहीं, आस्राव्य और आस्रावक इन दोनों में से किसी एक का अभाव होने पर अवशिष्ट एक के सहारे से आस्रव तत्त्व अस्तित्व रूप नहीं बन सकता है।

प्रश्न-२७. संवर पदार्थ (तत्त्व) दोनों प्रकार का कैसे होता है ?

उत्तर- संवार्यसंवारकोभयं संवरः - (आ.टी.) संवर होने योग्य संवार्य तथा संवर करने वाला संवारक ऐसे इन दोनों रूप संवर तत्त्व है।

प्रश्न-२८. संवार्य तथा संवारक का स्वरूप स्पष्ट करें ?

उत्तर- मिथ्यादर्शन आदि संज्ञा वाले द्रव्य कर्मों के आगमन को रोकने में समर्थ गुप्ति, समिति आदि रूप से परिणत जीव संवारक होता है। गुप्ति आदि रूप जीव परिणाम के निमित्त पडऩे पर जो द्रव्य कर्म रुकने की योग्यता रखता है, वह द्रव्य कर्म संवार्य होता है।

प्रश्न-२९. इनमें से किसकी संवर संज्ञा है ? क्या किसी एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व संभव है?

उत्तर- इनमें से किसी एक की संवर संज्ञा न होकर दोनों की संवर संज्ञा होती है। किसी एक का संवर परिणाम नहीं होता है। किसी एक का अभाव होने पर दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं है।

प्रश्न-३०. निर्जरा तत्त्व दोनों प्रकार का कैसे होता है ?

उत्तर- निर्जर्य-निर्जरकोभयं निर्जरा (आ.टी.) निर्जरा होने योग्य द्रव्य कर्म और निर्जरा करने वाला जीव पदार्थ इन दोनों रूप निर्जरा तत्त्व है।

प्रश्न-३१. निर्जर्य और निर्जरक का स्वरूप क्या है ?

उत्तर- धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान रूप तप के द्वारा एकदेश क्षीण होने की योग्यता से युक्त होने के कारण द्रव्य कर्म निर्जर्य होता है तथा धर्म ध्यान रूप तप परिणाम को करने वाला जीव द्रव्य निर्जरक होता है।

प्रश्न-३२. इनमें से किसकी निर्जरा संज्ञा है ? क्या किसी एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व संभव है ?

उत्तर- इनमें से किसी एक की नहीं अपितु निर्जर्य और निर्जरक इन दोनों की निर्जरा संज्ञा है। एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं है।

प्रश्न-३३. बंध तत्त्व दोनों प्रकार का कैसे होता है ?

उत्तर- बंध्य बंधकोभयं बंधः (आ.टी.)- बंध होने योग्य और बंध करने वाला ऐसे बंध्य और बंधक इन दोनों रूप बंध तत्त्व है।

प्रश्न-३४. बंध्य और बंधक का स्वरूप क्या है ?

उत्तर- बद्ध होने की योग्यता से युक्त होने से जीव बन्ध्य होता है और द्रव्य कर्म बन्धक होता है।

प्रश्न-३५. इनमें से किसकी बंध संज्ञा है ? क्या किसी एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व संभव है ?

उत्तर- बंध्य और बंधक इन दोनों की ही बंध संज्ञा है। एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं है।

प्रश्न-३६. मोक्ष तत्त्व दोनों प्रकार का कैसे होता है ?

उत्तर- मोच्यमोचकोभयं मोक्षः - (आ.टी.) - मुक्त होने योग्य और मुक्त होने वाला ऐसे मोच्य और मोचक इन दोनों रूप मोक्ष तत्त्व है।

प्रश्न-३७. मोच्य और मोचक का स्वरूप क्या है ?

उत्तर- चतुर्थ शुक्ल ध्यान में लीन और चौदहवें अयोग केवली गुणस्थान के अन्त समयवर्ती मुक्त होने की योग्यता वाला जीव मोच्य होता है और जीव को अलग होने देने वाला द्रव्य कर्म मोचक होता है।

प्रश्न-३८. इनमें से किसकी मोक्ष संज्ञा है ? क्या एक के बिना दूसरे का अस्तित्व संभव है ?

उत्तर-मोक्ष न केवल जीव तत्त्व का होता है और न केवल द्रव्य कर्म का ही। ऐसे उभयाश्रित जीव और द्रव्य कर्म की परिणति होने से दोनों की मोक्ष यह संज्ञा है। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व संभव नहीं है। इसलिए मोक्ष तत्त्व बंध तत्त्व की तरह उभयाश्रित होता है।

प्रश्न-३९. जब दोनों रूप तत्त्व है और परस्पर में निमित्त-नैमित्तिक संबंध है तो विकार्य-विकारक भाव में जीव को विकार्य ही क्यों कहा है, द्रव्य कर्म भी विकार्य और जीव भी विकारक हो सकता है, इसी तरह आस्राव्य- आस्रावक में भी घटित करना चाहिए ?

उत्तर- आपका कथन सत्य है। दोनों तरह से विकार्य-विकारक आदि भाव घटित होने में कोई बाधा नहीं है। तद्यथा-

१. कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल में कर्म रूप परिणति का उत्पादक होने से जीव विकारक भी होता है और जीव के परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य कर्म में तद् योग्य भाव शक्ति आ जाने से पुद्गल कर्म विकार्य भी हो जाता है।

२. जीव के प्रति आने की योग्यता से युक्त होने से द्रव्य कर्म आस्राव्य होता है और मिथ्यादर्शन आदि रूप जीव के विभाव परिणाम जीव के लिए द्रव्य कर्म के आगमन का निमित्त कारण होने से जीव आस्रावक भी होता है।

३. गुप्ति समिति आदि परिणामों से युक्त जीव आगामी कर्मों को रोकने की क्रिया के योग्य होने से जीव संवार्य भी होता है और उन गुप्ति आदि परिणामों से स्वयमेव रोकने वाला होने से द्रव्य कर्म आत्मा के प्रति नहीं आता है इसीलिए संवारक भी होता है।

४. अपने परिणामों से द्रव्य कर्मों का एकदेश क्षय करने की सामर्थ्य से युक्त जीव निर्जर्य (निर्जरा के योग्य) भी होता है और एक देश क्षय की क्रिया का आधार द्रव्य कर्म होता है। इसलिए द्रव्य कर्म निर्जरक भी होता है।

५. कर्म बन्ध के योग्य द्रव्य कर्म बन्ध्य भी होता है तथा जीव स्वयं ही निमित्त कर्त्ता बनकर द्रव्य कर्मों का बन्ध करता है, इसलिए जीव बन्धक होता है।

६. कर्म से मुक्त होने के लिए शुक्ल ध्यान रूप परिणत जीव स्वयं मोचक होता है और उस ध्यान से ही आत्मा से पृथक् होने की योग्यता से युक्त होने से द्रव्य कर्म मोच्य (छूटने योग्य) होता है।

इस तरह पुण्य-पाप आदि तत्त्व दोनों रूप होते हैं, किसी एक के नहीं होते हैं।

प्रश्न-४०. जीव-अजीव का परस्पर यह निमित्त-नैमित्तिक संबंध तो व्यवहार से है और व्यवहार नय से होने से वह अभूतार्थ ही है ?

उत्तर- ऐसा नहीं है। स्वयं आचार्य अमृतचन्द्र जी ने अपनी आ.टी. में इन सभी तत्त्वों को दोनों रूप स्वीकार किया है, यह तो कह ही चुके हैं। आगे और भी कहा है कि- 'नव तत्त्वानि अमूनि

अपि जीवद्रव्यस्वभावं अपोह्य स्व-परप्रत्ययैकद्रव्यपर्यायत्वेन अनुभूयमानतायां भूतार्थानिफ अर्थात् ये नव तत्त्व भी जीव द्रव्य के स्वभाव को छोडक़र स्व-पर प्रत्यय से एक द्रव्य की पर्यायपने से अनुभूति का विषय बनाये जाते हैं तब भूतार्थ होते हैं, यह सिद्ध है।

प्रश्न-४१. तो क्या ये नव तत्त्व सर्वथा भूतार्थ ही होते हैं ?

उत्तर- नहीं, स्याद्वाद शासन मे ंसर्वथा कोई भी तथ्य नहीं होता है। नयों की अपेक्षा से मुख्य-गौण की विवक्षा से ही कथन किया जाता है। नयों को सम्यक् जानने वाले आचार्य तो दोनों नयों की बराबर प्ररूपणा करते हैं किन्तु एकान्ती लोग एक नय की मुख्यता से ही कथन करते हैं और दूसरों को समझाते हैं। आ.टी. में भी इन दोनों नयों को समुचित प्रयुक्त किया है। जो नव तत्त्व व्यवहार नय से भूतार्थ हैं वे ही जब जीव के एक स्वभाव को प्राप्त करके अनुभव में लाये जाते हैं तो निश्चयनय की अपेक्षा शुद्ध एकात्मक ज्ञायक भाव की अनुभूति में अभूतार्थ हो जाते हैं, सर्वथा नहीं।

प्रश्न-४२. आ.टी. में लिखा है कि बाह्य दृष्टि से जीव और पुद्गल की अनादि बन्ध पर्याय की अपेक्षा नव तत्त्व भूतार्थ हैं किन्तु अन्तर्दृष्टि से जीव के एक ज्ञायक स्वभाव की अपेक्षा एक जीव ही भूतार्थ है। यहाँ बाह्य दृष्टि और अन्तर्दृष्टि से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर- बाह्य दृष्टि से तात्पर्य अशुद्ध निश्चय नय या व्यवहार नय से है, जो जीव को कर्म के औपाधिक भावों से सहित ग्रहण करता है। अन्तर्दृष्टि से तात्पर्य शुद्ध निश्चय नय से है जो जीव के शुद्ध ज्ञायक स्वभाव को ग्रहण करता है।

प्रश्न-४३. इस जीव को विकारी बनाने वाला तत्त्व कौन सा है ?

उत्तर- जीवस्य विकारहेतु रजीवः (आ.टी.) - जीव को विकारी (संसारी) बनाने वाला तत्त्व अजीव है।

प्रश्न-४४. पुण्य, पाप आदि केवल जीव के विकार हैं। ऐसा आ.टी० में कहा है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर- जो भाव रूप पुण्य, पाप आदि पदार्थ हैं, वे जीव के विकार हैं। अर्थात् भाव पुण्य, भाव पाप, भाव आस्रव, भाव संवर, भाव निर्जरा, भाव बंध, भाव मोक्ष ये सात तत्त्व केवल जीव के विकार हैं। (आ.टी.)

प्रश्न-४५. जीव के विकार के हेतु क्या हैं ?

उत्तर- केवला जीवविकारहेतवः पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षा इति- (आ.टी.) अर्थात् केवल जीव के विकार के हेतु पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष हैं। इन्हें द्रव्य-पुण्य, द्रव्य-पाप, द्रव्य-आस्रव आदि पुद्गल कर्मगत सात पदार्थ जानना। (आगे के प्रश्न
प्र. ७८-८८ पर जो आत्मख्याति टीका खण्ड है उससे सम्बन्धित हैं।)

प्रश्न-७ एक स्वरूप से प्रकाशमान इस आत्मा को जानने के उपाय क्या हैं और वे उपाय किस स्वरूप हैं?

उत्तर- एक स्वरूप से प्रकाशमान उस आत्मा को जानने के तीन उपाय हैं। प्रमाण, नय और निक्षेप। वे उपाय भी वास्तव में अभूतार्थ हैं। उनमें एक जीव ही भूतार्थ है। (आ.टी.)

प्रश्न-८ प्रमाण का स्वरूप भेद सहित समझाइये ?

उत्तर- प्रमाण परोक्ष और प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का है। उसमें उपात्त और अनुपात्त के द्वारा प्रवर्तन करने वाला परोक्ष प्रमाण है। (आ.टी.)

प्रश्न-९ उपात्त, अनुपात्त से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर- उपात्त अर्थात् शरीर से जुडी इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान। इन्द्रिय और मन आत्मा से उपात्त सम्बन्ध को प्राप्त है इसलिए मतिज्ञान, श्रुतज्ञान उपात्त परोक्ष प्रमाण हैं। शरीर से भिन्न प्रकाश, पुस्तक, गुरु आदि अनुपात्त हैं। इनके निमित्त से होने वाला ज्ञान अनुपात्त परोक्ष ज्ञान है।

प्रश्न-१० प्रत्यक्ष प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर- केवलमात्मप्रतिनियतत्वेन प्रवर्तमानं प्रत्यक्षं (आ.टी.) अर्थात् केवल आत्मा के आलंबन से रहने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रश्न-११ ये दोनों प्रमाण भूतार्थ हैं या अभूतार्थ हैं ?

उत्तर- ये दोनों ही प्रकार के प्रमाण प्रमाता (आत्मा), प्रमाण (ज्ञान) और प्रमेय (ज्ञेय) इन भेद रूप से अनुभव किए जाने पर भूतार्थ हैं और समस्त भेदों से रहित एक मात्र जीव के स्वभाव का अनुभव किए जाने पर अभूतार्थ हैं। (आ.टी.)

प्रश्न-१२ नय के मुख्य भेद कितने हैं ?

उत्तर- नय के मुख्य भेद दो हैं। १- द्रव्यार्थिक नय २- पर्यायार्थिक नय

प्रश्न-१३ द्रव्यार्थिक नय किसे कहते हैं ?

उत्तर- द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति द्रव्यार्थिकः (आ.टी.)- वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है। उसमें मुख्य रूप से द्रव्य का जो अनुभव कराता है वह द्रव्यार्थिक नय है।

प्रश्न-१४ पर्यायार्थिक नय किसे कहते हैं ?

उत्तर- पर्यायं मुख्यतयानुभावयतीति पर्यायार्थिकः (आ.टी.)- उसी वस्तु में पर्याय का मुख्यतया से जो अनुभव कराता है वह पर्यायार्थिक नय है।

प्रश्न-१५ इन नयों से आत्मा को जानना भूतार्थ है या अभूतार्थ ?

उत्तर- इन द्रव्य और पर्याय दोनों का पर्याय (भेद) रूप से अनुभव होने पर ये दोनों नय भी भूतार्थ हैं किन्तु इन द्रव्यपर्याय से रहित शुद्ध वस्तु मात्र जीव स्वभाव का अनुभव करने पर ये दोनों नय अभूतार्थ हैं।

प्रश्न-१६ निक्षेप के भेद कितने हैं, लक्षण सहित समझाइये ?

उत्तर- नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से निक्षेप चार प्रकार का है।

अथ परंज्योतिषि प्रकाशिते सति नयादीनां वैयर्थ्यं स्पष्टयति-

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रं।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।।९।।

नाम निक्षेप- उस गुण से रहित वस्तु में वह 'संज्ञा' करना नाम निक्षेप है।

स्थापना निक्षेप- 'यह वही है' इस प्रकार से अन्य वस्तु में उसके प्रतिनिधि की व्यवस्था करना स्थापना निक्षेप है।

द्रव्य निक्षेप- वर्तमान की उस पर्याय से भिन्न वस्तु द्रव्य निक्षेप है।

भाव निक्षेप- वर्तमान की उस पर्याय से सहित वस्तु भाव निक्षेप है। (आ.टी.)

प्रश्न-१७ इन चारों निक्षेप से आत्मा को जानना भूतार्थ है या अभूतार्थ ?

उत्तर- ये चारों ही अपने-अपने लक्षण की भिन्नता से अनुभव में आने पर भूतार्थ हैं किन्तु अपने-अपने लक्षण से विलक्षण (भिन्न) रहित अभेद एक जीव स्वभाव के अनुभव में आने पर ये निक्षेप अभूतार्थ हो जाते हैं।

प्रश्न-१८ निश्चय सम्यक्त्व किसे कहते हैं ?

उत्तर- आर्त्त, रौद्र ध्यान के परित्याग लक्षण रूप निर्विकल्प समाधि (सामायिक) में स्थित जो शुद्ध आत्मा के स्वरूप का दर्शन, अवलोकन, अनुभवन, उपलब्धि, संवित्ति, प्रतीति, ख्याति, अनुभूति है वह ही निश्चय नय से निश्चय चारित्र का अविनाभावी (अर्थात् निश्चय चारित्र के बिना नहीं होने वाला) निश्चय सम्यक्त्व कहलाता है। इसी को वीतराग सम्यक्त्व कहा जाता है। (ता.टी.)

उत्थानिका - अब परम ज्योति के प्रकाशित हो जाने पर नय आदि का कोई कार्य नहीं रह जाता है, यह कहते हैं-

अन्वयार्थ- (सर्वंकषे अस्मिन् धाम्नि अनुभवं उपयाते) सम्पूर्ण तेजों को नीचा कर देने वाले इस आत्मानुभव के तेज का अनुभव आने पर (प्रमाणं अस्तं ऐति) प्रमाण अस्त हो जाता है (नयश्री: न उदयति) नयों की लक्ष्मी का उदय नहीं होता(निक्षेप चक्रं) निक्षेपों का समूह (क्वचित् याति) कहाँ चला जाता है, (इत्यपि न विद्म:) हम यह भी नहीं जानते। (अपरम् किम् अभिदध्म:) और ज्यादा क्या कहें उस समय (द्वैतमेव न भाति) दूसरा कोई पदार्थ सामने नहीं आता। आत्मा ही प्रतिभासित होता है। ।।९।।

अर्थ- आत्मा का ज्ञानरूप तेज जब प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा अनुभव किया जाता है तब ज्ञान की नय स्वरूप लक्ष्मी उत्पन्न नहीं होती। प्रमाण भी छिप जाता है। निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है, यह हम नहीं जान पाते हैं। अधिक क्या कहें? आत्मा के द्रव्य पर्यायात्मक द्वैत का ही अनुभव नहीं होता है।।९।।

सं. टी.-अस्मिन्परात्मलक्षणे, धाम्नि-ज्योतिषि, सर्वंकषे-सर्वं-लोकालोकं, कषति- त्रासमानं करोति जानातीति लक्षणया धातूनामनेकार्थत्वात् सर्वंकषः 'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः' इति खश्प्रत्ययविधानात्। अनुभवं-स्वानुभवप्रत्यक्षं, उपयाते-प्राप्ते सति, नयश्रीः नया द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाः -नैगमादयः, तेषां श्रीः, न उदयति उदयं न प्राप्नोति नयानां परमात्मन्यधिकाराऽयोगात् बाह्यवस्तुप्रकाशकत्वाच्च, पुनस्तस्मिन् प्रकाशिते, प्रमाणं-प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन तत्प्रमाणं-स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं, तच्च द्वैधं-प्रत्यक्षपरोक्षभेदात्। तत्र विशदं प्रत्यक्षं, तच्च द्वेधा साकल्यवैकल्यभेदात्। साकल्यं केवलज्ञानं, सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणत्वात्। वैकल्यं-अवधिमनःपर्ययभेदाद् द्वेधा। इन्द्रियप्रत्यक्षं सांव्यवहारिकं स्पर्शनादींद्रियभेदात्, षोढा। तच्च प्रत्येकं-अवग्रहेहावायधारणाभेदाच्चतुर्धा तच्च बहुबहुविधादिद्वादशविषयभेदात्, षट्त्रिंशदधिकत्रिंशतभेदभिन्नं। परोक्षं-स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदाद् बहुधा, एतद्द्विविधलक्षणं प्रमाणमस्तंगतमेति प्रमाणानां तत्प्राप्तिनिमित्तत्वात् तत्प्राप्ते वैयर्थ्याच्च। च पुनः, निक्षेपचक्रं-निक्षेपस्तु

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. नय, प्रमाण और निक्षेपों का समूह किस अवस्था में जानने में नहीं आता है ?

उत्तर- समस्त लोकालोक को जानने वाली परमात्म लक्षण स्वरूप ज्योति का स्वानुभव प्रत्यक्ष हो जाने पर इन नय, प्रमाण आदि का अनुभव नहीं होता है।

प्रश्न-२. यह दशा किनको प्राप्त होती है ?

उत्तर- निर्विकल्प समाधि में ज्ञायक स्वभाव वाली पर्याय रहित शुद्ध आत्मा का अनुभव करने वाले अभेद रत्नत्रय में परिणत मुनिराजों को इस दशा की प्राप्ति होती है।

प्रश्न-३. परमात्म ज्योति के अनुभव होने पर नय उदय को प्राप्त नहीं होते हैं, इसका क्या अर्थ है?

उत्तर- परम केवलज्ञान ज्योति के स्वानुभव प्रत्यक्ष को प्राप्त कर लेने पर द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नय प्राप्त नहीं होते हैं। उसके दो कारण हैं-

१. नयानां परमात्मन्यधिकाराऽयोगात् - क्योंकि नय परमात्मा के स्वरूप को जानने के अधिकारी नहीं हैं अर्थात् नयों में स्वतः परमात्मा के स्वरूप को जानने की स्वतः क्षमता नहीं होती है ।

२. बाह्य वस्तु प्रकाशकत्वाच्च - दूसरी बात यह है कि नय बाह्य वस्तु के प्रकाशक होते हैं। (प.अ.त.)

प्रश्न-४. नय का अनुभव न होवे किन्तु स्वानुभव प्रत्यक्ष में प्रमाण क्यों अस्त हो गया?

उत्तर- प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण दोनों ही प्रमाण स्वानुभव प्रत्यक्ष होने पर प्रकट नहीं होते हैं क्योंकि-प्रमाणानां तत्प्राप्तिनिमित्तत्वात् तत्प्राप्ते वैयर्थ्याच्च (प.अ.त.)

नामस्थापनाद्रव्यभावभेदतश्चतुर्धा-तत्रातद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं नाम, अन्यत्र सोऽयमिति व्यवस्थापनं स्थापना, वर्तमानतत्पर्यायादन्यद्द्रव्यं, तत्कालपर्यायाक्रान्तं वस्तु भावोऽभिधीयते, तस्य चक्रं-समूहः क्वचिदपि-कुत्रचिदपि, आत्मनोऽन्यत्रालक्ष्ये स्थाने, याति गच्छति, तद् वयं न विद्मः-न जानीमः। अतिशयालङ्कारकथनमेतत्। प्राथमिकानां निक्षेपस्योपयोगित्वात्। अत्रापरं- 'निर्देशस्वामित्व-साधनाधिकरणस्थितिविधानलक्षणं' सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालांतरभावाल्पबहुत्वलक्षणं च किमभिदध्मः किं-कथयामः? तत्र तेषामनुपयोगित्वात्। एव-निश्चयेन, द्वैतं द्वाभ्यां-नयनेय-प्रमाणप्रमेय-निक्षेपनिक्षेप्यादि लक्षणाभ्यां इतं-प्राप्तं, द्वीतं, द्वीतमेव द्वैतं, स्वार्थिकाऽण्प्रत्ययविधानात्। न भाति-न प्रतिभासते, तथा चोक्तं- प्रमाणनयनिक्षेपा अर्वाचीनपदे स्थिताः। केवले च पुनस्तस्मिंस्तदेकं प्रतिभासतां।।

अर्थात् - प्रत्यक्ष या परोक्ष दोनों ही प्रमाण उस स्वानुभवप्रत्यक्ष की प्राप्ति में निमित्त है तथा उस स्वानुभव प्रत्यक्ष का अनुभव प्राप्त हो जाने पर उन प्रमाणों की व्यर्थता हो जाती है, इसलिए प्रमाण भी उस आत्मज्योति के प्रकट होने पर नहीं दिखाई देते हैं।

प्रश्न-५. निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है?

उत्तर- जब नय और प्रमाण अनुभूत नहीं होते हैं तब निक्षेप तो और उससे पूर्व का साधन है। वह तो आत्मा से अन्यत्र अलक्ष्य स्थान में कहाँ रहता है, पता नहीं, ऐसा उस अनुभव में आता है।

हे मानमूर्ते! कभी भी मात्र किताबों के पढने का,
रटने का, शास्त्र सुनने-सुनाने का नाम
सम्यग्ज्ञान नहीं कहा है। देखो! कुछ भी जिन्हें
याद नहीं हो पाता था, ऐसे शिवमूर्ति महाराज ने
मोक्ष मात्र दिगम्बर गुरू की श्रद्धा से प्राप्त कर
लिया था। उन्हें तो णमोकार मंत्र भी याद नही हो पाता था।

अथ स्वात्मस्वभावं प्रकाशयंतं शुद्धनयं व्यनक्ति-

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकं।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति।।१०।।

सं. टी.-अभ्युदेति-उदयं गच्छति, कोऽसौ? शुद्धनयः-शुद्धपरात्मग्राहकद्रव्यार्थिकः, किं कुर्वन्? प्रकाशयन्-व्यक्तीकुर्वन्, कं? तं, आत्मस्वभावं-शुद्धचिद्रूपस्वरूपं, कीदृक्षं तं? परभावभिन्नं परे च ते भावाश्च परभावाः-स्वात्मान्यपदार्थाः, अथवा परेषां-अचेतनादीनां भावाः स्वभावाः, तैर्भिन्नं। भूयः कीदृक्षं? आपूर्णं-आ-अतिशयेन परिपूर्णं, ज्ञानाद्यनंतगुणपूर्णत्वात्तस्य, पुनः किंभूतं? आद्यंतविमुक्तं-अनादिनिधनमित्यर्थः, पुनः कीदृशं? एकं-अद्वैतं, अखंडद्रव्यत्वात्, विलीनेत्यादि-परद्रव्ये ममेदमितिमतिः संकल्पः, अहं सुखी दुःखीत्यादिमतिः, विकल्पः, संकल्पश्च विकल्पश्च संकल्पविकल्पौ, विलीनं संकल्पविकल्पयोर्जालं समूहो यस्य तं।।१०।।

उत्थानिका - अब स्वात्मा के स्वभाव को दिखाने वाले शुद्ध नय को कहते हैं-

अन्वयार्थ- (आत्मस्वभावम् परभावभिन्नम्) आत्मा का स्वभाव परभावों से भिन्न है (आपूर्णम्)वह अपने में परिपूर्ण है (आद्यन्तविमुक्तम्)आदि और अन्त से रहित है। (एकम्)एक अर्थात् अखण्ड-अभेद भाव है, (विलीन संकल्पविकल्पजालम्) संकल्प और विकल्पों के भेदों के समूह से रहित है (प्रकाशयन्) आत्मा के ऐसे स्वरूप को प्रकट करता हुआ (शुद्धनयः) शुद्धनय (अभ्युदेति) उदय को प्राप्त होता है। अर्थात् जब शुद्धनय प्रकट होता है तब आत्मा का ऐसा शुद्ध निज स्वरूप प्रतिभासित होता है। ।।१०।।

अर्थ - पर भावों से भिन्न अर्थात् पर पदार्थों से उनके गुण एवं पर्यायों से सर्वथा जुदे, परिपूर्ण अर्थात् समस्त लोक और अलोक को जानने वाले ज्ञान से भरपूर आदि और अन्त से रहित अर्थात् किसी के द्वारा उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त नहीं होने वाले एक अर्थात् अद्वितीय यानी समस्त भेद भावों से रहित, एक रूप रहने वाले शरीर आदि में आत्मत्व की बुद्धि स्वरूप संकल्प से तथा बाह्य पदार्थों में इष्ट अनिष्टरूप विकल्पों से रहित आत्मा के स्वभाव को प्रकाशित करता हुआ शुद्ध नय सर्व प्रकार से उदय को प्राप्त होता है। ।।१०।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१ स्वात्मा के स्वभाव को दिखाने वाला नय कौन सा है ?

उत्तर- शुद्ध नय के उदय होने पर ही स्वात्मा के स्वभाव का अवलोकन होता है।

प्रश्न-२ शुद्ध नय को और क्या कहते हैं ?

उत्तर- **शुद्धनयः शुद्ध परात्मग्राहक द्रव्यार्थिकः** (प.अ.त.) अर्थात्- शुद्ध उत्कृष्ट आत्मा को ग्रहण करने वाला द्रव्यार्थिक नय शुद्ध नय है।

प्रश्न-३ शुद्ध नय से प्रकट होने वाला आत्म स्वभाव कैसा है ?

उत्तर- **१. परभाव भिन्नम्-** अपनी आत्मा से अन्य पदार्थ परभाव हैं, उनसे भिन्न अनुभव होना अथवा अचेतन आदि द्रव्यों के जो स्वभाव हैं उनसे भिन्न शुद्ध चिद् स्वरूप का अनुभव होना परभावों से भिन्न आत्मानुभव कहलाता है।

२. आपूर्णम्- ज्ञान आदि अनन्त गुणों से भरा होने से वह आत्मा अतिशय रूप से परिपूर्ण होता है।

३. आद्यन्तविमुक्तम्- अनादि अनिधन वह आत्म तत्त्व है।

४. एकम्- एक, अद्वैत रूप होता है; क्योंकि आत्मा एक अखण्ड द्रव्यपने को लिये है।

५. विलीन संकल्प विकल्पजालम्- जिसकी प्राप्ति में सभी संकल्प, विकल्पों का समूह विलीन (नष्ट) हो गया है। पर द्रव्य में यह मेरा है, इस प्रकार की बुद्धि संकल्प है। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, इस प्रकार की बुद्धि विकल्प है।

हे वीतरागपथगामिन्! तीर्थंकर सर्वज्ञ ने क्या देखा? इसमें बुद्धि लगाने से सम्यग्दर्शन नहीं होगा। सर्वज्ञदेव ने हमें दिव्यध्वनि से क्या मार्ग दिखाया, उस मार्ग को अपनाने से सम्यग्दर्शन होगा।

जीवाधिकारः

तत्र नवाधिकारेषु मध्ये प्रथमतस्तावदष्टाविंशतिगाथापर्यन्तं जीवाधिकारः कथ्यते। तथाहि- सहजानन्दैक स्वभावशुद्धात्मभावनामुख्यतया **जो पस्सदि अप्पाणमित्यादि** सूत्रपाठक्रमेण प्रथमस्थले गाथात्रयम्। तदनन्तरं दृष्टान्तदार्ष्टान्तद्वारेण भेदाभेदरत्नत्रयभावनामुख्यतया **दंसणणाणचरित्ताणि** इत्यादि द्वितीयस्थले गाथात्रयम्। ततः परं जीवस्याप्रतिबुद्धत्वकथनेन प्रथमगाथा, बन्धमोक्षयोग्यपरिणामकथनेन द्वितीया, जीवो निश्चयेन रागादिपरिणामानामेव कर्त्तेति तृतीया, चेत्येवं **कम्मे णोकम्महि य** इत्यादि तृतीयस्थले परस्परसम्बन्धनिरपेक्षस्वतन्त्रगाथात्रयम्। तदनन्तरमिन्धनाग्नि दृष्टान्तेनाप्रतिबुद्धलक्षणकथनार्थम् **अहमेदमित्यादि** चतुर्थ स्थले सूत्रत्रयम्। अतः परं शुद्धात्मतत्त्वसम्यक् श्रद्धानज्ञानानुभूतिलक्षणाभेदरत्नत्रयभावनाविषये योऽसावप्रतिबुद्धस्तत्प्रतिबोधनार्थम् **अण्णाणमोहिदमदी** इत्यादि पंचमस्थले सूत्रत्रयम्। अथ निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धात्मतत्त्वमजानन् देह एवात्मेति योऽसौ पूर्वपक्षं करोति तस्य स्वरूपकथनार्थं **जदि जीवो** इत्यादि पूर्वपक्षरूपेण गाथैका। तदनन्तरं व्यवहारेण देहस्तवनं निश्चयेन शुद्धात्मस्तवनमिति नयद्वयविभागप्रतिपादन- मुख्यत्वेन **ववहारणओ भासदि** इत्यादि परिहार-सूत्र-चतुष्टयम्। अथ

उन नव अधिकारों में सबसे पहले २८ गाथाओं से जीवाधिकार का वर्णन है। वहाँ पर भी सहजानन्द एक स्वभावरूप शुद्धात्मा की भावना की मुख्यता से **जो पस्सदि अप्पाणं** इत्यादि सूत्रपाठ के क्रम से प्रथम स्थल में तीन गाथायें हैं, पश्चात् दृष्टांत और दार्ष्टांत से भेदाभेदरत्नत्रय की भावना को मुख्य करके **दंसणणाणचरित्ताणि** इत्यादि तीन गाथायें दूसरे स्थल में हैं। तत्पश्चात् जीव की अप्रतिबुद्धता का कथन करने वाली एक गाथा है तथा बंध-मोक्ष के योग्य परिणाम का कथन करने वाली दूसरी गाथा है और निश्चयनय से जीव रागादि परिणामों का ही कर्त्ता है इस प्रकार का कथन करने वाली तीसरी गाथा है। इस प्रकार **कम्मे णोकम्मम्हि य** इत्यादि तीसरे स्थल में परस्पर के संबंध से निरपेक्ष तीन स्वतन्त्र गाथायें हैं। फिर ईंधन और अग्नि के दृष्टांत द्वारा अप्रतिबुद्ध के लक्षण का कथन करने के लिए **अहमेदं** इत्यादि चौथे स्थल में तीन गाथायें हैं। इसके पश्चात् पाँचवें स्थल में शुद्धात्म-तत्त्व के सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान और अनुभूति लक्षण अभेदरत्नत्रय की भावना के विषय में जो जीव अनभिज्ञ है उसको समझाने के लिए **अण्णाणमोहिदमदी** इत्यादि तीन गाथायें हैं। तत्पश्चात् निश्चयरत्नत्रय स्वरूप शुद्धात्म तत्त्व को नहीं जानता हुआ जीव, 'जो देह को ही आत्मा है, देह से भिन्न कोई आत्मा नहीं है' इस प्रकार का पक्ष रखता है, उसके स्वरूप का कथन करने के लिए **जदि जीवो** इत्यादि पूर्वपक्ष के रूप में एक गाथा है। इसके अनन्तर व्यवहार से (पूज्य पुरुषों की) देह का स्तवन किया जाता है किन्तु निश्चय से तो शुद्धात्मा का ही स्तवन किया जाता है, जो इस प्रकार दोनों नयों में भेद है उसके प्रतिपादन की मुख्यता से **ववहारणओ भासदि** इत्यादि परिहार स्वरूप चार गाथायें हैं। इसके आगे परम उपेक्षा है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्मा के संवेदन स्वरूप निश्चयस्तुति की मुख्यता से **जो इंदिए जिणित्ता** इत्यादि तीन गाथायें हैं। इस प्रकार आठ

परमोपेक्षालक्षणशुद्धात्मसंवित्तिरूपनिश्चयस्तुतिमुख्यत्वेन **जो इंदिए जिणित्ता** इत्यादि सूत्रत्रयम्। एवं गाथाष्टकसमुदायेन षष्ठस्थलम्। ततः परं निर्विकार स्वसंवेदनज्ञानमेवविषयकषायादि परद्रव्याणां प्रत्याख्यानमिति कथनेन **णाणं सव्वे भावा** इत्यादि सप्तमस्थले गाथाचतुष्टयम्। तदनन्तरमनन्तज्ञानादि-लक्षणशुद्धात्मसम्यक् श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकस्वसंवेदनमेव भावितात्मनः स्वरूपमित्युपसंहारमुख्यतया **अहमिक्को खलु सुद्धो** इत्यादि सूत्रमेकम्। एवं दण्डकान्विहायाष्टाविंशतिसूत्रैः सप्तभिरन्तरस्थलैर्जीवाधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ।।१४।। ता.टी.१६

आ.टी. - या खल्वबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः, सा त्वनुभूतिरात्मैव। इत्यात्मैक एव प्रद्योतते । कथं यथोदितस्यात्मनोनुभूतिरिति चेद्

गाथाओं में छठा स्थल है। इसके पश्चात् सातवें स्थल में निर्विकार-स्वसंवेदनज्ञान ही विषयकषायादि पर-द्रव्यों का प्रत्याख्यानस्वरूप है, ऐसा कथन करते हुए **णाणं सव्वे भावा** इत्यादि चार गाथायें हैं। तत्पश्चात् अनंतज्ञानादि है लक्षण जिसका ऐसे शुद्धात्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप जो अभेदरत्नत्रयात्मक स्वसंवेदन ही भावित आत्मा का स्वरूप है, इस प्रकार उपसंहार की मुख्यता से **अहमिक्को खलु सुद्धो** इत्यादि एक सूत्र गाथा है। इस प्रकार दण्डकों के सिवाय २८ सूत्रों से उत्पन्न हुए सात स्थलों से जीवाधिकार की समुदाय पातनिका हुई।

अन्वयार्थ - (जो) जो नय (अप्पाणं) आत्मा को (अबद्धपुट्ठं) बन्ध रहित और पर के स्पर्श से रहित (अणण्णयं) अन्यत्व रहित (णियदं) चलाचलता रहित (अविसेसमसंजुत्तं) विशेष रहित अन्य के संयोग से रहित - ऐसे पाँच भाव रूप से (पस्सदि) देखता है (तं) उसे हे शिष्य! तू (सुद्धणयं) शुद्धनय (वियाणीहि) जान।

अर्थ- जो आत्मा को बंध रहित, पर के स्पर्श रहित, अन्यत्व रहित, चलाचल रहित, विशेष रहित और अन्य के संयोग रहित अवलोकन करता है वह शुद्धनय है। ।।१४।।

आ.व्या. - जो आत्मा बद्धकर्म के द्वारा स्पृष्ट नहीं है, अन्य नहीं है, नियत स्वभाव वाला है, विशेष नहीं है, संयुक्त नहीं होता है, ऐसे आत्मा की जो अनुभूति होती है वह शुद्धनय है। वह अनुभूति आत्मा ही है। इस प्रकार एक आत्मा ही प्रकट होती है। 'अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत,

---

आत्मा अबद्ध नित शून्य उपाधियों से, अत्यन्त भिन्न पर से विधि-बन्धनों से।
ऐसा मुनीश्वर निजातम को निहारें, वे ही 'विशुद्धनय' हैं जिन यों पुकारें ।।१६।।

बद्धस्पृष्टत्वादीनामभूतार्थत्वात्। तथा हि एव यथा खलु बिसिनीपत्रस्य सलिलनिमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां सलिलस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांतत: सलिलास्पृश्यं बिसिनीपत्रस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। तथात्मनोऽनादिबद्धस्य बद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांतत: पुद्गलास्पृश्य मात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। यथा च मृत्तिकाया: करककरीरकर्करीकपालादिपर्यायेणानु भूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोऽप्यस्खलंतमेकं मृत्तिकास्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। तथात्मनो नारकादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोऽप्यस्खलंतमेकमात्मस्वभावमुपेत्यानु भूयमानतायामभूतार्थम्। यथा च वारिधेर्वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्त्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितं वारिधिस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । तथात्मनो

अविशेष और असंयुक्त आत्मा की अनुभूति किस कारण से होती है?' ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं कि आत्मा के बद्धस्पृष्टत्वादिभाव अभूतार्थ होते हैं। अब पूर्वोक्त **पाँच विशेषणों** को समझाते हैं। जिस प्रकार जल में डूबे हुए कमलिनी के पत्ते का जल में निमग्न होने से जो जल से स्पृष्ट हुई पर्याय के रूप से उसका अनुभव हो जाने पर उसकी जलस्पृष्ट अवस्था-भूतार्थ है, फिर भी एकान्त से जल के द्वारा अत्यन्त अस्पृश्य कमलिनी पत्र के स्वभाव को स्वीकार कर जब उसका अनुभव किया जाता है, तब उस पत्ते का जलस्पृष्टत्व अभूतार्थ होता है। उसी प्रकार अनादिकाल से बद्धकर्म के स्पर्श से युक्त जो पर्याय (परिणति) होती है, उस पर्याय के (परिणति) रूप से जब अनुभव किया जाता है, तब उस काल में आत्मा का बद्धस्पृष्टत्व भूतार्थ होता है फिर भी एकान्त से पुद्गल के द्वारा अत्यन्त अस्पृश्य आत्म स्वभाव को स्वीकार कर जब उस का अनुभव किया जाता है, तब आत्मा का वह **बद्धस्पृष्टत्व** अभूतार्थ है। जिस प्रकार मिट्टी से बनाये गये कमण्डलु, जलपात्र विशेष, जिसके तल में चालनी जैसे छिद्र होते हैं ऐसा विशिष्ट प्रकार का मृत्पात्र, कपाल आदि रूप पर्यायों का अनुभव होने पर इन पर्याय का उपादानभूत मृत्तिका से जो भिन्नत्व होता है वह भूतार्थ है फिर भी एकान्तरूप से जिसका स्खलन होता नहीं ऐसे एकमात्र मृत्तिका स्वभाव को लेकर अनुभव किये जाने के काल में करकादि पर्याय रूप से परिणति अभूतार्थ होती है। उसी प्रकार से नारकादि पर्यायरूप से परिणत हुई आत्मा का उस पर्याय रूप से अनुभव होने पर आत्मा का उसके स्वरूप से अन्यत्व/भिन्नत्व भूतार्थ है फिर भी जिसका स्खलन/प्रच्यवन नहीं होता ऐसे एकमात्र आत्मा के ज्ञायक स्वभाव का अनुभव होने पर उसका उन नारकादि पर्यायरूप से **अन्यत्व** अभूतार्थ है। जिस प्रकार सागर की वृद्धिहानि पर्यायरूप से अनुभव होने पर अनियतत्वभूतार्थ होने पर भी नित्य व्यवस्थित सागर के स्वभाव को प्राप्त करके और उसका उसी रूप से अनुभव होने पर उसका अनियतत्व भूतार्थ नहीं होता है, उसी प्रकार आत्मा का वृद्धि पर्यायरूप से और हानि पर्यायरूप से अनुभव होने पर आत्मा का अनियतत्व अर्थात् अपने स्वभाव में एकरूप से स्थितिपना

वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। यथा च काञ्चनस्य स्निग्धपीतगुरुत्वादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषं काञ्चनस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । तथात्मनो ज्ञानदर्शनादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। यथा चापां सप्तार्चि:प्रत्ययोष्णसमाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांतत: शीतमप्स्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । तथात्मन: कर्मप्रत्ययमोहसमाहितत्व-पर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकांतत: स्वयं बोधं जीवस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् ।।१४।।

अथ प्रथम गाथायामबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतमविशेषमसंयुक्तं संसारावस्थायामपि शुद्धनयेन विसिनीपत्रमृत्तिकावार्द्धिसुवर्णौष्ण्यरहितजलवत्पञ्चविशेषणविशिष्टं शुद्धात्मानं कथयति-

---

भूतार्थ है फिर भी आत्मा के साथ नित्य-व्यवस्थित-ज्ञायक भावरूप स्वभाव को लेकर उसका अनुभव किया जाने पर आत्मा का **अनियतत्व** भूतार्थ नहीं है। जिस प्रकार सुवर्ण के स्निग्धत्व, पीतत्व, गुरुत्व आदि रूप पर्याय के रूप से सुवर्ण का अनुभव किया जाने पर सुवर्ण का उस पर्यायरूप विशेष से अनुभव हो जाने से उसका विशेषत्व भूतार्थ है फिर भी जिसकी समस्त विशेष पर्याय विलीन हो गयी हैं, ऐसे सुवर्ण स्वभाव को लेकर जब सुवर्ण का अनुभव किया जाता है, तब सुवर्ण का स्निग्धतादिरूप पर्यायरूप विशेषत्व भूतार्थ नहीं होता है, उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानदर्शनादि रूप पर्यायरूप से अनुभव किया जाने पर आत्मा का विशेषत्व भूतार्थ है फिर भी जिसके ज्ञानदर्शनादिरूप समस्त विशेष पर्यायें विलीन हो गई होती हैं, ऐसे आत्म स्वभाव को लेकर अनुभव किये जाने पर आत्मा का ज्ञानदर्शनादि पर्यायरूप **विशेषत्व** भूतार्थ नहीं है। अथवा जिस प्रकार अग्नि के निमित्त से उत्पन्न होने वाली उष्णता से युक्त पर्याय के रूप से जल का अनुभव किये जाने पर जल की उष्ण पर्यायरूप से उसका संयुक्तत्व भूतार्थ है फिर भी जल के एकान्तरूप से शीतस्वभाव को लेकर अनुभव किया जाने पर जल का संयुक्तत्व भूतार्थ नहीं होता है, उसी प्रकार आत्मा का कर्म निमित्तक मोह से युक्त पर्याय के स्वरूप से अनुभव किया जाने पर आत्मा का संयुक्तत्व भूतार्थ होने पर भी एकान्तरूप से स्वयं बोधरूप परमार्थ स्वभाव को लेकर अनुभव किया जाने पर **संयुक्तत्व** भूतार्थ नहीं है। ।।१४।।

अब पहली गाथा में तो यह बतलाते हैं कि संसार अवस्था में भी शुद्धनय से आत्मा अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त इन पाँच विशेषणों से युक्त है। जैसे कि कमलपत्र, मृत्तिका, समुद्र, स्वर्ण और उष्णता रहित जल होता है। इस प्रकार का कथन किया गया है-

ता.टी. - जो पस्सदि यः कर्त्ता पश्यति जानाति। कं ? **अप्पाणं** शुद्धात्मानम्। कथंभूतम् ? **अबद्धपुट्ठं** द्रव्यकर्मनोकर्मभ्यामसंस्पृष्टं जले विसिनीपत्रवत्। **अणण्णयं** अनन्यकं नरनारकादिपर्यायेषु द्रव्यरूपेण तमेव स्थासकोशकुशूलघटादिपर्यायेषु मृत्तिकाद्रव्यवत्। **णियदं** नियतमवस्थितं निस्तरंगोत्तरंगावस्थासु समुद्रवत्। **अविसेसं** अविशेषमभिन्नं ज्ञानदर्शनादिभेदरहितं गुरुत्वस्निग्धत्व- पीतत्वादिधर्मेषु सुवर्णवत्। **असंजुत्तं** असंयुक्तमसम्बद्धं रागादिविकल्परूपभावकर्मरहितं निश्चयनयेनौष्ण्यरहितजलवदिति। **तं सुद्धणयं वियाणीहि** तं पुरुषमेवाभेदनयेन शुद्धनयविषयत्वाच्छुद्धात्मसाधकत्वाच्छुद्धाभिप्रायपरिणतत्वाच्च शुद्धं विजानीहीति भावार्थः ।।१४।।

टीकार्थ - जो पस्सदि अप्पाणं जो शुद्धात्मा को जानता है, किस प्रकार ? **अबद्धपुट्ठं** जल में रहकर भी उससे अस्पृष्ट रहने वाले कमलपत्र के समान द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित **अणण्णयं** जैसे स्थास, कोश, कुशूल और घटादि पर्यायों में मृत्तिका बनी ही रहती है, वैसे ही नरनारकादि पर्यायों में द्रव्यरूप से आत्मा ही बनी रहती है। **णियदं** निस्तरंग और उत्तरंग (ज्वार-भाटा) अवस्था में परिणमता हुआ समुद्र, समुद्र ही रहता है। उसी प्रकार आत्मा सब अवस्थाओं में अवस्थित रहने वाला है **अविसेसं** जैसे गुरुता, स्निग्धता और पीततादि धर्मों को स्वीकार किये हुए होकर भी स्वर्ण अभिन्न है, उसी प्रकार आत्मा ज्ञानदर्शनादि गुणों से अभिन्न है **असंजुत्तं** जैसे जल वास्तविकता में उष्णता रहित होता है उसी प्रकार आत्मा रागादि विकल्प वाले भावकर्मों से भी रहित है। इस प्रकार जो आत्मा को जानता है **तं सुद्धणयं वियाणीहि** अभेदनय के द्वारा शुद्धनय का विषय होने से व शुद्धात्मा का साधक होने से और शुद्ध अभिप्राय में परिणत होने से उस पुरुष को ही शुद्धनय समझना चाहिए ।।१४।।

विशेषार्थ- आचार्यदेव का कहना है कि जो जीव (संयमी) जिस समय अपने आपको अबद्ध, अस्पृष्ट आदि पाँच भावरूप अनुभव करता है उस समय वह स्वयं ही शुद्धनय स्वरूप है ।।१४।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. शुद्ध नय क्या है ?

उत्तर- जो अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त रूप आत्मा की अनुभूति है वह शुद्धनय है। (आ.टी.)

प्रश्न-२. उस अनुभूति में क्या होता है ?

उत्तर- उस अनुभूति में आत्मा आत्मा ही है, आत्मा एक ही है, यह प्रकाशित होता है। (आ.टी.)

प्रश्न-३. यह अनुभूति कैसे होती है ?

उत्तर- जब आत्मा के बद्धस्पृष्टत्व आदिभाव अभूतार्थपने को प्राप्त हो जाएँ तो वह अनुभूति होती है। वही शुद्ध नय का विषय है।

प्रश्न-४. अबद्ध स्पृष्टत्व का क्या अर्थ है ?

उत्तर- द्रव्यकर्मनोकर्मभ्यामसंस्पृष्टम् (ता.टी.)- द्रव्य कर्म, नोकर्म इन दोनों से आत्मा का स्पर्श नहीं होना अबद्धस्पृष्टत्व है।

प्रश्न-५. अबद्ध स्पृष्टत्व की अनुभूति भूतार्थ कैसे होवे ?

उत्तर- जैसे जल में डूबा हुआ जो कमलिनी का पत्र है उसका जल से स्पृष्टपने की पर्याय से अनुभव करने पर जल से स्पर्शित होना भूतार्थ है फिर भी एकान्त से (एक स्वभाव की दृष्टि से) वह कमलपत्र जल के स्पर्श योग्य नहीं है, इस स्वभाव को प्राप्त करके अनुभव किये जाने पर उस पत्ते का जलस्पृष्टत्व पर्याय से अनुभूति किए जाने पर बद्धस्पृष्टत्व भूतार्थ है फिर भी एकान्त से (आत्मा के एक स्वभाव की दृष्टि से) पुद्गल से अछूते आत्म स्वभाव को प्राप्त करके अनुभव किए जाने पर वह बद्धस्पृष्टत्व अभूतार्थ हो जाता है। उसी काल में अबद्धस्पृष्टत्व की अनुभूति भूतार्थ हो जाती है। (आ.टी.)

प्रश्न-६. बद्ध स्पृष्टत्व आदि की अनुभूति भूतार्थ है फिर अभूतार्थ कैसे हो गई ?

उत्तर- अरे भाई! जब तक कर्मबन्ध की दशा के साथ या शरीर के साथ एकात्मदशा के साथ आत्मा अनुभव में आता है तब तक बद्धस्पृष्टत्व, अन्यत्व, अनियतपना, विशेषपना और संयुक्त दशा ही अनुभव में आती है किन्तु जब अभेद नय से आत्मा के शुद्ध स्वभाव की अनुभूति होती है तो वह बद्धस्पृष्टत्व आदि विशेषणों के साथ होने वाली आत्मा की अनुभूति छूट जाती है, जिससे वह बद्धस्पृष्टत्व आदि की अनुभूति स्वयं अभूतार्थ, असत्यार्थ हो जाती है।

प्रश्न-७. अभेद नय से होने वाली यह आत्मानुभूति किस गुणस्थान में भूतार्थ होती है ? और कहाँ तक अभूतार्थ होती है ?

उत्तर- यह आत्मानुभूति वीतरागी मुनिराजों को ध्यान रूप अप्रमत्त अवस्था से प्रारम्भ होती है किन्तु उससे पहले चौथे से प्रवृत्ति रूप सातवें गुणस्थान तक बद्धस्पृष्टत्व की अनुभूति भूतार्थ होती है और अबद्धस्पृष्टत्व की अनुभूति अभूतार्थ होती है। सप्तम आदि गुणस्थान से अबद्धस्पृष्टत्व की अनुभूति भूतार्थ होती है और बद्धस्पृष्टत्व की अनुभूति अभूतार्थ हो जाती है।

प्रश्न-८. किस कारण से अप्रमत्त आदि दशा में शुद्ध नय को विषय बनाने से उस पुरुष को शुद्ध कहा जाता है और वह भूतार्थ में परिणत हो जाता है ?

उत्तर- जो आत्मा को इन अबद्धस्पृष्टत्व आदि पाँच भावों से सहित अनुभव करता है वह अभेद नय के द्वारा तीन कारणों से शुद्ध नय स्वरूप जाना जाता है।

१. शुद्ध नय का विषय होने से- अर्थात् वह आत्मा शुद्ध नय के द्वारा जानने योग्य बन जाता है, वह निर्विकल्प समाधिरूप परम भाव में ढलने लगता है।

२. शुद्धात्मा का साधक होने से- अर्थात् अभेद रत्नत्रय से एकाग्र ध्यान रूप परिणति हो जाने से वह शुद्धात्मा का साधक कहलाता है।

३. शुद्ध अभिप्राय से परिणत होने से- अर्थात् उस एकाग्र दशा में उपयोग की परिणति शुद्ध को विषय बनाने से वह शुद्धोपयोगी होता है। (ता.टी.)

प्रश्न-९. अविरत सम्यग्दृष्टि आदि अवस्था में भी तो इन तीन कारणों का घटित होना संभव है ? यदि नहीं तो क्या अविरत सम्यक्त्व आदि की दशा में निश्चय नय के विषयभूत कुछ भी परिणति नहीं होती है ?

उत्तर- अविरत सम्यग्दृष्टि आदि अवस्था मे अबद्धस्पृष्टत्व आदि पाँच भावों की किंचित् भी अनुभूति नहीं होती है। अपितु आत्मा शुद्ध नय से अबद्धस्पृष्टत्व आदि शुद्ध भाव रूप है। ऐसा दृढ. श्रद्धान और ज्ञान होने से वह शुद्ध नय से अपनी आत्मा की भावना करता है। वह यथायोग्य शुद्ध नय के आलंबन से अपनी निर्विकल्प परिणति को बनाना चाहता है किन्तु चारित्र का घात करने वाली कषायों के उदय के कारण उसकी वह निर्विकल्पता यथार्थ में नहीं बन पाती है और वह भावना, भावना ही रह जाती है, अनुभूति में नहीं ढल पाती है। यही कारण है कि उस अविरत सम्यग्दृष्टि आदि को शुद्ध नय स्वरूप नहीं कहा जाता है। निश्चय नय की विषयभूत परिणति में उस आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान तो बराबर बना रहता है। इसी कारण से ये तीन कारण भी अप्रमत्त दशा से पहले घटित नहीं हो पाते हैं।

१. वह अविरत सम्यग्दृष्टि आदि जीव व्यवहार नय का ही विषय बनता है।

२. उसके पास श्रद्धानात्मक और ज्ञानात्मक परिणति होने से उसे साधक नहीं कहा जा सकता है। शुद्धात्मा का साधक तो ध्यानाग्नि में आत्मा के प्रविष्ट होने से ही कहलाता है।

३. शुद्ध अभिप्राय से परिणत होने की दशा भी नहीं बनती है। क्योंकि शुभ भाव से परिणति होने से शुभोपयोग की दशा ही रहती है। यहाँ परिणति की बात कही है, जो रत्नत्रय के साथ ही होती है। शुद्धनय से अपनी आत्मा की शुद्ध दशा का चिन्तन करना, भावना भाना भी वस्तुतः शुभोपयोग ही है। शुद्धोपयोग रूप परिणति श्रमण दशा में ही होती है। कहा भी है-

सुविदिदपदत्थसुत्तो संजमतव संजदो विगदरागो।
समणो सम सुह दुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति।। १४ प्रवचनसार।।

अर्थात्- जिन्होंने पदार्थों को और सूत्रों को भली भाँति जान लिया है, जो संयम और तप से संयुक्त है, जो विगत राग अर्थात् वीतराग है और जिन्हें सुख, दुःख समान हैं ऐसे श्रमण को शुद्धोपयोगी कहा गया है।

प्रश्न-१०. आत्मा अनन्यत्व है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर- अनन्यत्व अर्थात् अन्य रूप नहीं होना। आत्मा नर, नारक आदि पर्यायों में द्रव्य रूप से वही है जैसे कि स्थास, कोश, कुशूल और घट आदि पर्यायों में वही मृत्तिका द्रव्य बना रहता है।

अथात्मनोऽनुभवनं भावयति-

नहि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्ताज्जगदपगतमोहीभूय सम्यक् स्वभावम्।।११।।

सं. टी.-भो जगत्-भोजगन्निवासिलोक ! आधारे आधेयस्योपचारः, लोकोक्तिरपीदृशास्ति 'मालवो देशः समागतोऽत्र, इत्युक्ते तत्रत्या भूमिर्नागता किंतु तत्रत्यो लोकः' तथा जगदित्युक्ते जगन्निवासिलोकः, अनुभवतु-अनुभवगोचरी करोतु, कं? तमेव स्वभावं, शुद्धनिश्चयनयोक्तत्वात्, यथोक्तस्वभावं, अथवा स्वभावं-स्वपदार्थं-स्वशुद्धचिद्रूपमित्यर्थः, कथं? सम्यक्-यथोक्ततया किंभूतं? समंतात्-सामस्त्येन, द्योतमानं-लोकप्रकाशमानं, किं कृत्वा? अपगतमोहीभूयअपगतमोहोभूत्वा-विनष्टमोहो भूत्वेत्यर्थः। यत्र-आत्मनि, अमी, बद्धेत्यादि-बद्धः

प्रश्न-११. आत्मा नियत है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर- नियत अर्थात् अवस्थित। जैसे समुद्र घटती-बढती अवस्थाओं में भी नियत रहता है।

प्रश्न-१२. आत्मा अविशेष है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर- अविशेष अर्थात् अभिन्न। जैसे स्वर्ण प्रत्येक अवस्था में भारीपन, चिकनेपन और पीलेपन आदि धर्मों में अभेद रूप से रहता है वैसे ही आत्मा ज्ञान, दर्शन आदि गुणों में अभिन्न रूप से रहता है।

प्रश्न-१३. आत्मा असंयुक्त है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर- असंयुक्त अर्थात् असम्बद्ध। निश्चय नय से जैसे जल उष्णता से रहित है वैसे ही आत्मा रागादि विकल्प रूप भाव कर्म से रहित है।

उत्थानिका - अब आत्मा के अनुभव की भावना करते हैं-

अन्वयार्थ- (यत्र) जिस शुद्धनय में (अमी बद्धस्पृष्टभावादयः) ये बद्धस्पृष्ट आदि भाव (एत्य प्रतिष्ठाम् न हि विदधति) आकर प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होते। किन्तु (उपरि तरन्तः) किन्तु ऊपर ही तैरते रहते हैं। (जगत् अपगतमोहीभूय) अतः जगत् के प्राणियो। मोह रहित होकर (समन्तात् द्योतमानम्) सब ओर से प्रकाशमान (तमेव सम्यक् स्वभावम्) उस यथार्थ आत्म स्वभाव को (अनुभवतु) अनुभव करो। ।।११।।

अर्थ - जिस स्थिति में द्रव्य कर्म के निमित्त से उत्पन्न होकर जो यह बद्धस्पृष्टत्वादिरूप भाव अर्थात् बद्धस्पृष्टत्व, अनन्यत्व, अनियतत्व, सविशेषत्व और संयुक्तत्त्व इन रूप जो ये भाव हैं वे स्पष्टरूप से ऊपर ही तैरते रहते हैं, तादात्म्य को प्राप्त नहीं होते, नित्य संबंध से युक्त नहीं होते, उन सभी अवस्थाओं में प्रकाशमान आत्मा के समीचीन स्वभाव को समस्त मोह से रहित होकर संसारी जीव अनुभव करो।।११।।

कर्मनोकर्मभ्यां संश्लेषरूपेण बंधेन बद्धः, स्पृष्टः-विस्रसोपचयादिपरमाणुभिः; अन्यैश्च संयोगमात्रतया स्पृष्टः, बद्धश्च स्पृष्टश्च बद्धस्पृष्टौ तावेवादिर्येषामन्ययुतादीनां ते च ते भावाश्च ते तथोक्ताः, एत्य-आगत्य-प्राप्येत्यर्थः, प्रतिष्ठां स्थितिं माहात्म्यं वा, नहि विदधति नैव दधते, स्फुटं-व्यक्तं-यथा भवति तथा, जगदुपरि-सर्वत तरंतोऽपि सर्वतः उत्कृष्टा भवंतोऽपि व्यवहारदृष्ट्या दृश्यमाना अपि-व्यवहारिभिः कथ्यमाना अपीत्यर्थः, उक्तं च-

अस्पृष्टमबद्धमनन्यमयुतमवशेषमविभ्रमोपेतः।
यः पश्यत्यात्मानं स पुमान् खलु शुद्धनयनिष्ठः।।१।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस अमृत कलश में क्या कहा गया है ?

उत्तर- यहाँ पर कहा है कि अरे! जगत्! अरे लोगो! शुद्ध निश्चय नय के द्वारा कहे हुए उस स्व शुद्ध चिद्रूप का अनुभव करो।

प्रश्न-२. वह स्व शुद्ध चिद्रूप आत्मा कैसा है ?

उत्तर- वह चारों ओर से प्रकाशमान है।

प्रश्न-३. क्या करके उसका अनुभव करो ?

उत्तर- मोह को विनष्ट करके आत्मा का अनुभव करो। अर्थात् दर्शनमोह और चारित्रमोह का नाश करके आत्मा का अनुभव करो।

प्रश्न-४. उस अनुभव के होने पर उस आत्मा में क्या होता है ?

उत्तर- उस अनुभव के होने पर आत्मा में बद्ध, स्पृष्ट आदि भाव ठहर नहीं पाते हैं अथवा अपनी महिमा धारण नहीं कर पाते हैं।

प्रश्न-५. ये बद्ध, स्पृष्ट आदि भाव कैसे हैं ?

उत्तर- तब ये बद्ध, स्पृष्ट आदि भाव जगत् के ऊपर तैरते हैं अर्थात् सब ओर से उत्कृष्ट होते हुए भी व्यवहार दृष्टि से दिखाई देते हुए भी, और व्यवहारी जनों के द्वारा कहे जाते हुए भी उस अनुभव की दशा में आत्मा में नहीं होते हैं। कहा भी है- 'जो अस्पृष्ट, अबद्ध, अनन्य, अयुत, अविशेष रूप आत्मा को विभ्रम से रहित होकर देखता है, वह आत्मा ही निश्चय से शुद्ध नय में निष्ठ (लीन) है।'

प्रश्न-६. यहाँ बद्ध से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर- कर्म और नोकर्मों के द्वारा संश्लेष रूप बंधन से बंधा आत्मा बद्ध कहलाता है।

प्रश्न-७. स्पृष्ट शब्द से क्या कहा है ?

उत्तर- विस्रसोपचय आदि परमाणुओं के द्वारा और अन्य भी भावों से संयोग मात्र होने से स्पृष्ट कहा है।

अथ पूर्वापरबंधविनाशकत्वेनात्मानमुद्बोधयति -

भूतं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बन्धं सुधी-
र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः।।१२।।

सं. टी.- किल-इति आगमोक्तौ, अहो इति आश्चर्ये। यदि कोऽपि सुधीः-धीमान्, अंतः अभ्यंतरे, शुद्धचिद्रूपं कलयति अनुभवति-अवलोकयति-साक्षात्करोतीत्यर्थः। व्याहत्य-निश्शेषमुन्मूल्य, कं? मोहं-अष्टाविंशतिप्रकृतिभेदभिन्नं मोहनीयं कर्म, कथं? हठात्-बलात्कारेण तपोध्यानादिभिः। पुनः किं कृत्य? निर्भिद्य-निश्शेषं भेदयित्वा, बंधं-प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणं

उत्थानिका - अब पूर्वापर बंध का विनाश करने रूप से आत्मा को उद्बोधन करते हैं-

अन्वयार्थ- (अहो यदि कोऽपि सुधीः) अरे ! यदि कोई बुद्धिमान पुरुष (हठात् मोहं व्याहत्य) अपने ध्यान रूप जबरदस्त पुरुषार्थ से मोह को दूर कर (भूतं भान्तम्) अभूतम् भूतकालीन, वर्तमानकालीन और भविष्यकालीन तीनों समयों के (बन्धं) कर्मबन्ध को (रभसात् निर्भिद्य) भेदज्ञान के बल से शीघ्र भेदकर (अन्तः कलयति) अपने अन्तरंग को देखता है, तो उसे (नित्यं एव कर्मकलंकपंकविकलः) सदा ही अनाद्यनन्त एक ज्ञायक स्वभाव वाला, कर्म के कलंकों दोषों से रहित (आत्मानुभवैकगम्य महिमा) अपनी आत्मा के स्वानुभव से ही जिसकी महान् महिमा जानी जा सकती है (अयमात्मा) ऐसा यह आत्मा (स्वयं शाश्वतः देवः) स्वयं शाश्वत देव है, परमात्मा है (ध्रुवम् व्यक्तम् आस्ते) निश्चय से प्रकट अनुभव में आता है।।१२।।

अर्थ- हे भव्य जीवो! यदि कोई जीव भूतकाल में हुए, वर्तमानकाल में हो रहे और भविष्यकाल में होने वाले बंधों को अपनी ध्यान सामर्थ्य से तोडक़र और बलपूर्वक मोह का शीघ्र नाश कर अन्तरंग में अनुभव करता है तो जिसका माहात्म्य एकमात्र स्वानुभव से जाना जाता है, जो आत्मा को कलंकित करने वाले कर्मरूप कीचड.से रहित है, जो नित्य है, शाश्वत है, ऐसा यह शुद्ध आत्मा सदैव स्वयमेव व्यक्त हो जाता है। ।।१२।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस कलश की उत्थानिका में क्या कहा है ?

उत्तर- इसमें कहा है कि पूर्वापर बंध का विनाश करने से ही आत्मा को जाना जाता है।

प्रश्न-२ . यहाँ जानने से मतलब क्या ज्ञानमात्र करना है या और कुछ है?

उत्तर - यहाँ जानने से तात्पर्य संस्कृतटीका में अनुभव करना, अवलोकन करना और साक्षात्कार करना यानी प्रत्यक्ष दर्शन से है।

चतुर्धा कर्मबंधं, रभसा-शीघ्रं शुक्लध्यानावाप्त्यनंतरं अंतर्मुहूर्ततः। कीदृक्षं बंधं? भूतं-पूर्वे संसारावस्थायां समयप्रबद्धस्वरूपेण बद्धं निर्जरावशान्निर्जीर्यं, भांतं-वर्तमानं, योगादिभिरागमकर्मसमयप्रबद्धं, अंतः संवरवशान्निरुद्ध्य, अभूतं-अनागतं-अग्रे बध्यमानं निरुध्य, तत्कारणयोगकषायानामभावात् 'कारणाभावे कार्यस्याप्यभावादिति' न्यायात्, एव निश्चयेन, तदिति, अध्याहार्यं। अयं-प्रत्यक्षीभूतः, आत्माशुद्धचिद्रूपः, व्यक्तः-साक्षात्-अनंतचतुष्टयापन्नः, ध्रुवं-निश्चितं, आस्ते तिष्ठति, कीदृक्षः? आत्मेत्यादि-आत्मनश्चित्स्वरूपस्य, अनुभवः, तेन एकः-अद्वितीयः, गम्यः ज्ञेयः, महिमा-माहात्म्यं यस्य सः, नित्यं-सदैव, परमावस्थायां कर्मेत्यादि-कर्म एव कलंकपंकः, संसारस्य कालंक्यहेतुत्वात्, तेन विकलः रहितः। पुनः किंभूतः? देवः-दीव्यति-क्रीडति एकलो(ल्लो)लीभावमनुगच्छति परमात्मपदे द्योतते वा देवः। स्वयं कर्माद्यनपेक्षत्वेन शाश्वतः नित्यः।। १२।।

प्रश्न-३. यदि कोई सुधी अन्तरंग में शुद्ध चिद्रूप आत्मा का अनुभव करता है, देखता है या साक्षात्कार करता है तो किस प्रकार करता है ?

उत्तर- अट्ठावीस प्रकृति के भेद वाले समस्त मोहनीय कर्म को पूर्ण रूप से उखाडक़र (या नष्ट कर) उस आत्मा का अनुभव करता है।

प्रश्न-४. यहाँ मोह का अर्थ मिथ्यात्व लेना चाहिए, जैसा कि पं. जयचन्द जी ने हिन्दी अनुवाद में भावार्थ में लिखा है कि - 'जो मिथ्यात्व रूप अज्ञान ताकूं अपने बल पुरुषार्थ तैं न्यारा करि'....?

उत्तर- नहीं! इस कलश की संस्कृत टीका में मोह का अर्थ पूर्ण मोहनीय कर्म लिया है। अरे भाई! जरा विचार करो कि जो सुधी है वह सम्यग्ज्ञानी है। उसके पास सम्यग्दर्शन तो पहले ही है फिर मिथ्यात्व रूप अज्ञान को क्या हटाना? इस कलश की जो जयचन्द छाबडा जी की भाषा टीका है, उसमें मोह का अर्थ मिथ्यात्व ही लिया है जो भ्रामक है। इसी तरह हठात् का अर्थ बल (पुरुषार्थ) करके छोड़ दिया। संस्कृत टीका में लिखा है कि तप और ध्यान के बल से छोड़ना है।

प्रश्न-५. उस मोह को कैसे नष्ट करें ?

उत्तर- हठ पूर्वक अर्थात् जबरदस्ती पुरुषार्थ के द्वारा।

प्रश्न-६. वह पुरुषार्थ कैसे होवे ?

उत्तर- तप, ध्यान आदि के द्वारा वह पुरुषार्थ किया जाता है।

प्रश्न-७. क्या हठात् मोह का नाश करके आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है या कुछ और भी करना होता है?

उत्तर- पहले संसार अवस्था में जो कर्म प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध के साथ चार प्रकार से समयप्रबद्ध स्वरूप से आत्मा में बंधे हुए थे उनको निर्जरा के बल से निर्जीर्ण करके वर्तमान में योग आदि के द्वारा आने वाले कर्म के साथ समयप्रबद्ध को संवर के बल से रोककर तथा आगे

बँधने वाले कर्म को जो उस कर्मबंध के कारणभूत योग और कषायों के अभाव से रुक गया है। चूंकि कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव होता है, इस न्याय से तीनों कालों में होने वाले कर्मबंध को पूर्ण रूप से नष्ट करके ही आत्मा का साक्षात्कार होता है।

प्रश्न-८. यह कर्मबंध कब इस तरह नष्ट होता है ?

उत्तर- शुक्ल ध्यान की प्राप्ति होने पर होता है।

प्रश्न-९. ऐसे शुक्ल ध्यान से क्या होता है ?

उत्तर- इस शुक्ल ध्यान की प्राप्ति के बाद अन्तर्मुहूर्त में ही आत्मा प्रत्यक्षीभूत होता हुआ अनन्त चतुष्टय से सम्पन्न निश्चित ही व्यक्त हो जाता है।

प्रश्न-१०. उस प्रत्यक्ष अवस्था में आत्मा कैसा होता है ?

उत्तर-१. उस अवस्था में आत्मा के चित्स्वरूप के अनुभव की एक अद्वितीय जानने योग्य महिमा होती है।

२. संसार में कलंक का हेतु होने से कर्म को कलंक पंक कहा है। वह आत्मा सदैव कर्म मल के कलंक से रहित होता है।

३. वह एकलोली भाव को प्राप्त हो जाता है और परमात्म पद में प्रकाशित होता है। इसलिए देव कहलाता है।

४. वह आत्मा स्वयं कर्म आदि से निरपेक्ष होने से शाश्वत होता है अत: नित्य है।

प्रश्न ११. ऐसा पुरुषार्थ करने वाला जीवात्मा कौन होगा?

उत्तर- इसी टीका से स्पष्ट है कि ध्यान और तप का पुरुषार्थ करने वाला वह आत्मा बाह्य प्रकार के तप में निष्णात होने वाला ही होता है। यहाँ ध्यान से अन्तरंग तप और तप से बाह्य तप का ग्रहण करना। अत: बारह तप करने वाले परम मुनीश्वर ही इस पुरुषार्थ के कर्त्ता हैं।

भगवान की भक्ति करने वाला ही भगवान बनता है ।

अथात्मानुभूतिमेव समर्थयति-

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात्।। १३।।

सं. टी.- किल-इति निश्चितं, इति पूर्वोक्तप्रकारेण, वा शुद्धनयात्मिका-शुद्धनय एव आत्मास्वरूपं यस्याः सा, आत्मानुभूतिः आत्मनः शुद्धचैतन्यस्य, अनुभूतिः-अनुभवः-उपलब्धिर्वा, पारमार्थिकी आत्मोपलब्धिरित्यर्थः, इयमेव-आत्मानुभूतिरेव, ज्ञानानुभूतिः-ज्ञानस्य सम्यग्बोधस्य, अनुभूतिः-अनुभव-उपलब्धिर्वा, इति इत्थं बुद्ध्वा-मत्वा, एकः-अद्वितीयः, अस्ति वर्तते, समंतात्-सामस्त्येन, किंभूतः? नित्यं-निरंतरं, अवबोधघनः-केवलज्ञानपिंडः, किंकृत्वैकोऽस्ति? निवेश्य-आरोप्य, सुनिष्प्रकंपं-अविचलं यथा भवति तथा, आत्मनि स्वस्वरूपे, आत्मानं स्वस्वभावं।।१३।।

उत्थानिका - अब आत्मानुभूति को ही दिखाते हैं-

अन्वयार्थ- (शुद्धनयात्मिका) शुद्धनय स्वरूप (या आत्मानुभूतिः इति) यह जो आत्मानुभूति है। (इयमेव किल) यही निश्चय से (ज्ञानानुभूतिः) ज्ञानानुभूति है। (इति बुद्ध्वा) ऐसा जानकर (आत्मानम् आत्मनि सुनिष्प्रकम्पं निवेश्य) अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में अचल रूप से स्थिर करके यह आत्मा, (समन्तात् नित्यम् अवबोधघनः) सब ओर से सदा ज्ञानमय ही (एकः अस्ति) एकमात्र है। ।।१३।।

अर्थ- इस प्रकार समस्त मोहनीय कर्म के क्षय से भूतकालीन, वर्तमानकालीन और भविष्यकालीन बंधों का नाश हो जाने से जो शुद्ध ज्ञान का अनुभव है, वह शुद्धनय रूप आत्मानुभूति रूप ही है, ऐसा जानकर जो शुद्ध आत्मा को अपनी आत्मा में पूर्णतया और निश्चलरूप से स्थापित करता है वह कर्ममल रहित होकर अनन्तकाल तक ज्ञानपिण्डरूप बना रहता है। ।।१३।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस काव्य में क्या कहा गया है ?

उत्तर- इस काव्य में उसी आत्मानुभूति का समर्थन किया है।

प्रश्न-२. वह किस प्रकार से समर्थन किया है ?

उत्तर- शुद्ध नय ही जिस अनुभूति की आत्मा (स्वरूप) है वही शुद्ध चैतन्य की अनुभूति, अनुभव या उपलब्धि है। यही पारमार्थिकी आत्मोपलब्धि है।

प्रश्न-३ ज्ञानानुभूति क्या है ?

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससुत्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ।।१५।। ता.टी. १७

आ.टी. - येयमबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोनुभूतिः सा खल्वखिलस्य जिनशासनस्यानुभूतिः श्रुतज्ञानस्य स्वयमात्मत्वात्, ततो ज्ञानानुभूतिरेवात्मानुभूतिः। किन्तु तदानीं सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामनुभूयमानमपि ज्ञानमबुद्धलुब्धानां न स्वदते। तथा हि - यथा विचित्रव्यंजनसंयोगोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं लवणं

उत्तर- यह पारमार्थिकी आत्मोपलब्धि ही ज्ञानानुभूति है। पारमार्थिक या निश्चय सम्यग्ज्ञान का अनुभव या उपलब्धि यही है।

प्रश्न-४ ऐसी अनुभूति को प्राप्त करने के लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर- जैसे होवे वैसे अच्छी तरह अपनी आत्मा में अर्थात् अपने स्वरूप में अपने स्वभाव को आरोपित करके या प्रविष्ट कराके निश्चल होओ।

प्रश्न-५ ऐसा करने से क्या होगा ?

उत्तर- ऐसा करने से वह आत्मा केवलज्ञान प्राप्त करके एकरूप, नित्य ज्ञान घन रूप बना रहता है।

अन्वयार्थ - (जो) जो पुरुष (अप्पाणं) आत्मा को (अबद्धपुट्ठं) अबद्धस्पृष्ट (अणण्णं) अनन्य (अविसेसं) अविशेष (पस्सदि) देखता है वह (सव्वं जिणसासणं) सर्व जिनशासन को (पस्सदि) देखता है- जो जिनशासन (अपदेससुत्तमज्झं) बाह्य द्रव्यश्रुत तथा अभ्यंतर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है।

अर्थ- जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष आदि रूप से अनुभव करता है वह द्रव्यश्रुत और भावश्रुतमय द्वादशांगरूप पूर्ण जिन-शासन का जानकार होता है। ।।१५।।

आ.व्या. - जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त रूप शुद्ध आत्मा की अनुभूति है, वह वस्तुतः सम्पूर्ण जिनशासन की अनुभूति है; क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मरूप होता है। इसलिए ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है। किन्तु उस आत्मानुभूति के समय जिसमें सामान्य का आविर्भाव और विशेषों पर्यायों का तिरोभाव (प्रच्छन्नता) रहता है ऐसे ज्ञान का अनुभव किये जाने पर भी वह (सामान्य) ज्ञान अज्ञानी जीवों को अनुभव में नहीं आता है। उसी का स्पष्टीकरण करते हैं- जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों के संयोग से उत्पन्न हुए लवणत्व

आत्मा अबद्ध स्थिर शून्य उपाधियों से, अत्यन्त भिन्न पर से विधि-बन्धनों से।
ऐसा निजात्म लखते मुनि अक्ष-जेता, सूत्रार्थ का कथक आगम-पूर्णवेत्ता ।।१७।।

लोकानामबुद्धानां व्यंजनलुब्धानां स्वदते, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्याम्, अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं लवणं तदेव सामान्याविर्भावेनापि। तथा विचित्रज्ञेयाकारकरंबितत्वोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं ज्ञानमबुद्धानां ज्ञेयलुब्धानां स्वदते, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्याम्, अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं ज्ञानं तदेव सामान्याविर्भावेनापि। अलुब्धबुद्धानां तु यथा सैंधवखिल्योन्यद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोऽप्येकलवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते, तथात्मापि परद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोऽप्येकविज्ञानघनत्वात् ज्ञानत्वेन स्वदते।।१५।।

अथ द्वितीयगाथायां या पूर्वं भणिता शुद्धात्मानुभूतिः सा चैव निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानानुभूतिरिति प्रतिपादयति-

---

सामान्य का तिरोभाव (प्रच्छन्नता) और विशेषों का (पर्यायों का) आविर्भाव होता है, ऐसे लवण का अनुभव किये जाने पर लवण के यथार्थस्वरूप का ज्ञान नहीं रखने वाले व्यंजनों में ही आकृष्ट हुए जीवों को लवण की विशिष्ट पर्यायें अच्छी लगती हैं अर्थात् व्यंजनों के साथ लवण का स्वाद लेता है। किन्तु अन्य द्रव्यों के संयोग से रहित होने के कारण जिसमें लवणत्व सामान्य मात्र का आविर्भाव होता है और विशेष का तिरोभाव होता है उस लवणत्व सामान्य का स्वाद नहीं आता है। किन्तु विशेष के आविर्भाव के साथ जो लवण अनुभूति का विषय बनता है, वही लवण सामान्य के आविर्भाव के साथ अनुभव किया जाता है। अर्थात् दोनों अवस्थाओं में लवण की भिन्नता नहीं होती है। उसी प्रकार नाना प्रकार के ज्ञेयों के आकार से मिश्रितपने से जब सामान्य का तिरोभाव (प्रच्छन्नता) और विशेष का आविर्भाव होता है, ऐसे ज्ञान का जब अनुभव किया जाता है तब ज्ञान ज्ञेयों की ओर आकृष्ट होने वाले अज्ञानी जीवों को अनुभव में आता है किन्तु अन्य पदार्थों के संयोग से शून्य होने पर उत्पन्न हुए सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव के द्वारा उस ज्ञान का अनुभव नहीं होता है। किन्तु विशेषों के आविर्भाव के समय जो ज्ञान होता है वही जिसके सिर्फ सामान्य का आविर्भाव हुआ है ऐसा ज्ञानी का ज्ञान होता है। अर्थात् दोनों अवस्थाओं में ज्ञान की भिन्नता नहीं होती। जो लवण सामान्य के ज्ञान से युक्त होते हैं, उन्हें जिस प्रकार अन्य द्रव्य के संयोग रहित होकर अनुभव में आ रहा है ऐसी नमक की डली सभी प्रदेशों में एक लवण रस रूप होने से अनुभव में जिस प्रकार आती है, उसी प्रकार आत्मा भी परद्रव्यों के संयोग के व्यवच्छेद/अभाव से, शुद्धरूप से अनुभव किये जाने पर समस्त प्रदेशों में भी एकविज्ञानघनरूप होने से ज्ञान रूप से अनुभव में आता है। ।। १५।।

अब आगे की गाथा में बतलाते हैं कि जो पहले हम शुद्धात्मा की अनुभूति का वर्णन कर आये हैं, व ही निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान की अनुभूति है-

ता.टी. -जो पस्सदि यः कर्त्ता पश्यति जानात्यनुभवति। कं ? **अप्पाणं** शुद्धात्मानम्। किं विशिष्टम्? **अबद्धपुट्ठं** अबद्धस्पृष्टम्। अत्र बद्धशब्देन संश्लेषरूपबन्धो ग्राह्यः। स्पृष्टशब्देन तु संयोगमात्रमिति। द्रव्यकर्मनोकर्मभ्यामसंस्पृष्टं जले विसिनीपत्रवत्। **अणण्णं** अनन्यं मृत्तिकाद्रव्यवत्। **अविसेसं** अविशेषमभिन्नं सुवर्णवत् नियतमवस्थितं समुद्रवत् असंयुक्तं परद्रव्यसंयोगरहितं निश्चयनयेनौष्ण्यरहितजलवदिति। नियतासंयुक्तविशेषणद्वयं सूत्रे नास्ति। कथं लभ्यत इति चेत् सामर्थ्यात्। तदपि कथं ? 'श्रुतप्रकृतसामर्थ्ययुक्तो हि भवति सूत्रार्थः' इति वचनात्। स पुरुषः **पस्सदि** पश्यति जानाति । किं तत् ? **जिणसासणं** जिनशासनम् अर्थसमयरूपं जिनमतं। **सव्वं** सर्वद्वादशांगपरिपूर्णम्। कथम्भूतम्? **अपदेससुत्तमज्झं** अपदेशसूत्रमध्यं, अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेशशब्दो द्रव्यश्रुतमिति यावत्। सूत्रपरिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमय इति यावत् । तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञानसमयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भण्यत इति। अयमत्रभावः यथा लवणखिल्य एकरसोऽपि फलशाकपत्रशाकादि परद्रव्यसंयोगेन भिन्नभिन्नास्वादः प्रतिभात्यज्ञानिनां। ज्ञानिनां पुनरेकरस

टीकार्थ - जो पस्सदि अप्पाणं जो शुद्धात्मा को जानता है, अनुभव करता है कि **अबद्धपुट्ठं** आत्मा अबद्धस्पृष्ट है। यहाँ बद्ध शब्द से संश्लेषरूप बंध और स्पृष्ट शब्द से संयोग मात्र का ग्रहण है। जो आत्मा द्रव्यकर्म और नोकर्मों से जल में रहने वाले कमल के समान अस्पृष्ट है **अणण्णं** घटादिक में मिट्टी के समान अपनी पर्यायों में अनन्य होकर रहता है, निश्चयनय से परद्रव्य के संयोग से रहित है **अविसेसं** कुण्डलादिक में स्वर्ण के समान अभिन्न है, समुद्र के समान नियत है, अवस्थित है, जैसे कि शीतल जल अग्नि के संयोग से रहित है। यहाँ पर गाथा में नियत और असंयुक्त शब्द यद्यपि नहीं है तो भी सामर्थ्य से ले लिये गये हैं क्योंकि सूत्रार्थ श्रुत और प्रकृत सामर्थ्य से युक्त होता है अर्थात् सूत्र में नहीं कही हुई बात भी प्रसंग से स्वीकार कर ली जाती है, ऐसी कहावत है। वह **पस्सदि जिणसासणं सव्वं** द्वादशांगरूप सम्पूर्ण अर्थात्मक जिनशासन को जानता है। कैसे जानता है ? **अपदेससुत्तमज्झं** 'अपदिश्यते अर्थो येन' जिसके द्वारा पदार्थ कहा जाए वह अपदेश है इस प्रकार अपदेश का अर्थ शब्द होता है जिससे कि यहाँ पर द्रव्यश्रुत को ग्रहण करना और सूत्र शब्द से परिच्छित्ति रूप भावश्रुत जो कि ज्ञानात्मक है, उसे ग्रहण करना, इस प्रकार जो द्रव्यश्रुत के द्वारा वाच्य और भावश्रुत के द्वारा परिच्छेद्य हो वह अपदेश-सूत्र-मध्य कहा जाता है। इसका भाव यह है कि जिस प्रकार लवण की डली एक खारे रस वाली होती है फिर भी वह अज्ञानियों को फल, साग और पत्रसाग आदि परद्रव्यों के संयोग से भिन्न-भिन्न स्वाद वाली जान पडती है। पर ज्ञानियों को तो वह एक खारी रस वाली ही प्रतीत होती है। उसी प्रकार आत्मा भी जो कि एक अखण्ड ज्ञान स्वभाव वाली है वह निर्विकल्प समाधि से भ्रष्ट होने वाले अज्ञानियों को तो स्पर्श, रस, गंध, शब्द और नीलपीतादि वर्णमय ज्ञेय पदार्थ के भेद से खण्ड-खण्ड ज्ञानरूप जान पडती है, किन्तु जो ज्ञानी (निर्विकल्प समाधि में स्थित) हैं, उनको वही आत्मा एक अखण्ड

एव तथात्माऽप्यखण्डज्ञानस्वभावोऽपि स्पर्शरसगन्धशब्दनीलपीतादिवर्णज्ञेयपदार्थविषयभेदेनाज्ञानिनां निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां खण्डखण्डज्ञानरूपः प्रतिभाति ज्ञानिनां पुनरखण्डकेवलज्ञानस्वरूप एव इति हेतोरखण्डज्ञानरूपे शुद्धात्मनि ज्ञाते सति सर्वं जिनशासनं ज्ञातं भवतीति मत्वा समस्त मिथ्यात्वरागादिपरिहारेण तत्रैव शुद्धात्मनि भावना कर्त्तव्येति। किं च मिथ्यात्वशब्देन दर्शनमोहो रागादिशब्देन चारित्रमोह इति सर्वत्र ज्ञातव्यम् ।। १५।।

ज्ञानस्वरूप प्रतीत होती है। इस प्रकार अखण्ड ज्ञानस्वरूप शुद्धात्मा के जान लेने पर समस्त जिनशासन जान लिया जाता है। ऐसा समझकर समस्त मिथ्यात्वरागादि विभाव-भावों को दूर करके इस शुद्धात्मा की ही भावना करना चाहिए। यहाँ मिथ्यात्व शब्द से दर्शनमोह और रागादि शब्द से चारित्रमोह लिया गया है। ऐसा ही आगे जहाँ भी ये शब्द आयें तो उनका यही अर्थ लेना ।।१५।।

विशेषार्थ- लूण की डली जब साग इत्यादि में मिलाकर खाते हैं तो अकेले लवण का स्वाद न आकर शाकादि मिश्रित स्वाद आता है किन्तु अकेले लवण की डली खाने वाले को केवल लवण का ही स्वाद आता है। उसी प्रकार जो बाहरी विषय-कषायों में फँसे हुए हैं व रागादि रूप परिणत हैं उनको केवल शुद्धात्मा का अनुभव कभी न होकर, रागादि मिश्रित अनुभव ही होता है। किन्तु जो बाहरी पदार्थों से सर्वथा दूर हटकर निर्विकल्प समाधि में तल्लीन रहते हैं उन्हीं को शुद्धात्मा का अनुभव होता है। यहाँ पर अज्ञानी शब्द का अर्थ निर्विकल्प-समाधि से भ्रष्ट और ज्ञानी शब्द का अर्थ निर्विकल्प-समाधि में स्थित लिया गया है। ऐसा ही अन्य स्थानों में भी समझना चाहिए। ।।१५।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. पुनः इस गाथा का अवतरण क्यों हुआ है ?

उत्तर- इस गाथा में ज्ञान की मुख्यता से कथन किया है। जो पूर्वोक्त विशेषणों से सहित आत्मा को देखता है वह सम्पूर्ण जिनशासन को देखता है।

प्रश्न-२. कैसा है वह जिनशासन ?

उत्तर- यहाँ जिन शासन का 'अपदेससुत्तमज्झं' यह विशेषण दिया है। अपदेश का अर्थ है शब्द और शब्द से द्रव्य श्रुत को कहा है। उस शब्द समय से कहा गया और ज्ञान समय से जानने योग्य को अपदेशसूत्र मध्य कहा जाता है अर्थात् भावश्रुत रूप पूर्ण जिनशासन है। अपदेश शब्द से द्रव्य श्रुत और सूत्र शब्द से भाव श्रुत लेना तात्पर्य है।

प्रश्न-३. क्या जिनशासन की भी अनुभूति होती है ?

उत्तर- हाँ भाई! जिनशासन श्रुतज्ञानमय है। यह श्रुतज्ञान द्रव्य श्रुत और भाव श्रुत के भेद से दो प्रकार का है। पहले भी कहा है कि जो द्रव्य श्रुत का आलम्बन छोडक़र भाव श्रुतज्ञान से आत्मा

को जानते हैं, अनुभव में लाते हैं वे व्यवहार श्रुतकेवली से निश्चय श्रुतकेवलीपन का अनुभव करते हैं। **श्रुतज्ञानस्य स्वयमात्मत्वात् (आ.टी.)** अर्थात् श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है। भाव श्रुतज्ञान रूप शुद्धोपयोग से जो आत्मा की अबद्ध स्पृष्टत्व आदि विशेषणों के साथ अनुभूति हुई वही अविरल जिनशासन की अनुभूति है। वही ज्ञानानुभूति है। वही आत्मानुभूति है। (आ.टी.)

प्रश्न-४. उस आत्मानुभूति के समय क्या होता है ?

उत्तर- उस आत्मानुभूति में सामान्य के प्रगट होने से और विशेष के आच्छादित होने से अनुभव में आया हुआ ज्ञान आत्मा के एक स्वभाव का आस्वादन लेता है। जैसे अलुब्ध जनों को व्यंजन का स्वाद छूट जाने से एक सामान्य लवण की डली का ही आस्वादन होता है। जैसे अज्ञानी जनों को नमक की डली जो कि एक रस वाली है वह अलग-अलग शाक-दाल आदि में अलग-अलग रस वाली अनुभव में आती है। उसी प्रकार निर्विकल्प समाधि से रहित अज्ञानियों को यह आत्मा स्पर्श, रस, गंध आदि ज्ञेय के भेद से खण्ड-खण्ड अनुभव में आती है। ज्ञानियों को पुनः निर्विकल्प समाधि में एक अखण्ड ज्ञान रूप शुद्धात्मा जानने में आती है।

प्रश्न-५. कोई कहता है कि अज्ञानी- ज्ञेयों में आसक्त है। व्रत, तप, दया, दान, पूजा, भक्ति आदि व्यवहार रत्नत्रय के परिणामों में आसक्त है, ऐसे ज्ञेय लब्ध जीवों को आत्मा के अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द का स्वाद नहीं आता है ?

उत्तर- अरे भाई! बात सही होते हुए भी अभिप्राय सही नहीं है। ज्ञानी वीतरागी होता है। उस वीतरागी ज्ञानी का भी यही कहना है कि व्यवहार रत्नत्रय की रुचि छोडक़र निश्चय रत्नत्रय की रुचि प्राप्त करो; क्योंकि निश्चय रत्नत्रय ही शुद्धोपयोग है। शुद्धोपयोग में ही एक अखण्ड आत्मा का ज्ञान रस का स्वाद आता है। उसी ज्ञान रस का स्वाद लो। उसी की अनुभूति करो। यह बात वीतरागी श्रमणों ने सरागी श्रमणों के लिए कही है। न की सरागी गृहस्थ विषय कषायी जनों के लिए। देखो! आचार्य जयसेन महाराज जी ने इस बात का खुलासा किया है कि अज्ञानी जीव किन विषयों में आसक्त होता है। **स्पर्श-रस-गंध-शब्द-नील पीतादिवर्णज्ञेयपदार्थविषयभेदेन (ता.टी.)** अर्थात् अज्ञानी जीव स्पर्श, रस, गंध, शब्द और नीले, पीले आदि वर्ण रूप जो ज्ञेय पदार्थ हैं उनके विषयभेद से अपने ज्ञान को खण्ड-खण्ड अनुभव में लाता है। देखो! कितना स्पष्ट होता है कि यहाँ स्पर्श आदि पंचेन्द्रियों के विषयों में लुब्ध को अज्ञानी कहा है और देखा जाय तो वही ज्ञेय पदार्थ कहलाते हैं। क्या व्रत, तप, पूजा ये कोई ज्ञेय पदार्थ हैं ? क्या ये कोई वस्तु हैं ? जिन्हें अनुभव में लाने पर लुब्धता आए।

महान् ज्ञानी आचार्य अमृतचन्द्र जी के अभिप्रायों को श्रेष्ठ करुणावान् आचार्य जयसेन महाराज ने अपनी तात्पर्य वृत्ति टीका में खोला है। यह शुद्धोपयोग रूप परिणति में आत्मानुभव क्वचित् कदाचित् परम दिगम्बर श्रमणों को ध्यान, सामायिक के काल में होता है और गृहस्थों को

यह आत्मानुभूति कदापि सम्भव नहीं है, तब भी इस शुद्धात्मा की भावना करनी चाहिए। व्रत, तप, पूजा आदि व्यवहार रत्नत्रय में भी शुद्धात्मा का लक्ष्य होने से वह सर्वथा अज्ञानी नहीं किन्तु कथंचित् ज्ञानी ही है। व्रत, तप, पूजादि ज्ञेय हैं और इनमें लुब्धता अज्ञान है, ऐसा किन्हीं आचार्यों का अभिप्राय नहीं है। यह शुष्क अध्यात्म के अतिरेक का दुष्फल मात्र है।

प्रश्न-६. शुद्ध आत्मा की भावना किससे बचकर करनी चाहिए ?

उत्तर- समस्त मिथ्यात्व रागादि परिहारेण तत्रैव शुद्धात्मनि भावना कर्त्तव्येति (ता.टी.)- समस्त मिथ्यात्व, राग आदि का परिहार करके शुद्धात्मा की भावना करना चाहिए। आगे उसी ता.टी. में कहा है कि मिथ्यात्व शब्द से दर्शन मोह लेना और रागादि शब्द से चारित्र मोह लेना। जिससे स्पष्ट होता है कि समस्त दर्शन मोह और चारित्र मोह सम्बन्धी रागादि को छोडऩे पर ही शुद्धात्मा की पूर्ण अनुभूति होती है। जिन्होंने मिथ्यात्व छोडा है, वह भी शुद्धात्मा की भावना करे इसमें कोई हानि नहीं है। इस शुद्धात्मा की भावना से रागादि की हानि होती है और उत्तरोत्तर आत्म रुचि बढती है। इसलिए यथासंभव सभी को यह भावना करनी चाहिए।

प्रश्न-७. आत्मा के अनुभव बिना जीव अनन्तकाल से जन्म-मरण करके नरक-निगोद के अनन्तानन्त दु:खों को प्राप्त हुआ है। देव-शास्त्र-गुरु की भेदरूप श्रद्धा या नव तत्त्वों की भेदरूप श्रद्धा सम्यक्त्व नहीं है। कलश टीका के छठे कलश में आया है कि, संसार दशा में जीव द्रव्य नव तत्त्व रूप से परिणमा है, वह तो विभाव परिणति है इसलिए नव तत्त्व रूप वस्तु का अनुभव मिथ्यात्व है। इन भेदों में से एक रूप ज्ञायकभाव को अबद्धस्पृष्ट आत्मा को ग्रहण करके अनुभव करना सम्यग्दर्शन है। क्या यह सब कथन समीचीन है?

उत्तर- यह ठीक है कि आत्मानुभव बिना जीव के दु:ख कभी हमेशा के लिए नहीं मिटते हैं। वह आत्मानुभव क्या है ? किनको होता है ? यह पहले भी कह चुके हैं और आगे भी बहुत स्पष्ट कहा जाएगा। यह क्या ? देव, शास्त्र, गुरु की भेद रूप श्रद्धा या नव तत्त्वों की भेद रूप श्रद्धा सम्यक्त्व नहीं है। ऐसा कथन तो सरासर जिनागम के विरुद्ध है। आचार्य समन्तभद्र जैसे महान् तार्किक आचार्य, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। देव, शास्त्र, गुरु के यथार्थ श्रद्धान को यथार्थ स्वरूप समझकर बनाए रखना ही सम्यग्दर्शन है। इन्हीं तीनों को तत्त्व कहा है।

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागम तपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ।। रत्नकरण्ड श्रावकाचार।।

अर्थात्- परमार्थ भूत आप्त, आगम और तपस्वियों का तीन मूढता से रहित, अष्ट अंग से सहित, मद रहित श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है।
स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द देव ने पंचास्तिकाय में कहा है-

सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं।
चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं।। १०७ ।।

अर्थात्- जीव-अजीव आदि नौ भावों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। उन्हीं का ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और विषयों में समभाव होना चारित्र है। यह मोक्षमार्ग में दृढता के साथ प्रवृत्ति करने वालों के ही होता है।

आचार्य उमास्वामी महाराज तत्त्वार्थसूत्र में 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' अर्थात् तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। तत्त्व कितने हैं यह तो सभी जानते हैं कि सात तत्त्व जीव, अजीव आदि के भेद से हैं। इनमें पुण्य, पाप मिलाने से नव पदार्थ बन जाते हैं। इन्हीं को समयसार में नव तत्त्व भी कह दिया है। आचार्य पूज्यपाद, आचार्य अकलंक, आचार्य विद्यानन्द जैसे महान् आध्यात्मिक, न्यायविद्, स्याद्वाद् शासन से जिनधर्म की प्रतिष्ठा बढाने वाले आचार्यों ने कहीं भी नहीं लिखा कि देव, शास्त्र, गुरु की या नव तत्त्वों की श्रद्धा सम्यक्त्व नहीं है। देव, शास्त्र, गुरु तो भेद रूप ही अलग-अलग श्रद्धान में आएँगे; क्योंकि तीनों के लक्षण अलग-अलग हैं और नव तत्त्व भी पृथक् -पृथक् यथार्थ स्वरूप से जाने गए सम्यग्दर्शन हैं। ऐसी स्थिति में इन्हें सम्यक्त्व नहीं कहना पूर्वाचार्यों प्रणीत आगम को नहीं समझना है। संसार दशा में नव तत्त्व रूप ही अनुभव होगा। यह अनुभव स्वयं आचार्य अमृतचन्द्र जी ने इसी ग्रन्थ की गाथा नं. १३ में भूतार्थ कहा है। एक रूप ज्ञायक भाव अबद्धस्पृष्ट आत्मा का अनुभव करना सम्यग्दर्शन नहीं है, आत्मदर्शन है। यह निश्चयसम्यग्दर्शन तो देव, शास्त्र, गुरु या नव तत्त्वों के भेद रूप श्रद्धान को रखने वाले व्यवहार सम्यग्दृष्टियों को ही होगा। व्यवहार को सर्वथा मिटाने के एकान्तिक अभिप्राय वाले ही आचार्य परम्परा विरुद्ध ऐसे अनर्गल वचन कहते हैं।

अहो! जब नव तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन नहीं रहा तब छह द्रव्यों के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन होता है। ये वचन स्वयं कुन्दकुन्दाचार्य के कैसे सत्य ठहरेंगे ? छह द्रव्यों का, नव तत्त्वों का भेद रूप श्रद्धान ही होता है, अभेद रूप नहीं। अभेद रूप तो अनुभव एक आत्मा का अनुभव होता है, उसे निश्चय सम्यक्त्व आदि के भेद से निश्चय मोक्षमार्ग कहा है। व्यवहार मोक्षमार्ग के अन्तर्गत आने वाले व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप तो छह द्रव्य, नव पदार्थों के भेदरूप श्रद्धान से ही है। इस व्यवहार मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग नहीं मानना ही सबसे बडा मिथ्यात्व है। देखें -

धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं ।
चिट्ठा तवं हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति।। १६०।।

अर्थ- धर्म आदि द्रव्यों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अंग और पूर्व में प्रवृत्त होने वाला ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और तप धारण करना सम्यग्चारित्र है। इन तीनों का एक साथ मिलना व्यवहार मोक्षमार्ग है।

प्रश्न-८ पं. जयचन्द ने इसी गाथा के भावार्थ में अन्त में लिखा है कि 'श्री गुरु ने इस शुद्धनय को प्रकट कर दिखलाया है कि बद्ध- स्पृष्ट आदि पाँच भावों से रहित पूर्ण ज्ञान घन स्वभाव आत्मा को जानकर श्रद्धान करना, पर्याय बुद्धि का न रहना यह उपदेश है। इस शुद्ध नय से शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करना केवल व्यवहार -प्रत्यक्ष का ही एकान्त न कर लेना।' क्या यह भावार्थ आ.टी. के अनुरूप है ?

उत्तर- पं. जी ने जहाँ कहीं भावार्थ लिखा है उस में ही सबसे ज्यादा गडब्रडी की है। आ. अमृतचन्द्र जी का भाव शुद्धनय को दिखलाने का नहीं है और न यह भाव आचार्य कुन्दकुन्ददेव का है। गाथा और आत्मख्याति टीका दोनों में यही लिखा है कि शुद्ध नय से एक शुद्ध चैतन्य स्वभाव का अनुभव करना भूतार्थ है। अनुभव की वस्तु को मात्र श्रद्धान तक समेटकर रख देना यह इन भावार्थों का फल है। अरे भाई ! शुद्ध नय से आत्मा का शुद्ध स्वभाव है। यह श्रद्धान तो उसको पहले ही हो चुका है। तभी तो प्रमाण और नय से वस्तु स्वरूप को जानकर उसे समयग्ज्ञान प्राप्त हुआ है। यहाँ तो आत्म ख्याति टीका में यह स्पष्ट कहा है कि इन द्रव्य पर्याय से रहित शुद्ध वस्तु मात्र जीव स्वभाव का अनुभव होने पर दोनों नय अभूतार्थ हैं। शुद्ध नय से आत्मा नय, प्रमाण, निक्षेपों से ऊपर उठकर केवल जीव स्वभाव को अनुभव करता है। उस अनुभव को कराने का यहाँ प्रयोजन है, मात्र श्रद्धान कराने का नहीं।

सर्वत्र हिन्दी भाषा की इस टीका में यही गडब्रडी की है। गाथा नं. १३ के भावार्थ में भी अन्त में लिख दिया कि- 'शुद्ध नय से जीव को जानने से ही सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो सकती है। जब तक आत्मा को नहीं जाना तब तक पर्याय बुद्धि है' (पृ. ३१) पण्डित जी की दृष्टि में सर्वत्र यही भ्रम फैला है कि यहाँ केवल सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की बात कही है। इसीलिए तो वे बार-बार प्रत्येक गाथा की टीका में लिखते हैं कि- 'शुद्ध नय से जीव को जानने से ही सम्यग्दृष्टि हो सकती है'। पण्डित जी बहुत बडी भूल में है कि मात्र शुद्धनय से जीव को जानने से सम्यग्दर्शन नहीं होता है। प्रत्यक्ष, परोक्ष प्रमाणों से तथा द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक दोनों नयों से जीव को जानने पर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है। ऐसा सर्वत्र तत्त्वार्थ सूत्र आदि ग्रन्थों में और इन समयसार की टीकाओं में भी लिखा है। यहाँ जिस सम्यग्दर्शन की समयसार में चर्चा है, वह तो निश्चय सम्यग्दर्शन है। जिस निश्चय सम्यग्दर्शन में आत्म दर्शन होता है।

आत्म श्रद्धान से होने वाला व्यवहार सम्यग्दर्शन जिस जीव को हो चुका है वही बाद में चारित्र धारण करके जब शुद्ध नय के विषयभूत शुद्ध आत्मा को निर्विकल्प समाधि में अनुभूति करता है तब उसे आत्म दर्शन होता है। उसे निश्चय सम्यक्त्व या वीतराग सम्यक्त्व कहा है। इस समयसार में सर्वत्र आत्मानुभव की महिमा दिखाई है। इस आत्मानुभव को लोग सम्यग्दर्शन मान कर चल रहे हैं, यही सबसे बडी भूल है।

जिस आत्मा में भव्यत्व का गुण होता है,
वही परमात्मा बनता है।

अथ परमात्मस्वरूपप्रकाशनं नः आशास्ति-

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहि
र्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छ्वलननिर्भरं सकलकालमालम्बते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम्।।१४।।

सं. टी. - अस्तु-भवतु, किं तत्? परमं महः-जगदुत्कृष्टं ज्योतिः जगत्प्रकाशकत्वात्, केषां? नः अस्माकं, किं भूतं? अखंडितं-न खंडितं-अध्वस्तं, केनापि प्रमाणेन कैश्चिद्विवादिभिस्तत्स्वरूपस्य खंडयितुमशक्यत्वात्, ''सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते'' इतिवचनात्, अनाकुलं न केनापि व्याकुलीकृतं तत्स्वरूपस्य केनापि पुद्गलादिसंयोगेनास्पृष्टत्वात्, जलेन विसनीपत्रवत्, भूयः किं भूतं? अनंतं न विद्यते, अंतो-विनाशो यस्य तत्, तद्गुणाविर्भावेन

उत्थानिका - अब परमात्म स्वरूप का प्रकाश हमको प्राप्त हो, यह कहते हैं-

अन्वयार्थ- (अखण्डितम्) खण्ड रहित (अनाकुलम्) किसी अन्य की आकुलता से रहित (अन्तर्बहिः अनन्तम् ज्वलत्) अन्तरंग और बहिरंग में अनन्त दीप्ति को धारण करने वाला (सहजम् सदा उद्विलासम्) स्वभाव से ही सदा उन्नत है विलास जिसका (चिदुच्छ्वलन निर्भरम्) चैतन्य की उछलती तरंगों से भरा हुआ, (सकलकालम् यत् उल्लसत् लवण खिल्यलीलायितम् एकरसम् आलंबते) नमक की डली जैसे एक क्षारभाव से परिपूर्ण है उसी तरह यह भी, उसी एक चैतन्य रस से सदा परिपूर्ण एक रसरूप है (परमं महः) ऐसा परम उत्कृष्ट तेज (नः अस्तु) हमें प्राप्त होवे। ।।१४।।

अर्थ- जो शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से अखण्डित भेदरहित है, जो आकुलता रहित है, परम अनन्त सुख का निधानभूत है, जो अन्तरंग और बहिरंग में, आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में और बाहर मन, वचन, काय में प्रकाशमान है, जो ज्ञानदर्शन स्वरूप चैतन्य के प्रकाश से परिपूर्ण होता है, जो सभी कालों में अविच्छिन्न रूप से एक प्रकार के अनुभव से प्रकट होता हुआ लवण की डली के समान है ऐसा वह आत्म द्रव्य स्वाभाविक अनन्त सुख के विलासों से युक्त परमज्ञान रूप तेज सदा-सर्वकाल अनन्तकाल तक हमारा होवे।।१४।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस कलश काव्य का क्या भाव है ?

उत्तर- परमात्मा के प्रकाश का स्वरूप मुझे प्राप्त होवे यह इच्छा व्यक्त की है। (प.अ.त.)

प्रश्न-२. जगत् में उत्कृष्ट ज्योति क्या है ?

उत्तर- परम केवलज्ञान ज्योति को 'परमं महः' कहा जाता है। सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशमान

विनाशरहितत्वात्, अंतः अभ्यंतरे, बहिः बाह्ये, ज्वलद्-देदीप्यमानं, बहिरंतःस्वरूपप्रकाशकत्वात्, सहजं-स्वाभाविकं, केनापीश्वरादिनाऽकृत्रिमत्वात्, सदा-निरंतरं, उद्विलासं-उद्-ऊर्ध्वं तनुवातवलये विलासः-सुखानुभवनं अथवा उदयमानो विलासो यस्य तत्, चिदुच्छ्वलननिर्भरं-चितश्चैतन्यस्य, उच्छ्वलनं तेन निर्भरं, प्रवर्धमानचित्स्वभावत्वात्, यत्-परंज्योतिः-सकलकालं-पूर्वापर वर्तमानकालं एकरसं शुद्धपरमात्मरसं, आलंबते-अवलंबयति, लवणरसवत्-यथैव हि व्यंजनलुब्धानामबुद्धानां लोकानां विचित्रव्यंजनसंयोगोपजातस्य सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामनुभूयमानं लवणं स्वदते, न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां तथैव ज्ञेयलुब्धानामबुद्धानां विचित्रप्रमेयाकारकरम्बितसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं ज्ञानं स्वदते न पुनस्तदन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां ज्ञानिनां-केवललवणरसिकानां तु तदेकं स्वदते। भूयः किंभूतमिति पदं सर्वत्र विशेषणे योज्यं, उल्लसदित्यादि-उल्लसन्-उल्लासं गच्छन्, स चासौ लवणखिल्यश्च लवणखंडं तस्य लीला, तद्वदायतं-विस्तृतं। यथा-अलुब्धबुद्धानां केवलः सैंधवखिल्यः परद्रव्यसंपर्कराहित्येनैवनुभूयमानः सर्वतोऽप्येकलवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते तथात्मापि सकलपरद्रव्यवैकल्येन केवल एव कल्पमानः सर्वतोप्यद्वितीयविज्ञानघनत्वाद् बोधत्वेन स्वदते।। १४।।

करने से वही उत्कृष्ट ज्ञान ज्योति है।

प्रश्न-३. इस उत्कृष्ट ज्ञान तेज की क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर- **१. अखण्डित है-** किसी भी प्रमाण से किन्हीं भी वादियों (अन्य मतियों) के द्वारा उसके स्वरूप का खण्डन करना सम्भव नहीं है। 'जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा हुआ सूक्ष्म तत्त्व किन्ही भी हेतुओं के द्वारा खण्डित नहीं हो सकता है।' ऐसे आचार्यों के वचन हैं।

२. अनाकुल है- किसी भी पुद्गल आदि के संयोग से स्पृष्ट नहीं होने से उस ज्ञान स्वरूप में कोई व्याकुलता नहीं आती है। जैसे जल में पडा कमलिनी का पत्ता जल से निर्लिप्त रहता है।

३. अनन्त है- उस अविनाशी ज्ञान गुण के प्रकट हो जाने से जिसका अब अन्त/विनाश नहीं होता है। इसलिए वह अनन्त स्वरूप है।

४. अन्तरंग बहिरंग से देदीप्यमान है- जो अन्दर-बाहर अपने स्वरूप से ही प्रकाशमान है।

५. सहज है- किसी भी ईश्वर आदि के द्वारा नहीं बनाई गई है। इसलिए अकृत्रिम होने से स्वाभाविक है, सहज है।

६. जिसका विलास सदा उदयरूप है- तनुवातवलय पर सदा सुख का अनुभव होने से सदा उद्विलास कहलाता है अथवा जिसका सुखानुभव सदा उदीयमान, प्रकट है।

अथ तस्यैवोपासनं संधत्ते-

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम्।।१५।।

सं. टी.- एष आत्मा-चिद्रूपः, नित्यं-सदा, समुपास्यतां-सेव्यतां-ध्यायतामित्यर्थः, कैः? सिद्धिं-स्वात्मोपलब्धिं, 'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिरिति' वचनात् अभीप्सुभिः-प्राप्तुमिच्छुभिः, किंभूतः? ज्ञानघनः-बोधपिंडः, एकः, योऽद्वितीयः साध्यसाधकभावेन साध्यश्च साधकश्च तौ, तयोर्भावेन-स्वभावेन, स एव आत्मा ध्येयरूपतया साध्यः, स एव ध्यायकरूपतया साधकः। न त्वन्यसाध्यः न त्वन्यश्च साधकः, तेन स्वरूपेण द्विधा-द्विप्रकारः।।१५।।

---

७. जो चैतन्य की उछलन से भरी है- बढे.हुए चैतन्य स्वभाव से जो चैतन्य के परिणमन से परिपूर्ण है।

८. जो सदाकाल लवण रस के समान एक रस का आलंबन लेती है- जैसे व्यंजन में लुब्ध अज्ञानियों को विचित्र (अनेक) व्यंजनों के संयोग से उत्पन्न लवण को सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव के द्वारा अनुभव में आकर चखा जाता है, न कि अन्य संयोग की शून्यता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव द्वारा उसी प्रकार ज्ञेय में लुब्ध अज्ञानी जनों को विचित्र ज्ञेयाकार से चित्रित सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभूति किए जाने पर ज्ञान का स्वाद आता है न कि उस ज्ञान का जो कि अन्य के संयोग से रहित हुआ सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव द्वारा स्वाद में आना चाहिए।

उत्थानिका - अब उसी परमात्म स्वरूप की उपासना हेतु कहते हैं-

अन्वयार्थ- (एषः ज्ञानघनः आत्मा) यह आत्मा इस प्रकार ज्ञानघनस्वरूप है जो (सिद्धिम् अभीप्सुभिः) सिद्धि प्राप्त करने वालों के द्वारा (साध्यसाधकभावेन द्विधा) साध्य साधक ऐसे दो रूप होने पर भी (एकः) जो एक है ऐसा आत्मा (नित्यं समुपास्यताम्) नित्य उपासना करने योग्य है। ।।१५।।

अर्थ- शुद्ध आत्मा के स्वरूप की प्राप्ति की इच्छा करने वालों को इस ज्ञान पिण्ड रूप शुद्ध आत्मा की प्राप्ति करने के लिए साध्य और साधक के भेद से दो विभाग करके उस एकरूप आत्मा की नित्य उपासना, सेवा करनी चाहिए।।१५।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस काव्य में क्या कहने का भाव किया है ?

उत्तर- पिछले कलश में जो आत्मस्वरूप की भावना की है उसी उपाय को यहाँ कहा है।

प्रश्न-२. इस आत्मा की उपासना किन्हें करना चाहिए ?

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ।। १८।। ता.वृ.

अथ तृतीयगाथायां सम्यग्ज्ञानादिकं सर्वं शुद्धात्मभावनामध्ये लभ्यत इति निरूपयति-

ता.टी.- आदा शुद्धात्मा। **खु** स्फुटं। **मज्झ** मम भवति। क्व विषये ? **णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे** सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्र

उत्तर- सिद्धि को चाहने वालों को नित्य इस आत्मा की उपासना करनी चाहिए।

प्रश्न-३. सिद्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर- आचार्य पूज्यपाद महाराज जी ने सिद्धभक्ति में कहा है कि **'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः'** अर्थात् अपने आत्मा की प्राप्ति होना ही सिद्धि है।

प्रश्न-४. कैसी आत्मा की उपासना करनी चाहिए ?

उत्तर- १. जो आत्मा ज्ञान घन है- ज्ञान का पिण्ड है।

२. जो एक रूप है अर्थात् अद्वितीय है- साध्य और साधक इन दोनों भावों में वह आत्मा ही रहता है इसलिए एक है।

प्रश्न-५. आत्मा ही साध्य है और साधक भी है, यह कैसे सम्भव है ?

उत्तर- वह आत्मा अपने स्वरूप को ध्येयरूप बनाने से साध्य है और स्वयं ही ध्यान करने वाला होता है इसलिए साधक है। अन्य कोई साध्य और साधक नहीं है । इसलिए आत्मा ही दो प्रकार का है।

अब आगे की गाथा में यह कहा गया है कि शुद्धात्म-भावना में परिणत होने पर ही अर्थात् समाधि में समाविष्ट होने पर ही सम्यग्ज्ञानादि प्राप्त होते हैं।

अर्थ- मेरे दर्शन, ज्ञान और चारित्र में तथा प्रत्याख्यान में एवं संवर में और ध्यान के समय में केवल आत्मा ही आत्मा है, ऐसा ज्ञानी का विचार होता है। ।।

टीकार्थ - आदा खु मज्झ स्पष्ट रूप से मेरी तो एक शुद्धात्मा है। **णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे** सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर और योग इन सब ही भावनाओं में एक आत्मा ही है। योग का क्या अर्थ है ? यहाँ योग से निर्विकल्प समाधि को लिया गया है जिसको परम सामायिक या परमध्यान भी कहते हैं। उस परम

विज्ञान में चरण में दृग संवरों में, औ प्रत्यख्यानगुण में लसता गुरो मैं।
शुद्धात्म की परम-पावन भावना का, है पाक मात्र सुख है, दुख वासना का।।१८।।

प्रत्याख्यानसंवरयोगभावनाविषये। योगे कोऽर्थः? निर्विकल्पसमाधौ परमसामायिके परमध्याने चेत्येको भावः भोगाकांक्षानिदानबन्धशल्यादिभावरहिते शुद्धात्मनि ध्याते सर्वं सम्यग्ज्ञानादिकं लभ्यत इत्यर्थः। एवं शुद्धनय व्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथात्रयं गतम् ।।८।।

समाधि में भोगाकांक्षा, निदान बंध और शल्य आदि भाव से रहित शुद्धात्मा का ध्यान करने पर उपर्युक्त समस्त सम्यग्ज्ञानादि की प्राप्ति होती है। इस प्रकार शुद्धनय के व्याख्यान की मुख्यता से प्रथम स्थल में तीन गाथा हुईं ।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस गाथा में क्या अभिधेय है ?

उत्तर- शुद्धात्मा की भावना में सम्यग्ज्ञान आदि सभी की प्राप्ति हो जाती है, यह यहाँ कहा है।

प्रश्न-२. सम्यग्ज्ञान के साथ और क्या-क्या प्राप्त हो जाता है ?

उत्तर- सम्यग्दर्शन, सम्यक् चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर और योग भी सम्यग्ज्ञान के साथ प्राप्त हो जाते है।

प्रश्न-३. यहाँ योग का क्या अर्थ है ?

उत्तर- यहाँ योग से तात्पर्य निर्विकल्प समाधि, परम सामायिक और परम ध्यान लिया है।

प्रश्न-४. अपनी शुद्धात्मा का ध्यान किन दुर्भावों से रहित होकर करना चाहिए ?

उत्तर- भोगों की आकांक्षा, निदान बन्ध और शल्य रहित होकर शुद्ध आत्मा का ध्यान करना चाहिए।

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।१६।। ता.टी. १९

आ.टी. - येनैव हि भावेनात्मा साध्यः साधनं च स्यात्तेनैवायं नित्यमुपास्य इति स्वयमाकूय परेषां व्यवहारेण साधुना दर्शनज्ञानचारित्राणि नित्यमुपास्यानीति प्रतिपाद्यते । तानि पुनस्त्रीण्यपि परमार्थेनात्मैक एव वस्त्वंतराभावात् । यथा देवदत्तस्य कस्यचित् ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं च देवदत्तस्वभावानतिक्रमाद्देवदत्त एव न वस्त्वंतरम् । तथात्मन्यप्यात्मनो ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं चात्मस्वभावानतिक्रमादात्मैव न वस्त्वंतरम् । तत आत्मा एक एवोपास्य इति स्वयमेव प्रद्योतते ।।१६।। स किल-

---

अन्वयार्थ - (साहुणा) साधु पुरुष को (दंसणणाणचरित्ताणि) दर्शन, ज्ञान, चारित्र (णिच्चं) सदा (सेविदव्वाणि) सेवन करने योग्य हैं; (पुण) और (ताणि तिण्णिवि) उन तीनों को (णिच्छयदो) निश्चयनय से (अप्पाणं चेव) एक आत्मा ही (जाण) जानो।

अर्थ- साधक को अपनी प्रारम्भिक अवस्था में दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों को भिन्न-२ रूप से भली प्रकार समझकर स्वीकार करना चाहिए, किन्तु निश्चयनय को अंगीकार करने पर तो ये तीनों आत्मस्वरूप होते हैं ।। १६।।

आ.व्या. - जिस भाव से आत्मा साध्य और साधन रूप हो उसी प्रकार से यह नित्य उपासना के योग्य है। इस प्रकार स्वयं विचार कर दूसरों को व्यवहारनय की दृष्टि से समझाया जाता है कि 'दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनकी निरन्तर उपासना करनी चाहिए' तो भी वे तीनों भी परमार्थतः एक आत्मस्वरूप हैं क्योंकि अन्य वस्तु में उनका अभाव होता है। जिस प्रकार देवदत्त संज्ञक किसी पुरुष विशेष का ज्ञान, श्रद्धान और अनुचरण (चारित्र) देवदत्त के स्वभाव का अतिक्रमण/उल्लंघन करके न पाया जाने से उनमें (वे) देवदत्त ही है। देवदत्त से भिन्न अन्य वस्तु नहीं है। उसी प्रकार आत्मा के विषय में ज्ञान, श्रद्धान और अनुचरण (चारित्र) आत्मा के स्वभाव का अतिक्रमण/उल्लंघन करके नहीं पाये जाते हैं जिससे वे आत्मा ही हैं, आत्मा से भिन्न वस्तु नहीं हैं। इसलिए एक आत्मा ही उपासना योग्य है। यह अभिप्राय स्वयमेव प्रकट हो जाता है।। १६।।

अब भेदाभेद रूप रत्नत्रय की मुख्यता से तीन गाथाएँ कही जा रही हैं। उसमें पहली गाथा के पूर्वार्द्ध से भेदरत्नत्रय की भावना को और उत्तरार्द्ध से अभेद रत्नत्रय की भावना को स्पष्ट करते हुए कथन करते हैं-

---

साधु चरित्र दृग बोध समेत पाले, आत्मा उन्हें समझ आतम गीत गा ले।
ज्ञानी नितान्त निज में निज को निहारे, तो अन्त में गुण अनन्त अवश्य धारे ।।१९।।

इत ऊर्ध्वं भेदाभेदरत्नत्रयमुख्यत्वेन गाथात्रयं कथ्यते। तद्यथा प्रथमगाथायां पूर्वार्द्धेन भेदरत्नत्रयभावनामपरार्द्धेन चाभेदरत्नत्रयभावनां कथयति-

ता.टी. - दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवितव्यानि साधुना व्यवहारनयेन नित्यं सर्वकालं। **ताणि पुण जाण तिण्णि वि** तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यपि। **अप्पाणं चेव** शुद्धात्मानं चैव। **णिच्छयदो** निश्चयतः शुद्धनिश्चयतः। अयमत्रार्थः- पञ्चेन्द्रियविषयक्रोधकषायादिरहितनिर्विकल्पसमाधिमध्ये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमस्तीति ।।१९।।

टीकार्थ- दसंणणाण चरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं साधु को व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों को भिन्न-भिन्न समझकर नित्य सदा ही इनकी उपासना करना चाहिए, अपने उपयोग में लाना चाहिए। **ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो** किन्तु शुद्ध निश्चयनय से वे तीनों एक शुद्धात्म स्वरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं है ऐसा समझना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि पंचेन्द्रियों के विषय और क्रोधादि कषायों से रहित जो निर्विकल्प समाधि है उसमें ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों होते हैं।।१९।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस गाथा में क्या कहने का भाव किया है ?

उत्तर- इस गाथा की प्रथम पंक्ति (पूर्वार्द्ध) से भेद रूप रत्नत्रय का सेवन करने की प्रेरणा दी है और द्वितीय पंक्ति (उत्तरार्द्ध) से अभेद रूप रत्नत्रय की निश्चय से सेवन करने की प्रेरणा दी है।

प्रश्न-२. इस रत्नत्रय का सेवन कौन करता है ?

उत्तर- गाथा में आए हुए 'साहुणा' पद से स्पष्ट है कि साधु परमेष्ठी ही रत्नत्रय का सेवन करते हैं।

प्रश्न-३. नित्य (हमेशा) कौन से रत्नत्रय का सेवन होता है ?

उत्तर- व्यवहार रत्नत्रय का सेवन नित्य होता है। क्योंकि साधु जीवन पर्यन्त के लिए पंच महाव्रत आदि तेरह प्रकार का चारित्र, अट्ठावीस मूलगुण को पालने का संकल्प लेता है, इसलिए सर्व काल व्यवहार रत्नत्रय बना रहता है।

प्रश्न-४. फिर निश्चय रत्नत्रय का सेवन कब होता है ?

उत्तर- जब वही साधु मूलगुण पालन संबंधी सभी क्रियाओं को छोडक़र परम सामायिक के काल में आत्मध्यान मात्र में निमग्न होता है तो उसके निश्चय रत्नत्रय का सेवन होता है।

प्रश्न-५. यह निश्चय रत्नत्रय का सेवन कितने काल तक हो सकता है ?

उत्तर- अधिक-से-अधिक अन्तर्मुहूर्त काल तक।

प्रश्न-६. ऐसा क्यों ? जबकि मुनि महाराज घंटों तक एक स्थान पर बैठकर या खड़े होकर

सामायिक, ध्यान आदि करते हैं और किंचित् भी क्रिया नहीं करते हैं, फिर उनके तो अधिक काल तक निश्चय रत्नत्रय होना चाहिए ?

उत्तर- अहो भाई ! निश्चय रत्नत्रय मात्र अप्रमत्त गुणस्थान में होता है और अप्रमत्त गुणस्थान का काल तो अन्तर्मुहूर्त ही है। उसमें भी अप्रमत्त गुणस्थान से दुगुने काल तक प्रमत्त गुणस्थान में रहना होता है। घंटों तक बैठे हुए उन मुनिराज के भी प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थान प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में परिवर्तित होता रहता है। इसलिए रत्नत्रय अप्रमत्त दशा मे अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा काल तक नहीं होता है।

प्रश्न-७. तो क्या बाहुबली महाराज एक वर्ष तक खडे.रहे थे, वे निश्चय रत्नत्रय में या अप्रमत्त दशा मात्र में लीन नहीं थे? इसी तरह छह महीने तक तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव भी एक योग धारण किये रहे, उनको क्या था ?

उत्तर- अरे भ्राता ! कोई भी हो, सिद्धान्त सभी के लिए एक समान होता है। सातवें अप्रमत्त गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा कोई भी नहीं रुक सकता है चाहे वो ऋषभदेव हों या बाहुबली मुनिराज। उनकी आत्मा में भी प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थान निरन्तर अन्तर्मुहूर्त के बाद परिवर्तित होते रहते हैं। इसीलिए इस अप्रमत्त दशा को निरतिशय अप्रमत्त कहा जाता है।

प्रश्न-८. तो क्या अप्रमत्त गुणस्थान के भी भेद होते हैं ?

उत्तर- हाँ ! अप्रमत्त गुणस्थान दो प्रकार का होता है -

१. निरतिशय अप्रमत्त- यह श्रेणी नहीं चढने वाले मुनि के होता है जो निरन्तर अन्तर्मुहूर्त बाद प्रमत्त गुणस्थान में आकर बदलता रहता है।

२. सातिशय अप्रमत्त- यह गुणस्थान श्रेणी चढने के सम्मुख मुनिराज के होता है।

प्रश्न-९. इसका अर्थ यह हुआ कि अप्रमत्त दशा ध्यान के समय ही होती है, बाकी समय तो प्रमत्त दशा ही बनी रहती है ?

उत्तर- आपका यह सोचना भी पूर्णत: गलत है। अप्रमत्त दशा ध्यान के समय भी होती है और प्रवृत्ति के समय भी होती है। आहार करना, विहार करना, प्रवचन करना आदि ऐसी क्रियाएँ हैं जो अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल तक चलती हैं। इन क्रियाओं में जो सावधानी है वह अप्रमत्त गुणस्थान को बताती है तथा जो क्रिया है वह प्रमत्त गुणस्थान को दिखाती है। यह भी मात्र स्थूल रूप से समझने के लिए कहा है। सर्वथा ऐसा नहीं है। सूक्ष्म रूप से गुणस्थानों का परिवर्तन स्वयं ही संज्वलन कषाय की मंदता, तीव्रता से चलता रहता है, उसका अनुभव भी केवलीगम्य है। अत: अप्रमत्त अवस्था में प्रवृत्ति होना सिद्ध है। जिन मुनिराज को परिहार विशुद्धि संयम की ऋद्धि प्राप्त होती है, उन्हें भी प्रतिदिन सामायिक काल को छोड़कर दो कोस गमन करने की आज्ञा है। उस गमन में उनका छठा-सातवाँ गुणस्थान चलता रहता है; क्योंकि परिहार विशुद्धि संयम छठे-सातवें गुणस्थान के अलावा अन्य गुणस्थान में नहीं पाया जाता है।

प्रश्न-१०. यहाँ कहते हैं कि एक आत्मा को तीन रूप परिणमित हुआ कहना यह व्यवहार हुआ, अतः असत्यार्थ भी हुआ। क्या इससे इसे मेचक, मलिन कहा है?

उत्तर- व्यवहार रत्नत्रय में परिणत आत्मा की तीन परिणतियाँ मुनिराज की होती हैं। वे अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करके ही पहले व्यवहार रत्नत्रय को साधते हैं। इस रत्नत्रय की परिणति को भेद रत्नत्रय कहते हैं। इससे आत्मा में विशुद्धि उत्पन्न होती है, कर्म की असंख्यातगुणी निर्जरा प्रति समय होती है और इसी विशुद्धि से निर्विकल्प ध्यान में परिणति सहज हो जाती है। इसी कारण से निश्चय रत्नत्रय का साधक व्यवहार रत्नत्रय होता है। यदि व्यवहार रत्नत्रय को असत्यार्थ कहकर मलिन कहा जाय तो मुनिधर्म का ही अभाव हो जाए। अट्ठाईस मूलगुणों के बिना मुनि धर्म का अभाव है। **मूलाचार** ग्रन्थ में व्यवहार रत्नत्रय का ही प्रधानता से वर्णन है। **वट्टकेर आचार्य** मंगलाचरण में कहते हैं कि-

मूलगुणेसु विसुद्धे वंदित्ता सव्वसंजदे सिरसा।
इह परलोगहिदत्थे मूलगुणे कित्तइस्सामि।।

अर्थात्- जो मूलगुणों में विशुद्ध हुए हैं, ऐसे सभी संयतों को सिर से नमस्कार करके इह लोक और परलोक के हित के लिए मूलगुणों को कहूँगा।

बिना व्यवहार रत्नत्रय के आत्मा का सेवन निश्चय रूप से कभी नहीं हो सकता है। यह तीन रूप परिणाम व्यवहार हुआ, असत्यार्थ हुआ, इतना कहने मात्र से यदि व्यवहार असत्यार्थ होवे तो व्यवहार धर्म ही असत्यार्थ हो जावे और तीर्थ का ही विच्छेद हो जावे। मुनिराज के लिए यह भेद रत्नत्रय रूप परिणति मेचक है। अनेक रूप से आत्मा का सेवन कराती है इसलिए मेचक कहा है। व्यवहार रत्नत्रय भी चारित्र गुण की निर्मल पर्याय है और निश्चय रत्नत्रय भी निर्मल पर्याय है, द्रव्य नहीं है। द्रव्य दृष्टि होने पर भी आत्मा की साधकतम पर्यायें निश्चय रत्नत्रय से जब केवलज्ञान रूप परिणमित करती हैं तभी द्रव्य की प्राप्ति होती है। केवल द्रव्य दृष्टि से जानने और कहने से द्रव्य की प्राप्ति नहीं हो जाती है। निश्चय रत्नत्रय में ध्यान रूप परिणति होती है वह भी पर्याय है। इसलिए निश्चय द्रव्य रूप है, यह एकान्तिक अवधारणा भी ठीक नहीं है। जब तक चारित्र गुण की पूर्णता नहीं होती है तब तक उस चारित्र गुण की पर्याय ही निकलती हुई साधकतम बनती रहती है। निश्चय चारित्र रूप परिणति तो केवलज्ञान के लिए ही साधक है, वह भी साध्य नहीं है। द्रव्य ही साध्य होता है, पर्याय साधक होती है। मोक्ष की प्राप्ति में ही जीव द्रव्य शुद्ध द्रव्यत्व रूप से परिणमन करता है। उससे पहले तो केवलज्ञान होने के बाद भी उसमें सिद्धत्व की अनुभूति का अभाव बना रहता है। उस परम शुद्ध जीव द्रव्य की सिद्धत्व भाव के साथ अनुभूति के लिए चौदहवें गुणस्थान में चतुर्थ शुक्ल ध्यान में चारित्र गुण की पर्याय कारण बनती है। इसलिए पर्याय पर लक्ष्य

जाने से राग होता है यह वचन ही अव्याप्ति दोष से सहित है। पर्याय द्रव्य की होती है और द्रव्य की शुद्धता के अनुरूप उत्पन्न होती है। अन्तिम चतुर्थ शुक्ल ध्यान की पर्याय भी चारित्र गुण की पर्याय है और वही पर्याय मोक्ष की साक्षात् कारण है। कहा भी है- **'निश्चयनयादयोगिकेवलि चरम समयवर्तिनो रत्नत्रयस्य मुक्ति हेतुत्व व्यवस्थितेः। (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक भाग-१ पृ. ८५)**

अर्थात्- निश्चय नय से अयोगिकेवली (चौदहवें गुणस्थानवर्ती) के चरम समयवर्ती रत्नत्रय ही मुक्ति का हेतु है, यह सिद्ध होता है। यदि परम्परा कारण को न माना जाय और मात्र साक्षात् कारण ही स्वीकार किया जाए तो आचार्य कहते हैं कि निश्चय नय से निश्चय रत्नत्रय भी मुक्ति का कारण नहीं है किन्तु अयोगी केवली की अन्तिम समय में जो रत्नत्रय की परिणति है, वही मोक्ष का कारण है। इसलिए हे भव्यात्मन् ! इस साध्य साधक भाव को तब तक मानना है जब तक कि मोक्षसाध्य की प्राप्ति न हो जाए। सदैव यह ध्यान रखो कि 'व्यवहार रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रय का साधक है, निश्चय रत्नत्रय केवलज्ञान का साधक है और चतुर्थ शुक्ल ध्यान रूप परम निश्चय रत्नत्रय मोक्ष का साधन (कारण) है।'

दुविहं णि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि।
णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होई ।। १४।।

अर्थ : जहाँ बाह्याभ्यन्तर भेद से दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग हो और मन-वचन-काय ऐसे तीनों योगों में संयम हो तथा कृत-कारित -अनुमोदना ऐसे तीन करण जिसमें शुद्ध हों, वह ज्ञान हो तथा निर्दोष जिसमें कृत, कारित, अनुमोदना अपने को न लगे, ऐसा खड़े रह कर पाणिपात्र में आहार करे, इस प्रकार मूर्तिमन्त दर्शन होता है।। दर्शनपाहुड १४।।

अथात्मनस्त्रित्वमेकत्वमाह-

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम्।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः।।१६।।

सं. टी.- आत्मा-परमात्मा, समं-युगपत्, मेचकः-विचित्रस्वभावः, कुतः? दर्शनज्ञानचारित्रैः कृत्वा त्रित्वात्-त्रिस्वभावत्वात्। अपि च, अमेचकः-विचित्रस्वभावरहितः, कुतः? स्वयं-स्वतः-एकत्वतः-एकस्वभावत्वात्। ननु यः एकस्वभावः सोऽनेकः कथं स्यात् एकानेकयोः परस्परं विरोधात्। इति चेन्न प्रमाणतः-प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणतः, एकानेकस्वभावत्वसाधनात्। तानि पुनस्त्रीण्यपि परमार्थेन, आत्मैक एव, वस्त्वंतराभावात्। देवदत्तस्य यथा श्रद्धानं, ज्ञानं, आचरणं, तत्स्वभावानतिक्रमात् तत्स्वभाव एव न वस्त्वंतरं, तथात्मन्यपि तत्त्रितयं तत्स्वभावानतिक्रमात् आत्मा एव न वस्त्वंतरं, मेचकचित्रज्ञानवद्वा एकत्वानेकत्वं ।।१६।।

उत्थानिका - अब आत्मा के तीन रूप एकत्व को कहते हैं-

अन्वयार्थ- (आत्मा) यह आत्मा (दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वात् मेचकः) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र तीनों रूपों को धारण करने से मेचक है अर्थात् तीन स्वभाव वाला है। तथा (स्वयं एकत्वतः अमेचकः) स्वयं अपने स्वरूप की एकता परिणति के कारण अमेचक है, नानारूप नहीं है। तथा (प्रमाणतः समम्) प्रमाण से मेचक अमेचक युगपत् दोनों ही है। ।।१६।।

अर्थ- दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन भेदों से तीन प्रकार का होने के कारण मेचक है तो भी स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से स्वयं ज्ञायकभाव मात्र स्वभाव वाला होने से अमेचक भी है। ।।१६।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१ यह आत्मा मेचक है या अमेचक है ?

उत्तर- यह आत्मा परमात्मा है और युगपत्-एक साथ मेचक एवं अमेचक है।

प्रश्न-२ मेचक क्या है ? और अमेचक क्या कहलाता है ?

उत्तर- विचित्र अर्थात् नाना स्वभाव वाला होने से मेचक है और विचित्र स्वभाव से रहित एक स्वभाव वाला है, इसलिए अमेचक है।

प्रश्न-३ इस आत्मा (परमात्मा) का विचित्र स्वभाव कैसे है ?

उत्तर- दर्शन, ज्ञान, चारित्र इन तीनों के कारण तीनपना होने से त्रि स्वभावपना है इसलिए मेचक है।

प्रश्न-४ परमात्मा का अमेचक स्वभाव कैसे है ?

उत्तर- स्वयं एक स्वभाव वाला होने से अमेचक है।

प्रश्न-५ जो एक स्वभाव वाला है, वह अनेक रूप कैसे हो सकता है ? क्योकि एक-अनेक इन दोनों स्वभावों मे परस्पर विरोध है ?

उत्तर- ऐसा नहीं है। प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण से एक-अनेक स्वभावपना साधा जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्यक्ष प्रमाण से एक स्वभावपना परमात्मा को जानने का साधन है और परोक्ष प्रमाण से परमात्मा को जानने का साधन अनेक स्वभावपना है।

प्रश्न-६ क्या इन तीन स्वभाव वाला आत्मा अन्य है और एक स्वभाव वाला अन्य है ?

उत्तर- नहीं, ये तीनों ही परमार्थ से आत्मा हैं। एक ही है; क्योंकि ये दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों ही आत्मा को छोडक़र अन्य वस्तु में नहीं रहते हैं।

प्रश्न-७ इसे समझाने के लिए दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करें।

उत्तर- जैसे कोई देवदत्त नाम का पुरुष है। उसके जो श्रद्धान, ज्ञान और आचरण हैं, वे तीनों ही उस देवदत्त के स्वभाव का उल्लंघन नहीं करने से वे उसके स्वभाव ही हैं, अन्य कोई देवदत्त से भिन्न वस्तु नहीं हैं उसी प्रकार से आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीनों ही आत्म स्वभाव को छोडक़र अन्यत्र नहीं रहते हैं इसलिए आत्मा ही हैं, कोई अन्य वस्तु नहीं है।

प्रश्न-८ कोई कहता है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र का सेवन करो- ऐसा व्यवहार का कथन है। अभेद ग्राही निश्चय निर्मल है, दृष्टि में रखने लायक तो एक अभेद वस्तु ही है ?

उत्तर- हे भव्यात्मन् ! हठाग्रह छोडक़र आचार्यों की वाणी को समझो। इस कलश की जो संस्कृत टीका आचार्य शुभचन्द्र जी ने की है उसी के अनुरूप प्रश्नोत्तर टीका की है। यहाँ आत्मा से तात्पर्य सर्व साधारण आत्मा नहीं है किन्तु आत्मा से तात्पर्य यहाँ परमात्मा से है। अर्थात् केवलज्ञान को प्राप्त परमात्मा के स्वभाव का वर्णन यहाँ है। यहाँ युगपत् एक-अनेक रूप देखने की बात कही है।

यहाँ व्यवहार से तीन स्वभावपना होने पर भी उस मेचक को भी आत्मा का स्वभाव कहा है, उसी को समझाने के लिए देवदत्त का दृष्टान्त दिया है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीनों आत्मा के अलावा अन्यत्र नहीं रहते हैं। इसलिए ये आत्मा के स्वभाव हैं। इस व्यवहार से मेचक को आत्म स्वभाव कहा है। इसी से स्पष्ट है कि यहाँ मेचक का अर्थ मलिन लेना सर्वथा अज्ञान है और कदाग्रह है। प्रश्नोत्तर ५ में तो यह भी स्पष्ट किया है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा एक स्वभाव वाला साधा जाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण अर्थात् केवलज्ञान। उस केवलज्ञान की अपेक्षा से आत्मा एक स्वभाव वाला है और परोक्ष प्रमाण अर्थात्

अथ मेचकामेचकत्वमात्मनः पद्यद्वयेन विवृणुते-

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः।।१७।।

सं. टी.- आत्मा, एकोऽपि-चैतन्येकस्वभावेनाद्वितीयः, व्यवहारेण-व्यवहारदशायां, मेचकः-नानास्वभावः, त्रिस्वभावत्वात्-त्रयः-दर्शनादिलक्षणाः, स्वभावा यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् त्रिस्वभावत्वं। किं कृत्वा? त्रिभिः-त्रिसंख्याकैः, दर्शनज्ञानचारित्रैः-आत्मश्रद्धानावबोधानुचरणैः।

परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः।
सर्वभावांतरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः।।१८

मति,श्रुतज्ञान आदि की अपेक्षा आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीन स्वभाव वाला है। अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्र से तब तक आत्मा को साधन बताना उचित है जब तक कि प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त न हो; क्योंकि ये तीनों ही आत्मा के स्वभाव हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि युगपत् एकानेकपना तो केवलज्ञान में ही संभव है। इसी बात को समझाने के लिए आचार्य शुभचन्द्र जी ने एक और उदाहरण दिया है- **'मेचक चित्रज्ञानवद्वा एकत्वानेकत्वम्।'** अर्थात् मेचक चित्रज्ञान के समान एकानेकपना जानना। जैसे हरा, पीला, काला आदि रंगों का समूह चित्र (चितकबरा) कहा जाता है। तो जिस प्रकार वहाँ जुदे-जुदे रंगों की अपेक्षा कहा जाय तो अनेक स्वरूपता और समूह की अपेक्षा कहा जाय तो एकरूपता सिद्ध हो जाती है। उसी प्रकार दर्शन आदि की भिन्न विवक्षा से आत्मा अनेकरूप सिद्ध होता है और ये आत्मा से जुदे पदार्थ नहीं हैं, उसी के स्वभाव हैं तथा एक आत्म स्वभाव की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रमाण में एक स्वभाव रूप हैं। इस तरह एकानेकपना जानना। दृष्टि में रखने लायक मात्र अभेद वस्तु ही नहीं है भेद वस्तु भी है। यह अपने आप सिद्ध है। क्योंकि वस्तु का स्वभाव मात्र अभेद रूप नहीं किन्तु भेदाभेदरूप है। यह अभेद वस्तु मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय है, परोक्ष प्रमाण का नहीं।

उत्थानिका - अब आत्मा का मेचक अमेचकपना दो पद्यों से कहते हैं-

अन्वयार्थ- (एकोऽपि) एक होने पर भी यह आत्मा (दर्शनज्ञानचारित्रैः त्रिभिः परिणतत्वतः) ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीन रूप परिणत होता है, अतः (त्रिस्वभावत्वात्) तीन रूप परिणमन करने के कारण (व्यवहारेण) व्यवहार नय से (मेचकः) नाना स्वरूप है। ।।१७।।

अर्थ- एक ही आत्मा दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों रूप से परिणत होने से व्यवहारनय की दृष्टि से तीन स्वभाव वाला होने से भी (निश्चयनय की दृष्टि से) एक (अमेचक) होने पर भी (कथंचित्) मेचक (अनेक रूप) है। ।।१७।।

सं. टी.- तु पुनः, आत्मा एकक:-एक इति संज्ञा यस्य सः। संज्ञायां कप्रत्ययविधानात्। अथवा एक एव, एकक:, परमार्थेन-द्रव्यादेशतया, अमेचक:-अखंडैकस्वभावः। केन? व्यक्तेत्यादि-व्यक्तं-स्पष्टं, तच्च तज्ज्ञातृत्वं-बोधकत्वं तदेव ज्योतिः-महः तेन कृत्वा। कुतः? सर्वेत्यादि-सर्वे च ते भावांतराश्च अन्यपदार्थाः, तान् ध्वंसयति विनाशयति ततो विविक्तो भवतीत्येवंशीलः स्वभावो यस्य स, तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्।।१८।। अथात्मनः साध्यं प्रतिफलते-

आत्मनश्चिंतयैवालं मेचकामेचकत्वयोः।
दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा।।१९।।

सं. टी.- आत्मनः-चिद्रूपस्य, मेचकामेचकत्वयोः-एकत्वानेकत्वयोः-शुद्धत्वाशुद्धत्वयोर्वा चिंतयैव-चिंतनेनैव, विचारणेनेत्यर्थः, अलं पूर्यतां, तद्विचारणे न किमपीत्यर्थः। तर्हि कुतः साध्यसिद्धिः? दर्शनज्ञानचारित्रैः आत्मश्रद्धानावबोधानुचरणैः साध्यो मोक्षः, भव्यात्मनां मुक्तेरेव साध्यत्वात्, तस्य सिद्धिर्दर्शनज्ञानचारित्रैर्भवतीत्याध्याहार्यं, अन्यथा तत्-श्रद्धानादिमंतरेण साध्यसिद्धिर्न च-नैव रसांगवत् यथा उपास्यमानो रसांगस्तद्गुणश्रद्धानतत्सेवनानुचरणविधानतो रोगो वनीवच्यते नान्यथा तथात्मनो दर्शनादिकं।। १९।।

अन्वयार्थ- (परमार्थेन तु) परमार्थ से देखा जाय तो (व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैकक:) प्रकट रूप जो अपनी ज्ञान ज्योति उसके कारण एक रूप होने से तथा (सर्वभावान्तरध्वंसि स्वभावत्वात्) सम्पूर्ण विकारी रागादिभावों का ध्वंस स्वभाव होने के कारण (अमेचक:)अमेचक है। ।।१८।।

अर्थ- किन्तु शुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से देखा जाय तो आत्मा का (एकमात्र) ज्ञातृत्वतेज ज्ञायकत्व व्यक्त (सभी अवस्थाओं में अभिव्यक्त) होने से वह सिर्फ एक होने से एक है और सभी अन्य भावों का विनश्वर स्वभाव वाला होने से आत्मा अमेचक है। ।।१८।।

अन्वयार्थ- (आत्मनः मेचकामेचकत्वयोः चिन्तया एव अलम्) अथवा आत्मा मेचक है या अमेचक अर्थात् अनेक रूप या एकरूप इसकी चिन्ता ही छोड. दो। इससे कुछ लाभ नहीं है। (दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिः न च अन्यथा) आत्मसिद्धि तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र से ही होती है, अन्यथा नहीं होती। ।।१९।।

अर्थ- आत्मा के मेचकत्व और अमेचकत्व के विषय में विचार अब रोक दो। शुद्ध आत्मा की प्राप्तिरूप साध्य की सिद्धि दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीनों रूप एक उपाय से होती है, अन्यथा नहीं होती अर्थात् इससे भिन्न उपाय से नहीं होती। यानी मेचकत्वा-मेचकत्व के विषय में किये जाने वाले ऊहापोह से नहीं होती। ।।१९।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. आत्मा मेचक किस नय से है ?

उत्तर- आत्मा व्यवहारनय से मेचक है अर्थात् व्यवहार दशा में आत्मा त्रि-स्वभाव वाला होने से नाना स्वभाव वाला है।

प्रश्न-२. तीन रूप परिणति किस प्रकार से है ?

उत्तर- दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीन रूप परिणति आत्मा की हैं। उसमें आत्मा का श्रद्धान, आत्मा का ज्ञान और आत्मा में ही अनुचरणरूप चारित्र ये तीन परिणतियाँ हैं।

प्रश्न-३. आत्मा एक स्वभाव वाला किस नय से है ?

उत्तर- परमार्थ से अर्थात् द्रव्यार्थिक नय से आत्मा एक स्वभाव वाला है।

प्रश्न-४. परमार्थ से आत्मा अमेचक क्यों कहा ?

उत्तर- परमार्थ से आत्मा का ज्ञातृत्व अर्थात् ज्ञायकपना पूर्ण प्रकट हो जाता है। यानी आत्मा एक ज्ञायक ज्योति रूप शुद्ध द्रव्य मात्र अनुभव में आता है। उसमें अन्य कोई पदार्थ या भाव नहीं रहता है। इसलिए उसे अमेचक अर्थात् अखण्ड एक स्वभाव वाला कहा जाता है।

प्रश्न-५. यह आत्मा अमेचक कब बनता है ?

उत्तर- जब आत्मा सभी कर्मों से रहित, एक, शुद्ध स्वभाव वाला, परभावों के नाश से ज्ञाता मात्र ज्योति रूप प्रकट हो जाता है अर्थात् केवलज्ञान ज्योति को प्राप्त होने पर आत्मा अमेचक होता है।

प्रश्न-६. क्या इस मेचक-अमेचक के विचार से साध्य की कुछ सिद्धि होती है ?

उत्तर- एकत्व-अनेकत्व रूप या शुद्धत्व-अशुद्धत्व रूप दो प्रकार से मेचक-अमेचक होना दिखाया है। इन दोनों ही तरह से आत्मा का विचार करने पर कुछ भी सिद्धि नहीं होती है।

प्रश्न-७. तो फिर साध्य सिद्धि किससे होती है ?

उत्तर- आत्मा का श्रद्धान, आत्मा का ही ज्ञान और आत्मा में आचरण रूप चारित्र इन दर्शन, ज्ञान, चारित्र के द्वारा ही साध्य की सिद्धि होती है। अन्यथा रसांग के समान अन्य प्रकार से साध्य-सिद्धि नहीं होती है। जैसे रसांग (औषधि) की उपासना करने वाला औषधि के गुण का श्रद्धान, औषधि का ज्ञान और औषधि का सेवन तथा अनुचरण (उसी के अनुरूप परहेज आदि करते हुए चलना) करता है तभी रोग समाप्त होता है अन्य प्रकार से नहीं। उसी तरह दर्शन, ज्ञान, चारित्र को आत्मसिद्धि के लिए जानना।

प्रश्न-८. यह साध्य और सिद्धि क्या है ?

उत्तर- भव्य जीवों को मुक्ति ही साध्य होने से मोक्ष साध्य है और उस मोक्ष की प्राप्ति ही सिद्धि है।

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिदूण सद्दहदि।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ।।१७।। ता.टी. २०

एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ।।१८।। ता.टी. २१ (युगलम्)

आ.टी. - यथा हि कश्चित्पुरुषोऽर्थार्थी प्रयत्नेन प्रथममेव राजानं जानीते ततस्तमेव श्रद्धत्ते ततस्तमेवानुचरति। तथात्मना मोक्षार्थिना प्रथममेवात्मा ज्ञातव्यः ततः स एव श्रद्धातव्यः ततः स एवानुचरितव्यश्च साध्यसिद्धेस्तथान्यथोपपत्त्यनुपपत्तिभ्याम्। तत्र यदात्मनोनुभूयमानानेक-भावसंकरेऽपि परमविवेककौशलेनायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानेन संगच्छमानमेव तथेतिप्रत्ययलक्षणं श्रद्धानमुत्प्लवते

अन्वयार्थ - (जह णाम) जैसे (को वि) कोई (अत्थत्थीओ पुरिसो) धन का अर्थी पुरुष (रायाणं) राजा को (जाणिदूण) जानकर (सद्दहदि) श्रद्धा करता है (तो पुणो) और फि र(तं पयत्तेण अणुचरदि) उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है अर्थात् सुन्दर रीति से सेवा करता है, (एवं हि) इसी प्रकार (मोक्खकामेण) मोक्ष के इच्छुक को (जीवराया) जीवरूपी राजा को (णादव्वो) जानना चाहिए (पुणो य) और फिर (तह य) इसी प्रकार (सद्दहेदव्वो) उसका श्रद्धान करना चाहिए (दु) और तत्पश्चात् (सो चेव अणुचरिदव्वो) उसी का अनुचरण करना चाहिए अर्थात् अनुभव के द्वारा तन्मय हो जाना चाहिए।

अर्थ- जैसे कोई भी धन की इच्छा वाला जीव पहले राजा को राजा जानकर उस पर भरोसा करता है, फिर प्रयत्नपूर्वक तदनुकूल आचरण करके उससे धन प्राप्त करता है। उसी प्रकार मोक्षार्थी जीव को भी जीव रूपी राजा को जानकर उस पर भरोसा करते हुए प्रयत्नपूर्वक तदनुकूल आचरण करना चाहिए। ।।१७-१८।।

आ.व्या.- जैसे धन चाहने वाला कोई पुरुष सबसे पहले राजा को जान लेता है, बाद में 'वह राजा ही है' ऐसा उसके ही विषय में श्रद्धान कर लेता है और बाद में उसकी ही सेवा करता है, वैसे ही मोक्षप्राप्ति की इच्छा करने वाले पुरुष को सबसे पहले आत्मा को जानना चाहिए । बाद में 'यह आत्मा ही है' ऐसा उसके ही विषय में श्रद्धान कर लेना चाहिए और फिर उसी तरह अपना

ज्यों निर्धनी धनिक की कर खोज पाता, आस्था धनार्थ उसमें फिर है जमाता।
ले मात्र एक धुन वो धन की सदैवा, पश्चात् सहर्ष उसकी करता सुसेवा ।।२०।।

भाई! इसी तरह आत्म गवेषणा हो, श्रद्धा समेत उसको फिर देखना हो।
चारित्र भी तदनुसार सुधारना हो, ध्यातव्य! मात्र मन में शिव कामना हो ।।२१।।

तदा समस्तभावांतरविवेकेन निःशंकमवस्थातुं शक्यत्वादात्मानुचरणमुत्प्लवमानमात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेस्तथोपपत्तिः। यदा त्वाबालगोपालमेव सकलकालमेव स्वयमेवानुभूयमानेऽपि भगवत्यनुभूत्यात्मन्यात्मन्यनादिबंधवशात् परैः सममेकत्वाध्यवसायेन विमूढस्यायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानं नोत्प्लवते तदभावादज्ञातखरशृङ्गश्रद्धानसमानत्वाच्छ्रद्धानमपि नोत्प्लवते तदा समस्तभावांतरविवेकेन निःशंकमवस्थातुमशक्यत्वादात्मानुचरणमनुत्प्लवमानं नात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेरन्यथानुपपत्तिः ।। १७-१८।।

अथ गाथाद्वयेन तामेव भेदाभेदरत्नत्रयभावनां दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति-

ता.टी. - जह यथा। **णाम** अहो स्फुटं वा। **कोवि** कोऽपि कश्चित्। **पुरिसो** पुरुषः। **रायाणं** राजानं। **जाणिदूण** छत्रचामरादिराजचिह्नैर्ज्ञात्वा। **सद्दहदि** श्रद्धत्ते अयमेव राजेति निश्चिनोति।

आचरण रखना चाहिए। क्योंकि शुद्धात्म स्वरूप की प्राप्ति रूप साध्य की सिद्धि तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति से घटित होती है, अन्य प्रकार से घटित नहीं होती। इनमें से जब अनुभव किये जाने वाले अनेक भावों (परिणामों) के साथ संयोग होने पर भी उत्कृष्ट भेद-विज्ञान के कौशल से (निपुणता से) 'यह मैं अनुभूति हूँ' (मैं अनुभूति से भिन्न नहीं हूँ) ऐसे आत्मज्ञान से युक्त हो 'आत्मानुभूति ही है'। तब यह आत्मा उसी प्रकार का है ऐसी प्रतीति या अनुभूति लक्षण वाला श्रद्धान उत्पन्न होता है तभी आत्मा को अन्य भावों से पृथक् करके निःशंकरूप से आत्म स्वरूप में स्थिर होना शक्य होने से जो आत्मा का आचरण उत्पन्न होता है, वह आत्मा की सिद्धि (प्राप्ति) करता है। इस प्रकार शुद्धात्म स्वरूप साध्य की सिद्धि उसी प्रकार के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण से घटित होती है। यह तथोपपत्ति हेतु है। और जब बाल-गोपालों से लेकर सभी लोगों के द्वारा सदा ही स्वयमेव अनुभव होने पर भी भगवान् आत्मा के बारे में अनादिकाल से चले आए बन्ध के प्रभाव से परभावों के साथ (आत्मा की) एकरूपता का निश्चय करने के कारण विमूढ बनी हुई आत्मा के साथ 'यह मैं अनुभूति हूँ '। इस प्रकार से आत्मा के स्वरूप का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता तब उस प्रकार के ज्ञान का अभाव होने से जिसको कभी जाना नहीं ऐसे गधे के सींग का श्रद्धान जिस प्रकार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार 'आत्मा ज्ञान ही है' इस प्रकार का निश्चयात्मक श्रद्धान भी उत्पन्न नहीं होता है। तब सभी अन्य भावों को पृथक् कर निःशंकरूप से आत्म स्वरूप में स्थिर होना अशक्य होनेसे आत्मा में अनुचरण वाला चारित्र प्रकट नहीं होने से आत्मा की सिद्धि नहीं कर सकता। इस प्रकार शुद्धात्म स्वरूप की प्राप्तिरूप साध्य की सिद्धि ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र को छोडक़र अन्य प्रकार से घटित नहीं होती। यही अन्यथानुपपत्ति है ।।

अब उपर्युक्त भेदाभेदरत्नत्रय की भावना को दृष्टान्त और दार्ष्टांत से आगे दो गाथाओं से स्पष्ट करके बतलाते हैं -

तो ततो ज्ञानश्रद्धानानन्तरं। **तं** तं राजानं। **पुणो पुनः अणुचरदि** अनुचरति आश्रयत्याराधयति। कथंभूतः सन् ? **अत्थत्थीओ** अर्थार्थिको जीवितार्थी। **पयत्तेण** प्रयत्नेन सर्वतात्पर्येणेति दृष्टान्तगाथा गता।

एवं अनेन प्रकारेण। **हि** स्फुटं। **जीवराया** शुद्धजीवराजा। **णादव्वो** निर्विकार-स्वसंवेदनज्ञानेन ज्ञातव्यः। **तह य** तथैव। **सद्दहेदव्वो** अयमेव नित्यानन्दैकस्वभावो रागादिरहितः शुद्धात्मेति निश्चेतव्यः। **अणुचरिदव्वो य** अनुचरितव्यश्च निर्विकल्प समाधिनानुभवनीयः। **पुणो** पुनः। **सो चेव** स चैव शुद्धात्मा। दु पुनः **मोक्खकामेण** मोक्षार्थिना पुरुषेणेति दार्ष्टान्तः। इदमत्र तात्पर्यं भेदाभेदरत्नत्रय भावनारूपया परमात्मचिन्तयैव पूर्यतेऽस्माकं किं विशेषेण शुभाशुभरूपविकल्पजालेनेति। एवं भेदाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयं द्वितीयस्थले गतम्।। २०-२१।।

टीकार्थ- जह णाम को वि पुरिसो जैसे कोई भी पुरुष **रायाणं जाणिदूण सद्दहदि** छत्र चमर आदि राजचिह्नों से राजा को जानकर 'यही राजा है' ऐसा निश्चय करता है, तो **तं अणुचरदि** तदनन्तर उसका आश्रय लेता है, उसकी आराधना करता है **अत्थत्थीओ पयत्तेण** पूर्ण प्रयत्न से, क्योंकि वह धन का इच्छुक है। इस प्रकार दृष्टान्त हुआ।

एवं हि इसी प्रकार **जीवराया** शुद्ध जीवराजा **णादव्वो** निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान से जानने योग्य है। **तह य** वैसे ही **सद्दहेदव्वो** यह नित्यानन्द स्वभाव वाला रागादि रहित ही शुद्धात्मा है ऐसा निर्णय करने योग्य है **अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु** तथा वही शुद्धात्मा आश्रय करने योग्य है- निर्विकल्प समाधि के द्वारा अनुभव करने योग्य है **मोक्खकामेण** मोक्ष के इच्छुक द्वारा, इस प्रकार यह दार्ष्टान्त हुआ।

तात्पर्य यह है कि हम संसारी आत्माओं का भेदाभेद रत्नत्रयात्मक भावनारूप परमात्म चिन्तन के द्वारा ही वांछित सिद्ध हो जाता है तो फिर इधर-उधर के शुभाशुभ विकल्प जाल से क्या प्रयोजन है ?

इस प्रकार भेदाभेद रत्नत्रय की मुख्यता से दूसरे स्थल में तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं ।। २०-२१।।

विशेषार्थ- यहाँ पर आचार्य महाराज कहते हैं कि जो मुमुक्षु हैं, दुःखों से दूर होकर रहना चाहते हैं, उन्हें चाहिए कि संसार की इतर सब बातों को भूलकर केवल एक शुद्धात्मा को जानें, पहचानें और उसी में तल्लीन होकर रहें, बस कल्याण का यही एक मार्ग है ।।१७-१८।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इन गाथाओं का अवतार किस उद्देश्य से हुआ है ?

उत्तर- भेद-अभेद रत्नत्रय की भावना को दृढ. करने के लिए यहाँ दृष्टान्त और दार्ष्टान्त देकर समर्थन किया गया है।

प्रश्न-२. किस पुरुष को भेदाभेद रत्नत्रय की भावना करनी चाहिए ?

उत्तर- 'मोक्खकामेण' जो मोक्ष चाहता है, ऐसे मोक्षार्थी पुरुष को भेदाभेद रत्नत्रय की भावना करनी चाहिए।

प्रश्न-३. मोक्ष तो सभी चाहते हैं अतः सभी मोक्षार्थी हुए, फिर यहाँ विशेष बात क्या हुई ?

उत्तर- यहाँ मोक्षार्थी उसे कहा है, जिसने पूर्व में दीक्षा अंगीकार कर भेदाभेद रत्नत्रय धारण किया है। उसकी अभेद रूप निश्चय रत्नत्रय की भावना में बार-बार लगने वाला ही मोक्षार्थी है। अन्य चतुर्थ आदि गुणस्थान वाले मोक्षार्थी यहाँ विवक्षित नहीं हैं। जो मोक्षमार्ग पर आरूढ.है वही मोक्षार्थी है, वही मुमुक्षु कहलाता है। मोक्षमार्ग रत्नत्रयात्मक है, इसलिए व्यवहार रत्नत्रय को धारण करने वाले मुनिराज ही मोक्षार्थी या मुमुक्षु हैं।

प्रश्न-४. मोक्षार्थी या मुमुक्षु तो अविरत सम्यग्दृष्टि भी होता है, फिर यहाँ उनकी विवक्षा क्यों नहीं?

उत्तर- नहीं, आचार्यों ने मोक्षार्थी या मुमुक्षु रत्नत्रयधारी को ही कहा है। **स्वयंभू स्तोत्र** में भगवान आदिनाथ की स्तुति करते हुए उन्हें मुमुक्षु संज्ञा तब दी जब उन्होंने गृह त्याग किया था, उससे पहले नहीं।

विहाय यः सागरवारिवाससं वधूमिवेमां वसुधावधूसतीम्।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान् प्रभुः प्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः।। ३।।

अर्थात्- जिन्होंने सागर के समान जल रूपी कपडे.से विस्तृत पृथ्वी रूपी वधू को सती समान मानकर छोड.दिया था, वे मुमुक्षु इक्ष्वाकु कुल के प्रमुख थे। आत्मवान् थे। समर्थ थे। सहिष्णु और तप से कभी च्युत नहीं हुए थे। इसी तरह अरनाथ भगवान की स्तुति में भी कहा है-

लक्ष्मीविभवसर्वस्वं मुमुक्षो श्चक्रलांछनम् ।
साम्राज्यं सार्वभौमं ते जरत्तृणमिवाभवत् ।। ३।।

उन अरनाथ भगवान मुमुक्षु को लक्ष्मी वैभव वाला सर्व धन, चक्र के चिह्न वाला साम्राज्य और सार्वभौमिक प्रभुता जीर्ण तृण के समान हो गई थी।

इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि भगवान ने जिस समय साम्राज्य त्यागा उसी समय उन्हें मुमुक्षु कहा गया है।

प्रश्न-५. यह कथन क्या आ.टी. से भी समर्थित होता है ?

उत्तर- अवश्य होता है। मोक्षार्थी के लिए कहा है कि वह परम विवेक कौशल अर्थात् परम भेद विज्ञान से 'अयम् अहं' 'यह मैं हूँ'। इस आत्मज्ञान से अनुभूति को प्राप्त हो। इस भेद विज्ञान से आत्मानुभूति करने का पात्र रत्नत्रयधारी श्रमण ही होता है। उसी भेद विज्ञान मूलक आत्मानुभूति के समय यह आत्मा वैसा है, ऐसी प्रतीतिरूप श्रद्धान प्रगट होता है और उसी से आत्मा में आचरण

रूप स्वरूपाचरण चारित्र प्रकट होता है। ऐसे अप्रमत्तादि गुणस्थानों में लीन यति ही साध्य की सिद्धि करता है।

प्रश्न-६. क्या ता.टी. में भी इसका समर्थन है ?

उत्तर- हाँ ! शुद्ध जीव राजा को निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान से जानना चाहिए। उस शुद्धात्मा का श्रद्धान रागादि से रहित हो निश्चय करना चाहिए और निर्विकल्प समाधि से उसका अनुभव करना चाहिए।

प्रश्न-७. यहाँ पहले जानने को कहा, फिर श्रद्धान करने को, फिर आचरण करने को कहा है, ऐसा क्यों ? जबकि सर्वत्र श्रद्धान, ज्ञान, आचरण का यह क्रम है ?

उत्तर- यहाँ जीवादि सात तत्त्वों का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण करके जो सम्यग्ज्ञानी होकर रत्नत्रय को धारण कर चुका है उस जीव को आत्मा में आचरण रूप निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति का क्रम बताया है। जो श्रमण अपनी आत्मा में निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान से पहले यह अनुभूति करे कि 'यह मैं वही हूँ' 'मैं यह हूँ' ऐसे भेदज्ञान के बल से आत्मा को जानना पहले होता है, फिर उसी में रुचि बढ़ने से श्रद्धा बढ.जाती है। फिर उसी में लीनता आती है। अत: स्पष्ट है कि यहाँ मात्र आत्मा को प्राप्त करने की विधि कही है। किसी अनादि मिथ्यादृष्टि के लिए सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्राप्त कराने की बात भी नहीं है।

प्रश्न-८. तो क्या अविरत सम्यग्दृष्टि को 'यह मैं हूँ' ऐसा आत्मज्ञान अनुभव में नहीं आता है ?

उत्तर- हाँ ! अविरत सम्यग्दृष्टि को मैं शरीर से भिन्न शुद्ध, बुद्ध, ज्ञायक एक स्वभाव वाला आत्मा हूँ , यह श्रद्धान, ज्ञान होता है। किन्तु यहाँ आत्मा की वास्तविक प्रतीति, अनुभूति की बात कही है। 'यह आत्मा मैं हूँ' ऐसे आत्मज्ञान रूप अनुभव के अलावा 'मैं आत्मा हूँ' ऐसा अनुभव तो आबाल गोपाल सभी को होता है।

अथात्मनस्त्रित्वैकत्वाभ्यामभिन्नत्वेन सर्वमुपपनीपद्यते-

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्।
सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिह्नं न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः।।२०।।

सं. टी.- अनुभवामः-अनुभवविषयीकुर्मः, किं तत्? इदं-संवेद्यमानं सुखादिभिः, आत्मज्योतिः-परं महः, कियंतं कालं? सततं-निरंतरं, किंभूतं तत्? कथमपि-केनचित्प्रकारेण-रत्नत्रयात्मलक्षणेन समुपात्तत्रित्वमपि-सं-सम्यक्, उपात्तं-गृहीतं, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूपेण त्रित्वं त्रयात्मकत्वं येन तत्, ईदृक्षमपि एकतायाः चैतन्यैकस्वभावायाः सकाशात्, अपतितं-अभिन्नं आत्मनस्त्रित्वैकत्वसमर्थनात्, पुनः किं भूतं? उद्गच्छत्ऊर्ध्वगमनस्वभावं, उद्ऊर्ध्वंअग्रेअग्रे गच्छति जानातीति, उद्गच्छत् विशुद्धकर्मक्षयादनंतरं, ऊर्ध्वगमनस्वभावत्वात्, विशुद्धिविशेषादग्रे ज्ञानस्य प्राचुर्यार्च्च। पुनः किं भूतं? अच्छं निर्मलं कर्मकर्दमरहितत्वात्, अनंतेत्यादि-अनंतं-विनाशरहितं, चैतन्यं-चैतन्यस्वभावः, तदेव चिह्नं लक्ष्म यस्य, तत्। कुत एतत् अनुभवामः? यस्मात् यतः कारणात् अन्यथा-आत्मानुभवमंतरेण, साध्यसिद्धिः-साध्यस्य-चिद्रूपलक्षणस्य, सिद्धिः-प्राप्तिः, न खलु न खलु (न खलु) निश्चयेन नैव भवतीत्यर्थः। वीप्सार्थोऽयमतिशयेन निषेधकः। अधिकवचनं च किंचिदभीष्टं ज्ञापयत्याचार्यः तथोपपत्त्यान्यथानुपपत्त्या चात्मनः साध्यसिद्धिर्नान्यथा, आत्मानुभवनेनैव मुक्तिप्राप्तिरिति तथोपपत्तिः, तदनुभवनमंतरेण कदाचित्क्वचिदपि कस्यचित् न तत्सिद्धिरित्यन्यथानुपपत्तिः।।२०।।

उत्थानिका - अब त्रिपने को और एकत्व के द्वारा अभिन्नपने से आत्मा को कुछ प्राप्त होता है, यह कहते हैं-

अन्वयार्थ- (कथमपि) किसी भी प्रकार से (समुपात्तत्रित्वमपि) तीनपने को प्राप्त करके भी (एकताया अपतितम्) अपनी एकता को नहीं छोड़ने वाली (इदम् आत्मज्योतिः) ऐसी यह आत्मज्योति जो (अच्छम् उद्गच्छत्) निर्मलता से उदय को प्राप्त हो रही है तथा जो (अनन्त चैतन्य चिह्नम्) अनाद्यनन्त चैतन्य लक्षण वाली है, उसी का हम (सततं अनुभवामः) निरन्तर अनुभव करते हैं। उस साध्य आत्मा की सिद्धि का एक यही प्रकार है (यस्मात्) क्योंकि (अन्यथा साध्यसिद्धिः) आत्मानुभव के सिवाय दूसरे प्रकार से साध्य की सिद्धि (न खलु न खलु) नहीं हो सकती, नहीं हो सकती।। २०।।

अर्थ- किसी प्रकार से भी विविधता को प्राप्त हुए तो भी एकत्व में च्युत नहीं हुए उदय को प्राप्त होने वाले स्वच्छ निर्मल अनन्त चैतन्य-अविनश्वर ज्ञान से परिचय में आने वाले इस आत्मा के तेज को हम निरन्तर अनुभव करते हैं कारण कि मोक्ष की प्राप्ति अखण्ड स्वरूप आत्मानुभव के बिना निश्चय से नहीं-नहीं हो सकती ।। २०।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस आत्म ज्योति को किस प्रकार से अनुभव में लायें ?

उत्तर- जिन्होंने सं-सम्यक् रूप से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र को ग्रहण कर लिया है ऐसे रत्नत्रयात्मक लक्षण से अनुभव में लायें। वह आत्मा तीन प्रकार की होकर भी चैतन्य स्वभाव रूप एकता से अभिन्न है।

प्रश्न-२. कैसी है यह आत्मज्योति ?

उत्तर- १. उद्गच्छत्- ऊर्ध्वगमन स्वभाव वाली है। विशुद्ध होते हुए कर्म के क्षय के बाद ऊर्ध्वगमन स्वभाव होता है और विशुद्धि विशेष से जिसका ज्ञान आगे-आगे का जानता जाता है।

२. अच्छम्- कर्म कीचड.से रहित होने से वह निर्मल है।

३. अनन्तचैतन्यचिह्नम्- विनाश रहित चैतन्य स्वभाव ही उसका चिह्न है।

प्रश्न-३. यह कैसे अनुभव की जाती है ?

उत्तर- आत्मानुभव से। आत्मानुभव के बिना जो अपने साध्यभूत चिद्रूप लक्षण की प्राप्ति है वह निश्चय से नहीं होती है।

प्रश्न-४. यहाँ दो बार 'न खलु न खलु' कहने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर- यहाँ आचार्य कुछ अभीष्ट बताने के लिए अधिक वचन को कहते हैं 'अधिक का फल अधिक होता है' इस न्याय के अनुसार साध्यसिद्धि और आत्मानुभव में तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति- हेतुओं का अन्वय-व्यतिरेक भी होता है। अर्थात्- आत्मानुभव से ही मोक्ष प्राप्त होता है, यह तथोपपत्ति हेतु है। उस आत्मानुभव के बिना कभी भी, कहीं भी, किसी को भी मुक्ति की सिद्धि नहीं होती है, यह अन्यथानुपपत्ति हेतु है। (प.अ.त.)

प्रश्न-५. आ.टी. में कहा है कि इस आत्मा ने क्षणभर भी उस ज्ञान की उपासना नहीं की है, सो यहाँ किस ज्ञान की उपासना की बात कही है?

उत्तर- यहाँ ज्ञान की उपासना से तात्पर्य आत्मज्ञान की भेदविज्ञानमूलक अनुभूति से है। जब तक यह आत्मा अभेद रत्नत्रय से परिणत उस आत्मा की शुद्धोपयोग में अनुभूति नहीं करता है तब तक अज्ञानी है। उप यानी निकट रूप से आसना-बैठना, ठहरना। आत्मा में ठहरना ही उपासना है। यह अनुभूति क्षणमात्र ही होती है, सर्वदा नहीं।

प्रश्न-६. इस अनुभूति का पूर्व कारण क्या कहा है ?

उत्तर- स्वयंबुद्धत्व होने से या बोधितबुद्धत्व होने से ऐसे आत्मज्ञान की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न-७. स्वयंबुद्ध और बोधितबुद्ध कौन होता है ?

उत्तर- सामान्य से जिन्हें स्वयं वैराग्य उत्पन्न हुआ हो वे स्वयंबुद्ध कहलाते हैं और जिन्हें पर उपदेश के निमित्त से वैराग्य, आत्म ज्ञान उत्पन्न हुआ हो वे बोधितबुद्ध कहलाते हैं। स्वयंबुद्ध और

बोधितबुद्ध यह संज्ञा मुनिराजों के लिए ही लगती है। तत्त्वार्थसूत्र में अन्तिम अध्याय के अन्तिम सूत्र में प्रत्येकबुद्ध और बोधितबुद्ध के भेद से सिद्धों में भेद किया है। वह इसी अपेक्षा से है। वैराग्यवान् जीव को ही आत्मज्ञानी कहा है। उसी आत्मज्ञान की प्राप्ति के निमित्तों का यहाँ कथन है। न कि सम्यग्दर्शन मात्र प्राप्त करने के निमित्तों का यहाँ कथन है। कई विद्वान् इन्हें सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के निमित्त बताते हैं, जो सही नहीं है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिए तो अधिगम और निसर्गज ये शब्द आते हैं। 'स्वयंबुद्ध' और 'बोधितबुद्ध' विशेष रूप से यह संज्ञा ऋद्धिधारी मुनीश्वरों के लिए आती है।

प्रश्न-८. यहाँ 'अयं - अहं' अर्थात् 'यह मैं हूँ' इस अनुभूति को करने को क्यों कहा है ?

उत्तर- 'यह मैं हूँ ' यह अनुभूति निर्विकल्प ध्यान में ही होती है। यह अनुभूति सप्तम आदि गुणस्थानों में होती है। उससे पहले सविकल्प दशा में 'सोऽहम्' 'वह मैं हूँ' यह अनुभूति का विषय रहता है। यह सविकल्प दशा चतुर्थ से छठे गुणस्थान तक रहती है। सविकल्प दशा से निर्विकल्प दशा में लीन कराने के लिए प्रेरणा है और उसी निर्विकल्प अनुभूति को करने के लिए भावना भी है। चूंकि यह अध्यात्म प्रधान ग्रन्थ है इसलिए यहाँ निर्विकल्प अनुभूति मात्र की प्रेरणा है। इसी अनुभूति को आत्मज्ञान या भेदविज्ञान कहा है। आचार्य पूज्यपाद देव ने भी समाधितन्त्र में इसी तरह की प्रेरणा दी है और सविकल्प से निर्विकल्प अवस्था मे पहुँचाने की विधि कही है -

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः ।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ।। २८ ।।

अर्थात्- 'सोऽहं' वह मैं हूँ इस प्रकार संस्कार ग्रहण करता हुआ और उसी में पुनः भावना करता हुआ उस आत्मा में ही दृढसंस्कार से आत्मा स्थिति को प्राप्त करता है अर्थात् आत्मा अपने स्वरूप में ठहर जाता है।

ननु ज्ञानतादात्म्यादात्मा ज्ञानं नित्यमुपास्त एव, कुतस्तदुपास्यत्वेनानुशास्यत इति चेत्, तन्न यतो न खल्वात्मा ज्ञानतादात्म्येपि क्षणमपि ज्ञानमुपास्ते, स्वयंबुद्धबोधितबुद्धत्वकारणपूर्वकत्वेन ज्ञानस्योत्पत्तेः। तर्हि तत्कारणात्पूर्वमज्ञान एवात्मा नित्यमेवाप्रतिबुद्धत्वात्? एवमेतत्।

तर्हि कियंतं कालमयमप्रतिबुद्धो भवतीत्यभिधीयताम् -

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ।।१९।। ता.टी. २२

आ.टी. - यथा स्पर्शरसगंधवर्णादिभावेषु पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधेषु घटोऽयमिति घटे च स्पर्शरसगंधवर्णादिभावाः पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कंधाश्चामी इति वस्त्वभेदे-

---

उत्थानिका - तो फिर कितने काल तक यह अप्रतिबुद्ध होता है, यह कहना चाहिए-

अन्वयार्थ - (जा) जब तक इस आत्मा की (कम्मे) ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, भावकर्म (य) और (णोकम्मह्मि) शरीरादि नोकर्म में (अहं) यह मैं हूँ (च) और (अहकं कम्म णोकम्मं इदि) मुझमें - आत्मा में 'यह कर्म-नोकर्म हैं' (एसा खलु बुद्धी) ऐसी बुद्धि है, (ताव) तब तक (अप्पडिबुद्धो) यह आत्मा अप्रतिबुद्ध (हवदि) है।

अर्थ- जब तक इस आत्मा के ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागद्वेषादि भावकर्म और शरीरादि नोकर्म में 'मैं कर्म नोकर्म हूँ और ये कर्म-नोकर्म मेरे हैं' ऐसी प्रतीति होती रहती है तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध अर्थात् अज्ञानी है। ।।१९।।

उत्थानिका - प्रश्न- आत्मा का ज्ञान के साथ तादात्म्य होने से वह ज्ञान है और नित्य उस ज्ञान की उपासना आत्मा करता ही है फिर उसे ज्ञान की उपासना करने की शिक्षा क्यों दी जा रही है? उत्तर- ऐसा नहीं है, चूँकि आत्मा ज्ञान के साथ तादात्म्य रखता है फिर भी क्षण भर भी वह ज्ञान की उपासना नहीं करता क्योंकि स्वयंबुद्ध और बोधितबुद्धपना इन कारण पूर्वक ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है।

प्रश्न- तो फिर स्वयंबुद्ध या बोधितबुद्ध होने से पहले आत्मा अज्ञान में ही है क्योंकि वह नित्य अप्रतिबुद्धता से ही रहता है?

उत्तर- हाँ ऐसा ही है अर्थात् वह अज्ञानी ही है।

आ.व्या.- जैसे स्पर्श, रस,गन्ध, वर्ण आदि पुद्गल के भाव वाले पृथुबुध्न (फैला हुआ

हूँ कर्म देहमय ये मुझसे न न्यारे, किंवा शरीर मम है वसु कर्म सारे।
भाई सदैव रटता जड.मूढ.ऐसा, दीखे उसे परम आतम गूढ.कैसा ? ।।२२।।

नानुभूतिस्तथा कर्मणि मोहादिष्वंतरंगेषु नोकर्मणि शरीरादिषु बहिरंगेषु चात्मतिरस्कारिषु पुद्गलपरिणामेष्वहमित्यात्मनि च कर्म मोहादयोंतरंगा नोकर्म शरीरादयो बहिरंगाश्चात्मतिरस्कारिणः पुद्गलपरिणामा अमी इति वस्त्वभेदेन यावंतं कालमनुभूतिस्तावंतं कालमात्मा भवत्यप्रतिबुद्धः। यदा कदाचिद्यथा रूपिणो दर्पणस्य स्वपराकारावभासिनी स्वच्छतैव वह्नेरौष्ण्यं ज्वाला च तथा नीरूपस्यात्मनः स्वपराकारावभासिनी ज्ञातृतैव पुद्गलानां कर्म नोकर्म चेति स्वतः परतो वा भेदविज्ञानमूलानुभूतिरुत्पत्स्यते तदैव प्रतिबुद्धो भविष्यति ।। १९।।

अथ स्वतंत्रव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयं कथ्यते। तद्यथा-स्वपरभेदविज्ञानाभावे जीवस्तावदज्ञानी भवति परं किन्तु कियत्कालपर्यन्तं इति न ज्ञायते एवं पृष्टे सति प्रथमगाथायां प्रत्युत्तरं ददाति-

ता.टी.- कम्मे कर्मणि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणि रागादिभावकर्मणि च। **णोकम्मह्मि य** शरीरादि नोकर्मणि च। **अहमिदि** अहमिति प्रतीतिः। **अहकं च कम्मणोकम्मं** अहकं च कर्म

तलभाग), पृथु उदर (फैला हुआ मध्यभाग) आदि आकारों से परिणत पुद्गल स्कन्धों में 'यह घट है' इस प्रकार और इस घट में स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि भाव (स्वभावभूत गुण) तथा पृथुबुध्न, पृथु उदर आदि आकारों से परिणत पुद्गल स्कन्ध भी यह है इस तरह वस्तु की अभेद से अनुभूति होती है (यहाँ घट वस्तु की अपने में ही तादात्म्य संबंध रखने वाले गुणों और पर्यायों से अभेदता दिखाई है।) उसी प्रकार आत्मा का तिरस्कार (या स्वरूप का प्रच्छादन) करने वाले जो मोह आदि अन्तरंग कर्म हैं और शरीर आदि बहिरंग नोकर्म (पुद्गल स्कन्ध) हैं, ये सभी कर्म, नोकर्म पुद्गल के परिणाम हैं। इन सभी पुद्गल परिणामों में 'मैं हूँ' इस प्रकार और 'अन्तरंग कर्म मोह आदि तथा बहिरंग नोकर्म-शरीर आदि जो आत्मा का तिरस्कार करने वाले पुद्गल के परिणाम हैं' इस प्रकार ये पुद्गल परिणाम 'आत्मा में हैं' इस तरह वस्तु (जीव की कर्म, नोकर्म से) की अभेद (अभिन्न) रूप से जब तक अनुभूति होती है तब तक (उतने काल तक) यह आत्मा अप्रतिबुद्ध होता है। जैसे रूपी दर्पण की स्व-पर स्वरूप को दिखाने वाली स्वच्छता ही होती है और अग्नि की उष्णता और ज्वाला ही होती है, उसी प्रकार नीरूप (अरूपी) आत्मा की स्व-पर आकार (स्वरूप) को दिखाने वाली ज्ञातृता (ज्ञायक भावपना) ही होती है और कर्म, नोकर्म ये पुद्गलों के होते हैं, इस प्रकार स्वयं से या पर से (गुरु से) भेदविज्ञानमूलक यह अनुभूति जब कभी (जिस काल में) उत्पन्न होगी तभी (उस काल में) वह आत्मा प्रतिबुद्ध होगा। ।।१९।।

आगे स्वतन्त्र व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथायें कही जाती हैं-

अब जिस जीव को आप पर के भेद का ज्ञान नहीं है वह अज्ञानी होता है यह तो हम समझे, किन्तु वह अज्ञानी कब तक रहता है ? ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं-

टीकार्थ - कम्मे ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और रागादि भावकर्म **णोकम्मह्मि य** तथा शरीरादि नोकर्म में अहमिदि 'मैं हूँ' ऐसी प्रतीति होती है। **अहकं च कम्मणोकम्मं** अथवा ये कर्म

नोकर्मेति प्रतीतिः, यथा घटे वर्णादयो गुणा घटाकारपरिणतपुद्गलस्कन्धाश्च वर्णादिषु च घट इत्यभेदेन। **जा** यावन्तं कालं। **एसा** एषा प्रत्यक्षीभूता **खलु** स्फुटं **बुद्धी** तथा कर्म-नोकर्मणा सह शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजपरमात्मवस्तुनः ऐक्यबुद्धिः। **अप्पडिबुद्धो** अप्रतिबुद्धः स्वसंवित्तिशून्यो बहिरात्मा। **हवदि** भवति। **ताव** तावत्कालमिति। अत्र भेदविज्ञानमूलां शुद्धात्मानुभूतिं स्वतः स्वयम्बुद्धापेक्षया परतो वा बोधितबुद्धापेक्षया ये लभन्ते ते पुरुषाः शुभाशुभ बहिर्द्रव्येषु विद्यमानेष्वपि मुकुरुन्दवदविकारा भवन्तीति भावार्थः ।।१९।।

व नोकर्म मेरे हैं, इस प्रकार प्रतीति होती है। जैसे कि घडे.में वर्णादि गुण और घटाकार परिणत पुद्गल स्कंध होते हैं। अतः वर्णादिक में जब तक घट इस प्रकार की अभेद प्रतीति होती है। जा **एसा खलु बुद्धी** उसी प्रकार कर्म-नोकर्म के साथ शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव निज परमात्मा की एकता रूप स्पष्ट बुद्धि बनी रहती है। **अप्पडिबुद्धो हवदि ताव** तब तक यह जीव अप्रतिबुद्ध स्वसंवेदन से रहित बहिरात्मा (बाहरी बुद्धिवाला) होता है। यहाँ पर भेदविज्ञानमूलक जो शुद्धात्मानुभूति है वह स्वयंबुद्धों को तो अपने आप और बोधितबुद्धों को दूसरे के द्वारा प्राप्त होती है, तब यह शुद्धात्मानुभूति जिनको प्राप्त होती है, वे जीव, संसार के विद्यमान शुभाशुभ बाहरी पदार्थों मे अर्थात् आत्मा से भिन्न सभी पदार्थों में दर्पण के समान निर्विकार होकर रहते हैं ।।१९।।

विशेषार्थ- जब तक संसार के शरीर आदि सभी पदार्थों में अहंकार या ममकार रूप बुद्धि बनी रहती है, तब तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) रहता है। किन्तु बाह्य पदार्थों में अहंकार-ममकार हटने पर जब यह आत्मा स्वयं आत्म निमग्न हो जाता है, तब यह प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) बनता है।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. यहाँ गाथा में क्या विषय प्रतिपादित है ?

उत्तर- कितने काल तक यह आत्मा अप्रतिबुद्ध है यह बताया गया है।

प्रश्न-२. अप्रतिबुद्ध किसे कहते हैं ?

उत्तर- जब तक आत्मा प्रतिबुद्ध न हो तब तक अप्रतिबुद्ध है।

प्रश्न-३. तो प्रतिबुद्ध आत्मा कौन होता है ?

उत्तर- जब संसारी आत्मा का स्व-पर को जाननेवाला मात्र ज्ञातापन का भाव रह जाता है और कर्म-नोकर्म ये पुद्गलों के ही हैं ऐसी भेद विज्ञान मूलक अनुभूति जब उत्पन्न होगी तब वह आत्मा प्रतिबुद्ध होगा।

प्रश्न-४. क्या ऐसी अनुभूति अभी पंचमकाल में होती है ?

उत्तर- नहीं होती है क्योंकि इस अनुभूति में आत्मा कर्म-नोकर्म से भिन्न अनुभव में आता है।

प्रश्न-५. तो फिर इस दृष्टि से तो इस काल में सभी अप्रतिबुद्ध हैं ?

उत्तर- हाँ हैं! किसी अपेक्षा से ऐसा मानने में कोई बाधा नहीं है। आचार्यों ने जिन शब्दों के जो लक्षण कहे हैं उनको उसी रूप में स्वीकार करना चाहिए। यह डरने की बात नहीं है कि हम तो अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) हो नहीं सकते हैं। हम तो आत्मा का ज्ञान रखते हैं। हमें निष्पक्ष होकर आचार्यों के अभिप्राय को समझने का साहस रखना चाहिए। देखो ! आ.टी. में एक विशेषण दिया है 'नीरूपस्यात्मनः' आप विचार करो कि क्या पंचमकाल में आत्मा कर्म बंध से रहित नीरूप अर्थात् अरूपी हो सकती है। **यह प्रतिबुद्धता उसी की कही है जिसका आत्मा अरूपी हुआ है वहीं पर मात्र ज्ञातापन का भाव रह जाता है।** मात्र ज्ञाता स्वरूप आत्मा में स्व-पर ज्ञान का अवभासन केवलज्ञान के बिना संभव नहीं है। इसी ज्ञातारूप मात्र आत्मा का रह जाना यहाँ भेद-विज्ञान मूलक अनुभूति कहा है। क्योंकि केवलज्ञान इसी भेद-विज्ञान के मूल (कारण) से होता है। इसी के साथ क्रियापद का विचार करो। आ.टी. में 'उत्पत्स्यते' और 'भविष्यति' ये भविष्यकाल की क्रियाएँ हैं। जिनसे स्पष्ट होता है कि जब ऐसी अनुभूति कभी भविष्य में उत्पन्न होगी तभी आत्मा प्रतिबुद्ध होगा, वर्तमान में नहीं। आगे के कलश में भी यही भाव दर्शाया है। यह अध्यात्म की विवक्षा कहलाती है। इस विवक्षा में सम्यग्ज्ञानी भी अप्रतिबुद्ध है और मिथ्याज्ञानी भी। यहाँ आत्मज्ञान में लीन को ही ज्ञानी कहा गया है न कि मात्र आत्मज्ञान की चर्चा करने वाले को।

हिन्दी भाषा टीका में भावार्थ में इसका गलत अर्थ प्रस्तुत किया है। पं. जी ने लिखा है कि 'यह आत्मा **जब तक ऐसा जानता है** कि जैसे स्पर्श आदि पुद्गल में हैं और पुद्गल स्पर्श आदिक मय हैं उसी तरह जीव में कर्म-नोकर्म हैं और कर्म-नोकर्म मय जीव है तब तक तो अज्ञानी है और जब **यह जान ले** कि आत्मा तो ज्ञाता ही है और कर्म-नोकर्म पुद्गल के ही हैं, तब यह ज्ञानी होता है।'

पण्डित जी द्वारा कहा गया - जानना मात्र यहाँ ज्ञानी शब्द के लिए स्वीकृत नहीं है, पाठक स्वयं विचार करे। व्यर्थ ही भ्रम पाल कर कोई अपने आप को ऐसी दशा में प्रतिबुद्ध समझ बैठे तो उसकी दुराग्रहता दयनीय ही कही जाएगी।

अथ तल्लाभलंभनं स्तौति-

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूलामचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा।
प्रतिफलननिमग्नाऽनन्तभावस्वभावैर्मुकुरवदविकारा सन्ततं स्युस्त एव।।२१।।

सं. टी.- हीति-स्फुटं-लभंते-प्राप्नुवंति, ये-भव्याः, कां? अनुभूतिं-आत्मानुभवनं-आत्ममाहात्म्यं वा, कथं? अचलितं निश्चलं यथा भवति तथा, कथं लभंते? कथमपि महता कष्टेन, भवाब्धौ स्वरूपप्राप्तेर्दुष्प्राप्यत्वात्। कुतः प्राप्तिः? स्वतो वा-स्वयमेव, अभ्यंतरात्कर्मलाघवत्वलक्षणात्कारणात्, जातिस्मरण-देवागम-दर्शन-विद्युदभ्रपरशरीरादिविघटन- दर्शनाद्वा अनित्याद्यनुप्रेक्षाचिंतनं तत् आत्मस्वरूपप्राप्तिः 'णमो सयं बुद्धाणं, इत्यागमवचनात्। वा अथवा, अन्यतः-गुरूपदेशादेः। किं भूतां तां? भेदेत्यादिः-आत्मशरीरयोर्भेदः-भिन्नत्वं, तस्य वि-विशिष्टं यथोक्तं ज्ञानमुपलब्धिः, तदेव मूलकारणं यस्याःसा तां । त एव-ये अनुभूतिभावुकास्ते एव भव्या नान्ये। स्युः-भवंति, संततं-निरंतरं, अविकाराः-मानसभावादिविकृतिरूपविकार-रहिताः 'विकारो मानसो भावः' इत्यमरः। कैः? प्रतीत्यादिः-प्रतिफलनं-प्रतिबिंबं, आत्मनि प्रतिभासत्वमित्यर्थः, तेन निमग्नाः-आत्मांतर्गताः, प्रतिभासत्वधर्मेणात्मांतर्गतत्वं, न तु तदुत्पत्ति-तादात्म्य-तदध्यवसायत्वेन, ते च ते भावाश्च, तेषां स्वभावाः-जीर्णनूतनागुरुलघुत्वादिलक्षणास्तैः मुकुरवत्-यथा मूर्तस्य मुकुरस्य स्वपराकारावच्छेदिका स्वच्छतैव वहिरूष्मणस्तत्र प्रति भाता ज्वाला, औष्ण्यं च तथा नीरूपस्यात्मनः स्वपराकारावच्छेत्री ज्ञातृतैव पुद्गलानां कर्मनोकर्मेंद्रियादीनां च।। २१।।

उत्थानिका - अब उसके लाभ की प्राप्ति कहते हैं-

अन्वयार्थ- (ये) जो जीव (स्वतो वा अन्यतो वा) स्वयं या अन्य किसी के द्वारा (कथमपि हि) किसी भी उपाय से (भेदविज्ञानमूलाम् अनुभूतिम्) भेदज्ञान मूलक स्वानुभूति को (अचलितम्) स्थिरतापूर्वक (लभन्ते) प्राप्त कर लेते हैं। (ते एव) वे ही (प्रतिफलनिमग्नानन्तभावैः स्वभावः) अपने प्रतिबिम्बित हुए अनन्त स्वभाव वाले पदार्थों से (मुकुरवत् सन्ततं अविकाराः स्युः) दर्पण की तरह अविकारी होते हैं।। २१।।

अर्थ- जो भव्य पुरुष स्वयमेव अथवा पर से, परोपदेश से किसी प्रकार से भी भेद-विज्ञानमूलक आत्मानुभूति को निश्चल रूप से प्राप्त करते हैं वे भव्य जीव ही प्रतिबिम्ब रूप से प्राप्त हुए अनन्त पदार्थों के अनन्त स्वभावों से दर्पण के समान निरन्तर विकार रहित होते हैं।। २१।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. जो भव्य हैं उन्हें क्या प्राप्त होता है ?

उत्तर- जो भव्य जीव हैं उन्हें ही आत्मानुभवन या आत्मा का माहात्म्य प्राप्त होता है।

प्रश्न-२. कैसे प्राप्त होता है ?

उत्तर- जिस तरह आत्मा निश्चल अनुभूति कर सके उस तरह से प्राप्त होता है।

प्रश्न-३. यह निश्चल अनुभूति भी कैसे प्राप्त होती है ?

उत्तर- किसी भी तरह बडे.कष्ट से प्राप्त होती है; क्योंकि संसार समुद्र में स्वरूप की प्राप्ति होना ही दुष्प्राप्य है।

प्रश्न-४. यह स्वरूप की प्राप्ति भी कैसे होती है ?

उत्तर- **१.** स्वयं ही होती है। अन्तरंग में स्वरूप प्राप्ति का कारण कर्मों का हल्कापन है। बाह्य में जाति स्मरण, देवों का आगमन देखना, बिजली, बादल का विघटन या किसी के शरीर का मरण देखने से आत्म स्वरूप की प्राप्ति होती है। अथवा अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन से आत्म स्वरूप की प्राप्ति होना भी स्वत: ही कहा जाता है; क्योंकि 'णमो सयं बुद्धाणं' अर्थात् 'स्वयंबुद्ध जिनों को नमस्कार हो' यह आगम वचन है। **२.** अन्य से अर्थात् गुरु के उपदेश आदि से होती है।

प्रश्न-५. त.प्र. टीका में कहा है कि- 'जो साक्षात् देशनालब्धि का अभाव होने पर भी अभ्यन्तर कर्मों का अभाव होने से अथवा देशनालब्धि की साक्षात् प्राप्ति होने से अनुभूति प्रतिबन्धक अभ्यन्तर कर्मों का अभाव होने पर जिसका भेदज्ञान मूल कारण होता है ऐसी अनुभूति को किसी भी प्रकार से अचलित रूप से परमार्थ से प्राप्त कर लेते हैं वे दर्पण के समान निर्विकार रहते हैं।' इस टीका में भी देशनालब्धि का वर्णन किया है और आगे विवेचन में साक्षात् या असाक्षात् देशनालब्धि सहकारीकारण है, ऐसा कहा है इससे तो यह प्रकरण सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का है, ऐसा प्रतिभासित होता है ?

उत्तर- नहीं होता है। देशनालब्धि से तात्पर्य यहाँ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में कारणभूत देशनालब्धि से नहीं है। यहाँ स्वत:, परत: शब्द के अर्थ देशना के अभाव और सद्भाव के रूप में नहीं है। अरे भव्यात्मन् ! जरा विचार करो कि क्या कभी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भव्य जीव को बिना देशनालब्धि के हो सकती है। इसी से स्पष्ट है कि उपर्युक्त टीकाकार का अभिप्राय भी सम्यग्दर्शन के लिए नहीं है। प्रश्न ४ के उत्तर में जो लिखा है, वह इस कलश की एकमात्र संस्कृत टीका से लिखा है। वहाँ जिन कारणों को बताया है वे सम्यग्दर्शन के बाह्य कारण नहीं हैं। अपितु वैराग्य होने के पूर्व के कारण हैं और स्वयंबुद्ध ऋद्धिधारी जिन को नमस्कार किया है, इसलिए यहाँ सम्यग्दर्शन की चर्चा नहीं है किन्तु आत्मदर्शन की चर्चा है, यह स्पष्ट है।

प्रश्न-६. यहाँ भव्य जीव से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर- जो ज्ञान मात्र की अनुभूति करने के लिए भावुक हुए हैं वे ही यहाँ भव्य कहे हैं। अन्य किसी को यहाँ भव्य नहीं माना है।

प्रश्न-७. वे भव्य जीव अविकारी होते हैं। यहाँ अविकार का अर्थ क्या है ?

उत्तर- विकार मानस का भाव कहलाता है। ऐसे मन में उत्पन्न होने वाले विकृत भाव रूप विकारों से रहित को अविकारी कहा है।

प्रश्न-८. अविकारी आत्मा में सभी भाव निमग्न हुए हैं। यहाँ निमग्न होने से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर- प्रतिभासत्व धर्म से आत्मान्तरगतत्व होना ही निमग्नता है। निमग्न होने का अर्थ यह नहीं है कि उन पुराने, नये, अगुरुलघुत्व आदि लक्षण वाले स्वभाव भावों की उस ज्ञान में उत्पत्ति हो रही है अर्थात् ज्ञान उन्हें उत्पन्न कर रहा है, या वे भाव तादात्म्य सम्बन्ध वाले हैं या वे भाव उस ज्ञान में अध्यवसाय उत्पन्न करते हों, इसलिए निमग्न होना कहा हो।

प्रश्न-९. ता.टी. में अप्रतिबुद्ध को बहिरात्मा कहा है, इससे स्पष्ट होता है कि पहले गुणस्थान में रहने वाला जीव बहिरात्मा है और प्रतिबुद्ध अन्तरात्मा चौथे गुणस्थान वाले जीव हैं ?

उत्तर- ऐसा नहीं है। ता.टी. में कहा है कि कर्म, नोकर्म के साथ शुद्ध, बुद्ध एक स्वभाव वाले निज परमात्म वस्तु की ऐक्य बुद्धि बनी रहती है तब तक वह अपनी आत्मसंवित्ति से शून्य है, वह अप्रतिबुद्ध है, बहिरात्मा है। पहले कह आए हैं कि संवित्ति, अनुभूति, प्रतीति, उपलब्धि ये सभी एकार्थवाची हैं। इससे स्पष्ट है कि जब तक निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान से आत्मप्रतीति नहीं होती है तब तक आत्मा की कर्म, नोकर्म से ऐक्य बुद्धि बनी रहती है। यह ऐक्य बुद्धि प्रत्यक्ष दिखाई देती है। हाँ मिथ्यादृष्टि को सर्वथा ऐक्य रूप श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रहता है किन्तु सम्यग्दृष्टि को आत्मा, कर्म, नोकर्म का भिन्न रूप श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रहता है किन्तु भेदविज्ञानमूलक शुद्धात्मानुभूति के अभाव में पृथक् -पृथक् कर्म, नोकर्म की प्रतीति या उपलब्धि या अनुभूति नहीं होती है। इस अनुभूति की अपेक्षा यहाँ शुद्धात्मा के अनुभव से बाह्य सभी जीव बहिरात्मा कहे हैं। यह अध्यात्म की विवक्षा है।

प्रश्न-१०. क्या बहिरात्मा और अन्तरात्मा का वर्णन अलग-अलग अपेक्षा से भी होता है ?

उत्तर- हाँ ! अवश्य होता है। आत्मा और देह को एक मानने वाला बहिरात्मा और भिन्न-भिन्न जानने वाला अन्तरात्मा है। यह एक विवक्षा है। जैसा कि **कार्तिकेय अनुप्रेक्षा** में कहा है

देहमिलियं पि जीवं णियणाणगुणेण मुणदि जो भिण्णं ।
जीवमिलियं पि देहं कंचुव सरिसं वियाणेई।। का.अ. ३१६ ।।

अर्थ- वह अन्तरात्मा देह में रमे हुए भी जीव को अपने ज्ञान गुण से भिन्न जानता है तथा जीव से मिले हुए देह को वस्त्र की तरह भिन्न मानता है। **श्री नियमसार** में साधु को आवश्यक करने और न करने की अपेक्षा से अन्तरात्मा और बहिरात्मा कहा है। देखें-

आवासएण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा ।
आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा ।। १४९ ।।

अर्थ- जो साधु/श्रमण आवश्यक कर्म से युक्त है वह अन्तरात्मा है और जो आवश्यक कर्म से रहित है वह बहिरात्मा है और इसी **नियमसार ग्रन्थ** की आगे की गाथा में विवक्षा फिर बदल गई तो कहा है कि-

अथ शुद्धजीवे यदा रागादिरहित परिणामस्तदा मोक्षो भवति। अजीवे देहादौ यदा रागादि परिणामस्तदा बन्धो भवतीत्याख्याति-

जीवेव अजीवे वा संपदि समयम्हि जत्थ उवजुत्तो।
तत्थेव बंधमोक्खो, हवदि समासेण णिद्दिट्ठो ।।१९।। ता.वृ. २३

ता.टी.- जीवेव स्वशुद्धजीवे वा। **अजीवे वा** देहादौ वा। **संपदि समयम्हि** वर्तमानकाले। **जत्थ उवजुत्तो** यत्रोपयुक्तः तन्मयत्वेनोपादेयबुद्ध्या परिणतः। **तत्थेव** तत्रैव अजीवे जीवे वा। **बंधमोक्खो** अजीव देहादौ बन्धो, जीवे शुद्धात्मनि मोक्षः। **हवदि** भवति। **समासेण णिद्दिट्ठो**

अंतरबाहिर जप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा ।
जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा ।। १५० ।।

अर्थ- जो साधु अन्तर्जल्प और बाह्य जल्प में वर्तता है वह बहिरात्मा है और जो किसी भी प्रकार के जल्पों में नहीं वर्तता (रहता) है वह अन्तरात्मा है।

पुनः आगे की गाथा १५१ में कहते हैं कि 'जो धर्म-शुक्ल ध्यान में परिणत है वह अन्तरात्मा है और ध्यानविहीन श्रमण है वह बहिरात्मा है।'

अतः विचारणीय है कि जो श्रमण ध्यान से रहित है वह व्रत, समिति, आदि के पालन में तत्पर रत्नत्रयधारी होकर भी यहाँ ध्यान की विवक्षा में बहिरात्मा है। ठीक इसी तरह जो शुद्धोपयोग रूप निर्विकल्प समाधि से रहित हैं, वे धर्मध्यान और शुक्ल ध्यान सहित होने पर भी उस समय बहिरात्मा कहे जाते हैं, इसमें कोई दोष नहीं है।

उत्थानिका - जब इस जीव की शुद्ध जीव में रागादि रहित परिणति होती है तब मोक्ष होता है और जब अजीवरूप देहादि में रागादि सहित परिणति होती है तब बन्ध होता है, यह कहते हैं -

अर्थ- जीव तथा अजीव देहादिक में जिस समय यह आत्मा उपयुक्त रहता है तभी मोक्ष तथा बंध होता है, ऐसा कथन संक्षेप से श्री सर्वज्ञदेव ने किया है।

टीकार्थ- जीवेव अपनी शुद्ध आत्मा में **अजीवे वा** अथवा देहादिक इतर पदार्थों में **संपदि समयम्हि** वर्तमान समय में **जत्थ उवजुत्तो** जहाँ पर उपयुक्त रहता है अर्थात् उपादेय बुद्धि से तन्मय होकर रहता है **तत्थेव** वहीं पर अजीव में या जीव में **बंधमोक्खो हवदि** अजीवरूप देहादिक में परिणत होने पर बंध और शुद्ध जीव में परिणत होने पर मोक्ष होता है। **समासेण णिद्दिट्ठो** ऐसा

साम्याभिभूत बन आतमलीन होना, पा मोक्ष ईश बनना, बनना सलोना।
स्वच्छन्द हो विषय में मन को लगाना, है कर्मबन्ध गहना प्रभु का बताना ।।

संक्षेपेण सर्वज्ञैर्निर्दिष्ट इति। अत्रैवं ज्ञात्वा सहजानन्दैकस्वभावेनिजात्मनि रतिः कर्त्तव्या। तद्विलक्षणे परद्रव्ये विरतिरित्यभिप्रायः ।।

अथाशुद्धनिश्चयेनात्मा रागादिभावकर्मणां कर्त्ता अनुपचरितासद्भूत व्यवहारनयेन द्रव्यकर्मणामित्यावेदयति-

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं ।। ता.वृ. २४।।

ता.वृ. - जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स यं करोति रागादिभावमात्मा स तस्य भावस्य परिणामस्य कर्त्ता भवति। **णिच्छयदो** अशुद्धनिश्चयनयेन अशुद्धभावानां, शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धभावानां कर्त्तेति। भावानां परिणमनमेव कर्तृत्वम्। **ववहारा** अनुपचरितासद्भूत

सर्वज्ञ भगवान् ने संक्षेप से कहा है। ऐसा जानकर यहाँ सहजानन्द एक स्वभाव वाले निज आत्मा में रमण करना चाहिए और उससे विलक्षण जो परद्रव्य है उनसे विरक्त होकर रहना चाहिए, ऐसा आचार्यदेव का अभिप्राय है ।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. बंध और मोक्ष कैसे होता है, संक्षेप से कहिए ?

उत्तर- जब जीव अपने उपयोग को रागादि परिणाम से रहित करते हुए शुद्ध जीव में लगाता है तब मोक्ष होता है और जब अजीव देह आदि में रागादि परिणाम होता है तब बन्ध होता है।

प्रश्न- २. इस गाथा पर आचार्य अमृतचन्द्र जी की टीका है या नहीं है?

उत्तर- इन गाथा २३-२४ पर आचार्य अमृतचन्द्रजी की टीका नहीं है, मात्र तात्पर्यवृत्ति टीका है।

आगे अशुद्ध निश्चयनय से यह आत्मा रागादि भावकर्मों का कर्त्ता है और अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्त्ता है, ऐसा बतलाते हैं-

अर्थ- निश्चयनय से आत्मा जिस समय जैसे शुद्ध या अशुद्ध-भावों को उपजाता है उस समय उस भाव का कर्त्ता होता है और व्यवहारनय से वह पुद्गल-कर्मों का कर्त्ता होता है।

टीकार्थ- जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स जिस रागादि भाव को आत्मा करता है उस समय उस भाव का अर्थात् परिणाम का करने वाला होता है। **णिच्छयदो** अशुद्धनिश्चयनय से अशुद्ध भावों का और शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध भावों का कर्त्ता होता है, क्योंकि उन भावों के रूप

आत्मा अशुद्धनय से हि विभाव कर्त्ता, होता विशुद्धनय से शुचि भाव कर्त्ता।
मोहाभिभूत विविधों विधि बन्धनों का, कर्त्ता अवश्य व्यवहारतया जडों का ।। २४।।

व्यवहारनयात्। **पोग्गलकम्माण** पुद्गलद्रव्यकर्मादीनां। **कत्तारं** कर्त्तेति। कर्तारम् इति कर्मपदं कर्त्तेति कथं भवतीति चेत्, प्राकृते क्वापि कारकव्यभिचारो लिंगव्यभिचारश्च। अत्र रागादीनां जीवः कर्त्तेति भणितं ते च संसारकारणं ततः संसारभयभीतेन मोक्षार्थिना समस्तरागादिविभावरहिते शुद्धद्रव्यगुणपर्याये स्वरूपे निजपरमात्मनि भावना कर्त्तव्येत्यभिप्रायः ।।

एवं स्वतन्त्रव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथात्रयं गतम्।

में परिणमन करना ही कर्त्तापना है। **ववहारा अनुपचरितअसद्भूत** व्यवहारनय से **पोग्गलकम्माण** पुद्गलमय द्रव्यकर्मादि का **कत्तारं** कर्त्ता होता है। यहाँ **कत्तारं** यह कर्मपद कर्त्ता के अर्थ में आया है, सो प्राकृत में कहीं-कहीं कारक व्यभिचार और लिंग व्यभिचार देखा जाता है। यहाँ ऐसा अभिप्राय है कि जिन रागादि भावों का कर्त्ता जीव को कहा गया है, वे भाव संसार के कारण हैं इसलिए संसार से भयभीत तथा मोक्ष के इच्छुक पुरुष को समस्त प्रकार के रागादि विभाव भावों से रहित और शुद्ध द्रव्य तथा गुण-पर्याय स्वरूप निज परमात्मा में भावना करनी चाहिए।।

प्रश्न- यह आत्मा द्रव्य, भाव कर्मों का कर्त्ता कैसे होता है ?

उत्तर- यह आत्मा अशुद्ध निश्चय नय से रागादि भाव कर्मों का कर्ता है और अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से द्रव्य कर्मों का कर्त्ता है।

इस प्रकार स्वतन्त्र व्याख्यान की मुख्यता से तृतीय स्थल में तीन गाथाएँ हुईं।

ननु कथमयमप्रतिबुद्धो लक्ष्येत -

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ।।२०।। ता.टी. २५

आसि मम पुव्वमेदं अहमेदं चावि पुव्वकालह्मि।
होहिदि पुणोवि मज्झं, अहमेदं चावि होस्सामि ।।२१।। ता.टी. २६

एवं तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ।।२२।। ता.टी. २७ (त्रिकलम्)

उत्थानिका - कोई प्रश्न करता है कि अप्रतिबुद्ध की पहिचान कैसे की जाय, उसका उत्तर देते हैं-

अन्वयार्थ - (अण्णं जं परदव्वं) जो पुरुष अपने से अन्य जो परद्रव्य (सचित्ताचित्तमिस्सं वा) सचित्त स्त्रीपुत्रादिक, अचित्त धनधान्यादिक अथवा मिश्र ग्रामनगरादिक हैं- उन्हें यह समझता है कि (अहमेदं) मैं यह हूँ (एदमहं) यह द्रव्य मुझ-स्वरूप है, (अहमेदस्सेव) मैं इसका हूँ (एदं मम होमि) यह मेरा है, (एदं मम पुव्वं आसि) यह मेरा पहले था, (च) और (अवि पुव्वकालह्मि) इसका मैं भी पहले था, (मज्झं पुणोवि होहिदि) यह मेरा भविष्य में होगा (अहमेदं चावि होस्सामि) मैं भी इसका भविष्य में होऊँगा, (एवं तु असंभूदं) ऐसा झूठा (आदवियप्पं) आत्म विकल्प (करेदि) करता है वह (संमूढो) मूढ़ है, मोही है, अज्ञानी है, (दु) और जो पुरुष (भूदत्थं) परमार्थ वस्तुस्वरूप को (जाणंतो) जानता हुआ (तं) वैसा झूठा विकल्प (ण करेदि) नहीं करता है वह (असंमूढो) मूढ.नहीं, ज्ञानी है।

अर्थ- आत्मा अपने आप से भिन्न सचित्त स्त्री-पुत्रादिक, अचित्त मुकुट-कुण्डलादिक और मिश्र आभरण सहित स्त्री आदि इन वस्तुओं में, मैं सो यह है, यह है सो मैं हूँ, ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ, ये मेरे पहले थे, मैं पहले इनका था, आगे भी ये मेरे होंगे और मैं इनका होऊँगा। इस प्रकार का संयोगात्मक विकल्प करता है वह मूढ.अर्थात् मोहभाव का धारक होता है किन्तु जो मोह रहित

जो भी सचेतन-अचेतन द्रव्य सारा, संसार में लस रहा निज भाव द्वारा।
मैं हूँ रहा यह रहा यह ही यहाँ मैं, मेरा रहा यह रहा इसका अहा मैं ।।२५।।
मैं भी रहा विगत में इसका यथा था, मेरा रहा नियम से यह भी तथा था।
मैं भी नितान्त इसका यह भी बनेगा, मेरा भविष्य भर में क्रम यों चलेगा ।।२६।।
ऐसा सदैव पर को निज मान लेता, होता तभी दुखित हो वह मूढ.नेता।
पै मूढता न करते मन-अक्षजेता, वे धन्य-धन्य मुनि हैं निज तत्त्ववेत्ता ।।२७।।

आ.टी. - यथाग्निरिन्धनमस्तीन्धनमग्निरस्त्यग्नेरिन्धनमस्तीन्धनस्याग्निरस्ति, अग्नेरिन्धनं पूर्वमासीदिन्धनस्याग्निः पूर्वमासीत्, अग्नेरिन्धनं पुनर्भविष्यतीन्धनस्याग्निः पुनर्भविष्यतीतीन्धन एवासद्भूताग्नि-विकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धः कश्चिल्लक्ष्येत, तथाहमेतदस्म्येतदहमस्ति ममैतदस्त्येतस्याहमस्मि, ममैतत्पूर्वमासीदेतस्याहं पूर्वमासं, ममैतत्पुनर्भविष्यत्येतस्याहं पुनर्भविष्यामीति परद्रव्य एवासद्भूतात्मविकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धो लक्ष्येतात्मा। नाग्निरिन्धनमस्ति नेन्धनमग्निरस्त्यग्निरग्निरस्तीन्धनमिन्धनमस्ति नाग्नेरिन्धनमस्ति नेन्धनस्याग्निरस्त्यग्निरग्निरस्तीन्धन स्येन्धनमस्ति, नाग्नेरिन्धनं पूर्वमासीन्नेन्धनस्याग्निः पूर्वमासीदग्नेरग्निः पूर्वमासीदिन्धस्येन्धनं पूर्वमासीत्, नाग्नेरिन्धनं पुनर्भविष्यति नेन्धनस्याग्निः पुनर्भविष्यत्यग्नेरग्निः पुनर्भविष्यतीन्धनस्येन्धनं पुनर्भविष्यतीति कस्यचिदग्नावेव सद्भूताग्निविकल्पवन्नाहमेतदस्मि नैतदहमस्त्यहमहमस्म्येतदेतदस्ति न ममैतदस्ति नैतस्याहमस्मि ममाहमस्म्येतस्यैतदस्ति, न ममैतत्पूर्वमासीन्नैतस्याहं पूर्वमासं ममाहं

अर्थात् संयत होता है वह भूतार्थ (निश्चय नयात्मक) आत्मस्वरूप को अनुभव करता हुआ इन सब विकल्पों से दूर रहता है। ।। २०-२२।।

आ.व्या. - जैसे 'अग्नि ईंधन है' 'ईंधन अग्नि है', 'अग्नि का ईंधन है' 'ईंधन की अग्नि है', 'अग्नि का ईंधन पूर्वकाल में था', 'ईंधन की अग्नि पूर्वकाल में थी', 'अग्नि का ईंधन भविष्य में फिर होगा', 'ईंधन की अग्नि फिर भविष्य में होगी' इस प्रकार ईंधन में ही असद्भूत अग्नि का विकल्प करने वाला होने से जिस प्रकार कोई पुरुष अप्रतिबुद्ध है, ऐसा जाना जाता है, उसी प्रकार 'मैं यह परद्रव्य हूँ' 'यह परद्रव्य मैं अर्थात् मुझस्वरूप है' 'मेरा यह परद्रव्य है' 'इस परद्रव्य का मैं हूँ' 'पूर्वकाल में यह परद्रव्य मेरा था', 'पूर्वकाल में मैं इस परद्रव्य का था', 'यह परद्रव्य भविष्यकाल में फिर मेरा होगा' 'मैं भविष्यकाल में फिर इस परद्रव्य का होऊँगा' इस प्रकार परद्रव्य में ही आत्मा का असद्भूत विकल्प करने वाला होने से यहआत्मा अप्रतिबुद्ध है, ऐसा पहिचाना जाता है। 'अग्नि है वह ईंधन नहीं है' 'ईंधन है वह अग्नि नहीं है' 'अग्नि अग्नि है' 'ईंधन ईंधन है' 'अग्नि का ईंधन नहीं है' 'ईंधन की अग्नि नहीं है' 'अग्नि अग्नि की है' 'ईंधन ईंधन का है' 'पूर्वकाल में ईंधन अग्नि का नहीं था' 'पूर्वकाल में अग्नि ईंधन की नहीं थी' 'भविष्यकाल में फिर ईंधन अग्नि का नहीं होगा' 'भविष्यकाल में फिर अग्नि ईंधन की नहीं होगी' 'भविष्यकाल में पुनः अग्नि की अग्नि होगी' 'भविष्यकाल में पुनः ईंधन का ईंधन होगा' इस प्रकार किसी पुरुष का अग्नि में ही सद्भूत अग्नि के विद्यमान होने का जिसप्रकार यथार्थ विकल्प होता है उसी प्रकार 'मैं यह परद्रव्य नहीं हूँ' 'यह परद्रव्य मुझ स्वरूप नहीं है' 'मैं मैं हूँ' 'यह परद्रव्य परद्रव्य है' 'यह परद्रव्य मेरा नहीं' 'इस परद्रव्य का मैं नहीं हूँ' 'मैं मेरा हूँ' 'परद्रव्य परद्रव्य का है' 'पूर्वकाल में यह परद्रव्य मेरा नहीं था' 'पूर्वकाल में मैं इस परद्रव्य का नहीं था' 'पूर्वकाल में मैं मेरा था' 'पूर्वकाल में यह परद्रव्य परद्रव्य का था' 'भविष्यकाल में पुनः यह परद्रव्य मेरा नहीं होगा'

पूर्वमासमेतस्यैतत्पूर्वमासीत्, न ममैतत्पुनर्भविष्यति नैतस्याहं पुनर्भविष्यामि ममाहं पुनर्भविष्याम्येतस्यैतत्पुनर्भविष्यतीति स्वद्रव्य एव सद्भूतात्मविकल्पस्य प्रतिबुद्धलक्षणस्य भावात् ।।२०-२२।।

अथ यथा कोऽप्यप्रतिबुद्धः अग्निरिन्धनं भवति इन्धनमग्निर्भवति अग्निरिन्धनमासीत् इन्धनमग्निरासीत् अग्निरिन्धनं भविष्यति इन्धनमग्निर्भविष्यतीति वदति तथा यः कालत्रयेऽपि देहरागादिपरद्रव्यमात्मनि योजयति सोऽप्रतिबुद्धो बहिरात्मा मिथ्याज्ञानी भवतीति प्ररूपयति-

ता.टी. - अहमेदं एदमहं अहं इदं, परद्रव्यं इदम् अहं भवामि। **अहमेदस्सेव हि होमि मम एदं** अहमस्य सम्बन्धी भवामि मम सम्बन्धीदम्। **अण्णं जं परदव्वं** देहादन्यद्भिन्नं पुत्रकलत्रादि यत्परद्रव्यं। **सचित्ताचित्तमिस्सं वा** सचित्ताचित्तमिश्रं वा। तच्च गृहस्थापेक्षया सचित्तं स्त्र्यादि, अचित्तं सुवर्णादि, मिश्रं साभरणस्त्र्यादि। अथवा तपोधनापेक्षया सचित्तं छात्रादि, अचित्तं पिच्छकमण्डलुपुस्तकादि, मिश्रमुपकरणसहितछात्रादि। अथवा सचित्तं रागादि, अचित्तं द्रव्यकर्मादि मिश्रं द्रव्यभावकर्मद्वयम्। अथवा विषयकषायरहित निर्विकल्पसमाधिस्थपुरुषापेक्षया सचित्तं सिद्धपरमेष्ठिस्वरूपम् अचित्तं पुद्गलादिपंचद्रव्यरूपं, मिश्रं गुणस्थानजीवस्थानमार्गणादि परिणतसंसारिजीवस्वरूपमिति वर्तमानकालापेक्षया गाथा गता।

'भविष्यकाल में पुनः इस परद्रव्य का मैं नहीं होऊँगा' 'भविष्यकाल में फिर मैं मेरा होऊँगा' 'भविष्यकाल में फिर यह परपदार्थ परपदार्थ का होगा' इस प्रकार स्वद्रव्य में ही सद्भूत आत्मा का यथार्थ विकल्प करने वाले का प्रतिबुद्ध लक्षण होता है। अर्थात् वही प्रतिबुद्ध है, ऐसा जाना जाता है। ।।२०-२२।।

आगे कहते हैं कि कोई भोला प्राणी, अग्नि ही ईंधन है, ईंधन वही अग्नि है, अग्नि ही पहले ईंधन था, और ईंधन ही पहले अग्नि थी, आगे भी अग्नि ही ईंधन होगा, और ईंधन ही अग्नि होगी, इस प्रकार कहा करता है। वैसे ही जो सदा देहरागादि रूप पर द्रव्यों को अपनी आत्मा में जोडता है वह अप्रतिबुद्ध बहिरात्मा अर्थात् बाह्यदृष्टि वाला अतएव मिथ्याज्ञानी होता है।

टीकार्थ- अहमेदं एदमहं 'मैं हूँ सो यह है, यह है सो मैं हूँ' (इस प्रकार अहंकार भाव) **अहमेदस्सेव होमि मम एदं** यह मेरा है और मैं इसका हूँ, (इस प्रकार ममकार भाव) **अण्णं जं परदव्वं** इसी प्रकार देह से भिन्न जो परद्रव्य है **सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा** वे सचित्त, अचित्त और मिश्र तीन प्रकार हैं। उनमें गृहस्थ की अपेक्षा स्त्री आदि सचित्त, स्वर्णादि अचित्त, साभरण स्त्री आदि मिश्र हैं। अथवा तपोधन की अपेक्षा छात्रादि सचित्त, पीछी, कमण्डलु, पुस्तक आदि अचित्त और उपकरण सहित छात्रादि मिश्र हैं। अथवा रागादि भावकर्म सचित्त, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म अचित्त,

आसीत्यादि- **आसि मम पुव्वमेदं** आसीत् मम पूर्वमेतत्। **अहमेदं चावि पुव्वकालह्मि** अहमिदं चैव पूर्वकाले। **होहिदि पुणोवि मज्झं** भविष्यति पुनरपि मम। **अहमेदं चावि होस्सामि** अहमिदं चैव पुनर्भविष्यामि इति भूतभाविकालापेक्षया गाथा गता।

एदमित्यादि। **एदं** इमं तु पुनः। **असंभूदं** असद्भूतं कालत्रयपरद्रव्यसम्बन्धिमिथ्यारूपं । **आदवियप्पं** आत्मविकल्पमशुद्धनिश्चयनयेन जीवपरिणामं **करेदि** करोति। **संमूढो** सम्यग्मूढः अज्ञानी बहिरात्मा। **भूदत्थं** भूतार्थं निश्चयनयं **जाणंतो** जानन् सन्। **ण करेदि** न करोति। दु पुनः कालत्रय- परद्रव्यसम्बन्धिमिथ्याविकल्पं। **असंमूढो** असंमूढः सम्यग्दृष्टिरन्तरात्मा ज्ञानी भेदाभेदरत्नत्रयभावनारतः।

किं च यथा कोऽप्यज्ञानी अग्निरिन्धनमिन्धनमग्निः कालत्रये निश्चयेनैकान्तेनाभेदेन वदति तथा देहरागादिपरद्रव्यमिदानीमहं भवामि पूर्वमहमासं पुनरग्रे भविष्यामीति यो वदति सोऽज्ञानी बहिरात्मा तद्विपरीतो ज्ञानी सम्यग्दृष्टिरन्तरात्मेति। एवमज्ञानिज्ञानिजीवलक्षणं ज्ञात्वा निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणे भेदज्ञाने स्थित्वा भावना कार्येति तामेव भावनां दृढयति। यथा कोऽपि राजसेवकपुरुषो राजशत्रुभिः सह संसर्गं कार्येति कुर्वाणः सन् राजाराधको न भवति तथा

द्रव्य और भावकर्मरूप मिश्र हैं। अथवा विषय-कषाय रहित निर्विकल्प समाधि में स्थित पुरुष की अपेक्षा सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप सचित्त, पुद्गल आदि पाँच द्रव्य अचित्त और गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणादिरूप परिणत जो संसारी जीव का स्वरूप, वह मिश्र है। इस प्रकार वर्तमानकाल की अपेक्षा गाथा पूर्ण हुई।

अब **आसि मम पुव्वमेदं** ये सब मेरे पहले थे **अहमेदं चावि पुव्वकालह्मि** मैं भी इनका पहले था, **होहिदि पुणोवि मज्झं** ये सब आगे भी मेरे होंगे **अहमेदं चावि होस्सामि** और मैं भी आगे इनका होऊँगा। इस प्रकार भूत और भविष्यत्काल की अपेक्षा गाथा पूर्ण हुई।

एदं तु इस प्रकार **असंभूदं** असद्भूत तीन काल सम्बन्धी परद्रव्यों से संसर्ग लिये हुए मिथ्यारूप **आदवियप्पं** अपने आपके विचार को अर्थात् अशुद्ध निश्चयनय से होने वाले जीव के (रागादिरूप) परिणाम को **करेदि** जो करता है, **संमूढो** वह मोह को लिये हुए अज्ञानी बहिरात्मा होता है। किन्तु **भूदत्थं** जो भूतार्थ निश्चयनय को **जाणंतो** जानता हुआ **ण करेदि दु तं** तीनकाल में होने वाले उपर्युक्त परद्रव्य सम्बन्धी मिथ्या विकल्प को नहीं करता है वह **असंमूढो** मोहभाव रहित सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा ज्ञानी होता है अर्थात् भेदाभेद रत्नत्रय की भावना में निरत होता है।

जैसे कि कोई भी भोला प्राणी कहे कि तीनों कालों में अग्नि ही ईंधन है और ईंधन ही अग्नि है, ऐसा एकान्त अभेदरूप से कहता है वैसे ही देह-रागादि परद्रव्य ही इस समय मैं हूँ , पहले भी मैं परद्रव्य-रागादिरूप था और आगे भी परद्रव्य रागादिरूप होऊँगा, ऐसा कहता है, वह अज्ञानी

परमात्माऽऽराधकपुरुषस्तत्प्रतिपक्षभूत मिथ्यात्वरागादिभिः परिणममाणः परमात्माराधको न भवतीति भावार्थः। एवमप्रतिबुद्धलक्षणकथनेन चतुर्थस्थले गाथात्रयं गतम् ।।

(प.अ.त.)(मालिनी छन्द)

अथ मोहादीनस्यति-

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत्।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम्।।२२।।

सं. टी.- इदानीं-आत्मस्वरूपप्रकाशनध्यानकाले, जगत्-विष्टपं, मोहं-ममेदं, अहं अस्य, आसीन् मम पूर्वमिदं, अहमेतस्यासं, भविष्यति पुनर्ममैतत् एतस्याहमपि भविष्यामि, इत्यादिरूपं मोहं, त्यजतु-जहातु, किं भूतं? आजन्मलीढं-आसंसारात्प्रवृत्तं। ज्ञानं-भेदविज्ञानं, रसयतु-आस्वादयतु-

---

बहिरात्मा है, किन्तु ज्ञानी सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा जीव इससे विपरीत विचार वाला है। इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी जीव का लक्षण जानकर निर्विकार स्वसंवेदन है लक्षण जिसका ऐसे भेदज्ञान में निमग्न होकर भावना करनी चाहिए। इसी बात को फिर दृढ.करते हैं कि जैसे कोई राजपुरुष भी राजा के शत्रुओं के साथ संसर्ग रखता है तो वह राजा का आराधक नहीं कहला सकता। उसी प्रकार परमात्मा की आराधना करने वाला पुरुष आत्मा के प्रतिपक्षभूत जो मिथ्यात्व व रागादिभाव हैं उन रूप परिणमन करने वाला होता है, तब वह परमात्मा का आराधक नहीं हो सकता, यह इसका निचोड.है ।। २१-२२।। इस प्रकार अप्रतिबुद्ध के लक्षण के कथन रूप में चतुर्थ स्थल में तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं।

विशेषार्थ- पाठक देख रहे हैं कि इन गाथाओं में जिस प्रकार आत्मा से इतर पदार्थों में अहंकार रखने वाले को अप्रतिबुद्ध बतलाया है उसी प्रकार उनमें ममकार रखने वाले को भी अप्रतिबुद्ध बताते हुए उन सबसे दूर हटकर केवल निर्विकल्प समाधि में स्थित होने वाले जीव को ही प्रतिबुद्ध, ज्ञानी एवं सम्यग्दृष्टि कहा है।

उत्थानिका - अब मोह आदि को दूर करते हैं-

अन्वयार्थ- (जगत्) जगत् के प्राणी (इदानीम्) अब (आजन्मलीढं मोहम् त्यजतु) अनादिकाल से चले आए अपने मोह को छोडें.तथा (रसिकानाम् रोचनम्) आत्मरस के रसिक पुरुषों को रुचने वाले (उद्यत् ज्ञानम्) इस उत्पन्न भेदविज्ञान को (रसयतु) चखें। (इह) इस जगत् में (क्वापि काले) किसी भी समय, (एकः आत्मा) यह एकमात्र आत्मतत्त्व (अनात्मना साकम्) आत्मा से भिन्न पदार्थों के साथ (कथमपि) किसी भी प्रकार से (तादात्म्यवृत्तिम्) तादात्म्यपने को (न किल कलयति) नहीं प्राप्त होता है यह निश्चित है। ।।२२।।

ध्यानविषयीकरोत्वित्यर्थः। किंभूतं तत्? रसिकानां-शुद्धचिद्रूपरसास्वादकानां, रोचनं-रुचिकरं, उद्यत्-उदयं गच्छत्। इह-जगति, क्वापि काले-कस्मिंश्चित्समये, क्षयोपशमविशुद्ध्यादिलब्धिपंचकसामग्री सद्भाव समये किल इति-निश्चितं-एकः, आत्मा-जीवः, अनात्मना-परद्रव्येणशरीरादिना, साकं-सह, तादात्म्यवृत्तिं-तन्मयत्ववृत्तिं एकत्ववृत्तिं, न कलयति-नांगीकरोति-तन्मयो न भवतीत्यर्थः कथमपि-केनचित् प्रकारेणापि।।२२।।

अर्थ- जगत्-संसारी प्राणी अब तो अनादिकाल से लगे हुए मोह को (अपने को पररूप मानना तथा पर को निज रूप मानना रूप बुद्धि की विपरीतता को) छोडे. तथा आत्मरस का पान करने वाले ज्ञानियों को रुचने वाले उदय को प्राप्त होने वाले आत्मज्ञान को चखे-पीवे। इस संसार में अद्वितीय चैतन्यमय पदार्थ निश्चय से किसी भी समय में किसी प्रकार से भी जड़-अचेतन पुद्गल पदार्थ के साथ तादात्म्य सम्बन्ध को नहीं धारण करता है। ।।२२।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. 'ज्ञान का आस्वादन लो', इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर- ज्ञान अर्थात् भेद विज्ञान। आस्वादन का अर्थ है ध्यान का विषय बनाना अर्थात् भेद-विज्ञान को ध्यान का विषय बनाकर आत्मा का अनुभव करो।

प्रश्न-२. रसिक कौन है ?

उत्तर- शुद्ध चिद्रूप का अनुभव करते हैं वे ही ज्ञान रस का आस्वादन करने वाले ज्ञानी रसिक कहलाते हैं।

प्रश्न-३. यहाँ मोह को छोड.देने को कहा है सो मोह का अर्थ यहाँ क्या लिया जाए ?

उत्तर- यहाँ मोह से तात्पर्य है कि 'यह मेरा है, मैं इसका हूँ, मेरा यह पहले था, मैं इसका पहले था, पुनः यह मेरा होगा, मैं भी इसका होऊँगा इत्यादि रूप मोह को छोड़ने को कहा है।'

प्रश्न-४. यह मोह कब छूटता है ?

उत्तर- आत्म स्वरूप को दिखाने वाले ध्यान के काल में यह मोह छूटता है।

प्रश्न-५. ध्यान से कौन से मोह का नाश होता है ?

उत्तर- विशुद्धि के द्वारा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त करके जो मुनिराज इस मेरे और मैं-पने का संस्कार तोडते हैं, उसी संस्कार को दूर करने के लिए यहाँ ध्यान से मोह का नाश करने को कहा है। यह अबुद्धि पूर्वक और कथंचित् बुद्धिपूर्वक राग चारित्र मोहनीय की संज्वलन कषाय मात्र संबंधी है। इसी मोह का नाश ध्यान से होता है।

प्रश्न-६. तादात्म्य वृत्ति किसे कहते हैं ?

उत्तर- तन्मयपने की वृत्ति या एकत्व वृत्ति को तादात्म्य वृत्ति कहते हैं।

प्रश्न-७. यह आत्मा किसके साथ तादात्म्य वृत्ति नहीं रखता है ?

उत्तर- यह आत्मा कभी भी परद्रव्य शरीर आदि के साथ तादात्म्य वृत्ति नहीं रखता है।

प्रश्न-८. किसी भी काल में आत्मा का अन्य द्रव्य से तादात्म्य वृत्ति संबंध नहीं हुआ, सो किसी भी काल से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर- क्षयोपशम, विशुद्धि आदि पाँच लब्धियों की सामग्री का सद्भाव जब था उस समय पर भी अन्य द्रव्य से भिन्न था तो उससे पहले की मिथ्यात्व अवस्था में भी भिन्न था अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी समय आत्मा की एकरूपता अन्य द्रव्य से नहीं रही है।

प्रश्न-९. यहाँ प्रतिबुद्ध को और क्या-क्या विशेषण दिए हैं ?

उत्तर- यहाँ प्रतिबुद्ध को सम्यग्दृष्टि, अन्तरात्मा कहा है (ता.टी.)

प्रश्न-१०. ये सम्यग्दृष्टि या अन्तरात्मा कौन जीव हैं ?

उत्तर- जो भूतार्थ को जानते हैं, अनुभव करते हैं, वे ही असंमूढ या सम्यग्दृष्टि होते हैं। (गाथा)

प्रश्न-११. भूतार्थ को जानने वाले कौन जीव हैं ?

उत्तर- जो निर्विकल्प ध्यानी मुनि उपर्युक्त तीन काल सम्बन्धी मोह के विकल्पों को हटाकर शुद्धात्मा का ही अनुभव करते हैं वे ही पूर्ण रूप से सम्यग्दृष्टि, अन्तरात्मा और भूतार्थ के ज्ञाता होते हैं।

प्रश्न-१२. जिनको यह निर्विकल्प ध्यान नहीं होता है उनको इस भूतार्थ का अनुभव कैसे हो ?

उत्तर- उनको भूतार्थ का श्रद्धान, ज्ञान और उसी भेद ज्ञान में भावना दृढ.करनी चाहिए, यही भूतार्थ की भावना परम्परा से साक्षात् अनुभव का कारण बनती है।

प्रश्न-१३. इस भूतार्थ की भावना से अविरत सम्यग्दृष्टि आदि जीव अपनी आत्मा को किस-किस तरह से भावित करते हैं ?

उत्तर- चतुर्थ गुणस्थानवर्ती या पंचम गुणस्थानवर्ती गृहस्थ की अपेक्षा स्त्री आदि सचित्त परिग्रह हैं, सुवर्ण आदि अचित्त परिग्रह हैं और आभरण सहित स्त्री आदि मिश्र परिग्रह हैं सो जब कभी सामायिक आदि के काल में वह इन तीनों परिग्रहों का तीनों काल सम्बन्धी ममत्व और अहंकार छोडक़र भेद-अभेद रत्नत्रय की भावना में रत होगा तब उसके भूतार्थ की भावना होती है।

छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती तपोधन (मुनि) की अपेक्षा उनका शिष्य समुदाय सचित्त परिग्रह है, पिच्छी, कमण्डलु, शास्त्र आदि अचित्त परिग्रह है तथा शिष्य सहित पिच्छी आदि मिश्र परिग्रह है। अथवा और अधिक विशुद्धि वाले तथा अहंकार-ममकार से रहित मुनियों की अपेक्षा रागादि सचित्त परिग्रह है, ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्म अचित्त परिग्रह है और द्रव्य-भाव-कर्म-द्वय ही मिश्र परिग्रह है। अथवा और अधिक विशुद्धि वाले तथा विषय कषाय रहित निर्विकल्प समाधि मे ंस्थित आत्मा की अपेक्षा सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप सचित्त परिग्रह है, पुद्गल आदि पंच द्रव्य का ध्यान अचित्त परिग्रह है और गुणस्थान, जीवस्थान मार्गणा आदि से परिणत संसारी जीव का स्वरूप मिश्र

परिग्रह है। इनका ध्यान भी निर्विकल्प समाधि में होता है किन्तु पर द्रव्य होने की अपेक्षा इन्हें भी छोडऩे को कहा है।

वस्तुत: निर्विकल्प ध्यान में ध्यानी आत्मा इन विकल्पों को स्वयमेव छोड.देता है और ध्यान करते-करते अपनी शुद्ध आत्मा में लीन हो जाता है। जब एक मात्र अपनी शुद्धात्मा का आलंबन लेता है तभी अध्यात्म भाषा में निर्विकार स्वसंवेदन लक्षण वाले भेदज्ञान में स्थित हुआ शुद्ध नय से आत्मा का अनुभव करने वाला होता है। तभी वह पूर्ण ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि होता है।

प्रश्न-१४ परमात्मा का आराधक पुरुष कैसा होता है, उदाहरण देकर समझाइये ?

उत्तर- जैसे राजा का सेवक राजा के शत्रुओं के साथ संसर्ग करता हुआ राजा का आराधक नहीं होता है उसी प्रकार परमात्मा का आराधक पुरुष उस शुद्ध परमात्मा के प्रतिपक्षी मिथ्यात्व, रागादि के साथ परिणमन करता हुआ परमात्मा का आराधक नहीं होता है। (ता.टी.२७)

पहले कह आए हैं कि मिथ्यात्व का अर्थ दर्शन मोह है तथा रागादि का अर्थ चारित्रमोह है।

अब इसी उदाहरण से समझें कि मिथ्यात्व शत्रु का संसर्ग चौथे गुणस्थान में छूट जाता है किन्तु शुद्ध आत्मा के प्रतिपक्षी रागादि शत्रु का आत्मा संसर्ग कर रहा है इसलिए परमात्मा का आराधक नहीं हुआ। जब यह आत्मा अप्रत्याख्यान कषाय सम्बन्धी राग, द्वेष शत्रु का संसर्ग भी छोड. देता है तब यह आत्मा पाँचवें गुणस्थान में पहुँचा किन्तु साक्षात् परमात्मा रूपी शुद्ध जीव राजा का आराधक तो नहीं हुआ। इसके आगे जब वह जीव प्रत्याख्यान सम्बन्धी राग, द्वेष रूप शत्रुओं को भी छोड.देता है, तब वह रत्नत्रयधारी परमात्मा रूपी शुद्ध जीव राजा की आराधना करने योग्य हो जाता है । शेष बचे संज्वलन कषाय शत्रुओं की उपेक्षा कर देने पर सप्तम आदि अप्रमत्त गुणस्थानों में निर्विकल्प ध्यान के साथ अत्यन्त मंद राग के साथ रहता है तो उन शत्रुओं से बुद्धिपूर्वक कोई प्रयोजन नहीं होने से परमात्मा के अत्यन्त निकट आ जाता है। इसके बाद इन रागादि शत्रुओं का अत्यन्त अभाव होने पर बारहवें गुणस्थान में सच्चा आराधक बन जाता है और थोडी ही देर में वह जीव स्वयं परमात्मा रूपी राजा बन जाता है।

अथाप्रतिबुद्धबोधनाय व्यवसायः क्रियते-

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ।।२३।। ता.टी. २८
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं।
कह सो पुग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ।।२४।। ता.टी.२९
जदि सो पुग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं।
तो सक्का वुत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ।।२५।। ता.टी.३०

उत्थानिका - अब अप्रतिबुद्ध को समझाने के लिए प्रयास किया जाता है-

अन्वयार्थ - (अण्णाणमोहिदमदी) जिसकी मति अज्ञान से मोहित है (बहुभावसंजुत्तो) और जो मोह, राग, द्वेष आदि अनेक भावों से युक्त है ऐसा (जीवो) जीव (भणदि) कहता है कि (इणं) यह (बद्धम् तहा च अबद्धं) शरीरादिक बद्ध तथा धनधान्यादिक अबद्ध (पुग्गलं दव्वं) पुद्गल द्रव्य (मज्झं) मेरा है। आचार्य कहते हैं कि- (सव्वण्हुणाणदिट्ठो) सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा देखा गया है (णिच्चं) सदा (उवओगलक्खणो) उपयोगलक्षणवाला (जीवो) जीव है (सो) वह (पुग्गलदव्वीभूदो) पुद्गलद्रव्यरूप (कह) कैसे हो सकता है (जं) जिससे कि (भणसि) तू कहता है कि (मज्झमिणं) यह पुद्गलद्रव्य मेरा है? (जदि) यदि (सो) जीवद्रव्य (पुग्गलदव्वीभूदो) पुद्गलद्रव्यरूप हो जाय और (इदरं) पुद्गलद्रव्य (जीवत्तमागदं) जीवत्व को प्राप्त करे तो (तो) (वुत्तुं सक्का) तू कह सकता है (जे)कि (इणं पुग्गलं दव्वं) यह पुद्गल द्रव्य (मज्झम्) मेरा है। (किन्तु ऐसा नहीं होता)

अर्थ- अज्ञान से ठगी हुई बुद्धि वाला संसारी प्राणी अपने साथ में मिलकर रहने वाले शरीर और अपने से पृथक् गहने इत्यादि पुद्गल-द्रव्य को अपना कहता है, नाना प्रकार की रागद्वेषादि रूप कल्पना करता है। इस पर आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! जब सर्वज्ञ भगवान् ने जीव को नित्य उपयोग लक्षण वाला देखा है तो फिर वह पुद्गल द्रव्य रूप कैसे हो सकता है ? जिससे कि तू

कर्मों जडात्मक तनों वचनों कुलों को, रागादिकों सुतसुतादिजनों धनों को।
अज्ञान से भ्रमित हो 'अपने' बताता, संसार को अबुध और अरे! बढाता ।।२८।।

हे मित्र! जीव उपयोगमयी रहा है, सर्वज्ञ का सदुपदेश यही रहा है।
तू ही बता जड.बना वह जीव कैसा ? मेरा जिसे कह रहा बन अंध जैसा ।।२९।।

हो जाय जीव यदि पुद्गल द्रव्य भाई ! हो जाय पुद्गल सचेतन जीव स्थाई।
निःशंक हो कह सको जड.है हमारा, ऐसा परन्तु कब हो! प्रभु ने पुकारा ।।३०।।

आ.टी. - युगपदनेकविधस्य बंधनोपाधेः सन्निधानेन प्रधावितानामस्वभावभावानां संयोगवशाद्विचित्रोपाश्रयोपरक्तः स्फटिकोपल इवात्यंततिरोहितस्वभावभावतया अस्तमितसमस्तविवेकज्योतिर्महता स्वयमज्ञानेन विमोहितहृदयो भेदमकृत्वा तानेवास्वभावभावान् स्वीकुर्वाणः पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवति किलाप्रतिबुद्धो जीवः। अथायमेव प्रतिबोध्यते रे दुरात्मन् आत्मपंसन् जहीहि जहीहि परमाविवेकघस्मरसतृणाभ्यवहारित्वम्। दूरनिरस्तसमस्तसंदेह-विपर्यासानध्यवसायेन विश्वैकज्योतिषा सर्वज्ञज्ञानेन स्फुटीकृतं किल नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं

पुद्गलात्मक पदार्थ को मेरा-मेरा कहता है। हाँ यदि जीवद्रव्य पुद्गल रूप हो जाये तो पुद्गल द्रव्य भी जीव रूप हो जाये। तब तू कह सकता है कि यह पुद्गल द्रव्य मेरा है, पर ऐसा तीन काल में नहीं हो सकता अतः तेरा यह कहना भूल भरा है।। २३-२५।।

आ.व्या. - एक साथ अनेक प्रकार के बंध कराने वाले निमित्तों के सन्निधान से आत्मा में अस्वभाव (विभाव) भावों का प्रति समय प्रधावित (आते हुए) पुद्गल कर्मों के संयोग से स्वभाव (शुद्ध आत्मा) का भाव अत्यन्त तिरोहित हो गया है जैसे कि स्फटिक पाषाण में अनेक उपाश्रय (निमित्तों) से रंग-बिरंगपना आ जाता है। जिससे समस्त विवेक (भेद-विज्ञान) की ज्योति नष्ट हो गई है। इसी कारण से अपने ही महान् अज्ञान के कारण विमोहित हृदय वाला आत्मा भेद नहीं करके उन्हीं अस्वभाव (विभाव) भावों को स्वीकार करता हुआ 'यह पुद्गल द्रव्य मेरा है' इस प्रकार अनुभव करता है। ऐसा अनुभव करने वाला जीव निश्चय से अप्रतिबुद्ध अज्ञानी है। अब इसी अप्रतिबुद्ध आत्मा को समझाया जाता है। रे दुरात्मन्! रे आत्म पंसन्! (आत्म घातक!) परम अविवेक से अतिसुन्दर अन्न को तृण समझकर खाने वाले हाथी के समान अज्ञान भाव को तू छोड.दे, छोड.दे। समस्त संदेह, विपर्यास और अनध्यवसायों का जिस विश्व की एकमात्र ज्योति रूप सर्वज्ञ के ज्ञान में अत्यन्त अभाव हुआ है उस ज्ञान के द्वारा निश्चित ही जीव द्रव्य नित्य उपयोग लक्षण वाला है। वह जीव द्रव्य पुद्गल द्रव्य रूप कैसे हो सकता है ? जिस कारण से 'यह पुद्गल द्रव्य मेरा है' इस प्रकार तुम अनुभव करते हो। चूंकि यदि किसी भी प्रकार से जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य रूप हो जावे और पुद्गल द्रव्य, जीव द्रव्य रूप हो जावे तभी नमक के पानी की तरह परिणमन हो जाने के समान मेरा यह पुद्गल द्रव्य है, इस प्रकार की अनुभूति घटित हो सकती है। इसी को समझाते हैं-

जैसे क्षारत्व लक्षण वाला लवण जल के रूप में परिणमन करता हुआ और द्रव लक्षण वाला जल नमक के रूप में परिणमन करता हुआ इन दोनों (लवण, जल) का क्षारत्व (खारेपन) और द्रवत्वपने से एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है। इसलिए नमक पानी बनता हुआ और पानी नमक बनता हुआ अनुभव में लाया जाता है किन्तु उसी प्रकार से नित्य उपयोग लक्षण वाला

तत्कथं पुद्गलद्रव्यीभूतं येन पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवसि, यतो यदि कथंचनापि जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभूतं स्यात् पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभूतं स्यात् तदैव लवणस्योदकमिव ममेदं पुद्गलद्रव्यमित्यनुभूतिः किल घटेत, तत्तु न कथंचनापि स्यात्। तथा हि- यथा क्षारत्वलक्षणं लवणमुदकीभवत् द्रवत्वलक्षणमुदकं च लवणीभवत् क्षारत्वद्रवत्वसहवृत्त्यविरोधादनुभूयते, न तथा नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभवत् नित्यानुपयोगलक्षणं पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभवत् उपयोगानुपयोगयोः प्रकाशतमसोरिव सहवृत्तिविरोधादनुभूयते। तत्सर्वथा प्रसीद विबुध्यस्व स्वद्रव्यं ममेदमित्यनुभव।। २३-२५ ।।

अथाप्रतिबुद्धसम्बोधनार्थं व्यवसायः क्रियते-

ता.टी. - अण्णाणेत्यादि- व्याख्यानं क्रियते **अण्णाणमोहिदमदी** अज्ञानमोहितमतिः। **मज्झमिणं भणदि** पुग्गलं **दव्वं** ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यम्। कथंभूतम्? **बद्धमबद्धं** च बद्धं संबद्धं देहरूपम् अबद्धं च असम्बद्धं देहाद् भिन्नं पुत्रकलत्रादि। **तहा** तथा **जीवे** जीवद्रव्ये बहुभावसंजुत्तो मिथ्यात्व रागादि बहुभाव संयुक्तः। अज्ञानी जीवो देहपुत्रकलत्रादिकं परद्रव्यं ममेदं भणतीत्यर्थः। इति प्रथमगाथा गता। अथास्य बहिरात्मनः सम्बोधनं क्रियते- रे दुरात्मन्!

जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्य रूप से परिणमन करता हुआ और नित्य अनुपयोग (जड) लक्षण वाला पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य रूप से परिणमन करता हुआ अनुभव में नहीं आता है; क्योकि उपयोग लक्षण वाले जीव और अनुपयोग लक्षण वाले पुद्गलद्रव्य में प्रकाश और अन्धकार की तरह सहवृत्ति (एक साथ रहने का) विरोध है। इसलिए हे आत्मन्! सर्व प्रकार से तू प्रसन्न हो, जागृत हो और स्व द्रव्य ही मेरा है, ऐसा अनुभव करो। ।।२३-२५।।

आगे इस अप्रतिबुद्ध को समझाने के लिए प्रयत्न किया जा रहा है-

टीकार्थ- अण्णाणमोहिदमदी अज्ञान से मोहित हो रही है- बिगड.रही है बुद्धि जिसकी ऐसा जीव **मज्झमिणं भणदि दव्वं** कहता है कि यह शरीरादि पुद्गलद्रव्य मेरा है। कैसा है वह पुद्गल द्रव्य? **बद्धमबद्धं च** बद्ध अर्थात् आत्मा से संबंधित देह और अबद्ध से भिन्न **पुत्र-कलत्रादि। तहा जीवे बहुभावसंजुत्तो** उनमें यह संसारी जीव मिथ्यात्वरागादिरूप विकारी भावों को लिये हुए है इसलिए उन देह-पुत्र-कलत्रादि परद्रव्य को, मेरा है, इस प्रकार कहता है। यह पहली गाथा का अर्थ हुआ। आगे की गाथा में इसी अज्ञानी को समझाया जा रहा है कि हे दुरात्मन्!

सव्वण्हुणाणदिट्ठो सर्वज्ञ भगवान् के ज्ञान से देखा हुआ **जीवो** जीव नामा पदार्थ **उवओगलक्खणो णिच्चं** सब ही काल में मात्र ज्ञान और दर्शन उपयोग लक्षण वाला है। फिर **कह सो पुग्गलदव्वीभूदो** वह पुद्गल द्रव्यरूप कैसे हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता। **जं भणसि मज्झमिणं** जिससे कि तू पुद्गलद्रव्य मेरा है-ऐसा कहता है। इस प्रकार दूसरी गाथा पूर्ण हुई।

सव्वण्हु इत्यादि **सव्वण्हुणाणदिट्ठो** सर्वज्ञज्ञानदृष्टः **जीवो** जीवपदार्थः। कथम्भूतोदृष्टः? **उवओगलक्खणो** केवलज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणः। **णिच्चं** नित्यं सर्वकालं। **कह** कथं। **सो** स जीवः। **पुग्गलदव्वीभूदो** पुद्गलद्रव्यं जातः न कथमपि। **जं** येन कारणेन। **भणसि** भणसि त्वं। **मज्झमिणं** ममेदं पुद्गलद्रव्यं। इति द्वितीया गाथा गता।

जदि-इत्यादि **जदि** यदि चेत् **सो** स जीवः। **पुग्गलदव्वीभूदो** पुद्गलद्रव्यं जातः। **जीवो** जीवः। **जीवत्तं** जीवत्वं। **आगदं** आगतं प्राप्तम्। **इदरं** इतरत् शरीरपुद्गलद्रव्यं **तो सक्का वुत्तुं** ततः शक्यं **वत्तुं। जे** अहो अथवा यस्मात्कारणात्। **मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं** ममेदं पुद्गलद्रव्यमिति। न चैवं यथा वर्षासु लवणमुदकी भवति ग्रीष्मकाले जलं लवणीभवति। तथा यदि चैतन्यं विहाय जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यस्वरूपेण परिणमति पुद्गलद्रव्यं च मूर्त्तत्वमचेतनत्वं विहाय चिद्रूपं चामूर्तत्वं च भवति तदा भवदीयवचनं सत्यं भवति। रे दुरात्मन्! न च तथा, प्रत्यक्षविरोधात्। ततो जीवद्रव्यं देहाद्भिन्नममूर्त्तं शुद्धबुद्धैकस्वभावं सिद्धमिति। एवं देहात्मनोर्भेदज्ञानं ज्ञात्वा मोहोदयोत्पन्नसमस्त विकल्पजालं त्यक्त्वा निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्रे निजपरमात्मतत्त्वे भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यम्। इत्यप्रतिबुद्धसम्बोधनार्थं पंचमस्थले गाथात्रयं गतम्।।२८-३०।।

जदि सो पुग्गलदव्वीभूदो यदि वह जीव पुद्गल द्रव्यरूप हो जाए तो **जीवत्तमागदं इदरं** शरीरादि पुद्गलद्रव्य भी जीवपने को प्राप्त हो जाये **तो सक्का वुत्तुं** जे तो तू फिर कह सकता है कि **मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं** यह पुद्गल द्रव्य मेरा है किन्तु ऐसा होता नहीं । तात्पर्य यह है कि जैसे वर्षाकाल में लवण पिघलकर जलरूप हो जाता है और ग्रीष्मकाल में वही जल घन होकर लवण हो जाता है, वैसे ही कभी चेतनता को छोडक़र जीव यदि पुद्गल द्रव्य रूप परिणत हो जाये और पुद्गल द्रव्य अपने मूर्त्तपने को व अचेतनपने को छोडक़र चेतनरूप और अमूर्त्त बन जाये तो तेरा कहना सत्य हो सकता है, किन्तु हे दुरात्मन्! ऐसा कभी होता नहीं, क्योंकि ऐसा मानने में प्रत्यक्ष विरोध आता है। फलस्वरूप हम स्पष्ट देख रहे हैं कि जीव तो इस जडस्वरूप देह से भिन्न है जो कि अमूर्त्त और शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव वाला है। इस प्रकार देह और आत्मा में परस्पर भेद जानकर मोह के उदय से उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के (अहंकार और ममकाररूप) विकल्पजाल को छोडक़र निर्विकार-चैतन्य-चमत्कार-मात्र निज-परमात्म-तत्त्व में भावना करनी चाहिए। इस प्रकार अप्रतिबुद्ध अज्ञानी को संबोधने के लिए पाँचवें स्थल में तीन गाथायें पूर्ण हुईं ।। २८-३०।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इन गाथाओं से आचार्य देव क्या कहना चाहते हैं ?

उत्तर- अब यहाँ अज्ञानी, अप्रतिबुद्ध को समझाने का पुरुषार्थ किया गया है और परद्रव्यों से अनुभूति को हटाकर आत्मानुभूति करने की प्रेरणा दी गई है।

प्रश्न-२. यहाँ समझाते हुए दुरात्मन् ! विशेषण क्यों लगाया ?

उत्तर- अप्रतिबुद्ध आत्मा अपने अज्ञान के कारण अपने शुद्ध स्वभाव को भूलकर विभाव भाव रूप से परिणत होती है। यही उस आत्मा की दुष्टता है। इस दुष्टता को नहीं छोडऩे के कारण आचार्यदेव ने यहाँ आत्मा को दुरात्मन् ! कहकर पुकारा है।

प्रश्न-३. फिर आत्मपंसन् क्यों कहा ?

उत्तर- आत्मपंसन् ! अर्थात् आत्मघातक ! विभाव रूप परिणति से यह आत्मा अपने स्वभावभूत ज्ञान को प्रच्छादित करता हुआ आवृत कर रहा है। इसे इस वैभाविक दशा का ज्ञान कराने के लिए कहा है कि तू अपनी आत्मा का घात क्यों कर रहा है ?

प्रश्न-४. इन विशेषणों के साथ क्या छोडऩे को कहा है ?

उत्तर- इस आत्मा को अज्ञानता को छोडऩे को कहा है। जैसे हाथी को जब घास में लपेटकर रोटी दी जाती है तब उस रोटी का आस्वाद न लेकर हाथी मात्र उस घास का ही स्वाद लेता है और रोटी के स्वाद को भी घास का ही स्वाद समझता है। यही उसकी अज्ञानता है उसी तरह यह क्षायोपशमिक ज्ञान का सावरणत्व विभाव परिणाम स्वाभाविक क्षायिक ज्ञान का स्वाद लेने नहीं देता है। यह अज्ञान भाव बारहवें गुणस्थान तक चलता है।

प्रश्न-५. अज्ञान बारहवें गुणस्थान तक कैसे रहता है ?

उत्तर- परम ज्ञान रूप सूर्य क्षायिक ज्ञान ही होता है। यहाँ आ.टी. में ज्ञान को उसी सूर्य की उपमा दी है। वह अज्ञान दो प्रकार का जानना चाहिए। एक तो विपरीत ज्ञान रूप अज्ञान जो दर्शन मोहनीय के उदय के साथ होता है। और दूसरा ज्ञान का अभाव रूप अज्ञान जो केवल ज्ञानावरण के उदय के साथ रहता है। विपरीत ज्ञान के अभाव में ज्ञान यद्यपि सम्यग्ज्ञान बन जाता है किन्तु पूर्ण ज्ञान नहीं होने से उसे भी वैभाविक कहा जाता है। जो स्वभावभूत ज्ञान के अभाव में अज्ञान ही कहलाता है। इसीलिए ता.टी. में कहा है कि 'जीव: केवलज्ञानदर्शनोपयोग लक्षण:' अर्थात् यह जीव, आत्मा केवलज्ञान केवलदर्शन, उपयोग लक्षण वाला है। जो सर्वज्ञ के ज्ञान में दिखता है। आ.टी. में भी नित्य उपयोग लक्षण वाले इस जीव द्रव्य को 'यह मेरा द्रव्य' है, ऐसा अनुभव करने को कहा है। पर द्रव्यों में अपनत्व बुद्धि को छोड़कर मात्र ज्ञानस्वभाव की ओर दृष्टि रखकर, उसी की भावना और ध्यान से यह आत्मा प्रतिबुद्ध बनता है।

अथ मोह हापनार्थं देह हायनं ख्यापयति

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्ननुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्।।२३।।

सं.टी.- अयीजि - कोमलालापेऽव्ययं, तत्त्वकौतूहली, सन्-भवन्, हे मित्रेत्यध्याहार्यं, कथमपि-केनचित् प्रकारेण, मायादिप्रकारेण, मृत्वा-च्युत्वा, साक्षान्मरणे तदनंतरं तत्क्षणे साक्षात्तत्त्वावलोकनाभावात्। मुहूर्तं-द्विनालिकापर्यंतं, मूर्तेः-शरीरस्य, पार्श्ववर्ती-नैकट्यवर्ती, भव, तच्छरीरस्वभावावलोकनार्थं। अथ मृत्वा पार्श्ववर्तिभवनानंतरं, स्वं-परमात्मानं, अनुभव-अनुभवगोचरीकुरु-स्वध्यानविषयं कुर्वित्यर्थः। किं कृत्वा? समालोक्य दृष्ट्वा पृथग् भिन्नं, विलसंतं-स्वस्वरूपे विलासं कुर्वंतं आत्मव्यतिरिक्ताचेतनादिशरीरावस्थाज्ञानाादि परिणतात्मावस्थाम् अवलोक्य स्वस्वरूपे स्थिरीभवत्वित्यर्थः, येन पृथक् स्वानुभवनेन, मूर्त्या शरीरेण, साकं, सह एकत्वमोहं 'ममेदं शरीरं, शरीरस्याहमित्येकत्वलक्षणं मोहं, त्यजसि जहासि। झगिति तत्कालं विलंबमंतरेणेत्यर्थः। ननु शरीरमेवात्मा, तद्व्यतिरिक्तस्य कस्यचिदात्मनोऽनुपलभ्यमानत्वात्, अन्यथा महामुनीनां तीर्थंकरशरीराद्यतिशयवर्णनानुपपत्तिः, इति युक्तिमुद्भाव्य भिन्नात्मवादिनं योगिनं प्रति कश्चिदप्रतिबुद्धः शिष्यः, इति पद्यमुत्प्लवते-

---

अन्वयार्थ- (अयि) अरे बन्धु! (कथमपि मृत्वा) किसी भी प्रकार से मर-खपकर (तत्त्व कौतूहली सन्) कुतूहल मात्र से भी तत्त्व को जानने की इच्छा करके (मुहूर्तं) एक मुहूर्त मात्र के लिए ही सही (मूर्तेः पार्श्ववर्ती भव) शरीर का पडोसी बन जा (अथ) तथा (पृथक् विलसन्तम्) शरीर से भिन्न जिसका विलास है ऐसे (स्वं समालोक्य) अपनी आत्मा को देखकर (अनुभव) उसका अनुभव करो (येन) ऐसा करने से (मूर्त्या साकं एकत्वमोहम्) शरीर के साथ जो तेरे एकपने का मोह भाव है उसे तू (झगिति त्यजसि) शीघ्र ही छोड.देगा। ।।२३।।

अर्थ- हे भाई ! अपने असली स्वरूप को जानने की उत्सुकता वाले होकर तुम किसी प्रकार से मर करके भी दो घडी शरीर के पडोसी होकर अपना अनुभव करो। इसके पश्चात् शरीर से सर्वथा और सर्वथा जुदे शोभायमान रहने वाले अपने को देखकर - अर्थात् शरीर से मैं चैतन्य स्वरूप आत्मा बिल्कुल ही जुदा पदार्थ हूँ ऐसा देखो, जिससे तुम शीघ्र ही शरीर के साथ एकता रूप विपरीत बुद्धि को छोड.सको। ।।२३।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. तत्त्व क्या है ?

उत्तर- परमात्म लक्षण वाला तत्त्व कहा है।

प्रश्न-२. उस तत्त्व को क्या करना है ?

उत्तर- उस तत्त्व को देखने में कौतूहली बनो।

प्रश्न-३. किस प्रकार से ?

उत्तर- किसी भी प्रकार से। माया आदि प्रकारों से छूटकर, बचकर तत्त्व को देखो।

प्रश्न-४. यहाँ 'मृत्वा' का अर्थ क्या है?

उत्तर- मृत्वा च्युत्वा अर्थात् माया, छल को छोडक़र ऐसा अर्थ प.अ.त. में किया है।

प्रश्न-५. सर्वत्र हिन्दी में तो 'किसी भी तरह मरकर' यह अर्थ किया है। ?

उत्तर- नहीं ! प.अ.त. में समझाते हुए कहा है कि साक्षात् मरण हो जाने पर फिर उसके बाद तत्त्व का अवलोकन होना कठिन है। इसलिए यहाँ 'यदि किसी भी प्रकार से मरण भी हो जाए फिर भी इस आत्मा का अनुभव करो' मृत्वा का यही अर्थ युक्तियुक्त है।

प्रश्न-६. कितने समय तक तत्त्व को देखने को कहा है ?

उत्तर- दो घडी पर्यन्त, एक मुहूर्त तक।

प्रश्न-७. इतने समय तक वह अनुभव कैसे होवे ?

उत्तर- उस आत्मा के स्वभाव को देखने के लिए उस शरीर को निकटवर्ती बनाओ अर्थात् उसे पडोसी की तरह अनुभव करो।

प्रश्न-८. इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर- आत्मा से भिन्न अचेतन आदि शरीर की अवस्था और अज्ञान आदि से परिणत अवस्था को देखकर अपने स्वरूप में स्थिर होओ।

प्रश्न-९. ऐसा करने से क्या होगा ?

उत्तर- इस तरह पृथक् रूप से स्वानुभव होने से मूर्त शरीर के साथ जो एकत्व रूप मोह है वह छूट जाता है।

प्रश्न-१०. एकत्व रूप मोह का लक्षण क्या है ?

उत्तर- 'मेरा यह शरीर है और शरीर का मैं हूँ' यह एकत्व लक्षण वाला मोह होता है।

प्रश्न-११. यह शरीर मेरा नहीं है और मैं शरीर का नहीं हूँ , इस एकत्व लक्षण वाले मोह का अभाव तो सम्यग्दृष्टि को होता ही है, फिर यहाँ विशेष क्या कहा है ?

उत्तर- इस एकत्व लक्षण रूप मोह का अभाव ध्यान के बिना नहीं होता है। जिस ध्यान में निरन्तर शरीर को अपने से पृथक् अनुभव करते हुए अपने निजानुभव में लीनता आती है, उस समय ही शरीर से आत्मा का मोह टूटता है, सर्वदा नहीं। ध्यान के बिना तो श्रद्धान और ज्ञान मात्र ही बना रहता है।

प्रश्न-१२. अप्रतिबुद्ध को समझाने की सारभूत बात क्या है ?

उत्तर- देह और आत्मा के भेदज्ञान को जानकर मोह के उदय से उत्पन्न समस्त विकल्प जाल को छोड़कर निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र निज परमात्म तत्त्व में भावना करना चाहिए, यह तात्पर्य है। यह सारभूत तथ्य है। (ता.टी.)

अथाहाप्रतिबुद्धः-

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव ।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ।।२६।। ता.टी.३१

आ.टी. - यदि य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यं न भवेत्तदा -

कांत्यैव स्नपयंति ये दश दिशो धाम्ना निरुंधंति ये
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णंति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः।।२४।।

उत्थानिका - अब अप्रतिबुद्ध जीव कहता है, उसकी गाथा कहते हैं-

अन्वयार्थ - (जदि) यदि (जीवो) जीव (सरीरं ण) शरीर नहीं है तो (तित्थयरायरियसंथुदी) तीर्थंकरों और आचार्यों की स्तुति की गई है वह (सव्वावि) सभी (मिच्छा हवदि) मिथ्या है; (तेण दु) इसलिए हम समझते हैं वह (आदा) आत्मा (देहो) देह ही (हवदि) है।

अर्थ- हे भगवन्! यदि जीव और शरीर एकरूप नहीं है तो भक्त लोगों के द्वारा की गई तीर्थंकर और आचार्यो की स्तुति सब व्यर्थ ठहरती है। अतः आत्मा और शरीर एक है, ऐसा मानना ही चाहिए।। २६।।

अब अप्रतिबुद्ध जीव कहता है उसकी गाथा कहते हैं-

आ.व्या.- जो आत्मा है वही पुद्गलद्रव्यस्वरूप यह शरीर है, यदि ऐसा न हो तो तीर्थंकरों और आचार्यों की जो स्तुति की गई है वह सब मिथ्या सिद्ध होगी। वह स्तुति इस प्रकार है -

अन्वयार्थ- (ये) जो तीर्थंकर प्रभु (कान्त्या एव) अपनी देह की कान्ति से ही (दशदिशः स्नपयन्ति) दशों दिशाओं को स्नान करा रहे हैं (ये) जो (धाम्ना) अपने तेज से (धामोद्दाममहस्विनां) तेजस्वी अत्यधिक होने वाले सूर्यादिक को (निरुन्धन्ति) रोक देते हैं। जो (रूपेण) अपने सुन्दर स्वरूप से (जनमनः) सभी जनों का चित्त (मुष्णन्ति) चुरा लेते हैं तथा (दिव्येन ध्वनिना) अपनी पवित्र दिव्य वाणी से (श्रवणयोः) दोनों कानों में (साक्षात् सुखम् अमृतम् क्षरन्तः) साक्षात् सुखदायक अमृत बरसाते हैं। (ते) वे (अष्टसहस्रलक्षणधराः) एक हजार आठ शुभ लक्षण को धारण करने वाले (तीर्थेश्वराः सूरयः) धर्म के मार्ग प्रदर्शक तीर्थंकर प्रभु (वन्द्याः) वन्दना करने योग्य हैं। ।।२४।।

मानो कि जीव यदि देहमयी नहीं है, तो देव की सुगुरु की स्तुति ना सही है।
भाई ! अतः समझ लो तन आतमा है, ऐसा सदैव कहता बहिरातमा है ।।३१।।

सं. टी.- ते प्रसिद्धाः, नाभेयादयस्तीर्थेश्वराः-श्रुतज्ञानलक्षणतीर्थनायकाः वंद्याः, नमस्करणीयाः, ये-भगवंतः, कांत्यैव-द्युत्या एव-केवलं, दशदिशः-ककुभः, स्नपयंति-प्रक्षालयंति, स्वकांत्यैव समस्ता दिशः प्रकटयंतीत्यर्थः। ये-जिनाः धाम्नाघातिकर्म क्षयोत्पन्नकोटिसूर्याधिकशरीरतेजसा, उद्दाममहस्विनां-अमर्यादीभूततेजस्विनां, स्वर्ण-रत्न-मुक्ताफल-नक्षत्र-विमान-सूर्य-चंद्र-दीपाग्न्यादीनां धाम-तेजः, निरुंधंति-निवारयंति, स्वल्पीकुर्वंतीत्यर्थः। तथा चोक्तं-

आकस्मिकमिव युगपद्दिवसकरसहस्रमपगतव्यवधानं।
भामंडलमिव भावितरात्रिंदिवभेदमतितरामाभाति।।१।। इति।

कलशार्थ- एक हजार आठ लक्षणों को धारण करने वाले वे तीर्थंकर तथा आचार्य वन्दनीय हैं जो शरीर की कान्ति से ही दशों दिशाओं को स्नान कराते हैं, व्याप्त करते हैं। और जो अपने शारीरिक तेज से महा तेजस्वी-सूर्यादि के उत्कट-उत्कृष्ट तेज को रोकते हैं और अपने शरीर के अलौकिक सौन्दर्य से मनुष्यों यानी जन्मधारियों-देव, मनुष्य और पशुओं के चित्त को चुराते हैं अर्थात् अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। श्रोताओं के कानों में दिव्य मनोहर ध्वनि से साक्षात् प्रत्यक्ष रूप से अमृत को सुख पूर्वक वर्षाते हैं।। २४।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. वे तीर्थंकर कौन हैं ?

उत्तर- जो नाभेय अर्थात् नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव आदि नाम से प्रसिद्ध हैं और जो श्रुतज्ञान लक्षण रूप तीर्थ के नायक हैं वे ही तीर्थेश्वर हैं।

प्रश्न-२. इनके शरीर की कान्ति से क्या होता है ?

उत्तर- ये अपने शरीर की कान्ति मात्र से ही दशों दिशाओं को नहलाते हैं या प्रक्षालित करते हैं। अर्थात् समस्त दिशाओं को प्रकट करते हैं।

प्रश्न-३. ये जिन अपने धाम (तेज) से क्या करते हैं ?

उत्तर- घाति कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुए करोडों सूर्यों से अधिक प्रकाश वाला शरीर होता है। स्वर्ण, रत्न, मुक्ताफल, नक्षत्र, विमान, सूर्य, चन्द्र, दीपक, अग्नि आदि पदार्थों का तेज (प्रकाश) सीमा रहित होता है। इन पदार्थों के प्रकाश को भी वे अपने तेज से रोक देते हैं या उनके प्रकाश को अत्यल्प कर देते हैं। तात्पर्य यह है कि तीर्थंकर के शरीर के तेज के समक्ष इन पदार्थों का प्रकाश अत्यल्प दिखाई देता है।

प्रश्न-४. क्या यह शरीर के तेज का वर्णन पूर्वाचार्यों ने भी किया है?

उत्तर- हाँ ! बहुत से आचार्यों ने किया है। एक उदाहरण देखिये नंदीश्वर भक्ति का-

'बिना विचारे अकस्मात् उपस्थित हुए एक साथ हजारों सूर्य की तरह जिसमें क्षेत्र आदि

ये रूपेण कृत्वा जनमनः-त्रिलोकनिवासिप्राणिचित्तं, मुष्णंति-हरंति,, तच्चित्ताकर्षणं कुर्वंतीत्यर्थः। किंभूतास्ते? सुखं उभयोः शर्म यथा भवति तथा, श्रवणयोः-कर्णयोः, साक्षात्-प्रत्यक्षं, अमृतं-धर्मसुधां संसारदुःखापहारित्वात् क्षरंतः-स्रवंतः, केन? दिव्येन-अन्यजनातिशायिना, ध्वनिना-तीर्थंकरपुण्यकर्मातिशयविजृंभमाणध्वनिना पुनः किंभूताः? अष्टेत्यादि-अष्टाभिरधिकानि सहस्राणि तानि च तानि लक्षणानि वज्र-कुशेशय-तोरण-छत्राकारादीनि तेषां धराः-धारकाः, ते तथोक्ताः नवशतव्यंजनोपलक्षिताष्टशतलक्षणलक्षितत्वात् तथा च सूरयः-आचार्याः वंद्याः।।२४।।

का व्यवधान भी नहीं रहा है ऐसे रात-दिन का भेद समाप्त करता हुआ भामण्डल अत्यधिक शोभा पाता है।'

प्रश्न-५. ये तीर्थेश्वर अपने रूप से क्या करते हैं ?

उत्तर- ये तीर्थेश्वर अपने रूप से तीन लोक में निवास करने वाले प्राणियों के चित्त का हरण कर लेते हैं अर्थात् उनके चित्त को खींच लेते हैं।

प्रश्न-६. वे तीर्थंकर और कैसे होते हैं ?

उत्तर- दोनों कानों में धर्मामृत को प्रत्यक्ष झराते रहते हैं।

प्रश्न-७. इसे साक्षात् अमृत क्यों कहा है ?

उत्तर- संसार दुःख को दूर करने से वह धर्म प्रत्यक्ष रूप अमृत तुल्य है।

प्रश्न-८. किससे वे तीर्थेश्वर धर्मामृत प्रदान करते हैं ?

उत्तर- अपनी दिव्य ध्वनि से।

प्रश्न-९. इस ध्वनि को दिव्य क्यों कहा है ?

उत्तर- यह ध्वनि अन्य सामान्य जनों की नहीं होती है इसलिए अन्य जन अतिशायी होने से इसे दिव्य कहा है।

प्रश्न-१०. यह ध्वनि क्यों होती है ?

उत्तर- तीर्थंकर पुण्य कर्म के अतिशय से यह ध्वनि प्रसारित होती है।

प्रश्न-११. पुनः और कैसा होता है शरीर ?

उत्तर- भगवान् का शरीर एक हजार आठ लक्षणों से सुशोभित होता है। वज्र, कमल, तोरण, छत्र के आकार वाले एक सौ आठ (१०८) लक्षण होते हैं और नौ सौ (९००) व्यंजन होते हैं।

प्रश्न-१२. यहाँ 'सूरि' किसको कहा है ?

उत्तर- आचार्य परमेष्ठी को सूरि कहा जाता है।

प्रश्न-१३. आचार्य परमेष्ठी की स्तुति कैसे की जाती है ?

उत्तर- 'देस कुलजाइ सुद्धा' इत्यादि पद से आचार्य देव की स्तुति की जाती है। अर्थात् जो देश, कुल, जाति से शुद्ध हैं वे आचार्य हैं। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने आचार्य स्तुति में इस प्रकार लिखा है-

आ.टी. - इत्यादिका तीर्थकराचार्यस्तुतिः समस्तापि मिथ्या स्यात्। ततो य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गल-द्रव्यमिति ममैकांतिकी प्रतिपत्तिः।। २६।।

(ता.टी.)

अथ पूर्वपक्षपरिहाररूपेण गाथाष्टकं कथ्यते, तत्रैकगाथायां पूर्वपक्षः गाथाचतुष्टये निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण परिहारः। गाथात्रये निश्चय स्तुतिरूपेण परिहार इति षष्ठस्थले समुदाय पातनिका। तद्यथा प्रथमतस्तावत् यदि जीव शरीरयोरेकत्वं न भवति तदा तीर्थंकराचार्य स्तुतिर्वृथा भवतीत्यप्रतिबुद्धशिष्यः पूर्वपक्षं करोति-

ता.टी.- जदि जीवो ण सरीरं हे भगवन्! यदि जीवः शरीरं न भवति। **तित्थयरायरियसंथुदी चैव** तर्हि 'द्वौ कुन्देन्दु तुषार हार धवलावित्यादि' तीर्थंकरस्तुतिः 'देशकुल जाइसुद्धा' इत्याचार्यस्तुतिश्च। **सव्वावि हवदि मिच्छा** सर्वापि भवति मिथ्या। **तेण दु आदा हवदि देहो** तेन त्वात्मा भवति देहः। इति ममैकान्तिकी प्रतिपत्तिः। एवं पूर्वपक्षगाथा गता ।। ३१।।

देस कुल जाइ सुद्धा विसुद्धमण वयण- काय संजुत्ता ।
तुम्हं पाय पयोरुह - मिह मंगल - मत्थु मे णिच्चं ।।

अर्थ- जो देश, कुल, जाति से शुद्ध हैं, विशुद्ध मन, वचन, काय से संयुक्त हैं। ऐसे आपके चरण कमल यहाँ मेरे लिए सदैव मंगल हों।

प्रश्न-१४. अप्रतिबुद्ध पूर्व पक्ष बनाकर क्या शंका करता है ?

उत्तर- यहाँ अप्रतिबुद्ध ने पूर्व पक्ष रखकर यह शंका की है कि यदि आपके यहाँ जीव और शरीर का एकत्व नहीं है तो फिर तीर्थंकरों की और आचार्यों की स्तुति करते समय इस तरह (जैसा कि ऊपर के प्रश्नों में की है) शरीर के आश्रित, जाति, कुल के आश्रित गुणों की स्तुति क्यों करते हो? यदि शरीर और आत्मा का एकत्व नहीं है तो यह सब स्तुति करना मिथ्या है जिसमें देह आदि के गुणों का वर्णन किया जाता है। इसलिए आत्मा देह होता है, यह मेरी एकान्त अवधारणा है।

आ.व्या.- इस प्रकार की तीर्थंकरों की और आचार्यों की जो स्तुति है वह सब ही मिथ्या-विफल सिद्ध हो जायेगी। उस कारण से 'जो ही आत्मा है वही शरीर है, पुद्गल द्रव्य है' इस प्रकार मेरा एकान्त रूप से विश्वास है।। २६।।

आगे पूर्वपक्ष (जीव व शरीर को एक मानने) के परिहार रूप में आठ गाथाएँ कही जाती हैं। वहाँ पहली गाथा में पूर्वपक्ष का कथन है, फिर चार गाथाओं में निश्चय और व्यवहार के समर्थन रूप से उसका परिहार है तथा तीन गाथाओं में निश्चय-स्तुति रूप से पूर्वपक्ष का परिहार है, इस प्रकार छठे स्थल की समुदाय पातनिका है।

अब सबसे प्रथम अज्ञानी शिष्य अपनी बात कहता है कि यदि जीव और शरीर में एकपना नहीं है तो तीर्थंकरों की और आचार्यों की जो स्तुतियाँ शरीर को लेकर की गई हैं, वे सब व्यर्थ ठहरती हैं ।

टीकार्थ- हे भगवन्! **जदि जीवो ण सरीरं** यदि जीव शरीर रूप नहीं है **तित्थयरायरियसंथुदो चेव** तो 'द्वौ कुन्देन्दुतुषारहारधवलौ' इत्यादि शरीर को आधार लेकर की गई तीर्थंकर की स्तुति और 'देसकुलजाइसुद्धा' इत्यादि आचार्यों की स्तुति **सव्वादि हवदि मिच्छा** सब ही मिथ्या ठहरती है। **तेण दु आदा हवदि देहो** इसलिए आत्मा ही शरीर है या शरीर ही आत्मा है। ऐसा मेरा दृढ.विश्वास है। इस प्रकार यह पूर्व पक्ष की गाथा हुई ।। ३१।।

तुम धर्म की महिमा को जानो। तीर्थंकर अरिहंत की महिमा को जानो तभी उनको समझ पाओगे। तभी जिनदर्शन की लौ जगेगी। तुम गुरु की महिमा जानो। महिमा का आकलन आडम्बर से नहीं सौम्य दिगम्बरत्व से होता है। आत्मा की अचिन्त्य महिमा है, उस महिमा के लिए जिन्होंने सब कुछ छोड़ दिया उनके लिए अब और किसी महिमा को प्रकट करने की आवश्यकता नहीं। जो हम में दर्शन की रुचि जगती है वह महिमा से ही जगती है। जब तुम किसी कलाकार, खिलाडी, नेता की महिमा जान लेते हो तो उसकी भीड़ और चर्चे सुनकर समझते हो तब तुम उसे देखने, सुनने पहुँचते हो। ऐसी महिमा आत्मा की नहीं है। आत्मा की महिमा आत्मद्रष्टा ही जानता है। अरिहंत देव और दिगम्बर गुरु के आत्म-स्वरूप की महिमा जानकर ही तुम महिमावन्त बन सकोगे। देह की और परिकर की महिमा से प्रभावित होकर जो मुग्ध हो गए हो फिर वे आत्मा की महिमा नहीं जान पाते। किन्तु जो आत्मा की महिमा जानकर देह और परिकर से प्रसन्न होते हैं वे ही वस्तु के स्वरूप को जान पाते हैं। वस्तु स्वरूप की महिमा भीतर से जानो।

नैवं, नयविभागानभिज्ञोऽसि-

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ।। २७।। ता.टी.३२

आ.टी. - इह खलु परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयोः समवर्तितावस्थायां कनककलधौतयोरेक-स्कंधव्यवहारवद्व्यवहारमात्रेणैवैकत्वं न पुनर्निश्चयतः, निश्चयतो ह्यात्मशरीरयोरुपयोगानुपयोगस्वभावयोः कनककलधौतयोः पीतपांडुरत्वादिस्वभावयोरिवात्यंत- व्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्तेः नानात्वमेवेति। एवं हि किल नयविभागः। ततो व्यवहारनयेनैव शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमुपपन्नम् ।। २७।।

उत्थानिका - आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है, तू नय विभाग से अनभिज्ञ है, वह नय विभाग इस प्रकार है-

अन्वयार्थ - (ववहारणओ) व्यवहारनय तो (भासदि) यह कहता है कि (जीवो देहो य) जीव और शरीर (इक्को खलु) एक ही (हवदि) है; (दु) किन्तु (णिच्छयस्स) निश्चयनय के अभिप्राय से (जीवो देहो य) जीव और शरीर (कदावि) कभी भी (एकट्ठो) एक पदार्थ (ण) नहीं हैं।

अर्थ- व्यवहारनय (जो कि संयोग मात्र को लेकर चलता है) कहता है कि जीव और देह अवश्य एक हैं, किन्तु निश्चयनय (जो तादात्म्य संबंध को ही स्वीकार करता है) से जीव और देह किसी काल में भी एक नहीं है, भिन्न-भिन्न है।। २७।।

आ.व्या.- इस संसार में जिस प्रकार सोना और चाँदी इन दोनों के मिश्रण की अवस्था में सोना और चाँदी का पिण्ड एक है ऐसा केवल व्यवहार की दृष्टि से कहा जाता है; किन्तु निश्चय की दृष्टि से उस पिण्ड को एकवस्तु रूप नहीं माना जाता, उसी प्रकार आत्मा और शरीर इनकी परस्पर अवगाह में रहने की अवस्था होने पर उन दोनों का एकत्व केवल व्यवहार मात्र से ही कहा जाता है न कि निश्चय से। निश्चय की दृष्टि से तो वस्तुतः जिस प्रकार सुवर्ण का पीतत्व (पीलापन) आदि स्वभाव और चाँदी का पाण्डुत्व (सफेदपन) आदि स्वभाव इनमें अत्यन्त भेद होने से उनके मिश्रण से बने हुए पिण्ड में एक पदार्थपना घटित नहीं होता है, किन्तु भिन्न पदार्थपना ही घटित होता है उसी प्रकार निश्चय की दृष्टि से आत्मा का उपयोग स्वभाव और शरीर का अनुपयोग स्वभाव अर्थात् अचेतनत्व स्वभाव इनमें अत्यन्त भिन्नत्व होने से संयुक्त अवस्था में भी

है 'भिन्न' निश्चयतया तन जीव मानो, है एकमेक व्यवहारतया सुजानो।
हो दृष्टि में यदि विराग अमूर्त-मा की, होती शरीर स्तुति से स्तुति आतमा की ।।३२।।

(ता.व.)

हे शिष्य! यदुक्तं त्वया तन्न घटते यतो निश्चयव्यवहारनयपरस्परसाध्य-साधकभावं न जानासि त्वमितिह्न

ता.टी. - ववहारणओ भासदि व्यवहारनयो भाषते ब्रूते। किं ब्रूते ? जीवो देहो य हवदि खलु इक्को जीवो देहश्च भवति खल्वेकः। **ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो** न तु निश्चयस्याभिप्रायेण जीवो देहश्च कदाचित्काले एकार्थः एको भवति। यथा कनककलधौतयोः समावर्तितावस्थायां व्यवहारेणैकत्वेऽपि निश्चयेन भिन्नत्वं तथा जीवदेहयोरिति भावार्थः। ततः कारणात् व्यवहारनयेन देहस्तवनेनात्मस्तवनं युक्तं भवतीति नास्ति दोषः।। ३२।।

एकवस्तुत्व घटित नहीं होता, किन्तु भिन्न वस्तुत्व ही घटित होता है। वस्तुतः इस प्रकार ही नय-भेद है। इसलिए व्यवहारनय की दृष्टि से ही शरीर की स्तुति की जाने पर आत्मा की स्तुति घटित होती है।। २७।।

(ता.टी.)

अब आचार्य महाराज इसका परिहार करते हैं कि हे भाई! तूने कहा सो ठीक नहीं बैठता, क्योंकि तू निश्चय और व्यवहारनय में परस्पर जो साध्य-साधक भाव है उसको नहीं जानता-

टीकार्थ- ववहारणओ भासदि व्यवहारनय कहता है कि **जीवो देहो य हवदि खलु इक्को** जीव और देह अवश्य ही एक हैं। **ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो** किन्तु निश्चयनय के अभिप्राय से जीव और देह दोनों परस्पर कभी किसी काल में भी एक नहीं होते हैं। जैसे चाँदी और सोना मिली हुई दशा में व्यवहारनय से परस्पर एक हैं फिर भी निश्चयनय से वे अपने रूप-रंग को लिये हुए भिन्न-भिन्न हैं वैसे ही जीव और देह का व्यवहार है। इसलिए व्यवहारनय से देह के स्तवन से आत्मा का स्तवन मान लेना दोषकारक नहीं है।। ३२।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. शिष्य को अप्रतिबुद्ध क्यों कहा है ?

उत्तर- क्योंकि वह शिष्य नय ज्ञान के विभाजन से अनभिज्ञ है। (आ.टी.) तथा एकान्त रूप से आत्मा देह है, ऐसा मानता है।

प्रश्न-२. वह नय ज्ञान का विभाजन कैसे समझा जाए ?

उत्तर- नय दो प्रकार के हैं। व्यवहार नय और निश्चय नय। इनमें से किसी एक नय से एकान्त अवधारणा बनाना और उसे ही वस्तु का स्वरूप समझना नयों को नहीं जानना है। ऐसी एकान्तिक अवधारणा रखने वाला अप्रतिबुद्ध है, अज्ञानी है।

प्रश्न-३. इस अप्रतिबुद्ध (मिथ्यादृष्टि) को कैसे समझाया है ?

उत्तर- व्यवहार नय से जीव और देह एक है किन्तु निश्चय नय के अभिप्राय से जीव और देह

कभी भी, किसी भी काल में एक नहीं होते हैं।

प्रश्न-४. नय का विभाजन सम्यक् प्रकार से कैसे जाना जाए ?

उत्तर- निश्चय और व्यवहार नय में परस्पर साध्य-साधक भाव को जानना ही सम्यक् प्रकार से नयों को जानना है। अर्थात् निश्चय नय साध्य है और व्यवहार नय साधक है। ऐसा जानो। (ता.टी.) जो इस तरह व्यवहार, निश्चय के संबंध को नहीं जानता है वह अप्रतिबुद्ध है।

प्रश्न-५. यहाँ परस्पर में साध्य-साधक सम्बन्ध कहा है, सो व्यवहार तो निश्चय का साधक हो जावे किन्तु निश्चय व्यवहार का साधक कैसे होगा ?

उत्तर- यह परस्पर में साध्य-साधकता विरोध को प्राप्त नहीं है। जैसे बाह्य परिग्रह का त्याग होने पर ही अन्तरंग से प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव हुआ तो यहाँ बाह्य व्यवहार का त्याग अन्तरंग में कषाय अभाव रूप निश्चय विशुद्धि के लिए साधक हुआ क्योंकि बिना बाह्य त्याग के अन्तरंग में कषायों का अभाव नहीं होता है। यहाँ व्यवहार त्याग ने साधक बनकर अन्तरंग कषाय के अभाव रूप साध्य को साधा। इसी तरह इन कषायों का त्यागी श्रमण जब आत्मलीनता रूप निश्चय ध्यान में होता है तब बाह्य व्यवहारगत स्वाध्याय, आहार आदि साधक रूप व्यवहार है। ठीक इसी तरह जब वह श्रमण निश्चयगत ध्यान को छोडक़र पुनः प्रवृत्ति करता है तो वह प्रवृत्ति उसकी साध्य है और निश्चयगत एकाग्रता साधक है। उस एकाग्रता के अभ्यासी श्रमण की प्रवृत्ति भी समीचीन होगी। ऐसी प्रवृत्ति नहीं करेगा जिससे कि उसकी प्रवृत्ति व्यवहाराभास बन जाए। निश्चय उस समय साधक है, जो उस प्रवृत्ति की समीचीनता के लिए है। इस तरह यहाँ प्रवृत्ति साध्य हुई। अपने गुणस्थान के योग्य प्रवृत्ति बने रहना और व्यवहार करना भी निश्चय के साधकपने के साथ होता है। ध्यान रूप निश्चय को साधक बनाकर व्यवहार रूप स्वाध्याय के साध्य को करना और पुनः व्यवहार रूप स्वाध्याय को साधक बनाकर निश्चय रूप ध्यान को साध्य बनाना, यह परस्पर में साध्य-साधक सम्बन्ध है। इसी तरह अन्य क्रिया के साथ जानना।

प्रश्न-६. तो क्या शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन किसी भी नय से हो सकता है ?

उत्तर- हाँ ! अवश्य होता है। व्यवहार नय शरीर और आत्मा के एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध को कहता है इसलिए व्यवहार नय से ही शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन सिद्ध होता है। (आ.टी.)

प्रश्न-७. निश्चय नय से शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन क्यों नहीं होता है ?

उत्तर- नहीं, निश्चय नय से शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं। आत्मा उपयोग स्वभाव वाला है और शरीर अनुपयोग स्वभाव वाला है। इसलिए एक के स्तवन से दूसरे भिन्न द्रव्य का स्तवन नहीं होता है।

तथा हि-

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ।।२८।। ता.टी.३३

आ.टी. - यथा कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्य व्यपदेशेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि कार्तस्वरस्य व्यवहार-मात्रेणैव पांडुरं कार्तस्वरमित्यस्ति व्यपदेशः, तथा शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेः स्तवनेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य व्यवहारमात्रेणैव शुक्ललोहितस्तीर्थकर-केवलिपुरुष इत्यस्ति स्तवनम्। निश्चयनयेन तु शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमनुपपन्नमेव ।। २८।।

तथा हि-

ता.टी.- इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी इदमन्यद्भिन्नं जीवात्सकाशाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः। **मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं** पश्चाद् व्यवहारेण मन्यते संस्तुतो वन्दितो मया केवली भगवानिति। यथा सुवर्णरजतयोरेकत्वे सति शुक्लं सुवर्णमिति व्यवहारो, न निश्चयः तथा शुक्लरक्तोत्पलवर्णः केवलिपुरुष इत्यादि देहस्तवने व्यवहारेणात्मस्तवनं भवति न निश्चयनयेनेति तात्पर्यार्थः ।।३३।।

उत्थानिका - उसी प्रकार से-

अन्वयार्थ - (जीवादो अण्णं) जीव से भिन्न (इणं पुग्गलमयं देहं) इस पुद्गलमय देह की (थुणित्तु) स्तुति करके (मुणी) साधु (मण्णदि हु) ऐसा मानते हैं कि (मए) मैंने (केवली भयवं) केवली भगवान की (संथुदो) स्तुति की और (वंदिदो) वन्दना की।

अर्थ- जीव से अन्य इस पुद्गलमयी देह की स्तुति-गुणानुवाद करके मुनि भी ऐसा मानते हैं कि मैंने केवली भगवान् की स्तुति व वंदना कर ली।। २८।।

आ.व्या.- जिस प्रकार चाँदी के सफेदपने के निमित्त से वस्तुतः सफेदपना जिसका स्वभाव नहीं है, ऐसे सुवर्ण को भी 'सुवर्ण सफेद है' ऐसा केवल व्यवहार मात्र से कथन किया जाता है, उसी प्रकार सफेद, लाल आदि रूप गुण के स्तवन से वस्तुतः भगवान् तीर्थंकर केवली की आत्मा सफेद, लाल आदि गुणरूप स्वभाववाली न होने पर भी केवल व्यवहार मात्र से 'तीर्थंकर केवली की आत्मा सफेद और लाल है' इस प्रकार स्तवन होता है। निश्चयनय की दृष्टि से तो शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन होना घटित नहीं होता है।। २८।।

जीवात्म से पृथक् भूत शरीर को ही, वे वंदनादि करके मुनि वीतमोही।
हैं मानते नमित वंदित केवली हैं, बाह्योपचारवश ही हमसे बली हैं ।।३३।।

(ता.टी.)

टीकार्थ- इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी जीव से भिन्न इस पुद्गलमय देह का स्तवन करके मुनि **मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं** व्यवहार से ऐसा मानता है कि मैंने केवली भगवान् की स्तुति और वंदना करली। तात्पर्य यह है कि जैसे चाँदी के साथ मिले हुए स्वर्ण को व्यवहार से सफेद सोना कहते हैं, पर वास्तव में सोना सफेद नहीं होता। उसी प्रकार अमुक केवली भगवान् श्वेत, लाल या कमल के रंग वाले हैं इत्यादि रूप से उनके देह का स्तवन करने पर व्यवहार से उनकी आत्मा का स्तवन हो जाता है, किन्तु निश्चय से नहीं ।।३३।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. तो क्या मुनिराज भी व्यवहार नय से भगवान् की स्तुति करते हैं ?

उत्तर- अवश्य करते हैं। जीव से भिन्न इस देह की स्तुति करके ही यह मान लिया जाता है कि हमने तीर्थंकर केवली की आत्मा की स्तुति कर ली है।

प्रश्न-२. व्यवहार नय से शरीराश्रित गुणों की स्तुति फिर क्यों करना चाहिए जबकि शरीर से आत्मा अत्यन्त भिन्न है ?

उत्तर- अरे ! भव्यात्मन् ! व्यवहार नय से ही तीर्थंकर केवली की स्तुति सम्भव है, निश्चय नय से नहीं। वे मुनिराज उस अप्रतिबुद्ध की तरह देह को ही आत्मा नहीं मानते हैं किन्तु दोनों नयों से आत्मा और शरीर का भिन्नत्व और एकत्व जानते हैं। बिना व्यवहार नय के तो तीर्थंकर की विशेषता किसी अपेक्षा सम्भव ही नहीं है। भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों के शरीर का रंग भिन्न-भिन्न है, इस अपेक्षा से भी स्तुति की जाती है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं- हे पद्मप्रभ भगवन्! आपके शरीर की रश्मियों की आभा से पूरी सभा लाल रंग की शोभित हो रही थी। भगवन् मुनिसुव्रतनाथ की स्तुति में तो वह भगवान् के शरीर के सफेद रक्त को भी स्तुति का विषय बनाते हैं। अलग-अलग कुलों के नाम से, माता-पिता के नाम से, उनके शरीर के रूप सौन्दर्य की स्तुति वस्तुतः तीर्थंकर भगवान् की ही स्तुति है क्योंकि व्यवहार से वह शरीर उस आत्मा का ही है जिसमें ऐसे विशिष्ट तीर्थंकर नामकर्म के उदय से ऐसी विशिष्टताएँ दिखाई देती हैं।

यदि व्यवहार नय से स्तुति नहीं मानोगे या उसे मिथ्या समझोगे तो स्तुति करना ही संभव नहीं होगा। भगवान् के एक हजार आठ नामों का पाठ भी व्यवहार नय से स्तुति है। व्यवहार के बिना चौबीस तीर्थंकर हुए यह भेद करना भी नहीं बनेगा। निश्चय से तो सदैव अभेद रूप आत्मा को विषय बनाता है ऐसी स्थिति में तीर्थंकर और सामान्य केवली की आत्मा में अनन्त चतुष्टय की अपेक्षा कोई अन्तर नहीं होने से हमने तीर्थंकर स्तुति की है, यह कहना ही सम्भव नहीं है। यदि व्यवहार नय सर्वथा असत्य होगा तो स्तुति और वंदना आवश्यक में भी कोई अन्तर नहीं रह जाएगा; क्योंकि केवल आत्मा की स्तुति की अपेक्षा से चौबीस तीर्थंकर की या एक तीर्थंकर की

तथा हि-

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ।।२९।। ता.टी.३४

आ.टी.- यथा कार्तस्वरस्य कलधौतगुणस्य पांडुरत्वस्याभावान्न निश्चयतस्तद्व्यपदेशेन व्यपदेशः कार्तस्वरगुणस्य व्यपदेशेनैव कार्तस्वरस्य व्यपदेशात्, तथा तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य शरीरगुणस्य शुक्ल-लोहितत्वादेरभावान्न निश्चयतस्तत्स्तवनेन स्तवनं तीर्थकरकेवलिपुरुषगुणस्य स्तवनेनैव तीर्थकर-केवलिपुरुषस्य स्तवनात् ।।२९।।

स्तुति करो उसमें अन्तर ही क्या रहा ? व्यवहार नय से ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा स्तुति होती है। भगवान् की निर्वाण भूमि भी अष्टापद, पावापुर आदि कहना यह भी व्यवहार से है ऐसी स्थिति में हमने भगवान् की निर्वाण भूमि की वन्दना की, यह कहना व्यवहार नय से सर्वथा सत्य है ।

उत्थानिका - उसी प्रकार

अन्वयार्थ - (तं) वह स्तवन (णिच्छये) निश्चय में (ण जुज्जदि) योग्य नहीं है (हि) क्योंकि (सरीरगुणा) शरीर के गुण (केवलिणो) केवली के (ण होंति) नहीं होते; (जो) जो (केवलिगुणे) केवली के गुणों की (थुणदि) स्तुति करता है, (सो) वह (तच्चं) परमार्थ से (केवलिं) केवली की (थुणदि) स्तुति करता है।

अर्थ- किन्तु उपर्युक्त बात निश्चयनय में घटित नहीं होती, क्योंकि शरीर के पुद्गलमयी गुण केवली के नहीं हो सकते। अतः निश्चयनय में तो जब केवली के ज्ञानादि गुणों का स्तवन करता है, तभी केवली भगवान् का स्तवन समझा जाता है। ।।२९।।

आ.व्या.- जिस प्रकार चाँदी के सफेद गुण का सुवर्ण में अभाव होने से निश्चयनय की दृष्टि से उस सफेदपने का कथन करने से सुवर्ण का कथन नहीं होता है क्योंकि सुवर्ण गुण के कथन से ही सुवर्ण का कथन होता है; उसी प्रकार शरीर के सफेद, लालपने आदि गुण का तीर्थंकर केवली की आत्मा में अभाव होने से निश्चयनय से शरीरगुण के स्तवन से तीर्थंकर केवली की आत्मा का स्तवन नहीं होता है; क्योंकि तीर्थंकर केवली की आत्मा के गुण के स्तवन से ही तीर्थंकर केवली की आत्मा का स्तवन होता है। ।।२९।।

होती शरीर स्तुति केवलि की नहीं है, औचित्य देह गुण केवलि में नहीं है।
वीर्यादि अव्यय अनन्त अपूर्वधी की, जो भी करे स्तुति वही स्तुति केवली की ।।३४।।

अथ निश्चयनयेन शरीरस्तवने केवलिस्तवनं न भवतीति दृढयति-

ता.टी. - तं णिच्छये ण जुज्जदि तत्पूर्वोक्त देहस्तवने सति केवलिस्तवनं निश्चयेन न युज्यते। कथमिति चेत् ? **ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो** यतः कारणाच्छरीरगुणाः शुक्ल-कृष्णादयः केवलिनो न भवन्ति। तर्हि कथं केवलिनः स्तवनं भवति ? **केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि** केवलिगुणान् अनन्तज्ञानादीन् स्तौति यः स तत्त्वं वास्तवं स्फुटं वा केवलिनं स्तौति। यथा शुक्ल-वर्ण-रजत-शब्देन सुवर्णं न भण्यते तथा शुक्लादि केवलि शरीर स्तवनेन चिदानन्दैकस्वभावं केवलिपुरुषस्तवनं निश्चयनयेन न भवतीत्यभिप्रायः ।। ३४।।

(ता.टी.)

आगे इसी को दृढ.करते हैं कि निश्चयनय से शरीर का स्तवन करने पर केवली भगवान् का स्तवन नहीं होता-

टीकार्थ- तं णिच्छये ण जुज्जदि पूर्वोक्त प्रकार से देह का स्तवन करने पर जो केवली का स्तवन है वह निश्चयनय को मान्य नहीं है, क्योंकि **ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो** शरीर के गुण जो शुक्ल, कृष्णादि हैं वे केवली के अपने गुण नहीं हो सकते। तब केवली का स्तवन कैसा होता है ? **केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि** जो जीव केवली के अनन्तज्ञानादिक गुणों का वर्णन करता है वही वास्तव में केवली भगवान् का स्तवन करने वाला होता है। भावार्थ यह है कि जैसे शुक्लवर्ण वाली चाँदी के कथन से स्वर्ण का कथन नहीं बन सकता, वैसे ही केवली के शरीर में होने वाले शुक्लादि वर्णों के स्तवन को चिदानन्द एक स्वभाव वाले केवली भगवान् का स्तवन निश्चय से नहीं माना जा सकता ।। ३४।।

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं।। ४३।। मो.पा.

अर्थः- जो रत्नत्रय संयुक्त होता हुआ संयमी बनकर अपनी शक्ति के अनुसार तप करता है वह शुद्ध आत्मा का ध्यान करता हुआ परमपद निर्वाण को प्राप्त करता है।

कथं शरीरस्तवनेन तदधिष्ठातृत्वादात्मनो निश्चयेन स्तवनं न युज्यते इति चेत्-

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ।। ३०।। ता.टी. ३५
(प.अ.त.)

तथा हि-

प्राकारकवलितांबरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम्।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम्।।२५।।

सं. टी.- अथ कथं कांत्येत्यादिशरीरस्तवनेन तदधिष्ठातृत्वादात्मनो निश्चयेन स्तवनं न युज्यते, इत्युक्ते प्रत्युत्तरयति पद्यद्वयेन- इदं-प्रसिद्धं, नगरं-पत्तनं, पिबतीव-पानं करोति-गिलतीत्यर्थः, इव-उपमायां, किं? पातालं-अधोभवनं, केन? परिखावलयेन, अतिमात्रं निम्नत्वात्, किंभूतं?

उत्थानिका - कोई प्रश्न करता है कि शरीर के स्तवन से शरीर का अधिष्ठाता जो आत्मा है उसका स्तवन निश्चय से क्यों नहीं होता है? इसका उत्तर देते हैं-

अन्वयार्थ - (जह) जैसे (णयरम्मि) नगर का (वण्णिदे वि) वर्णन करने पर भी (रण्णो वण्णणा) राजा का वर्णन (ण कदा होदि) नहीं किया जाता, इसी प्रकार (देहगुणे थव्वंते) शरीर के गुण का रुतवन करने पर (केवलिगुणा) केवली के गुणों का (थुदा ण होंति) स्तवन नहीं होता।

अर्थ- जैसे नगर का वर्णन करने पर भी राजा का वर्णन नहीं होता, इसी तरह देह के गुणों की स्तुति करने पर केवली भगवान् के गुणों की स्तुति नहीं होती। ।।३०।।

उसी प्रकार-

अन्वयार्थ- (इदं नगरम् हि) यह नगर ऐसा है कि जिसने (प्राकार-कवलित-अम्बरम्) कोट के द्वारा आकाश को ग्रसित कर रखा है अर्थात् इसका कोट बहुत ऊँचा है (उपवनराजी-निगीर्ण-भूमितलम्) बगीचों की पंक्तियों से जिसने भूमितल को निगल लिया है, अर्थात् चारों ओर बगीचों से पृथ्वी ढक गई है, और (परिखावलयेन पातालम् पिबति इव) कोट के चारों ओर की खाई के घेरे से मानों पाताल को पी रहा है अर्थात् खाई बहुत गहरी है

कलशार्थ- जिसने आकाश को अपने कोट के द्वारा मानों कवलित किया है। अपने उपवनों की पंक्तियों से भूमितल को जिसने निगल लिया है, ऐसा यह नगर चारों ओर की खातिका के द्वारा मानों पाताल को पी रहा है।। २५।।

होता नहीं नगरवर्णन से कदापि, भूपाल का स्तवन जो बुध है प्रतापी।
तो देह का विशद वर्णन तू करेगा, कैसा भला स्तवन केवलि का बनेगा ।।३५।।

प्राकारेत्यादि:-प्राकारेण-शालेन, कवलितं-कवलीकृतं, व्याप्तमित्यर्थ:, अंबरं-नभ:, येन तत् अत्युच्चैस्तरत्वात्। उपेत्यादि-उपवनानां-वाटिकानां, राजि:-पंक्तिस्तया निगीर्णं-व्याप्तं, भूमितलं-पृथ्वीतलं, येन तत्। इति नगरे वर्णितेऽपि राज्ञस्तदधिष्ठातृत्वेऽपि प्राकारादिस्वरूपाभावात् वर्णनं नो भवति।

आ.टी.- इति नगरे वर्णितेऽपि राज्ञ: तदधिष्ठातृत्वेऽपि प्राकारोपवनपरिखादिमत्त्वाभावाद्वर्णनं न स्यात्। तथैव-

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम्।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति।।२६।।

इति शरीरे स्तूयमानेपि तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य तदधिष्ठातृत्वेपि सुस्थितसर्वांगत्वलावण्यादिगुणाभावात्स्तवनं न स्यात्।। ३०।।

सं. टी.- जिनेन्द्ररूपं-सर्वज्ञरूपं जयति-सर्वोत्कर्षेण वर्तते, किं भूतं? नित्यं-यावच्छरीरभावित्वात् स्थिरमित्यर्थ:, अवीत्यादि-अविकारेण-नेत्रहस्तादिविकृत्यभावेन सुस्थितानि सर्वशरीरांगानि-सर्वावयवा यस्य तत्, पुन: किंभूतं? अपूर्वेत्यादि-अपूर्वं-अन्यजीवासंभवि, सहजं-अकृत्रिमं, स्वाभाविकमित्यर्थ:, लावण्यं लवणिमा यस्य तत्, समुद्रमिव अक्षोभं-न केनापि क्षुभ्यत इत्यक्षोभं इति। शरीरस्तूयमाने तीर्थंकर-केवलिपुरुषस्य तदधिष्ठातृत्वेऽपि सुस्थितसर्वांगादिगुणाभावात् स्तवनं न स्यात्।। २६।। यद्येवं तीर्थंकराचार्यस्तुति: समस्ताप्यप्रशस्ता स्यात् तत: शरीरात्मनोरैकांतिकी

अन्वयार्थ - (जिनेन्द्ररूपं परं जयति) जिनेन्द्र का रूप उत्कृष्टतया जयवन्त वर्तता है, (नित्यम्-अविकार-सुस्थित-सर्वांगम्) जिसमें सभी अंग सदा अविकार और सुस्थित हैं, (अपूर्व-सहज-लावण्यम्) जिसमें जन्म से ही अपूर्व और स्वाभाविक लावण्य है, जो सर्वप्रिय है और (समुद्र इव अक्षोभम्) जो समुद्र की भाँति क्षोभरहित है, चलाचल नहीं है।। २६।।

कलशार्थ- जो हानिवृद्धि रहित है, जिसके सभी अवयव विकार रहित और सुडौल हैं, जिसमें सातिशय और स्वाभाविक लावण्य है और क्षोभरहित सागर के समान अनाकुल है, ऐसा भगवान् जिनेन्द्र का उत्कृष्ट रूप सर्वोत्कृष्ट है।। २६।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इन कलशों न. २५ और २६ में क्या बताया है ?

उत्तर- निश्चय से शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन नहीं होता है। इसी तथ्य को दो कलशों में दृष्टान्त देकर कहा है।

प्रश्न-२. यहाँ क्या दृष्टान्त दिया है ?

उत्तर- इस नगर के पाताल (अधोभवन) परिखा वलय (खाइयों) से अति गहरे हैं और इसके

प्रतिपत्तिः? नैवं नयविभागाभावात्। तं नयमुल्लेखयति-

अथ शरीर प्रभुत्वेऽपि सत्यात्मनः शरीरस्तवनेनात्मस्तवनं न भवति निश्चयनये न तत्र दृष्टान्तमाह-

ता.टी. - यथा प्राकारोपवनखातिकादिनगरवर्णने कृतेऽपि नैव राज्ञो वर्णना कृता भवति तथा शुक्लादिदेहगुणे स्तूयमानेऽप्यनन्तज्ञानादि केवलिगुणाः स्तुता न भवन्तीत्यर्थः। इति निश्चय-व्यवहार रूपेण गाथा चतुष्टयं गतम् ।। ३५।।

कोट अत्युच्च होने से आकाश को व्याप्त कर रहे हैं। उपवन (वाटिकाओं) की पंक्ति पृथ्वी तल को व्याप्त कर रही है। इस तरह नगर का वर्णन किए जाने पर भी और राजा उस नगर का अधिष्ठाता (स्वामी) होने पर भी प्राकार आदि का स्वरूप राजा का स्वरूप तो नहीं होता है।

प्रश्न-३. इस दृष्टान्त से क्या दार्ष्टान्त (कथ्य) कहा गया है ?

उत्तर- सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान् का रूप सदैव सर्वोत्कृष्ट रूप से वर्तन करता है। वह सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान् का रूप जब तक शरीर है तब तक नित्य उसी रूप से स्थिर रहता हैं। जिनेन्द्र भगवान् का रूप नेत्र, हाथ आदि में विकृति के अभाव से अविकार रहता है। उन भगवान् के शरीर के सभी अंग अच्छी तरह अवस्थित रहते हैं। वह रूप अन्य जीवों के लिए असंभव होने से अपूर्व है। वह रूप अकृत्रिम, स्वाभाविक, सहज होता है। वह रूप लावण्य समुद्र के समान किसी से भी क्षुभित नहीं होता है। इस तरह शरीर की स्तुति किए जाने पर भी और तीर्थंकर केवली पुरुष उस शरीर के अधिष्ठाता होने पर भी उन केवली आत्मा के सर्वांग में सुस्थितपन आदि गुणों का अभाव है, इसलिए इस रूप के स्तवन से उनकी आत्मा का स्तवन नहीं होता है।

आ.व्या. - इस प्रकार शरीर की स्तुति की जाने पर तीर्थंकर केवली भगवान् की आत्मा उस शरीर का स्वामी होने पर भी उस परम आत्मा में सुस्थित, सर्वांगत्व, लावण्य आदि गुणों का उस स्तुति में अभाव होने से वह उस आत्मा की स्तुति नहीं हो सकती है।

आगे आत्मा शरीर का धारक होने पर भी शरीर मात्र के स्तवन करने से आत्मा का स्तवन निश्चयनय से नहीं माना जा सकता। इसी को स्पष्ट करने के लिए दृष्टान्त देते हैं-

टीकार्थ- जैसे प्राकार, उपवन और खाई आदि के वर्णन से किसी राजा के नगर का वर्णन करने पर भी राजा का वर्णन नहीं हो सकता है, वैसे ही केवली भगवान् के शरीर के श्वेतादि गुणों का वर्णन करने पर केवली के अनन्त ज्ञानादि गुणों का वर्णन नहीं हो जाता ।। ३५।।

इस प्रकार निश्चय व्यवहार रूप से चार गाथाएँ पूर्ण हुईं।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इन दो गाथाओं में क्या समझाया गया है?

उत्तर- इन दो गाथाओं में पुनः दृष्टान्त देकर समझाया जा रहा है कि निश्चय नय से आत्मा के गुणों का स्तवन ही आत्मा का स्तवन है।

प्रश्न-२. निश्चय नय से फिर स्तुति क्या है ?

उत्तर- निश्चय नय से आत्मा की स्तुति ही आत्मस्तुति है। अर्थात् प्रभु के अनन्तज्ञान आदि गुणों की स्तुति ही आत्मा की स्तुति है।

प्रश्न-३. इसका अर्थ क्या हुआ ?

उत्तर- निश्चय से आत्मा के गुणों की स्तुति आत्मस्तुति और शरीर के गुणों की स्तुति शरीर स्तुति कहलाएगी। निश्चय नय से शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन कहना संभव नहीं है। जैसे कि नगर के परकोटे आदि की स्तुति करना राजा की स्तुति नहीं है। भले ही राजा उस नगर का अधिष्ठाता (स्वामी) हो उसी तरह शरीर का स्वामी होने पर भी शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन नहीं होता है।

प्रश्न-४. तो क्या अनन्तज्ञान आदि आत्मगुणों का स्तवन करना ही निश्चय से स्तुति है ?

उत्तर- नहीं ! निश्चय से स्तुति करना और निश्चय स्तुति में अन्तर है। निश्चय से स्तुति यदि आत्मा की करना है तो आत्मा के गुणों की ही स्तुति करना होगा और यदि शरीर की स्तुति करना है तो वह निश्चय से शरीर की स्तुति ही कहलाएगी, यह तात्पर्य है। वस्तुतः यह निश्चय नय से शरीर और आत्मा की भिन्न-भिन्न स्तुति है। यह निश्चय स्तुति नहीं है। निश्चय स्तुति का स्वरूप आगे कहा जाएगा। वस्तुतः परकीय आत्मद्रव्य की स्तुति करना और भिन्न-भिन्न गुणों की स्तुति करना यह सब भी अशुद्ध निश्चय नय का या एकदेश शुद्ध निश्चय नय का विषय होने से वस्तुतः यह व्यवहार नय से ही स्तुति है।

हृदय को इतना कोमल बनायें कि पाषाण की प्रतिमा में साक्षात् भगवान के दर्शन हो जायें।

अथ निश्चयस्तुतिमाह। तत्र ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषपरिहारेण तावत्-

जो इंदिए जिणित्ता, णाणसहावाधिअं मुणदि आदं ।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ।।३१।। ता.टी. ३६

आ.टी.- यः खलु निरवधिबंधपर्यायवशेन प्रत्यस्तमितसमस्तस्वपरविभागानि निर्मलभेदाभ्यासकौशलोपलब्धांतःस्फुटातिसूक्ष्मचित्स्वभावावष्टंभबलेन शरीरपरिणामापन्नानि द्रव्येन्द्रियाणि प्रतिविशिष्ट-स्वस्वविषयव्यवसायितया खंडशः आकर्षन्ति प्रतीयमानाखंडैकचिच्छक्तितया भावेंद्रियाणि ग्राह्य-ग्राहकलक्षणसंबंधप्रत्यासत्तिवशेन सह संविदा परस्परमेकीभूतानिव चिच्छक्तेः स्वयमेवानुभूयमानासंगतया भावेन्द्रियावगृह्यमाणान् स्पर्शादीनिंद्रियार्थांश्च सर्वथा स्वतः पृथक्करणेन विजित्यो-परतसमस्तज्ञेयज्ञायकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्ण

अन्वयार्थ - (जो) जो (इंदिए) इन्द्रियों को (जिणित्ता) जीतकर (णाणसहावाधिअं) ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक (आदं) आत्मा को (मुणदि) जानते हैं (तं) उन्हें, (जे णिच्छिदा साहू) जो निश्चयनय में स्थित साधु हैं (ते) वे (खलु) वास्तव में (जिदिंदियं) जितेन्द्रिय (भणंति) कहते हैं।

अर्थ- निश्चय में तत्पर रहने वाले अर्थात् आत्मा का अनुभव करने वाले साधु लोग उसको जितेन्द्रिय कहते हैं, जो इन्द्रियों को वश में करके अपने ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण अपनी आत्मा का ही अनुभव करता है। ।।३१।।

आ.व्या.- अनादिकालीन बन्ध परिणति के कारण जिनका समस्त स्व-पर का भेदज्ञान विनष्ट हुआ है और जो निर्मल भेद अभ्यास के कौशल (चतुरता) से प्राप्त हुए अन्तरंग में स्पष्ट, अतिसूक्ष्म चैतन्य स्वभाव के अवलम्बन से शरीर परिणाम को प्राप्त हुई हैं, वे द्रव्येन्द्रियाँ हैं। अपने-अपने विषय का पृथक् -पृथक् निश्चय करने वाली होने से जो विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं तथा अखण्ड एक चैतन्य शक्ति के अनुभव गोचर होने से वे भावेन्द्रियाँ हैं। ग्राह्य-ग्राहक लक्षण वाले सम्बन्ध की निकटता के कारण स्वसंवेदन के साथ परस्पर में वे द्रव्येन्द्रियाँ और भावेन्द्रियाँ एकरूपता की तरह मिली हुई हैं।

स्वयं ही अनुभवगोचर होती हुई असंगता (परद्रव्य के सम्पर्क से शक्तिपने) से भावेन्द्रियों के द्वारा जानने में आने वाले और स्पर्श आदि द्रव्य इन्द्रिय के विषयों को सर्वथा चैतन्य शक्ति से स्वतः अलग करने से उन दोनों इन्द्रियों का विजितपना होता है।

पूरा किया दमन इन्द्रिय-काय का है, देखा चखा स्वयं का रस बोध का है।
होता वही मुनि सही निज अक्षजेता, ऐसा कहें जिन निजामृत के समेता ।।३६।।

विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांत:प्रकाशमानेनानपायिना स्वत:सिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन सर्वेभ्यो द्रव्यांतरेभ्य: परमार्थतोतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितेन्द्रियो जिन इत्येका निश्चयस्तुति: ।। ३१।।

(ता.टी.)

अथानन्तरं यदि देहगुणस्तवनेन निश्चयस्तुतिर्न भवति तर्हि कीदृशी भवतीति पृष्टे सति द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रिय- पंचेन्द्रियविषयान् स्वसंवेदनलक्षणभेदविज्ञानेन जित्वा योऽसौ शुद्धमात्मानं संचेतयते

ऐसा करके समस्त ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष से रहित होने से एकत्व स्वभाव में वह आत्मा टंकोत्कीर्ण (टांकी से उकेरे गए पदार्थ के समान) हुआ। जो इस तरह समस्त पदार्थों से ऊपर तैरता हुआ और प्रत्यक्ष प्रकाशमान होता हुआ, नित्य ही अन्तरंग में प्रकाशमान, अविनाशी रूप, स्वत: सिद्ध, परमार्थ से सद्रूप, भगवान् ज्ञान स्वभाव के द्वारा अन्य सभी द्रव्यों से परमार्थ से भिन्न हुए आत्मा को संचेतन (अनुभवन) करता है वह निश्चय से जितेन्द्रिय है, जिन है। इस प्रकार यह एक निश्चय स्तुति हुई।। ३१।।

भावार्थ- यहाँ आचार्यदेव ने इन्द्रिय और इन्द्रिय के विषयों को पूर्णतया जीत लेने पर होने वाली निश्चय स्तुति का कथन किया है। यहाँ द्रव्येन्द्रियों का और भावेन्द्रियों का स्वरूप भी बताया गया है। इन इन्द्रियों की प्राप्ति का कारण अनादिकाल से चली आई आत्मा और कर्म के बंध से उत्पन्न हुई शरीर पर्याय है। इन द्रव्येन्द्रियों में भी अति सूक्ष्म चैतन्य स्वभाव रहता है; क्योंकि स्पर्श आदि विषयों का ज्ञान द्रव्येन्द्रिय से भी होता है। इसी तरह भावेन्द्रियाँ विषयों को खण्ड-खण्ड करके ग्रहण करती हैं। वस्तुत: एक अखण्ड चैतन्य आत्मा को अनुभव गोचर कराने वाली ये भावेन्द्रियाँ ही हैं। इन भावेन्द्रियों में अलग-अलग अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने की क्षमता होने से ये खण्ड-खण्ड पदार्थों को जानती हैं, जिससे जानने वाला ज्ञान भी खण्डित कहलाता है। आत्मा की तरह अखण्ड एक चैतन्य शक्ति से इन इन्द्रियों को अपने विषय में न ले जाकर मात्र इस अखण्ड आत्मा का अनुभव करना ही इन्द्रियों को जीतना है। इस तरह ज्ञेय-ज्ञायक भाव जो कि आपस में मिल गया है उसे हटाने का नाम ही इन्द्रिय विजय है और निश्चय स्तुति है। मुनिराज के लिए भी अट्ठाईस मूलगुणों में आने वाले पंचेन्द्रिय रोध व्रत इस निश्चयनय विषयक इन्द्रिय विजय के लिए साधकतम कारण हैं।। ३१।।

(ता.टी.)

अब यदि देह के गुणों का वर्णन करने से निश्चयस्तुति नहीं होती है तो वास्तविक स्तुति क्या है? ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि जो द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय रूप पाँचों इन्द्रियों के विषयों को स्वसंवेदन भेदज्ञान के बल से जीतकर शुद्धात्मा का अनुभव करता है वह जिन है, वही जितेन्द्रिय है। इस प्रकार निश्चय स्तुति होती है। यही बात आगे की गाथा में कहते हैं-

स जिनो जितेन्द्रिय इति सा चैव निश्चयस्तुतिपरिहारं ददातिह्न

ता.टी. - जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं यः कर्त्ता द्रव्येन्द्रिय-भावेन्द्रिय पंचेन्द्रिय विषयान् जित्वा शुद्धज्ञानचेतनागुणेनाधिकं परिपूर्णं शुद्धात्मानं मनुते जानात्यनुभवति संचेतयति। **तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू** तं पुरुषं खलु स्फुटं जितेन्द्रियं भणन्ति ते साधवः। के ते ? ये निश्चिताः निश्चयज्ञा इति। किंच ज्ञेयाः स्पर्शादि पंचेन्द्रिय विषयाः ज्ञायकानि स्पर्शनादि द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियाणि तेषां योऽसौ जीवेन सह संकरः संयोगः सम्बन्धः स एव दोषः तं दोषं परमसमाधिबलेन योऽसौ जयति सा चैव प्रथमा निश्चयस्तुतिरिति भावार्थः ।। ३६।।

टीकार्थ- जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं जो जीव द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रियरूप पंचेन्द्रियों के विषयों को जीतकर शुद्ध ज्ञान चेतना गुण से परिपूर्ण अपने शुद्ध आत्मा को मानता है, जानता है, अनुभव करता है, संचेतता है अर्थात् शुद्धात्मा से तन्मय होकर रहता है **तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू** उस पुरुष को ही निश्चयनय के जानने वाले साधु लोग जितेन्द्रिय कहते हैं। भावार्थ यह है कि स्पर्श आदि पाँचों इन्द्रियों के विषय तो ज्ञेय हैं और उनको जानने वाली द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रियरूप स्पर्शनादि पाँचों इन्द्रियाँ हैं और उनका जीव के साथ जो संकर है-संयोग सम्बन्ध है, वही दोष है। उस दोष को जो परम समाधि के बल से जीत लेता है वही जिन है। यह पहली निश्चय स्तुति हुई ।। ३१।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. निश्चय स्तुति का पात्र कौन होता है?

उत्तर- साधु , श्रमण, मुनिराज निश्चय स्तुति करने के पात्र हैं।

प्रश्न-२. ऐसा क्यों है कि निश्चय स्तुति के पात्र साधु ही हैं ?

उत्तर- गाथा ३१ से ३३ तक तीन गाथाओं में निश्चय स्तुति का स्वरूप दिखाया है। वह स्तुति जितेन्द्रिय साधु और मोह का उपशम या क्षय करने वाले साधु करते हैं, ऐसा स्पष्ट गाथा में कहा है।

प्रश्न-३. यहाँ कौन से साधु के लिए निश्चय स्तुति कही है ?

उत्तर- जो मुनि जितेन्द्रिय हैं उनके लिए ही यहाँ निश्चय स्तुति कही है।

प्रश्न-४. क्या जितेन्द्रियपना अविरत दशा में संभव नहीं है। सेठ सुदर्शन ने तो कामेन्द्रिय जीतकर रानी की चेष्टाओं को भी थका दिया था। क्या उनकी निश्चय स्तुति की योग्यता नहीं थी ?

उत्तर- यहाँ जितेन्द्रिय से तात्पर्य प्राणी संयम और इन्द्रिय संयम से है। जो बारह प्रकार की अविरति को छोडक़र पंच इन्द्रिय रोध मूलगुण का पालन करके जितेन्द्रिय बने हैं उन मुनिराज को ही जितेन्द्रियपना होता है। सेठ सुदर्शन ने अपने मन को जीतकर कामेन्द्रिय को जीता यह बहुत

बडा साहस था और उनके मन की अत्यन्त एकाग्रता का परिणाम था। मन की एकाग्रता और अपने ध्यान से विचलित नहीं होना, यह श्रावक के लिए भी क्वचित् कदाचित् संभव है। किन्तु ऐसा होने पर भी वह जितेन्द्रिय या जिन संज्ञा को प्राप्त नहीं होता है। पुरातन काल में ऐसी एकाग्रता श्रावकों में भी तो होती थी लेकिन वे जितेन्द्रिय या जिन नहीं। जो द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय के पाँच विषयों को जीतकर शुद्धात्मा का अनुभव करते हैं, उन साधु को ही यहाँ जितेन्द्रिय कहते हैं। (ता.टी.) जो अन्य द्रव्यों से भिन्न एक आत्मा को परमार्थ से संवेदन करता है वह जितेन्द्रिय है। जिन है। (आ.टी.)

प्रश्न-५. यह निश्चय स्तुति किस अपेक्षा से है ?

उत्तर- ज्ञेय-ज्ञायक संकर दोष का अभाव करने की अपेक्षा से है।

प्रश्न-६. यह दोष क्या है ? और इसे कैसे दूर किया जाता है ?

उत्तर- स्पर्श आदि पाँच इन्द्रियों के विषय ज्ञेय हैं और स्पर्शन आदि द्रव्येन्द्रियाँ तथा भावेन्द्रियाँ ज्ञायक हैं। चूंकि ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों को एकत्व के साथ ग्रहण करती हैं यही संकर दोष है। इस दोष को परम समाधि के बल से जो जीतते हैं वे ही निश्चय स्तुति करते हैं। (ता.टी.)। आत्मा के साथ एकत्व को प्राप्त हो रहीं इन शरीर रूप द्रव्येन्द्रिय का निर्मल भेदज्ञान के अभ्यास से अति सूक्ष्म चैतन्य स्वभाव का आलंबन लेने पर इन इन्द्रियों से अपनी आत्मा को पृथक् करना ही इन्द्रियों को जीतना है। (आ.टी.)। इसी तरह भावेन्द्रियों का जीतना भी कहा है।

प्रश्न-७. यहाँ आ.टी. में ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध कहा है सो क्या है ?

उत्तर- ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य या जानने योग्य और ग्राहक अर्थात् ग्रहण करने वाला या जानने वाला। इस तरह ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध को ही यहाँ ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध से कहा है, ऐसा जानना।

धर्म की नाव ही संसार-सागर से पार लगा सकती है।

अथ भाव्यभावकसंकरदोषपरिहारेण-

जो मोहं तु जिणित्ता, णाणसहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिदमोहं साहुं , परमट्ठवियाणया विंति ।।३२।। ता.टी.३७

आ.टी.-यो हि नाम फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवंतमपि दूरत एव तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य व्यावर्तनेन हठान्मोहं न्यक्कृत्योपरतसमस्तभाव्यभावकसंकरदोषत्वेनैकत्वे टंकोत्कीर्ण विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवांत:प्रकाशमानेनानपायिना स्वत:सिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन द्रव्यांतरस्वभावभाविभ्य: सर्वेभ्यो भावांतरेभ्य: परमार्थतोऽतिरिक्तमात्मानं संचेतयते स खलु जितमोहो जिन इति द्वितीया निश्चयस्तुति:।

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्म मनोवचनकायसूत्राण्येकादशपंचानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणामिंद्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्यातत्वाद्व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि।। ३२ ।।

उत्थानिका - अब भाव्य-भावक संकर दोष का परिहार करके निश्चय स्तुति कहते हैं-

अन्वयार्थ - (जो तु) जो मुनि (मोहं) मोह को (जिणित्ता) जीतकर (आदं) अपने आत्मा को (णाणसहावाधियं) ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्यद्रव्यभावों से अधिक (मुणदि) जानता है (तं साहुं) उस मुनि को (परमट्ठवियाणया) परमार्थ के जानने वाले (जिदमोहं) जितमोह (विंति) कहते हैं।

अर्थ- जो मोह को दबाकर ज्ञान स्वभाव से परिपूर्ण आत्मा का अनुभव करता है, परमार्थ के जानने वाले उस साधु को मोह का जीतने वाला अर्थात् जिन कहते हैं। ।।३२।।

आ.व्या.- मोह कर्म फल देने में समर्थता के साथ प्रकट होकर भावकपने से होता हुआ भी दूर से ही उसी कर्म के अनुरूप परिणमन करने वाले भाव्य-आत्मा को बलपूर्वक हटा लेने से तथा मोह को पृथक् करके समस्त भाव्य-भावक संकर दोषपने से दूर हो जाने के कारण एकत्व स्वभाव में टंकोत्कीर्ण आत्मा होता है। जो इस तरह समस्त पदार्थो से ऊपर तैरता हुआ और प्रत्यक्ष प्रकाशमान होता हुआ नित्य ही अन्तरंग में प्रकाशमान, अविनाशीरूप, स्वत: सिद्ध, परमार्थ से सद्रूप, भगवान् ज्ञान स्वभाव के द्वारा अन्य सभी द्रव्यों से निश्चय से भिन्न हुए आत्मा का संचेतन (अनुभवन) करता है वह निश्चय से जितमोह है, जिन है। इस प्रकार यह दूसरी निश्चय स्तुति हुई।

संमोह को शमित भी जिनने किया है, आधार ज्ञान गुण का मुनि हो लिया है।
वे वीतराग जित-मोह सुधी कहाते, विज्ञान के रसिक यों हमको बताते ।।३७।।

(ता.टी.)

अथ तामेव स्तुतिं द्वितीयप्रकारेण भाव्यभावक संकर दोष परिहारेण कथयति। अथवा उपशमश्रेण्यपेक्षया जितमोहरूपेणाह-

ता.टी. - जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं यः पुरुष उदयागतं मोहं सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रैकाग्र्य रूप निर्विकल्प समाधिबलेन जित्वा शुद्धज्ञान गुणेनाधिकं परिपूर्णमात्मानं मनुते जानाति भावयति। **तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति** तं साधुं जितमोहं रहितमोहं परमार्थ विज्ञायका ब्रुवन्ति कथयन्तीति। इयं द्वितीया स्तुतिरिति। किंच, भाव्यभावकसंकरदोषपरिहारेण द्वितीया स्तुतिर्भवतीति पातनिकायां भणितं भवद्भिस्तत्कथं घटते इति भाव्यो रागादिपरिणत आत्मा, भावको रंजक उदयागतो मोहस्तयोर्भाव्यभावकयोः शुद्धजीवेन सह संकरः संयोगः संबंधः स एव दोषः। तं दोषं स्वसंवेदन ज्ञानबलेन योऽसौ परिहरति स जिनः। सा द्वितीया स्तुतिरिति भावार्थः। एवमेव च मोहपदपरिवर्त्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायसूत्राण्यैकादश पंचानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणामिन्द्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्यातत्त्वाद् व्याख्येयानि। अनेनैव प्रकारेणान्यान्यप्यसंख्येयलोकमात्रविभावपरिणामरूपाणि ज्ञातव्यानि ।।३७।।

इसी प्रकार से यहाँ 'मोह' पद की जगह परिवर्तन करके राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय इन ग्यारह सूत्रों को तथा पाँच श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन इन्द्रिय सूत्रों के द्वारा पृथक् व्याख्यान के द्वारा कथन करना चाहिए। इसी दिशा से अन्य भी (विभावभावों के साथ) विचार कर लेना चाहिए।। ३२।।

(ता.टी.)

आगे उसी निश्चय स्तुति को दूसरे प्रकार से भाव्य(संसारी जीव) भावक (मोहकर्म) इन दोनों में जो संकर दोष है उसका परिहार करने अथवा उपशम श्रेणी की अपेक्षा आत्माजितमोह है, ऐसा कथन करते हैं-

टीकार्थ- जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं जो पुरुष उदय में आये हुए मोह को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र इन तीनों की एकाग्रतारूप निर्विकल्प समाधि के बल से जीतकर अर्थात् दबाकर शुद्ध ज्ञानगुण के द्वारा अधिक अर्थात् परिपूर्ण अपनी आत्मा को मानता है, जानता है और अनुभव करता है **तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति** उस साधु को परमार्थ के जानने वाले 'जितमोह' अर्थात् मोह से रहित जिन, इस प्रकार कहते हैं। यह दूसरी निश्चय स्तुति है।

भावार्थ- यहाँ कोई पूछता है कि आपने पातनिका में बतलाया था कि भाव्य-भावक में परस्पर जो संकर दोष है उसका निराकरण करने से दूसरी स्तुति होती है, सो यह बात यहाँ कैसे घटित होती है ? उसको स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि भाव्य तो रागादि रूप में परिणत आत्मा और

भावक रागरूप करने वाला उदय में आया हुआ मोहकर्म इन दोनों भाव्य-भावकों का जो शुद्ध जीव के साथ संकर अर्थात् संयोग सम्बन्ध है वही हुआ दोष, उसको जो साधु स्वसंवेदन ज्ञान के बल से परास्त कर देता है वह जिन है। यह दूसरी स्तुति हुई।

इसी प्रकार यहाँ मोह पद के स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय ये ग्यारह तो इस सूत्र द्वारा और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये पाँच इन्द्रिय सूत्र के द्वारा पृथक् - पृथक् लेकर व्याख्या करना चाहिए और इसी प्रकार और भी असंख्यात लोकप्रमाण विभाव परिणाम हैं उनको भी प्रासंगिक रूप से समझ लेना चाहिए।। ३२।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. यह निश्चय स्तुति किस रूप से की जा रही है ?

उत्तर- यह निश्चय स्तुति भाव्य-भावक संकर दोष के परिहार रूप से की जा रही है।

प्रश्न-२. भाव्य-भावक क्या कहलाता है ?

उत्तर- जो कर्म आत्मा में फलदान की सामर्थ्य से प्रगट हुए हैं उन मोह राग आदि कर्म को भावक कहते हैं। उन कर्मों के उदय से तदनुरूप परिणत आत्मा भाव्य कहलाता है। (आ.टी.)

प्रश्न-३. इसे भाव्य-भावक संकर दोष क्यों कहा है ?

उत्तर- कर्म के उदय से परिणत मोह आदि कर्म का निमित्त पाकर आत्मा वैसा ही भाव करता है और उस समय मोह राग आदि रूप तन्मय होकर परिणमन करता है। यह सम्बन्ध भिन्न-भिन्न द्रव्यों का है। इस भाव्य- भावक संकर (संयोग) से आत्मा पुनः कर्म (बन्ध) को बाँधता है, जिससे संसार बढाने वाले कर्मों की परम्परा निरन्तर चलती रहती है। इसीलिए यह भाव्य-भावक संकर दोष कहलाता है।

प्रश्न-४. इस संकर दोष से दूर कौन होते हैं ?

उत्तर- जो अपनी आत्मा को उदयागत कर्म फल से तदनुरूप परिणत नहीं होने देते हैं वे भेद-ज्ञान में लीन साधु ही इस दोष को हठपूर्वक जीतते हैं और मोह को तिरस्कृत करते हैं।

प्रश्न-५. यहाँ हठ पूर्वक से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर- पहले भी कलश सं. १२ में कहा था कि 'व्याहत्य मोहं हठात्' अर्थात् उस मोह को हठ पूर्वक नाश करके। वहाँ पर हठ का अर्थ प.अ.त. टीका में ध्यान और तपपूर्वक लिया था। वही अर्थ यहाँ पर है। बाह्य तप अनशन आदि और अन्तरंग तप ध्यान के द्वारा ही इस मोह को हटाना सम्भव है, इसी को हठ कहते हैं।

प्रश्न-६. इस प्रकार हठ पूर्वक इस भाव्य-भावक दोष को दूर करने से क्या होता है ?

उत्तर- भाव्य-भावक रूप संकर दोष के दूर हो जाने से अपनी ही आत्मा में एकता हो जाने पर टंकोत्कीर्ण एक स्वभावी आत्मा का अनुभव होता है।

प्रश्न-७. जो इस तरह आत्मा का अनुभव करते हैं, उन्हें क्या कहा गया है ?

उत्तर- इस तरह आत्मा का अनुभव करने वाले ही जितमोह साधु कहलाते हैं। (आ.टी.)

प्रश्न-८. भेदज्ञान में लीनता कब आती है जिससे आत्मा मोहरहित अनुभव में आता है ?

उत्तर- सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकाग्र परिणति रूप निर्विकल्प समाधि के बल से अपने ही शुद्ध ज्ञान गुण से परिपूर्ण आत्मा को अनुभव करते समय भेद ज्ञान में लीनता आती है। (ता.टी.)

प्रश्न-९. यह निश्चय स्तुति किस गुणस्थान में होती है ?

उत्तर- भाव्य-भावक संकर दोष का परिहार करने वाले जितमोह साधु ही इस निश्चय स्तुति को करने वाले कहे गये हैं। यह द्वितीय प्रकार की निश्चय स्तुति उपशम श्रेणी की अपेक्षा कही है। (ता.टी.) उपशम श्रेणी के आठवें गुणस्थान में प्रवर्तमान चारित्रमोह के उपशामक जीवों की अपेक्षा यह निश्चय स्तुति है, यह सिद्ध हुआ।

प्रश्न-१०. क्या इस निश्चय स्तुति को मोह को जीतने वाले ही करते हैं या और भी कोई करते हैं ?

उत्तर- नहीं ! मोह पद का परिवर्तन करके राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय इन ग्यारह (११) पदों को और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच पदों से अर्थात् इन सोलह पदों के साथ भी जितेन्द्रियपना घटित करना चाहिए। इसी तरह अन्य भी असंख्यात लोक मात्र विभाव परिणाम रूप परिणामों को जीतने वाले को जितमोह कहते हैं।

जे झायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा हु सुचरित्ता ।
ते जिणवराण मग्गे अणुलग्गा लहदि णिव्वाणं ।। १५।। मो.पा.

अर्थ :- जो परद्रव्य से पराङ्मुख होकर निज आत्मद्रव्य का ध्यान करते हैं वे निर्दोष चारित्र सहित जिनवर के मार्ग का अनुसरण कर निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

अथ भाव्यभावकभावाभावेन-

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ।।३३।। ता.टी.३८

आ.टी. - इह खलु पूर्वप्रक्रांतेन विधानेनात्मनो मोहं न्यक्कृत्य यथोदितज्ञानस्वभावातिरिक्तात्म संचेतनेन जितमोहस्य सतो यदा स्वभावभावभावनासौष्ठवावष्टंभात्तत्संतानात्यंतविनाशेन पुनरप्रादुर्भावाय भावकः क्षीणो मोहः स्यात्तदा स एव भाव्यभावकभावाभावेनैकत्वे टंकोत्कीर्णं परमात्मानमवाप्तः क्षीणमोहो जिन इति तृतीया निश्चयस्तुतिः। एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।।३३ ।।

उत्थानिका - अब भाव्य-भावक के अभाव से निश्चय स्तुति कहते हैं-

अन्वयार्थ - (जिदमोहस्स दु साहुस्स) जिसने मोह को जीत लिया है ऐसे साधु के (जइया) जब (खीणो मोहो) मोह क्षीण होकर सत्ता में से नष्ट (हविज्ज) हो (तइया) तब (णिच्छयविदूहिं) निश्चय के जानने वाले निश्चय से (सो) उस साधु को (हु खीणमोहो) क्षीणमोह नाम से (भण्णदि) कहते हैं।

अर्थ - उपर्युक्त प्रकार से जो मोह को परास्त करता हुआ आ रहा है, उस साधु का जब मोह सर्वथा क्षीण हो जाता है उस समय उसे निश्चय के ज्ञाता गणधरादिक क्षीण-मोह जिन कहते हैं।

आ.व्या.- इस निश्चयस्तुति में पूर्वोक्त विधान से आत्मा में से मोह का तिरस्कार करके, पूर्वोक्त ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्यद्रव्य से अधिक आत्मा का अनुभव करने से जो जितमोह हुआ है, उसे जब अपने स्वभावभाव की भावना का भलीभाँति अवलम्बन करने से मोह की संतति का ऐसा आत्यन्तिक विनाश हो कि फिर उसका उदय न हो- इसप्रकार भावकरूप मोह क्षीण हो, तब (भावक मोह का क्षय होने से आत्मा के विभावरूप भाव्यभावका अभाव होता है, और इसप्रकार) भाव्यभावक भाव का अभाव होने से एकत्व होने से टंकोत्कीर्ण (निश्चल) परमात्मा को प्राप्त हुआ वह 'क्षीणमोह जिन' कहलाता है। यह तीसरी निश्चय स्तुति है।

यहाँ भी पूर्व कथनानुसार 'मोह' पद को बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्श - इन पदों को रखकर सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना और इस प्रकार के उपदेश से अन्य भी विचार लेना।। ३३।।

जीता विमोह मुनि ने जिससे अभागा, कोई पता नहिं कहाँ कब मोह भागा।
वो ही नितान्त मुनिपुंगवक्षीण मोही, ऐसा जिनेश कहते तज मोह मोही ।।३८।।

(प.अ.त.)

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयोः।।२७

सं टी.- कायात्मनोः-देहदेहिनोः, एकत्वं-कथंचिदेकता, व्यवहारतः,-व्यवहारनयमाश्रित्य, लोकव्यवहारं वा 'आत्मकर्मवशान्नोकर्मरूपेण पुद्गलस्कंधबंधो देहः, कनककलधौतयोरेकस्कंधव्यवहारवत् नीरक्षीरवद्वा, पुनः निश्चयात्-निश्चयनयमाश्रित्य नैकत्वं, तयोः परस्परं भिन्नत्वात्। त्वित्यधिकपदं विशेषज्ञापकं, निश्चयाद्धि देहदेहिनोः अनुपयोगोपयोगरूपयोः, कनककलधौतयोः पीतपांडुत्वस्वभावयोरिव, अत्यंतव्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्तेः एवं किल नयविभाग इति अतः कारणात् वपुषः शरीरस्य स्तुत्या-स्तवनेन, शरीरगुणवर्णनेन, नुः-आत्मनः, स्तोत्रं-स्तवनं, अस्ति-भवति, कुतः-व्यवहारतः व्यवहारनयात्। तत् स्तोत्रं निश्चयात्-परमार्थतः, न हि। ननु आत्मस्तोत्रं कथं? निश्चयतः-परमार्थतः, चितः-चिद्रूपस्यात्मनः, स्तोत्रं-स्तवनं गुणवर्णनमित्यर्थः भवति-अस्ति, कया? चित्स्तुत्यैव चिद्रूपस्यामूर्ताखंडज्ञान- दर्शनाद्यनंतगुणस्तवनेन एवं निश्चयस्तुतिरेव, आत्मस्तुतिः, एवं सति सा-

---

(कलश)

अन्वयार्थ- (कायात्मनोः) शरीर और आत्मा की (एकत्वं) एकता (व्यवहारतः) व्यवहारनय से कही जाती है (न तु पुनः निश्चयात्) परमार्थ से एकता नहीं है। (वपुषः स्तुत्या) इसलिए शरीर की स्तुति से (नुः स्तोत्रम्) आत्मा का स्तोत्र (तत्तत्त्वतः न) यथार्थ स्तोत्र नहीं है। (व्यवहारतः अस्ति) व्यवहार से है। (निश्चयतः चितः स्तोत्रम्) निश्चय से आत्मा की स्तुति (सा चित्स्तुत्या एव भवति) चैतन्यगुणों की स्तुति से ही होती है। (अतः) इसलिए (तीर्थकरस्तवोत्तरबलात्) तीर्थंकर की स्तुति के बल से (एवं आत्माङ्गयोः एकत्वं न भवेत्) आत्मा और शरीर की एकता नहीं हो सकती है ।। २७।।

अर्थ- व्यवहार नय से शरीर और आत्मा दोनों में एकता है किन्तु निश्चय नय से नहीं है। शरीर की स्तुति से आत्मा का स्तवन व्यवहार नय से है, वह स्तोत्र निश्चय नय से नहीं है। निश्चय नय से चैतन्य स्वरूप आत्मा की स्तुति से ही आत्मा का स्तोत्र होता है। इस प्रकार निश्चय स्तुति ही आत्मा की स्तुति है, ऐसा होने पर ही वह निश्चय स्तुति हो सकती है। इसलिए अर्थात् आत्मा और शरीर की स्तुति निश्चय और व्यवहार से भिन्न होने के कारण तीर्थंकर के स्तवन के बल से आत्मा और शरीर में एकत्व नहीं हो सकता है।। २७।।

निश्चयस्तुतिः स्तुतिर्भवेत्। अतः-आत्मशरीरयोर्भिन्नत्वसमर्थनात्, एकत्वं-अभिन्नत्वं न भवतीत्यर्थः कयोः? आत्मांगयोः-चिद्रूपदेहयोः, कुतः? तीर्थेत्यादिः-तीर्थकरस्य-नाभेयादिजिनतीर्थेत्यादिः-तीर्थकरस्य-नाभेयादिजिनस्तवः-अष्टप्रातिहार्यादिगुणवर्णनं, तीर्थकरशरीरगुणवर्णनमेव परमार्थस्तवनमिति प्रत्युत्तरबलाधानात् एकत्वं न कदाचन।।२७।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. यदि इस प्रकार व्यवहार नय से तीर्थंकर और आचार्य की स्तुति है, वह पूरी अप्रशस्त है इसलिए शरीर और आत्मा की ऐकान्तिक सिद्धि होती है अर्थात् शरीर और आत्मा में एकान्त रूप से भिन्नता ही सिद्ध हुई?

उत्तर- ऐसा नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने पर नयों के विभाजन का ही अभाव होगा।

प्रश्न-२. वह नय का विभाजन क्या है ?

उत्तर- १- व्यवहार नय का आश्रय लेकर अथवा लोक व्यवहार की अपेक्षा शरीर और आत्मा में कथंचित् एकता है। आत्मा और कर्म के कारण नोकर्म रूप से पुद्गल स्कन्धों का जो बंध होता है वह देह है, जैसे कि सोना और चाँदी दोनों के मिलाने पर एक स्कन्ध (पिण्ड) का व्यवहार होता है अथवा जल और दूध का मेल होता है। किन्तु निश्चय नय का आश्रय लेने से देह और आत्मा में परस्पर भिन्नता है। निश्चय नय से शरीर का स्वरूप अनुपयोग (जड़) है और आत्मा का स्वरूप उपयोग है। जैसे कि स्वर्ण का स्वभाव पीलापन है और चाँदी का स्वभाव सफेदपन है। इन दोनों के स्वरूप में अत्यन्त भिन्नपना होने से एक पदार्थ की सिद्धि होती ही नहीं है। इस प्रकार नय विभाग है।

प्रश्न-३. इससे स्तुति के विषय में क्या सिद्ध हुआ ?

उत्तर- शरीर के गुणों का वर्णन करने से अर्थात् शरीर की स्तुति करने से व्यवहार नय से आत्मा का स्तवन होता है किन्तु निश्चय नय से नहीं होता है।

प्रश्न-४. आत्मा का स्तोत्र (स्तवन) कैसे होता है ?

उत्तर- निश्चय नय से चिद्रूप आत्मा का स्तवन चैतन्य की स्तुति से ही होता है।

प्रश्न-५. चैतन्य की स्तुति क्या है ?

उत्तर- अमूर्त, अखण्ड, ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुणों का स्तवन ही चैतन्य की स्तुति है।

अथैकत्वनिरासमुपसंहरति-

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां नयविभजनयुक्त्यात्यन्तमुच्छादितायाम्।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव।।२८।।

सं. टी.- अद्य-इदानीं, एव-निश्चयेन, कस्य पुरुषस्य, बोद्योः-भेदविज्ञानं, बोधं-बुध्यते-जानातीति बोधः-आत्मा, अथवा गुणे गुणिन उपचारः, तं न अवतरति-न प्रादुर्भवति? अपि तु प्रादुर्भवत्येव। किंभूतः सः? स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मनः, रसः-ज्ञानशक्तिविशेषः, तस्य रभसः-वेगः, तेन कृष्टः-आकृष्टः, विशदीकृत इत्यर्थः। भूयः किंभूतः? प्रस्फुटन्-प्रकर्षेण निर्मलीभवन्-प्रकटीभवन्वा, एक एव नान्यः, बोधं विना आत्मानं प्रत्यवतरयितुं न कश्चित्क्रमः, इत्यर्थः। क्व

उत्थानिका - अब एकत्व के निरास का उपसंहार करते हैं-

अन्वयार्थ- (इति) इस प्रकार से (परिचिततत्त्वैः) तत्त्वज्ञानियों के द्वारा (नयविभाजनयुक्त्या) नयविभाग की युक्ति से (आत्मकायैकतायाम्) आत्मा और शरीर की एकता को (अत्यन्तं उच्छादितायाम्) अत्यन्त उच्छिन्न करने पर (स्वरसरभसकृष्टः) अपने स्वरस से शीघ्र आकृष्ट हुआ (प्रस्फुटन्) प्रकटरूप (एक एव बोधः) एक आत्मा का ज्ञान (अद्य कस्य बोधं न अवतरति) आज किसको वह ज्ञान नहीं हो रहा है ? अर्थात् सभी को हो रहा है। ।।२८।।

अर्थ- इस प्रकार से-पूर्व में कहे अनुसार वस्तु स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जानने वाले मुनीश्वरों द्वारा नय-निश्चय और व्यवहार के विभाग की योजना से अर्थात् निश्चय और व्यवहार दोनों नयों के पृथक् -पृथक् स्वरूप के प्रदर्शन द्वारा आत्मा और शरीर में अभिन्नता का अतिशय रूप से उच्छेद-विनाश-खण्डन होने पर अपने आत्मिक आनन्दरूप रस से वेग पूर्वक आकर्षित हुआ,विकास को प्राप्त करता हुआ अद्वितीय आत्मज्ञान ही इस समय किस पुरुष की आत्मा में अवतार नहीं लेता? अर्थात् सभी की आत्मा में अवतार लेता है। ।।२८।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस कलश में क्या कहा गया है ?

उत्तर- इस कलश में अप्रतिबुद्ध के ज्ञान में समाए हुए देह और आत्मा के एकत्व का निराकरण किया गया है।

प्रश्न-२. आचार्य देव यहाँ क्या आश्चर्य व्यक्त कर रहे हैं ?

उत्तर- इस समय ऐसा कौन पुरुष होगा जिसकी आत्मा में भेद विज्ञान अवतार नहीं लेता है ? अर्थात् व्यवहार और निश्चय स्तुति से युक्ति से शरीर और आत्मा के विषय में नय विभाग को सम्यक् प्रकार से जान लेने पर भेद विज्ञान आत्मा में अवश्य अवतरित होता है। अथवा किस पुरुष

सत्यां-आत्मेत्यादिः-आत्मा च कायश्च आत्मकायौ तयोरेकता-ऐक्यं, तस्यां, उच्छादितायां-निराकृतायां सत्यां, कया? नयेत्यादि नयस्य-निश्चयव्यवहारलक्षणस्य विभजनं-विभागः, तस्य युक्तिः, दर्शनोपन्यासः, तया, कैः? इति पूर्वोक्तप्रकारेण परिचितं-परीचयीकृतं, तत्त्वं-शुद्धचिद्रूपलक्षणं यैस्ते, इति परिचिततत्त्वास्तैः।।२८।।

(ता.टी.)

अथ भाव्य-भावक-भावाभावरूपेण तृतीया निश्चयस्तुतिः कथ्यते। अथवा तामेव क्षपकश्रेण्यपेक्षया क्षीणमोहरूपेणाह-

ता.टी. - जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स पूर्वगाथाकथितक्रमेण जितमोहस्य सतो जातस्य यदा निर्विकल्पसमाधिकाले क्षीणो मोहो भवेत्। कस्य? साधोः शुद्धात्मभावकस्य। **तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं** तदा तु गुप्तिसमाधिकाले स साधुः क्षीणमोहो भण्यते। कैः? निश्चयविद्भिः परमार्थज्ञायकैर्गणधर-देवादिभिः। इयं तृतीया

का भेदविज्ञान आत्मा को अवतरित नहीं कर देता है अर्थात् आत्मा को नहीं दिखाता है, यह दूसरा अर्थ है।

प्रश्न-३. यहाँ दो बार बोधः, बोधः शब्द का प्रयोग किन अर्थों में है ?

उत्तर- एक बोध का अर्थ है भेदविज्ञान और दूसरे बोध का अर्थ आत्मा है।

प्रश्न-४. बोध का अर्थ आत्मा कैसे है ?

उत्तर- बुध्यते जानातीति बोधः आत्मा- इस व्युत्पत्ति से जो जानता है वह बोध आत्मा है। अथवा गुणे गुणिनः उपचारः - अर्थात् गुण में गुणी का उपचार है जिससे ज्ञान गुण में गुणी आत्मा का उपचार करने पर बोध (ज्ञान) को ही आत्मा कहा जाता है।

प्रश्न-५. वह भेद विज्ञान कैसा है ?

उत्तर- **१.** अपनी आत्मा के रस (ज्ञान शक्ति विशेष) के वेग से जो खींचा गया है अर्थात् विशद (निर्मल) किया गया है।

२. निर्मल हुआ वह ज्ञान एक ही है, अन्य नहीं है। अर्थात् भेदविज्ञान के बिना आत्मा को उत्पन्न करने के लिए और कोई क्रम नहीं है।

प्रश्न-६. यह भेदविज्ञान क्या होने पर अवतरित होता है ?

उत्तर- आत्मा और शरीर दोनों की एकता का निराकरण हो जाने पर यह भेदविज्ञान होता है।

प्रश्न-७. किनके द्वारा यह भेदविज्ञान किया जाता है ?

उत्तर- निश्चय और व्यवहार नय के विभाजन की युक्ति से शुद्ध चिद्रूप लक्षण का परिचय जिन्होंने किया है, ऐसे मुनिराजों को यह भेद विज्ञान होता है।

निश्चयस्तुतिरिति। भाव्य-भावक भावाभावरूपेण कथं जाता स्तुतिरिति चेत्-भाव्यो रागादिपरिणत आत्मा, भावको रंजक उदयागतो मोहस्तयोर्भाव्य भावकयोर्भावः स्वरूपं तस्याभावः क्षयो विनाशः सा चैव तृतीया निश्चयस्तुतिरित्यभिप्रायः। एवं रागद्वेष इत्यादि दण्डको ज्ञातव्यः ।।३८।। इति प्रथमगाथायां पूर्वपक्षस्तदनन्तरं गाथाचतुष्टये निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण परिहारस्ततश्च गाथात्रये निश्चयस्तुतिकथनरूपेण च परिहार इति पूर्वपक्षपरिहारगाथाष्टकसमुदायेन षष्ठस्थलं गतम्।

अथ रागादिविकल्पोपाधिरहितं स्वसंवेदनज्ञानलक्षणप्रत्याख्यानविवरणरूपेण गाथाचतुष्टयं कथ्यते। तत्र स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानमिति कथनरूपेण प्रथमगाथा प्रत्याख्यान विषये दृष्टान्तरूपेण द्वितीया चेति गाथाद्वयम्। तदनन्तरं मोहपरित्यागरूपेण प्रथमगाथा ज्ञेयपदार्थपरित्यागरूपेण द्वितीया चेति गाथाद्वयम्। एवं सप्तमस्थले समुदायपातनिका।

(ता.टी.)

अब भाव्य-भावक भाव के अभावरूप तीसरी निश्चय स्तुति कही जाती है अथवा यों कहो कि क्षपकश्रेणी की अपेक्षा क्षीणमोह है, ऐसा कथन किया जाता है।

टीकार्थ- जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स पूर्व गाथा में कहे हुए क्रम से जिसने मोह को परास्त कर दिया है ऐसे शुद्धात्मा की अनुभूति करने वाले साधु के निर्विकल्प समाधि में जब मोह सर्वथा नष्ट हो जाता है **तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं** उस समय (तीन) गुप्तिरूप समाधिकाल में वह साधु क्षीणमोह जिन होता है, ऐसा परमार्थ के जानने वाले गणधरादिक देव कहते हैं। इस प्रकार तीसरी निश्चय स्तुति हुई। भाव्य-भावक भाव के अभावरूप से यह स्तवन कैसे हुआ ? इसका समाधान आचार्य करते हैं कि- भाव्य तो रागादि परिणत आत्मा और भावक राग उत्पन्न करने वाला उदय में आया हुआ मोहकर्म है। इन दोनों भाव्य- भावकों का जो सद्भाव अर्थात् स्वरूप उसका अभाव, विनाश या क्षय है वही तीसरी निश्चय स्तुति हुई ।।३८।।

यहाँ पर भी उपर्युक्त गाथा में बताये हुए राग-द्वेषादि रूप जो दण्डक हैं वे सब यहाँ भी लगा लेना।

विशेषार्थ- यहाँ पर आचार्य महाराज ने जिन शब्द की तीन प्रकार से निरुक्ति की है। १. जो समस्त परद्रव्यों से दूर होता हुआ इन्द्रियों को पूर्णरूप से जीतता है, अतएव अपनी आत्मा में निमग्न है वह जिन है। २. जो मोह का सर्वथा उपशम कर आत्मानुभव में मग्न होता है वह जिन है। ३. जिसने मोह को सर्वथा नष्ट कर दिया है वह साधु जिन है। इस प्रकार आचार्य देव ने जिन शब्द साधु अवस्था से ही प्रारम्भ किया है, इससे यह बात स्पष्ट होती है कि इनको गृहस्थ अवस्था में जिन कहना अभीष्ट नहीं है।

इस प्रकार इस प्रकरण की प्रथम गाथा में देह और आत्मा को एक मानने रूप पूर्वपक्ष किया। फिर चार गाथाओं में निश्चय और व्यवहारनय का समर्थन करते हुए उसका उत्तर दिया। फिर तीन गाथाओं से निश्चय स्तुति के कथन से उसी का विशेष समाधान किया। इस प्रकार पूर्वपक्ष और उसके परिहार रूप आठ गाथाओं का छठा स्थल पूर्ण हुआ।

आगे रागादि विकल्पों की उपाधि से रहित जो स्वसंवेदन ज्ञान है, वही है लक्षण जिसका ऐसे प्रत्याख्यान के वर्णन से चार गाथायें कही जाती हैं। तिनमें स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ऐसा कथन करते हुए पहली गाथा है, फिर प्रत्याख्यान के विषय में दृष्टान्तरूप दूसरी गाथा है। फिर मोह के त्यागरूप से पहली गाथा है और ज्ञेय पदार्थ के त्यागरूप से दूसरी गाथा है, ऐसे दो गाथाएँ हैं। इस प्रकार सातवें स्थल की चार गाथाओं में समुदाय पातनिका हुई।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस निश्चय स्तुति की क्या विशेषता है ?

उत्तर- इस निश्चय स्तुति को भाव्य-भावक भाव के अभाव से किया गया है। पिछली स्तुति में भाव्य-भावक संकर दोष के परिहार को दिखाया है। इससे स्पष्ट होता है कि उपशम श्रेणी में भाव्य-भावक भाव रूप संकर दोष से आत्मा छूट जाता है; क्योंकि परिहार का अर्थ हटना, छूटना, बचाना होता है। किन्तु यहाँ उस दोष का सर्वथा अभाव हुआ है, क्षय या विनाश हुआ है।

प्रश्न-२. यह तीसरी प्रकार की निश्चय स्तुति किनकी अपेक्षा से की गई है ?

उत्तर- यह निश्चय स्तुति क्षपक श्रेणी की अपेक्षा से क्षीणमोह रूप से की गई है। अर्थात् जिनका मोह क्षीण हो गया है, ऐसे बारहवें गुणस्थानवर्ती जितमोह साधु को गुप्ति समाधि के काल में क्षीण मोह कहा जाता है।(ता.टी.)

मइधणुहं जस्स थिरं सुदगुण बाणा सुअत्थि रयणत्तं।
परमत्थवद्धलक्खो ण वि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स।। २३।। मो.पा.

अर्थः- जिस मुनि के मतिज्ञानरूप धनुष स्थित हो, श्रुतज्ञान रूप गुण अर्थात् प्रत्यंचा हो, रत्नत्रय रूप उत्तम बाण हो और परमार्थस्वरूप निज शुद्धात्मस्वरूप का सम्बन्ध रूप लक्ष्य हो, वह मुनि मोक्षमार्ग को नहीं चूकता है।

इत्यप्रतिबुद्धोक्तिनिरासः-

एवमयमनादिमोहसंतताननिरूपितात्मशरीरैकत्वसंस्कारतयात्यंतमप्रतिबुद्धोऽपि प्रसभोज्जृम्भित-तत्त्वज्ञानज्योतिर्नेत्रविकारीव प्रकटोद्घाटितपटलष्टसितिप्रतिबुद्धः? साक्षात् द्रष्टारं स्वं स्वयमेव हि विज्ञाय श्रद्धाय च तं चैवानुचरितुकामः स्वात्मारामस्यास्यान्यद्रव्याणां प्रत्याख्यानं किं स्यादिति पृच्छन्नित्थं वाच्यः-

णाणं सव्वेभावे पच्चक्खाई परे त्ति णादूण।
तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं ।।३४।। ता.टी.३९

आ.टी. - यतो हि द्रव्यांतरस्वभावभाविनोऽन्यानखिलानपि भावान् भगवज्ज्ञातृद्रव्यं स्वस्वभाव-भावाव्याप्यतया परत्वेन ज्ञात्वा प्रत्याचष्टे, ततो य एव पूर्वं जानाति स एव पश्चात्प्रत्याचष्टे

उत्थानिका - ऐसा पूछने वाले को इस प्रकार से कहना चाहिए-

अन्वयार्थ - जिससे (सव्वेभावे) अपने अतिरिक्त सर्व पदार्थों को (परे त्ति) पर हैं (णादूण) ऐसा जानकर (पच्चक्खाई) प्रत्याख्यान करता है- त्याग करता है, (तह्मा) उससे (पच्चक्खाणं) प्रत्याख्यान (णाणं) ज्ञान ही है (णियमा) ऐसा नियम से (मुणेदव्वं) जानना। अपने ज्ञान में त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है, दूसरा कुछ नहीं।

अर्थ- यह आत्मा जब अपने से भिन्न पदार्थों को पर जान लेता है, तब उन्हें उसी समय छोड. देता है। अतः वास्तव में ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। ।।३४।।

जैसे किसी पुरुष के नेत्र विकारग्रस्त थे फिर उसके पटल (पर्दे के आवरण) को हटा देने पर नेत्र ज्योति प्रकट हो जाती है उसी प्रकार अनादिकाल से चले आए मोह की संतान द्वारा कृत आत्मा और शरीर में एकत्व के संस्कार भाव के द्वारा अत्यन्त अप्रतिबुद्ध होने पर भी बहुत अधिक प्रकट हुई तत्त्वज्ञान की ज्योति से प्रतिबुद्ध हो जाता है।

वह प्रतिबुद्ध आत्मा प्रत्यक्षतः अपनी द्रष्टा आत्मा को स्वयं ही निश्चय से जानकर और उसी तरह श्रद्धान करके उस में ही अनुचरण (लीन) होने की इच्छा करता हुआ इस प्रकार पूछता है कि क्या इस आत्माराम को अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान (त्याग) हो सकता है ?

आ.व्या. - चूंकि आत्मा से भिन्न अन्य द्रव्यों के स्वभाव वाले सभी पर-पदार्थों को भी भगवान् ज्ञाता आत्मा अपने स्वभावगत भावों से व्याप्य नहीं करने के कारण उन्हें पर रूप से जानकर

मिथ्यात्व रागमय भाव विभाव सारे, यों जान, ज्ञान इनको जड.से निकारे।
हो प्रत्यख्यान फलतः निज 'ज्ञान' प्यारा, मेरा उसे नमन हो शत कोटि बारा ।।३९।।

न पुनरन्य इत्यात्मनि निश्चित्य प्रत्याख्यानसमये प्रत्याख्येयोपाधिमात्रप्रवर्तितकर्तृत्वव्यपदेशत्वेऽपि परमार्थेनाव्यपदेश्यज्ञानस्वभावादप्रच्यवनात्प्रत्याख्यानं ज्ञानमेवेत्यनुभवनीयम् ।।३४।।

तथाहि- तीर्थंकराचार्यस्तुतिर्निरर्थिका भवतीति पूर्वपक्षबलेन जीवदेहयोरेकत्वं कर्तुं नायातीति ज्ञात्वा शिष्य इदानीं प्रतिबुद्धः सन् हे भगवन्! रागादीनां किं प्रत्याख्यानमिति पृच्छति। को७र्थ इति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति। एवं प्रश्नोत्तररूपपातनिकाप्रस्तावे सर्वत्रेति शब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः।

त्याग कर देता है, इसलिए 'जो आत्मा ही पहले जानता है वह आत्मा ही बाद में त्याग कर देता है और कोई अन्य आत्मा नहीं।' इस प्रकार आत्मा में निश्चय करके प्रत्याख्यान के समय पर प्रत्याख्यान के योग्य (कर्म) को उपाधि मात्र से होने वाले कर्त्तापन का निमित्तपना होने पर भी परमार्थ से निमित्त रहित ज्ञान स्वभाव से प्रच्यवन/स्खलन नहीं होने से ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ऐसा अनुभव करने योग्य है। ।।३४।।

भावार्थ- जब त्याग करने के लिए मात्र भाव ही बचे हों तब उस स्थिति में इस प्रत्याख्यान को कैसे किया जाए ? इस रहस्य को यहाँ बतलाया है। निर्विकल्प ध्यान में जो आत्मा पूर्व के विकल्पों को छोडता चला जाता है, वही आत्मा अपने स्वभाव में निश्चय को प्राप्त करता चला जाता है, उसी श्रमण को यहाँ समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि आत्मा में विभावों का त्याग करना और ज्ञान स्वभाव में लीन होना यही वस्तुतः प्रत्याख्यान है। ऐसा निश्चय प्रत्याख्यान करते समय जो प्रत्याख्यान के योग्य कर्मजनित औपाधिक भाव हैं उनके कर्त्तापन का निमित्त (उपाय) भी छूटता चला जाता है और जो अपना ज्ञान स्वभाव वाला शुद्ध आत्मा है वह अपने स्वरूप को नहीं छोडते हुए उस स्वरूप में ही लीन हो जाता है। यहाँ टीका में जो व्यपदेश शब्द आया है उसके दो अर्थ हैं- एक तो व्यपदेश निमित्त, उपाय, कारण को कहा है और दूसरा व्यपदेश यानी कथन। पहले अर्थ से यहाँ व्याख्यान किया है। यदि 'कथन' अर्थ भी लेते हैं तो वह भी घटित हो जाता है। परमार्थ से वह ज्ञान स्वभाव अव्यपदेश्य अर्थात् कथन करने योग्य नहीं है, यह अर्थ होगा। व्यवहार से उस प्रत्याख्यान में कर्तृत्व का कथन आता है कि हमने यह त्याग किया है, यह छोडा है इत्यादि। इससे भी सिद्ध होता है कि जब तक ऐसा विचार आता है कि यह छोड़ने योग्य है तब तक भी व्यवहार से प्रत्याख्यान चलता है, निश्चय से ज्ञान स्वभाव में लीन होने पर इसका प्रत्याख्यान करना है, यह विचार भी छूट जाता है, इसलिए परमार्थ से प्रत्याख्यान कथन करने योग्य नहीं है। ऐसा जो कहा है वह पूर्णतः उचित है। ।।३४।।

(ता.टी.)

यहाँ यदि जीव और देह को एक नहीं माना जायेगा तो 'तीर्थंकर व आचार्य की जो स्तुति की गई है वह व्यर्थ होती है' इस प्रकार पूर्वपक्ष के बल से जीव और देह में एकपना मानना ठीक नहीं है, ऐसा जानकर प्रतिबुद्ध होता हुआ शिष्य पूछता है कि हे भगवन्! रागादिकों का प्रत्याख्यान किस

ता.टी. - णाणं सव्वे भावे पच्चक्खाई परेत्ति णादूण जानातीति व्युत्पत्त्या स्वसंवेदनज्ञानमात्मेति भण्यते तं ज्ञानं कर्तृ मिथ्यात्वरागादिविभावं परस्वरूपमिति ज्ञात्वा प्रत्याख्याति त्यजति-निराकरोति। **तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं** तस्मात्कारणात् निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं नियमान्निश्चयात् मन्तव्यं ज्ञातव्यमनुभवनीयमिति। इदमत्र तात्पर्यं- परमसमाधिकाले स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धमात्मात्मानमनुभवति तदेवानुभवनं निश्चयप्रत्याख्यानमिति ।।३९।।

प्रकार किया जाये ? ऐसा पूछने पर आचार्य उत्तर देते हैं-

टीकार्थ- णाणं सव्वे भावे पच्चक्खाई परे त्ति णादूण 'जानाति इति ज्ञानं' इस प्रकार ज्ञान शब्द की व्युत्पत्ति है। अत: स्वसंवेदन ज्ञान ही आत्मा नाम से कहा जाता है। वह ज्ञान जब मिथ्यात्व और रागादि भावों को 'ये परस्वरूप हैं' ऐसा जान लेता है, तब उन्हें छोड.देता है, उनसे दूर हो जाता है। **तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं** इसलिए निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान ही नियम से प्रत्याख्यान है ऐसा मानना चाहिए, जानना चाहिए और अनुभव करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि परम समाधिकाल में स्वसंवेदन ज्ञान के बल से आत्मा अपने आप को शुद्ध अनुभव करता है, वह अनुभव ही निश्चय प्रत्याख्यान है ।।३९।।

विशेषार्थ- आचार्य देव कहते हैं कि ज्ञान और प्रत्याख्यान दोनों एक ही वस्तु हैं। वास्तव में इनमें कोई भेद नहीं है क्योंकि जब भेदज्ञान होता है कि ये सब पर-वस्तुएँ मेरे से भिन्न हैं तो उन्हें उसी समय छोड.देता है। ऐसा नहीं हो सकता कि किसी भी वस्तु को पर जानते हुए, अपने आपके लिए हानिकारक तो जाने फिर भी उसे छोडे.नहीं। यदि नहीं छोडता है तो समझो उसके जानने में ही कमी है अर्थात् वह अज्ञानी है। इसी को आचार्यदेव स्वयं आगे की गाथा में स्पष्ट करते हैं-

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. क्या इस गाथा में कुछ पाठभेद है ?

उत्तर- हाँ है ! आचार्य अमृतचन्द्र जी की टीका के साथ इस गाथा का 'सव्वे भावे जम्हा' यह पाठ मिलता है और आचार्य जयसेन जी की टीका में 'णाणं सव्वे भावे' यह पाठ मिलता है।

प्रश्न-२. वस्तुत: प्रत्याख्यान क्या है ?

उत्तर- निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान है (ता.टी.) इस ज्ञान मात्र का अनुभव ही प्रत्याख्यान है।

प्रश्न-३. यह प्रत्याख्यान कब होता है ?

उत्तर- परम समाधि के काल में यह निश्चय प्रत्याख्यान होता है।

प्रश्न-४. क्या परम समाधि के काल में मुझे त्याग करना है, ऐसी त्याग रूप क्रिया होती है ?

उत्तर- नहीं होती है। तभी तो आ.टी. में लिखा है कि परमार्थ से (निश्चय से) 'अव्यपदेश्यज्ञान स्वभावाद प्रच्यवनात् अर्थात् नहीं कहने योग्य ज्ञान स्वभाव से च्युत न होने के कारण ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। यहाँ जो 'अव्यपदेश्य' कहा है इसका अर्थ यही है कि परभाव के त्याग के कर्तृत्व का नाम परमार्थ से नहीं है। अतः निश्चय से प्रत्याख्यान में मैंने परभाव का त्याग किया ऐसे कर्त्तापन का अभाव रहता है।

प्रश्न-५. फिर यह प्रत्याख्यान नाम कब लिया जाता है ?

उत्तर- पर उपाधि (उपकरण, आहार आदि) के त्याग के समय ही वे परपदार्थ प्रत्याख्येय कहलाते हैं। उसी त्याग के समय मैंने त्याग किया है, यह कर्त्तापने का नाम आता है। इसे ही व्यवहार प्रत्याख्यान कहते हैं।

प्रश्न-६. क्या व्यवहार प्रत्याख्यान किए बिना सीधा निश्चय प्रत्याख्यान हो सकता है ?

उत्तर- नहीं होता है। व्यवहार और निश्चय में परस्पर साध्य-साधक भाव होता है, यह नियम यहाँ पर भी जानना। व्यवहार प्रत्याख्यान में जब बाह्य वस्तु का त्याग करके संयमी बन जाता है तो व्यवहार प्रत्याख्यान साधक हुआ और निश्चय प्रत्याख्यान साध्य हुआ, जिसमें कि वह संयमी निर्विकल्प समाधि को प्राप्त करता है। पुनः वही संयमी जब निर्विकल्प समाधि से छूटकर ध्यान-सामायिक से बाहर आता है तो वह निश्चय प्रत्याख्यान साधक होता है और आहारादि में प्रवृत्ति साध्य हो जाती है। निश्चय का साधक होने पर व्यवहार समीचीन रूप से साध्य बनता है। उस व्यवहार क्रिया की प्रवृत्ति में निश्चय का ध्यानसंस्कार साधक रूप में कार्य करता है जिससे वह अप्रमत्त होकर प्रवृत्ति करता है। इस तरह परस्पर व्यवहार और निश्चय में साध्य-साधक भाव निर्बाध रूप से घटित हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि व्यवहार प्रत्याख्यान के बिना निश्चय प्रत्याख्यान नहीं होता है। साधन के बिना साध्य की प्राप्ति कभी नहीं होती है। इसी कारण से निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचना आदि अधिकारों का वर्णन नियमसार में किया गया है। इन अधिकारों में श्रमणों के लिए व्यवहार प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण आदि से उपयोग हटाकर निश्चय में ध्यान मग्न करने का उपदेश दिया है। इसलिए यह **नियमसार ग्रन्थ** श्रमणों के लिए मुख्य है।

प्रश्न-७. निश्चय प्रत्याख्यान का अधिकारी कौन होता है ?

उत्तर- **श्री नियमसार** में दो गाथाओं से निश्चय प्रत्याख्यान के स्वामी का वर्णन किया है-

णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो ।
संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ।। १०५ ।।

अर्थ- जो निष्कषाय है, इन्द्रियों का दमन करने वाला है, समस्त परीषहों को सहन करने में शूरवीर है, उद्यमशील है तथा संसार के भय से भीत है, उसी के सुखमय प्रत्याख्यान होता है।

एवं भेदब्भासं जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं ।
पच्चक्खाणं सक्कदि धरिदुं सो संजदो णियमा ।। १०६ ।।

अर्थ - इस प्रकार जो निरन्तर जीव और कर्म के भेद का अभ्यास करता है वह संयत (साधु) ही नियम से प्रत्याख्यान धारण करने में समर्थ होता है।

प्रश्न-८. जब यहाँ निश्चय से प्रत्याख्यान का स्वरूप कहा है और निश्चय में प्रत्याख्यान यह होता है, ऐसा कर्तृत्व भी नहीं है तो फिर यहाँ निश्चय प्रत्याख्यान का वर्णन ही क्यों किया है ?

उत्तर- अरे भाई ! आचार्य महाराज का प्रयोजन श्रमण को आत्मानुभव में लीन कराना है। सो उसके लिए अनेक विधाओं का प्रयोग किया जाता है। प्रयोजन तो एक ही है कि शुद्धात्मानुभूति की जावे। इसीलिए तो आ.टी. में कहा है कि अपने ज्ञान स्वभाव से च्युत नहीं होना ही प्रत्याख्यान है। इसलिए ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। वह ज्ञान ही अनुभवन करने योग्य है। देखो ! प्रत्याख्यान के द्वारा अनुभव तो ज्ञान का ही कराया जा रहा है। सदैव याद रखो कि इस अध्यात्म प्रधान ग्रन्थ में अनुभूति ही मुख्य है। स्वयं अमृतचन्द्र जी ने अपनी आ.टी. में गाथा में मुणेदव्वं अर्थात् जानना चाहिए। इस क्रिया का अर्थ अनुभवनीयम् अर्थात् अनुभव करना चाहिए यह कहा है। इसी बात को आचार्य जयसेन जी ने स्पष्टतया लिखा है। इससे स्पष्ट है कि यहाँ ज्ञान का अनुभव करना ही प्रत्याख्यान है।

प्रश्न-९. मात्र ज्ञान का अनुभव करना चाहिए, ऐसा कहकर यहाँ कौन से ज्ञान से प्रयोजन है ?

उत्तर- समस्त मिथ्यात्व, राग, आदि पर-भावों का त्याग करके परम समाधि के काल में स्वसंवेदन ज्ञान के बल से जो शुद्धात्मा का अनुभव किया जाता है वही निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान यहाँ अनुभूति का विषय है। इसी ज्ञान से यहाँ प्रयोजन है। अन्य किसी शास्त्र ज्ञान का या चर्चा मात्र का यहाँ वर्णन नहीं है।

प्रश्न-१०. इस स्वसंवेदन ज्ञान का अनुभव क्या श्रावक को नहीं होता है ?

उत्तर- आचार्य जयसेन जी ने लिखा है कि 'रागादिविकल्पोपाधिरहितं स्वसंवेदन ज्ञान लक्षण प्रत्याख्यान विवरण रूपेण' अर्थात् स्वसंवेदन ज्ञान ही जिस प्रत्याख्यान का लक्षण है वह स्वसंवेदन ज्ञान रागादि विकल्प उपाधि से रहित होता है। आत्मा में जितना भी रागादि भाव है उस सबका अभाव होने पर ही शुद्ध आत्मानुभवन रूप स्वसंवेदन होता है। इस स्वसंवेदन के अभाव में जिस जीव को अनन्तानुबन्धी आदि जिन-जिन कषायों का अभाव होता है, तो उस जीव को तत् संबंधी रागादि का अभाव होने से अपनी आत्मा का पहले से अधिक श्रद्धान, ज्ञान का अनुभव होगा। उस आत्मा को स्वसंवेदन, उस रागादि के अभाव में होने वाला तो अवश्य होगा किन्तु उसे निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान नहीं कहा जाता है। उसे शुद्धात्मा की अनुभूतिजन्य स्वसंवेदन ज्ञान भी नहीं कहा है। वह स्वसंवेदन अशुद्ध आत्मा की अनुभूति के साथ ही होगा। हाँ ! इतना अवश्य है कि अविरत सम्यग्दृष्टि का स्वसंवेदन मिथ्यादृष्टि के जैसा नहीं होगा। देशव्रती श्रावक का अनन्तानुबन्धी,

अथ ज्ञातुः प्रत्याख्याने को दृष्टान्त इत्यत आह-

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि।
तह सव्वे परभावे, णादूण विमुंचदे णाणी ।।३५।। ता.टी.४०

आ.टी.- यथा हि कश्चित्पुरुषः संभ्रांत्या रजकात्परकीयं चीवरमादायात्मीयप्रतिपत्त्या परिधाय शयानः स्वयमज्ञानी सन्नन्येन तदंचलमालंब्य बलान्नग्नीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वार्पय परिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामकमित्यसकृद्वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेतत्परकीयमिति ज्ञात्वा ज्ञानी सन्मुंचति तच्चीवरमचिरात्, तथा ज्ञातापि संभ्रांत्या

अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान कषाय के अभाव में होने वाले स्वसंवेदन से अधिक विशुद्ध होगा और महाव्रती श्रमण का अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान कषाय के अभाव में होने वाले स्वसंवेदन व्रती श्रावक से और विशुद्ध होगा किन्तु संज्वलन कषाय की तीव्रता से प्रमत्तसंयत गुणस्थान में भी वह निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान ही होता है। संज्वलन कषाय की मन्दता से ध्यान अवस्था में जो अप्रमत्तदशा होती है उसी दशा में अप्रमत्त आदि गुणस्थान से वह अनुभूति प्रारम्भ होती है और कषाय के उदय के पूर्ण अभाव में वह निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान का अनुभव प्रकट होता है। यह दशा उपशान्तमोह आदि गुणस्थान में पूर्ण होती है।

उत्थानिका - ज्ञाता के इस प्रत्याख्यान में दृष्टान्त क्या है, ऐसा पूछने पर कहते हैं-

अन्वयार्थ - (जह णाम) जैसे लोक में (कोवि पुरिसो) कोई पुरुष (परदव्वमिणंति जाणिदुं) परवस्तु को 'यह परवस्तु है' ऐसा जाने तो ऐसा जानकर (चयदि) त्याग करता है, (तह) उसी प्रकार (णाणी) ज्ञानी पुरुष (सव्वे) समस्त (परभावे) परद्रव्यों के भावों को (णादूण) 'ये परभाव हैं' ऐसा जानकर (विमुंचदे) उनको छोड़ देता है।

अर्थ- जैसे कोई भी पुरुष यह जानकर कि यह परद्रव्य है, उसे छोड.देता है, उसी प्रकार जो आत्मा से अतिरिक्त पदार्थों को अपने से भिन्न जान लेता है, तो उन्हें छोड.ही देता है, वह ज्ञानी कहलाता है। ।।३५।।

आ.व्या. - जैसे कोई पुरुष भ्रांति से धोबी से किसी दूसरे आदमी का वस्त्र लेकर और उस वस्त्र को अपना समझकर उसको ओढता हुआ सो गया किन्तु स्वयं इस ज्ञान से रहित है कि यह किसी अन्य का है। अन्य पुरुष जो उस वस्त्र का स्वामी था उसके द्वारा उस वस्त्र का आँचल/कोना पकड़कर जबरन नंगा किया गया 'जल्दी जाग, दे दे, बदला हुआ यह वस्त्र मेरा है' इस प्रकार का

मेरी न वस्तु यह है जब जान लेता, जैसा कि सज्जन उसे झट त्याग देता।
रागादि भाव पर हैं पर से न नाता, ऐसा पिछान मुनि भी उनको हटाता ।।४०।।

परकीयान्भावानादायात्मीयप्रतिपत्त्यात्मन्यध्यास्य शयानः स्वयमज्ञानी सन् गुरुणा परभावविवेकं कृत्वैकीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वैकः खल्वयमात्मेत्यसकृच्छ्रौतं वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेते परभावा इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुंचति सर्वान्परभावानचिरात् ।।३५ ।।

अथ प्रत्याख्यानविषये दृष्टान्तमाह-

ता.टी. - जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि यथा नाम अहो स्फुटं वा कश्चित्पुरुषो वस्त्राभरणादिकं परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति। **तह सव्वे परभावे णादूण विमुंचदे णाणी** तथा तेन प्रकारेण सर्वान् मिथ्यात्वरागादिपरभावान् पर्यायान् स्वसंवेदनज्ञानबलेन ज्ञात्वा विशेषेण त्रिशुद्ध्या विमुंचति त्यजति स्वसंवेदनज्ञानीति। अयमत्र भावार्थः- यथा कश्चिद्

वाक्य बार-बार सुनता हुआ सर्व चिह्नों के द्वारा अच्छी तरह से परीक्षा करके 'यह वस्त्र दूसरे का है यह निश्चित है' ऐसा जानकर ज्ञानी होता हुआ उस वस्त्र का शीघ्र ही त्याग कर देता है, उसी प्रकार ज्ञाता आत्मा भी भ्रांति से परद्रव्य के भावों को, ग्रहण करके ये भाव अपनी आत्मा के हैं, ऐसा समझकर अपनी आत्मा में एक रूप अनुभव करके सोया हुआ, स्वयं अज्ञानी बना हुआ रहता है। गुरु के द्वारा परभावों का भेद कराके एक आत्म स्वभाव रूप किया गया और समझाया गया कि शीघ्र ही यह जान ले कि यह आत्मा वस्तुतः एक स्वभावी है। इस प्रकार का वाक्य बार-बार सुनता हुआ सभी चिह्नों का अच्छी तरह से परीक्षण करके 'निश्चित रूप से ये परभाव ही हैं' इस प्रकार जानकर ज्ञानी होता हुआ सभी परभावों को शीघ्र ही जानते ही, त्याग करने लग जाता है। ।।३५।।

(ता.टी.)

उत्थानिका - अब प्रत्याख्यान के विषय में दृष्टान्त कहते हैं-

टीकार्थ- जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि जैसे कोई भी पुरुष जब वस्त्र आभरण आदि वस्तु को 'यह परद्रव्य है' ऐसा स्पष्ट रूप से जान लेता है, तब से छोड.देता है। **तह सव्वे परभावे णादूण विमुंचदे णाणी** उसी प्रकार मिथ्यात्व और रागादि सब ही परभावों को अर्थात् पर्यायों को अपने स्वसंवेदन ज्ञान के बल से जानकर उन्हें विशेषरूप से अर्थात् मन-वचन-कायरूप विशुद्धि द्वारा छोड.देता है, तब ही वह स्वसंवेदन ज्ञानी होता है अन्यथा नहीं। भावार्थ यह है कि जैसे कोई देवदत्त नाम का पुरुष भ्रम से दूसरे के वस्त्र को अपना समझकर धोबी के घर से उसे ले आया और पहनकर सो गया। पीछे उस वस्त्र का स्वामी आकर उस वस्त्र को पकडक़र खींचता है और उतारना चाहता है, तो उस वस्त्र के विशेष चिह्न को देखकर जब उसे दूसरे का समझ लेता है तब उसे उतार देता है। उसी प्रकार ज्ञानी जीव भी परम वैरागी गुरुदेव के द्वारा ये सब मिथ्यात्व व रागादि विभाव भाव तेरे स्वरूप नहीं हैं, तू एक (शुद्धात्मा) ही है, ऐसा समझाया जाने पर, उनको पर जानकर छोड.देता है और शुद्धात्मा को अनुभव करने लगता है (वही ज्ञानी है)। इस प्रकार दो गाथायें पूर्ण हुईं ।।४०।।

देवदत्तः परकीयचीवरं भ्रान्त्या मदीयमिति मत्वा रजकगृहादानीय परिधाय च शयानः सन् पश्चादन्येन वस्त्रस्वामिना वस्त्रांचलमादायाच्छोद्य नग्नीक्रियमाणः सन् वस्त्रलांच्छनं निरीक्ष्य परकीयमिति मत्वा तद्वस्त्रं मुंचति। तथायं ज्ञानी जीवोऽप्यतिविज्ञेन निर्विण्णेन गुरुणा मिथ्यात्वरागादिविभावा एते भवदीयस्वरूपं न भवन्ति, एक एव त्वमिति प्रतिबोध्यमानः सन् परकीयानिति ज्ञात्वा मुंचति शुद्धात्मानुभूतिमनुभवतीति। एवं गाथाद्वयं गतम् ।।४०।।

विशेषार्थ- आचार्यदेव के कथन का सार यह है कि जो प्रत्याख्यानी है- सब पर-वस्तुओं को त्यागकर पृथक् हो जाता है और अपने शुद्धात्मा के स्वरूप में निमग्न हो जाता है, वही ज्ञानी होता है।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. ज्ञाता का प्रत्याख्यान ज्ञान है, इस विषय में दृष्टान्त क्या है ?

उत्तर- जैसे कोई पुरुष भ्रान्ति से धोबी से दूसरे के वस्त्र को लाकर अपना समझकर उसे पहनकर सो गया। उसे इस विषय का ज्ञान नहीं है कि वह वस्त्र किसी अन्य का है। अन्य व्यक्ति ने आकर उसके वस्त्र को जबरदस्ती खींचकर उसे नग्न कर दिया। ऐसा सुनकर उस वस्त्र को पहिचान कर वह उसे तुरन्त छोड.देता है वैसे ही ज्ञाता आत्मा परकीय भावों का प्रत्याख्यान करके ज्ञान में स्थित हो जाता है।

प्रश्न-२. कौन जीव इस तरह पर भावों को जानकर छोड.देता है ?

उत्तर- ज्ञानी जीव।

प्रश्न-३. जो इन भावों को छोड.देता है, वह ज्ञानी है या जो समझाए जाने पर जान लेता है कि ये परभाव हैं, वह ज्ञानी है ?

उत्तर- 'एते परभावा इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुंचति सर्वान् परभावान् अचिरात्' (आ.टी.) - अर्थात् ये परभाव हैं। ऐसा जानकर ज्ञानी होता हुआ सभी परभावों को शीघ्र ही छोड.देता है। इस टीका वाक्य से स्पष्ट है कि परभावों को जान लेने के बाद यदि वह ज्ञानी होगा तो शीघ्र ही परभावों से छूट जाता है। अन्यथा वह अज्ञानी है। केवल ये रागादि मेरे परभाव हैं, ऐसा जानने वाले को यहाँ ज्ञानी नहीं कहा है।

प्रश्न-४. यहाँ ज्ञानी होता हुआ परभावों को छोडता है, इसका क्या अर्थ हुआ ?

उत्तर- जिस समय आत्मा स्वसंवेदन ज्ञानी होता है, उसी समय वह परभावों से छूटता है। पिछली गाथा में कहा था कि ज्ञान ही प्रत्याख्यान है सो उसी भाव को समझाने के लिए यहाँ दृष्टान्त दिया गया है। विशेष कुछ नहीं है। 'परकीयानिति ज्ञात्वा मुंचति शुद्धात्मानुभूतिमनुभवतीति' (ता.टी.) ये परकीय भाव हैं, ऐसा जानकर छोड.देता है, इसका अर्थ यही है कि वह शुद्धात्मा की अनुभूति को अनुभव करता है। इस टीका वाक्य से अत्यन्त स्पष्ट है कि शुद्धात्मा की अनुभूति के

समय परभावों से आत्मा छूटता है। केवल श्रद्धान, ज्ञान करने से नहीं। यह शुद्धात्मा की अनुभूति ही स्वसंवेदन ज्ञान के बल से की जाती है। इसी स्वसंवेदन ज्ञानी को गाथा में ज्ञानी कहा है, अन्य किसी को नहीं।

प्रश्न-५. ऐसा कौन सा जीव है, जो परभावों को तुरन्त छोड.देता है ?

उत्तर- जो जीव पहले परद्रव्य को संकल्पपूर्वक छोड.चुका हो और अपने आत्मज्ञान में लीन न होकर बाह्य क्रिया रूप व्यवहार चारित्र को ही ध्यान में रखता हो। जो शुभोपयोग की मुख्यता में रहता हो, ऐसे जीव को निश्चय चारित्र रूप शुद्धोपयोग में लीनता शीघ्र आ जाती है।

प्रश्न-६. यह शुद्धोपयोग में लीनता अपने आप आ जाती है या किसी के समझाए जाने पर आती है ?

उत्तर- यह शुद्धोपयोग में लीनता अतिविज्ञ, निर्वेग प्राप्त गुरु के द्वारा समझाए जाने पर ही आती है। 'अतिविज्ञेन निर्विण्णेन गुरुणां' (ता.टी.) अर्थात् गुरु अतिविज्ञ हों और संसार, शरीर, भोगों से विरक्त हो। ऐसे गुरु के द्वारा समझाए जाने पर ही उपर्युक्त परिणति होती है।

प्रश्न-७. ऐसा गुरु कौन होगा ?

उत्तर- अतिविज्ञ का अर्थ ज्ञान सम्पन्न और निर्विण्ण का अर्थ है वैराग्य सम्पन्न। जो ज्ञान, वैराग्य से सम्पन्न हो वही गुरु होता है। ऐसा गुरु दिगम्बर श्रमण ही होता है; क्योंकि आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी ही यहाँ प्रतिबोधन के लिए 'गुरु' संज्ञा को प्राप्त करते हैं। अन्य कोई गृहस्थ कितना भी विद्वान क्यों न हो वह यहाँ गुरु शब्द से अपेक्षित नहीं है। इसका भी कारण यह है कि जिनागम में पंच परमेष्ठी ही पंच परम गुरु हैं।

प्रश्न-८. अच्छा तो यहाँ व्यवहार चारित्र रूप शुभोपयोग से मोक्ष मानने वाले अज्ञानी को गुरु ने समझाया है, अविरत सम्यग्दृष्टि को नहीं ?

उत्तर- नहीं, नहीं ! जो व्यवहार चारित्र रूप शुभोपयोग का मुख्यता से पालन करता है, वह भी सम्यग्दृष्टि होता है। उसका वह व्यवहार चारित्र सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सहित होता है। बिना सम्यग्दर्शन के बाह्य क्रिया रूप वह चारित्र भी व्यवहार चारित्र नहीं कहला सकता है। सम्यग्दर्शन के बिना तो वह मिथ्याचारित्र कहलाता है। ऐसा मिथ्याचारित्र कभी भी निश्चय चारित्र रूप शुद्धोपयोग का कारण नहीं होता है। अत: आपकी यह अवधारणा आगम विरुद्ध है कि व्यवहार चारित्र का पालन करने वाला शुभोपयोगी श्रमण या व्रती अज्ञानी है और अविरत सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है। आप स्वयं सोचें कि असंख्यातगुणी कर्म की निर्जरा करने वाला व्रती अज्ञानी कैसे हो सकता है? भाई ! आगे बढ़ने की विधि तो यही है। यदि कोई व्रती होकर भी भीतर से अयोग्य राग-द्वेष आदि की परिणति को नहीं छोडता है या अपनी पदवी के अनुकूल मोक्षमार्ग पर प्रवृत्ति नहीं करता है तो यह उस आत्मा की अपनी कमजोरी है, न कि मोक्षमार्ग की। मोक्षमार्ग पर तो सराग और वीतराग दोनों दशाएँ हैं। छठे-सातवें गुणस्थान तक तो सराग दशा ही रहेगी। सराग मोक्षमार्ग ही

रहेगा, भले ही यह श्रद्धा बनी रहे कि राग, आत्मा का स्वभाव नहीं है। व्रती जीव भी यही जानता है कि राग आत्मा का स्वभाव नहीं है क्योंकि वह राग को कम करने के लिए और उसका नाश करने के लिए ही व्रत, तप आदि करता है। यथासमय सामायिक, ध्यान के समय वह आत्मा का ज्ञानामृत भी पीता है। अपने स्वसंवेदन ज्ञान से परमार्थ के साथ सदैव प्रवृत्ति करता है। परमार्थ ज्ञान से शून्य होकर जो व्रत, तप का पालन करे वह बाल तप को धारण करने वाला अज्ञानी भले ही कहलावे किन्तु व्रत, तप, दया भाव में धर्म मानना मिथ्यात्व है और यह सब राग है ऐसा कहना मोक्षमार्ग के प्रति श्रद्धा को मिटाने का कृत्य है।

प्रश्न-९. गुरु के उद्‌बोधन से वह शिष्य किस प्रकार ज्ञानी बनता है ?

उत्तर- बार-बार गुरु के द्वारा कहे गये शास्त्र के वचनों को सुनकर और अखिल चिह्नों से अच्छी तरह परीक्षा करके वह शिष्य जब आत्मज्ञान में स्थिर होता है, तब वह ज्ञानी बनता है।

प्रश्न-१०. बार-बार कहने की और अच्छी तरह परीक्षा करने की बात क्यों कही है ?

उत्तर- भैया! सम्यग्दर्शन तो एक बार उपदेश सुनने से हो सकता है किन्तु आत्म स्वभाव में स्थिरता, बार- बार अध्यात्म वचनामृत का गुरुमुख से श्रवण करने से ही आती है। बार-बार उनका श्रुत के वाक्यों को पढक़र, सुनकर फिर सामायिक आदि के काल में स्वसंवेदन ज्ञान से बार-बार अनुभव करके आत्मरुचि बढाना ही अच्छी तरह परीक्षा करना है। परि- चारों तरफ से, ईक्षा- देखना ही परीक्षा है।

प्रश्न-११. अखिल चिह्नों से परीक्षा करने को कहा है, सो चिह्न क्या है ?

उत्तर- व्यवहार नय से गुणस्थानों के लक्षण जानकर निश्चय नय से पुनः-पुनः आत्मा की भावना करते हुए यह जान लेना कि आत्मा की अनुभूति किस कषाय दशा के साथ किस तरह हो सकती है। यही अखिल चिह्नों से परीक्षा है। अभ्यास करने से स्वयं ही अपनी अनुभूति अपने को पहिचान का चिह्न बनने लगती है।

भावनाओं को बदलने से आचरण अपने आप बदल जाता है।

अथ यावत्पर्यन्तं परभावाभावस्तावत्स्वानुभव इति संतन्यते-

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यन्तवेगादनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव।।२९।।

सं. टी.- यावद्-यावत्कालपर्यन्तं, अनवं-सत्यं यथा भवति तथा, अत्यंतवेगात्-अतिशीघ्रं, अपरेत्यादिः-अपरे च ते भावाश्च अपरभावाः-अन्यपदार्थाः, तेषां त्यागः-त्यजनं, तदुल्लेखाय यो दृष्टांतः, तत्र दृष्टिः, यथाहि कश्चिन्नरः, रजकात् परकीयमंबरमादाय संभ्रांत्यात्मीयप्रतिपत्त्या परिधाय शयानः स्वयमज्ञानी सन्, अन्येन तद्वस्त्रस्वामिना तदंचलमालंब्य बलान्नग्नीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुद्ध्यस्व, अर्पय परिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामिकमिति असकृद्वचः शृण्वन्, अखिलैश्चिह्नैः सुपरीक्ष्य परकीयमिति निश्चित्याचिरात्, ज्ञानी सन् मुंचति तथा ज्ञातापि परभावान् संभ्रांत्या स्वप्रतिपत्त्यात्मसात्कुर्वन् शयानः स्वयमज्ञानी सन् गुरुणा परभावे विवेकं कृत्वैकीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्व, एकः खल्वयमात्मा, इत्यसकृत् श्रुतिं श्रौतीं शृण्वन् अखिलैश्चिन्हैः सुपरीक्ष्य सर्वान् परभावान्निश्चित्य ज्ञानी सन् मुंचति परभावानिति दृष्टांतदृष्टिः वृत्तिं-परभावप्रवृत्तिं प्रति न अवतरति-अवतरणं न करोति तावत्पर्यन्तं इयमनुभूतिः-आत्मानुभवज्ञानं, स्वयं-स्वतः, आविर्बभूव-प्रकटीबभूव, झटिति-शीघ्रं। किंभूता? विमुक्ता-त्यक्ता, कैः? अन्यदीयैः-परकीयैः, सकलभावैः-सकलचेतनाचेतनपदार्थैः।। २९।।

उत्थानिका - जब तक पर भावों का अभाव है तब तक ही स्वानुभव होता है, यह कहते हैं-

अन्वयार्थ- (यावत्) जितने समय तक (अत्यन्तवेगात्) वेगपूर्वक (अपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः) परपदार्थ के त्याग के दृष्टान्त की दृष्टि (अनवम्) पुरातन (वृत्तिं) वृत्ति को (न अवतरति) प्राप्त नहीं होती है (तावत्) उतने समय तक (झटिति) तत्काल ही (अन्यदीयैः सकलभावैः विमुक्ता) परद्रव्यों के सकलभावों से रहित (इयम् अनुभूतिः) यह आत्मानुभूति (स्वयं आविर्बभूव) स्वयं प्रकट हुई।।२९।।

अर्थ- जब तक यथार्थ रूप से अति शीघ्रतापूर्वक पर पदार्थो के त्यागरूप दृष्टान्त की दृष्टि पुरातनता को नहीं प्राप्त करती अर्थात् उसका प्रभाव क्षीण होने के पहले ही पर पदार्थों के सभी परिणमनों से रहित यह आत्मानुभूति शीघ्र ही प्रकट हुई।।२९।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस कलश का अभिधेय क्या है ?

उत्तर- जब तक आत्मा में परभाव का अभाव है तब तक स्वानुभव होता है, इस प्रकार कहा गया है।

प्रश्न-२. इन परभावों के अभाव का दृष्टान्त क्या है ?

उत्तर- इन परभावों के अभाव का दृष्टान्त वही है जो पिछली गाथा में प्रश्न १ में दिया है और टीका में लिखा है।

प्रश्न-३. बार-बार गुरु से शिष्य को जब प्रतिबोधन दिया जाता है, तो वह क्या दिया जाता है ?

उत्तर- एकः खलु अयं आत्मा' यह आत्मा निश्चय से एक है, यह भावना बार-बार सुनी जाती है।

प्रश्न-४. 'मैं आत्मा हूँ' यह अनुभूति कब प्रकट हुई?

उत्तर- प.अ.त. में 'अपरभावत्याग दृष्टान्त दृष्टिः' इस पद का अर्थ कहा है कि अन्य पदार्थों के त्याग के लिए जो दृष्टान्त धोबी के वस्त्र का दिया है उसी दृष्टि अनुसार अविलम्ब ही त्याग कर देता है। इससे यह स्पष्ट किया है कि उस दृष्टान्त से पर पदार्थों का त्याग करके ज्ञानी होता हुआ फिर परभावों को भी छोडता है, तब स्वानुभूति प्रकट होती है। पर द्रव्यों (पदार्थों) का त्याग करने के बाद श्रमण होने पर जब शुद्धोपयोग में लीन होता है, तब वह स्वानुभूति प्रगट होती है।

प्रश्न-५. यहाँ पर पदार्थ के त्याग की दृष्टान्त दृष्टि में अत्यन्त वेग से होना क्यों कहा है ?

उत्तर- जिस समय पर पदार्थ का त्याग होता है तो उसी समय आत्मा में अत्यन्त वेग से परभावों का त्याग भी होता है। जिस समय आत्मा परकीय पदार्थों को अपने अस्वभाव समझकर वेगपूर्वक छोडता है उसी समय वह आत्मा दर्शनमोहनीय, अनन्तानुबन्धी कषाय, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन कषायों के सर्वघाती स्पर्धकों से भी अत्यन्त वेग से छूट जाता है। तात्पर्य यह है कि बाह्य परिग्रह के त्याग के साथ अन्तरंग के मिथ्यात्व, कषाय आदि परिग्रह का त्याग भी वेग पूर्वक होता है।

प्रश्न-६. यहाँ कलश में 'अपरभावत्याग दृष्टान्त दृष्टिः' कहा है, जिससे अपर भावों के त्याग का दृष्टान्त दिखाया है या अपर पदार्थों के त्याग को दिखाया है ?

उत्तर- यहाँ सर्व प्रथम अत्यन्त वेग से अपर पदार्थों के त्याग की दृष्टान्त दृष्टि दी है। जिस तरह परकीय वस्त्र को परकीय जानकर कोई व्यक्ति तत्काल उस वस्त्र का त्याग कर देता है, उसी तरह अत्यन्त वेग से सम्यग्दृष्टि जीव पर पदार्थों का त्याग कर देता है। परमाध्यात्म तरंगिणी में इस कलश की संस्कृत टीका में अपर भाव का अर्थ अपर पदार्थ का ही त्याग कहा है। यह युक्ति-युक्त भी है; क्योंकि बाद में फिर अन्यदीय सकल भावों से मुक्त होना भी कहा है। जिन भावों से मुक्त होने पर आत्मानुभूति प्रकट हो जाती है।

प्रश्न-७. कलश में दुबारा 'झटिति' अर्थात् शीघ्र पद पुनः कहने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर- पर पदार्थों के त्याग के साथ अन्तरंग की संयम विरोधी कषायों का त्याग वेग पूर्वक होता है। तब वही संयमी उसी समय उस संज्वलन की मन्दता से अप्रभावित हुआ निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है, तो एक अन्तर्मुहूर्त में अतिशीघ्र मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय के अभाव से समस्त परभावों से रहित स्वयं यह आत्मानुभूति इतनी शीघ्र प्रकट होती है

अथ कथमनुभूतेः परभावविवेको भूत इत्याशंक्य भावकभावविवेकप्रकारमाह-

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ।।३६।। ता.टी.४१

आ.टी.- इह खलु फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकेन सता पुद्गलद्रव्येणाभिनिर्वर्त्यमानष्टंकोत्कीर्णैक- ज्ञायकस्वभाव-भावस्य परमार्थतः परभावेन भावयितुमशक्यत्वात्कतमोऽपि न नाम मम मोहोऽस्ति। किञ्च तत्स्वयमेव च विश्वप्रकाश-

---

कि छद्मस्थ आत्मा को इसका पता भी नहीं चलता और सर्वज्ञत्व प्रकट हो जाता है।

प्रश्न-८ यहाँ 'अनवम्' शब्द से क्या अर्थ लिया है?

उत्तर- संस्कृत टीका के अनुसार 'सत्यं यथा भवति तथा' अर्थात् परभावों से भिन्न होकर 'सत्य' त्याग जैसे होता है वैसा ही होवे। दूसरा अर्थ यह भी है कि परभाव का त्याग धोबी के दृष्टान्त की तरह कर दिया और जब तक वह पुराना भाव पुनः नहीं आए उससे पूर्व ही यह अनुभूति हुई। जैसे ही उपयोग पुनः परभाव में जो कि पहले था, पुराना था उसी में आ गया यह अनुभूति गई।

उत्थानिका - अब अनुभूति से परभाव का विवेक (अलग होना) कैसे हुआ ? इस प्रकार की आशंका करके भावक-भाव के पृथक् करने की विधि कहते हैं-

अन्वयार्थ - (बुज्झदि) जो यह जाने कि (मोहो मम को वि णत्थि) मोह मेरा कोई भी सम्बन्धी नहीं है (अहमिक्को उवओग एव) एक उपयोग ही मैं हूँ (तं) ऐसे जानने को (समयस्स) सिद्धान्त के अथवा स्वपर स्वरूप के (वियाणया) जानने वाले (मोहणिम्ममत्तं) मोह से निर्ममत्व (विंति) कहते हैं।

अर्थ - मोह- पर को अपनाना, उससे मेरा कोई संबंध नहीं है उससे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, मैं तो केवल एक उपयोग स्वरूप हूँ इस प्रकार के जानने को सिद्धान्त के जानकार लोग निर्मोहपना कहते हैं।

आ.व्या.- इस विधि में फल देने की समर्थता से उत्पन्न होकर (कर्म) भावक रूप से होता हुआ पुद्गल द्रव्य के द्वारा उत्पन्न कराया गया यह कोई भी मोह मेरा नहीं है, क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव भाव को परमार्थ से परभाव से परिणत कराना संभव ही नहीं है। दूसरी बात यह है कि स्वयं ही विश्व को प्रकाश देने में निपुण सदा प्रकाशमान तथा निरन्तर प्रताप की सम्पत्ति

मेरा न मोह पर से उपयोग मेरा, ऐसा सदा समझता बस मैं अकेला।
साधु उसे परम निर्मम हैं बताते, शास्त्रानुसार निज जीवन हैं बिताते ।।४१।।

चंचुरविकस्वरानवरतप्रतापसंपदा चिच्छक्तिमात्रेण स्वभावभावेन भगवानात्मैवावबुध्यते यत्किलाहं खल्वेकः ततः समस्तद्रव्याणां परस्परसाधारणावगाहस्य निवारयितुमशक्यत्वात् मज्जितावस्थायामपि दधिखंडावस्थायामिव परिस्फुटस्वदमानस्वाद-भेदतया मोहं प्रति निर्ममत्वोऽस्मि, सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात्। इतीत्थं भावकभावविवेको भूतः ।।३६।।

अथ कथं शुद्धात्मानुभूतिमनुभवतीति पृष्टे सति मोहादिपरित्यागप्रकारमाह-

ता.टी. - णत्थि मम कोवि मोहो नास्ति न विद्यते मम शुद्धनिश्चयेन टंकोत्कीर्ण-ज्ञायकैकस्वभावस्य सतो रागादिपरभावेन कर्तृभूतेन भावयितुं रंजयितुमशक्यत्वात् कश्चिद् द्रव्यभावरूपो मोहः। **बुज्झदि उवओग** एव **अहमिक्को** बुध्यते जानाति। स कः कर्त्ता ? ज्ञान-

---

से सहित चैतन्य शक्ति मात्र स्वभाव भाव के द्वारा भगवान् आत्मा ही जाना जाता है। चूंकि जब मैं एक हूँ इसलिए समस्त द्रव्यों का आपस में साधारण रूप से अवगाह (रहना) रोकना तो संभव नहीं है। फिर भी दही और खांड के समान मिली-जुली अवस्था में भी स्वाद लेते हुए को स्वाद का भेद (अलग-अलग) होना ही प्रकट होता है, उसी प्रकार मोह के प्रति मैं निर्ममत्व हूँ क्योंकि सर्वदा ही अपने में एकत्व को प्राप्त सभी समय (पदार्थ) इसी प्रकार स्थित हैं। इस तरह यह भावक-भाव का भेद हुआ। ।।३६।।

भावार्थ- इस टीका में दो प्रकार के मोह को दिखाया है। भाव मोह और द्रव्य मोह। ये दोनों ही मोह भावक-भाव कहलाते हैं। इस भावक-भाव से आत्मा को दूर करने की प्रक्रिया यहाँ दिखाई है। यह भी उदाहरण देकर समझाया है कि दही और खांड के समान मिली-जुली वस्तु को खाया जाता है तो स्वाद लेने वाले को दोनों का अलग-अलग स्वाद प्रकट होता है यह तभी संभव है जब उसे दोनों के स्वभाव का ज्ञान, श्रद्धान पहले हो। मिश्रण अवस्था में भी लक्षण भेद से भिन्न-भिन्न पदार्थों का जब श्रद्धान, ज्ञान हो जाता है तब एक खट्टे- मीठे स्वाद का अनुभव न आकर ज्ञान दशा में वह जीव दोनों पदार्थों के भिन्न-भिन्न स्वाद का अनुभव करता है। इसी तरह भेद-विज्ञान से आत्मा और भावक कर्म को भिन्न-भिन्न अनुभव करने से ही भावक भाव का पृथक्करण हुआ, ऐसा समझना। ।।३६।।

(ता.टी.)

शुद्धात्मा की अनुभूति का अनुभव किस प्रकार होता है ? ऐसा पूछने पर आचार्य देव अब मोहादिक के परित्याग का प्रकार बतलाते हैं-

टीकार्थ- णत्थि मम कोवि मोहो शुद्ध निश्चयनय से टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाववाला जो मैं, उसको रंजायमान करने के लिए रागादि परभाव कभी समर्थ नहीं है। इसलिए द्रव्य और भावरूप कोई भी मोह मेरा नहीं है। **बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को** किन्तु ज्ञान-दर्शन-

दर्शनोपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मैव। किं बुध्यते ? यतः कारणादहमेकस्ततो मोहं प्रति निर्ममत्वोऽस्मि निर्मोहो भवामि। अथवा बुध्यते जानाति, किं जानाति ? विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोग एवाहमेकः। तं **मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति** तं निर्मोहशुद्धात्मभावना स्वरूपं निर्ममत्वं ब्रुवन्ति वदन्ति जानन्ति वा। के ते ? समयस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य विज्ञायकाः पुरुषा इति। किंच विशेषः यत्पूर्वं स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं व्याख्यातं तस्यैवेदं निर्मोहत्वविशेषव्याख्यानमिति। एवमेव च मोहपद परिवर्त्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभ कर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनेन प्रकारेणान्यान्यप्यसंख्येयलोकमात्रप्रमितानि विभावपरिणामरूपाणि ज्ञातव्यानि ।।४१।।

उपयोगरूप लक्षणवाला होने से मेरा आत्मा तो इस प्रकार जानता है कि मैं तो केवल उपयोग स्वरूप ही हूँ। अतएव मैं तो मोह से दूर हूँ, निर्मम हूँ, इस प्रकार जो अपने आपको केवल विशुद्ध ज्ञान-दर्शन-उपयोगमयी जानता है **तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति** उसे ही शुद्धात्मा के स्वरूप को जानने वाले लोग मोह से निर्ममत्व हुआ (शुद्धात्मस्वरूप हुआ) बतलाते हैं, जानते हैं। सार यह है कि आचार्यदेव ने स्वसंवेदन ज्ञान को ही प्रत्याख्यान बतलाया था उसी का यह निर्मोह रूप से विशेष व्याख्यान है। यहाँ पर जहाँ मोह पद लगाया है उसी के स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये सोलह सूत्र क्रम से लगाकर व्याख्यान करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य भी असंख्यात लोक परिमित जो विभावभाव हैं, उन्हें भी समझना चाहिए ।।४१।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. यह फलदान सामर्थ्य क्या है ?

उत्तर- आत्मा की विभावरूप परिणति में द्रव्य मोहनीय कर्म का उदय होना ही उस कर्म की फलदान सामर्थ्य है।

प्रश्न-२. कर्म की यह फलदान सामर्थ्य कब तक रहती है ?

उत्तर- जब तक आत्मा मोहनीय कर्म के उदय में आने पर तदनुरूप परिणमन करता है तब तक उस कर्म की फल देने की शक्ति रहती है।

प्रश्न-३. इस आत्मा में विभाव रूप परिणति उत्पन्न करने में मोहनीय कर्म का उदय क्या वास्तव में समर्थ है ?

उत्तर- अवश्य समर्थ है, तभी तो मोहनीय कर्म के उदय रूप फलदान की समर्थता को दर्शाया है। मोहनीय कर्म का उदय आत्मा के वैभाविक परिणमन में समर्थ निमित्त कारण है, असमर्थ निमित्त कारण नहीं है। इस निमित्त कारण की समर्थता से ही मिथ्यात्व कर्म का उदय आने पर प्रथम गुणस्थान में होने वाला मिथ्यात्व भाव ही समर्थ रहता है। सम्यग्मिथ्यात्व का उदय होने पर

नियम से तृतीय गुणस्थान में मिश्र परिणाम होता है। सम्यक्त्व प्रकृति का उदय आने पर ही क्षायोपशमिक सम्यक्त्व का परिणाम चतुर्थ आदि गुणस्थानों में बना रहता है। जिस तरह अज्ञान दशा में मिथ्यात्व के साथ कर्म में फलदान की सामर्थ्य दिखाई देती है, उसी तरह सम्यक्त्व के साथ ज्ञान दशा में भी सम्यक्त्व प्रकृति आदि कर्म से फलदान सामर्थ्य देखी जाती है। इसलिए केवल मिथ्यात्व दशा में ही आत्मा कर्म के निमित्त से परिणमन करता है। यह एकान्त अवधारणा गलत सिद्ध होती है।

प्रश्न-४. यहाँ भावक भाव किसे समझा जाए ?

उत्तर- द्रव्य मोह और भाव मोह दोनों ही फल देने में समर्थ होने से दोनों को ही कथंचित् भावक कहा जाता है। जब द्रव्य रूप मोहनीय कर्म आत्मा की विभाव रूप परिणति में सहकारी कारण बनता है तो वह भावक कहलाता है और जब आत्मा में कर्म रूप परिणमन के योग्य द्रव्य कर्म के बंधने में सहयोगी आत्मा का भाव बनता है तब वह भाव कर्म भावक कहलाता है।

प्रश्न-५. इस भावक भाव का विवेक किस प्रकार होवे ?

उत्तर- यह दोनों ही प्रकार का द्रव्य मोह और भाव मोह शुद्ध आत्मा का कदापि नहीं हो सकता है। इस निश्चय नय की दृष्टि से आत्मा को अनन्त सुखादि वाला जानना और आत्मा में एकत्व को प्राप्त हो जाना ही भावक भाव का विवेक यानी पृथक् हो जाना है।

प्रश्न-६. जब सभी पदार्थ एक क्षेत्रावगाह रूप से स्थित हैं और उनमें एकत्व को दूर करना असंभव है तब जीव द्रव्य को कर्म से पृथक् कैसे किया जावे ?

उत्तर- इसी तथ्य को समझाने के लिए आचार्य अमृतचन्द्र जी ने कहा है कि जैसे दही और चीनी की मिश्र अवस्था होने पर भी उनके स्वाद में भिन्नता होती है। स्वाद की भिन्नता से दोनों में भेद जाना जाता है। उसी प्रकार जीव और कर्म की परस्पर संश्लिष्ट अवस्था होने पर भी उनके स्वभाव का अनुभव भिन्न-भिन्न आता है। मोह का स्वभाव ज्ञान रूप स्वभाव से भिन्न होने से मैं मोह को छोडता हूँ , उस मोह के प्रति निर्मम होता हूँ और आत्मा के एकत्व स्वभाव को प्राप्त होता हूँ। यह विचार कर आत्मस्थ होना ही मोह कर्म से आत्मा को पृथक् करना है।

सुखी जीवन का मूल कारण सही निर्णय लेना है।

(प.अ.त.)

अथ स्वरसं रसामीति रचयति-

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि।।३०।।

एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकाय-श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि।

सं. टी.- इह-जगति, अहं-आत्मा, स्वयं-आत्मना, स्वं-आत्मानं चेतये-अनुभवामि, उपलभे-जानामीत्यर्थः। किंभूतमात्मानं? सर्वतः-सामस्त्येन, स्वेत्यादिः-स्वस्य-आत्मनः, रसः-रुचिः-अनुभवनमिति यावत्, तेन निर्भरो भावः स्वभावो यस्य तं, मम-आत्मनः कश्चन-कोऽपि, शरीरादौ मोहः-ममत्वं नास्ति नास्ति-पुनः पुनर्न विद्यते, अस्मि-भवाम्यहं, कीदृक्षः? शुद्धेत्यादिः-शुद्धा निर्मला कर्मकलंकराहित्यात् सा चासौ चित्-चेतना तस्याः घनो-निविडः स चासौ, महोदधिः-महासमुद्रश्च, घनरसानामिव निःशेषगुणानामाधारत्वात्।।३०।।

उत्थानिका - अब स्वरस का अनुभव करता हूँ, यह कहते हैं-

अन्वयार्थ - (अहम्) मैं (सर्वतः स्वरसनिर्भरभावम्) सर्वांग में आत्मरस जो चैतन्यरस उससे भरे हुए (इह एकम् स्वम्) इस अपने एक स्वरूप को (स्वयं चेतये) स्वयं संचेतन कर रहा हूँ (मोहः) मोहजन्यभाव (मम कश्चन नास्ति नास्ति) मेरे कोई नहीं हैं। (अस्मि) मैं तो (शुद्धचिद्घनमहोनिधिः) शुद्ध चैतन्य तेज की निधि हूँ। अथवा शुद्ध चैतन्य रस का महोदधि, समुद्र हूँ। ।।३०।।

अर्थ- मैं अपने आप पर - निरपेक्षरूप से इस संसार में सब तरफ से पूर्ण रूप से चैतन्य रूप निज रस से भरपूर स्वभाव वाले एक अद्वितीय आत्मा का चिन्तन-अनुभवन करता हूँ। मोह मेरा कोई नहीं है, नहीं है। मैं तो शुद्ध चैतन्य को समूहरूप तेज का पुंज हूँ। ।।३०।।

आ.व्या.- इसी प्रकार मोह पद के परिवर्तन से राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन, इन सोलह पदों के भिन्न-भिन्न सोलह गाथा सूत्र व्याख्यान करना चाहिए। और इसी दिशा से अन्य का भी विचार कर लेना चाहिए।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. अब किस भाव से इस कलश की रचना हुई है?

उत्तर - अब मैं अपने आत्मरस का रसपान करता हूँ , अनुभव करता हूँ , इस भाव को इस कलश में दर्शाया है।

प्रश्न-२. आत्म रस को पान करने की विधि क्या है?

उत्तर- मैं आत्मा स्वयं आत्मा से ही आत्मा का अनुभव करता हूँ। उस आत्मा को जानता हूँ या उस आत्मा को उपलब्ध होता हूँ। इस तरह सब ओर से निज आत्मा की रुचि या अनुभवन ही आत्मा का रसपान है।

प्रश्न-३. मेरा आत्मा किस प्रकार का है?

उत्तर- शुद्धचिद्धनमहोनिधिरस्मि- मैं तो शुद्ध चैतन्य घन का तेजोपुंज हूँ। कर्म कलंक से रहित होने से मेरा आत्मा शुद्ध निर्मल है। वह शुद्ध ही मेरी चेतना है। उस चेतना से घनीभूत मैं तेजोपुंज हूँ। यहाँ परमाध्यात्म तरंगिणी टीका में महोनिधि की जगह महोदधि पाठ लिया है। जिसका अर्थ है कि घनीभूत समुद्र की तरह आत्मा में घन ज्ञान रस है और यह आत्मा महासमुद्र की तरह समस्त गुणों का आधार है।

प्रश्न-४. यहाँ 'सर्वत:' अर्थात् सब ओर से आत्मा को स्वरस से भरा क्यों कहा है?

उत्तर- आत्मा का स्वभावभूत ज्ञान आत्मा में अखण्डरूप से व्यापता है। ऐसा नहीं कि कुछ अंशों में उस स्वभावभूत ज्ञानरस का अनुभव हो और कुछ आत्मप्रदेशों में उसका अभाव हो।

प्रश्न-५. यह मोह मेरा नहीं है, मोह मेरा नहीं है, ऐसा दो बार क्यों कहा है ?

उत्तर- अध्यात्म प्रधान ग्रन्थों में बार-बार भावना करने से परकीय भाव से मोह टूटता है। बार-बार कहना दृढता के लिए है। अथवा द्रव्य मोह और भाव मोह के भेद से वह मोह दो प्रकार का है। दोनों प्रकार के मोह की ओर दृष्टि ले जाओ और भावना करो कि यह दोनों प्रकार का मोह मेरी आत्मा का स्वभाव नहीं है।

अथ ज्ञेयभावविवेकप्रकारमाह-

णत्थि मम धम्म आदी बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को।
तं धम्मणिम्ममत्तं, समयस्स वियाणया विंति ।।३७।। ता.टी.४२

आ.टी.- अमूनि हि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि स्वरसविजृम्भितानिवारित-प्रसरविश्वघस्मरप्रचंडचिन्मात्रशक्तिकवलिततयात्यंतमंतर्मग्नानीवात्मनि प्रकाशमानानि टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावत्वेन तत्त्वतोऽन्तस्तत्त्वस्य तदतिरिक्तस्वभावतया तत्त्वतो बहिस्तत्त्वरूपतां परित्यक्तुमशक्यत्वान्न नाम मम सन्ति। किञ्चैतत्स्वयमेव च नित्यमेवोपयुक्तस्तत्त्वत एवैकमनाकुलमात्मानं

अन्वयार्थ - (बुज्झदि) यह जाने कि (धम्म आदी) ये धर्म आदि द्रव्य (मम णत्थि) मेरे कुछ भी नहीं लगते, (इक्को उवओग एव) एक उपयोग ही (अहं) मैं हूँ (तं) ऐसा जानने को (समयस्स) सिद्धान्त अथवा स्वपर के स्वरूपरूप समय के (वियाणया) जानने वाले (धम्मणिम्ममत्तं) धर्म द्रव्य के प्रति निर्ममत्व (विंति) कहते हैं-जानते हैं।

अर्थ- मैं तो केवल एक उपयोग स्वभाव हूँ । धर्मादि (अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और इतर जीवद्रव्य) द्रव्य मेरे कुछ भी नहीं हैं। इस प्रकार जो जानता है, उसे सिद्धान्त के जानने वाले पुरुष धर्मादि परद्रव्यों से निर्ममत्व हुआ ऐसा कहते हैं। ।।३७।।

आ.व्या.- जो ये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव द्रव्य हैं वे आत्मा के अपने रस (ज्ञान अनुभव) से बढे.हुए अनिवार्य फैलाव से विश्व को निगल जाने वाले प्रचण्ड तेज वाली चैतन्य मात्र शक्ति से कवलितपने (अपने में समाये जाने के कारण) से भीतर आत्मा में प्रकाशमान होते हैं। टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावपने से तत्त्वत: (परमार्थ से) जो अन्तरंग (आत्म) तत्त्व है उस तत्त्व से भिन्न स्वभावपना होने के कारण वे द्रव्य तत्त्वत: बाह्य तत्त्वरूपता को छोड़ने में असमर्थ होने से मेरे नहीं हैं।

दूसरी बात यह है कि यह आत्मा स्वयं ही उपयुक्त हुआ तत्त्वत: ही (निश्चयनय से ही) एक, अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ भगवान् आत्मा ही अनुभूत किया जाता है।

चूंकि निश्चय से 'मैं एक हूँ' इसलिए संवेद्य-संवेदक भाव मात्र से उत्पन्न हुए आत्मा और अन्य द्रव्य के परस्पर में मिश्रण होने पर भी स्वभाव के भेद से भिन्न अनुभवपना होने से मैं धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव द्रव्यों के प्रति ममताहीन होता हूँ।

धर्मादि द्रव्य मम ना उपयोग मेरा, जो जानता स्वयं को नित मैं अकेला।
वो धर्म आदि सब ज्ञेयन का सुत्यागी, ऐसा कहें समयविज्ञ सुधी विरागी ।।४२।।

कलयन् भगवानात्मैवावबुध्यते यत्किलाहं खल्वेकः ततः संवेद्यसंवेदकभावमात्रोपजातेतरेतर- संवलनेऽपि परिस्फुट-स्वदमानस्वभावभेदतया धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवांतराणि प्रति निर्ममत्वोऽस्मि, सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात्। इतीत्थं ज्ञेयभावविवेको भूतः ।।३७।।

अथ धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्था अपि मम स्वरूपं न भवन्तीति प्रतिपादयति-

ता.टी. - णत्थि मम धम्म आदी न सन्ति न विद्यन्ते धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्था ममेति। **बुज्झदि** बुध्यते ज्ञानी। तर्हि किमहम्? **उवओग एव अहमिक्को** विशुद्ध ज्ञानदर्शनोपयोग एवाहम्। अथवा ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादित्यभेदेनोपयोग एवात्मा स जानाति। केन रूपेण ? यतोऽहं टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभाव एकः ततो दधिखण्ड शिखरिणीवत् व्यवहारेणैकत्वेऽपि शुद्धनिश्चयनयेन मम स्वरूपं न भवन्तीति परद्रव्यं प्रति निर्ममत्वोऽस्मि। **तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति** तं शुद्धात्मभावनास्वरूपं परद्रव्यनिर्ममत्वं समयस्य शुद्धात्मनो विज्ञायकाः पुरुषाः ब्रुवन्ति कथयन्तीति। किंच इदमपि परद्रव्यनिर्ममत्वं यत्पूर्वं भणितं स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं तस्यैव विशेषव्याख्यानं ज्ञातव्यम् ।।३७।। इति गाथाद्वयं गतम्। एवं गाथाचतुष्टयसमुदायेन सप्तमस्थलं समाप्तम्।

सर्वदा ही अपने स्वरूप से एकत्व को प्राप्त होने से समय (सभी पदार्थों) का इस प्रकार ही स्थितपना है या समय इस प्रकार ही सिद्ध होता है। इस प्रकार ज्ञेय भाव का विवेक हुआ।

विशेषार्थ- बाह्य द्रव्य चैतन्य मात्र स्वभाव में ज्ञेय रूप से ही आते हैं। निश्चय से अपना आत्मतत्त्व ही अपना है और अन्य ज्ञेय पदार्थ स्वभावतः अन्य ही हैं, ऐसा अनुभूत होने पर ज्ञेय भाव से ज्ञायक भाव भिन्न हो जाता है। ।।३७।।

(ता.टी.)

आगे कहते हैं कि धर्मास्तिकाय आदि ज्ञेय पदार्थ भी मेरी आत्मा का स्वरूप नहीं हैं -

टीकार्थ- णत्थि मम धम्म आदी धर्मास्तिकाय आदि जो समस्त ज्ञेय पदार्थ हैं वे सब मेरे नहीं हैं **बुज्झदि** ऐसा ज्ञानी जीव जानता है। वह जानता है कि **उवओग एव अहमिक्को** मैं तो केवल विशुद्धज्ञान-दर्शन-उपयोगमयी हूँ अथवा वह जानता है कि ज्ञान-दर्शन-उपयोगमय होने से मैं तो उपयोग के साथ अभिन्न हूँ, उपयोगमयी हूँ क्योंकि मैं तो एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभाव हूँ। इसलिए व्यवहारनय से परद्रव्य के साथ दधि-खांड आदि शिखरिणी के समान भले ही मेरे साथ एकता हो, फिर भी शुद्ध निश्चयनय से यह सब मेरा स्वरूप नहीं है, इसलिए मैं तो इन सब परद्रव्यों से निर्मम हूँ। **तं धम्म णिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति** ऐसे शुद्धात्म तत्त्व या शुद्धात्म स्वरूप के अनुभव करने वाले को सिद्धान्त के जानकार पुरुष परद्रव्य से निर्मम हुआ कहते हैं। यहाँ परद्रव्य

से निर्ममपना बताया गया है, यह भी उसी का विशेष व्याख्यान है, जो पूर्व में कह आए हैं कि स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ऐसा समझना चाहिए।।३७।। इस प्रकार दो गाथायें कही गईं। इस प्रकार समुदाय रूप से चार गाथाओं द्वारा सातवाँ स्थल पूर्ण हुआ।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस गाथा का अभिधेय क्या है ?

उत्तर- जो पदार्थ ज्ञेय रूप से आत्मा का विषय बनते हैं, उन ज्ञेयों को भी आत्मा से अलग करने की प्रक्रिया कही है।

प्रश्न-२. आ.टी. में चैतन्य मात्र शक्ति में धर्मादि द्रव्य व्याप्त हुए कहे हैं सो यह चैतन्य शक्ति यहाँ कौन सी आत्मा की है ?

उत्तर- जिसमें विश्व के सम्पूर्ण पदार्थ व्यापते हैं, ऐसी चैतन्य शक्ति अनन्त अविनश्वर है। यह शक्ति अनन्तवीर्य से युक्त है। अपने अनन्त वीर्य के साथ इस ज्ञानरस से बढे.हुए चैतन्य आत्मा में धर्मादि सभी द्रव्य डूब गये हैं। ऐसे अरिहन्त परमात्मा की चैतन्य शक्ति का यहाँ वर्णन है।

प्रश्न-३. यह चैतन्य शक्ति कैसे आविर्भूत होती है ?

उत्तर- अपने शुद्ध स्वभाव के अनुभव से निर्विकल्प समाधि में आत्मानुभूति से शुद्ध चैतन्य की शक्ति आविर्भूत होती है। इसी अनुभूति से कर्मों की निर्जरा और उनका क्षय होता है। इसी से आत्म सामर्थ्य प्रकट होती है।

प्रश्न-४. यह आत्मा धर्म आदि द्रव्यों के प्रति निर्मम कब और कैसे है ?

उत्तर- उस अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मा की चैतन्य शक्ति में जब ये धर्म आदि द्रव्य ज्ञेय रूप से परिलक्षित होते हैं उस समय आत्मा का धर्मादि विषयों में ममत्व नहीं होता है। आत्मा उन द्रव्यों का उपादान कारण नहीं है और वे द्रव्य भी उसका उपादेय नहीं होते हैं। भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले होने से शुद्ध आत्मा में ही ज्ञेय-ज्ञायक भाव ठहरता है। उसी अवस्था में आत्मा परपदार्थों को अपने से भिन्न जानता है और उन्हें अपना नहीं समझता है। अन्योन्य भिन्नता सिद्ध होने से आत्मा का सभी परद्रव्यों में निर्ममत्व भाव घटित होता है।

प्रश्न-५. यह निर्ममपना किस भाव से उत्पन्न होता है ?

उत्तर- संवेद्य-संवेदक भाव से ।

प्रश्न-६. संवेद्य-संवेदक भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर- संवेद्य यानी ज्ञेय- जानने योग्य। और संवेदक यानी ज्ञायक - जानने वाला। इस संवेद्य-संवेदक भाव से आत्मा का स्वाद अनुभव में आता है। ज्ञेय पदार्थों से परस्पर संवलन (मिलना) होने पर भी उस आत्मानुभव का स्वाद आने पर अन्य ज्ञेय पदार्थों से स्वभाव से भिन्नता रहने पर भी उनको आत्मा जानता है, यही संवेद्य-संवेदक भाव है।

(प.अ.त.)

अथात्मपरद्रव्ययोर्विवेकं तंतन्यते-

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम्।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः।।३१।।

सं. टी.- अयं-उपयोगः-ज्ञानदर्शनोपयोगः, स्वयं-स्वरूपेण आत्मा-चिद्रूप एव प्रवृत्तः-प्रवृत्तिं प्राप्तः, क्व सति? इति पूर्वोक्तप्रकारेण, सर्वैः-समस्तैः, अन्यभावैः-धर्माधर्मादिलक्षणैः परपदार्थैः, सह-साकं, विवेके-पृथग्भावे जाते सति, किंभूत आत्मा? बिभ्रद्-दधद्, कं? एकं-अद्वितीयं, आत्मानं-स्वस्वरूपं, भूयः किंभूतः? कृतपरिणतिः-कृता परिणतिः-परिणमनकृतपरिणतिः-कृतापरिणतिः-परिणमनं एकता यस्य सः, कैः सह? दर्शनज्ञानवृत्तैः तच्छ्रद्धानबोधचारित्रैः, आत्मनस्तन्मयत्वात्, कीदृक्षैस्तैः? प्रकटितपरमार्थैः-परमः उत्कृष्टः, सर्वप्रकाशकत्वात् स चासौ अर्थश्च परमात्मलक्षणोऽर्थ इति यावत्, प्रकटितः-प्रकाशं नीतः परमार्थो येन स तथोक्तः, भूयः किंभूतः? रामः-रमणीयः, मनोज्ञः, जगच्छ्रेष्ठत्वात्।।३१।।

उत्थानिका - अब आत्मा और पर द्रव्य के भेद को दिखाते हैं-

अन्वयार्थ- (इति) इस प्रकार (सर्वैः अन्यभावैः सह) सम्पूर्ण अन्य द्रव्यों के भावों के साथ (विवेके सति) भिन्नता का बोध हो जाने पर (अयम् उपयोगः) यह अपना उपयोग (स्वयम् एकम् आत्मानम् बिभ्रत्) स्वयं अपने एक स्वरूप को ही धारण करता हुआ (प्रकटितपरमार्थैः) प्रकट किया है परमार्थ जिन्होंने ऐसे (दर्शनज्ञानवृत्तैः) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप (कृतपरिणतिः) हुई है परिणति जिसकी, ऐसा उपयोग (आत्माराम एव प्रवृत्तः) अपनी आत्मा में ही प्रवृत्त होता है। फिर अन्यत्र प्रवृत्त नहीं होता। ।।३१।।

अर्थ- इस प्रकार आत्मा से भिन्न सभी भावों से (द्रव्यभाव कर्मों से और ज्ञेयरूप परपदार्थों से) भेद हो जाने पर शुद्धज्ञान स्वभाव को स्वयं धारण करने वाली उपयोगात्मक यह आत्मा शुद्ध आत्म स्वरूप को प्रकट करने वाले दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनके रूप से जिसने अपने को परिणत किया है, ऐसी होती हुई आत्मा में, आत्मस्वरूप में आराम करने के लिए अर्थात् अपने स्वरूप में रत होने के लिए प्रवृत्त होती है। ।।३१।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस कलश में क्या भाव दर्शाया है ?

उत्तर- इस कलश में भावक भाव तथा ज्ञेय भावों से पृथक् होने पर आत्मा की परिणति क्या होती है, यह दर्शाया है।

प्रश्न-२. आत्मा अन्य सभी द्रव्यों के भावों के साथ जब भिन्नता को प्राप्त होता है, तब वह किस स्वरूप से परिणमन करता है ?

उत्तर- यह आत्मा अपने उपयोग में अपनी एक आत्मा को धारण करता हुआ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप परिणमन करता हुआ अपने आत्मा रूपी उद्यान में ही क्रीडा करता है।

प्रश्न-३. परमार्थ को प्रकट करने का साधन क्या है ?

उत्तर- सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के द्वारा ही परम अर्थ रूप परमार्थ (परमात्मा) प्रकट होता है।

प्रश्न-४. कलश में आए 'आत्माराम एव' का क्या अर्थ है ?

उत्तर- आत्मा- आराम ऐसा अर्थ करने पर आत्मा के बगीचे में प्रवृत्त रहता है, ऐसा अर्थ भी है। प.अ.त. की टीका के अनुसार आत्मा राम एव यह पृथक् अर्थ किया है, जिसका अर्थ आत्मा ही एक रमणीय, मनोज्ञ है। निश्चय नय की विवक्षा में यह अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

प्रश्न-५. यह आत्मा राम कब बन जाता है ?

उत्तर- जब आत्मा रत्नत्रय से शुद्ध रूप से परिणमित हो कर शुद्धोपयोग में ही लीन हो जाता है तब आत्मा मनोज्ञ होकर अनुभव में आता है।

प्रश्न-६. यह उपयोग शुद्ध रूप से कब परिणत होता है ?

उत्तर- मोहनीय कर्म का अभाव होने पर ही उपयोग शुद्ध रूप से परिणत होता है।

प्रश्न-७. मोहनीय कर्म का अभाव होना आवश्यक क्यों है ?

उत्तर- मोहनीय कर्म का अभाव हुए बिना भेदज्ञान नहीं होता है। जब तक भेदज्ञान के विरोधी मोहनीय कर्म का उदय है तब तक आत्मा शुभाशुभ रूप से परिणमन करता रहता है।

प्रश्न-८. आत्मा का परभाव से विवेक होने पर उपयोग का आत्मा में लीन होना कितने समय बाद बनता है?

उत्तर- आत्मा का परभाव से विवेक होने पर ही आत्मा का अपने उपयोग में तुरन्त लीन होना बनता है। इसमें समय भेद नहीं है। दोनों परिणतियाँ एक साथ होती हैं।

ते धण्णा ताण णमो दंसणवरणाणचरण सुद्धाणं।
भावसहियाण णिच्चं तिविहेण पणट्ठमायाणं।। १२५।। भा.पा.

अर्थ :- जो मुनि सम्यग्दर्शन, श्रेष्ठज्ञान और निर्दोष चारित्र इनसे शुद्ध हैं, अतः भावसहित हैं और प्रणष्ट हो गई है माया (कपट परिणाम) जिनके ऐसे वे धन्य हैं। उनके लिए हमारा मन-वचन-काय से सदा नमस्कार हो।

अथैवं दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतस्यास्यात्मनः कीदृक् स्वरूपसंचेतनं भवतीत्यावेदयन्नुपसंहरति-

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि, अण्णं परमाणुमित्तं पि ।।३८।। ता.टी. ४३

आ.टी.- यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततयात्यंतमप्रतिबुद्धः सन् निर्विण्णेन गुरुणानवरतं प्रतिबोध्यमानः कथंचनापि प्रतिबुध्य निजकरतलविन्यस्तविस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमेश्वरमात्मानं ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्य च सम्यगेकात्मारामो भूतः स खल्वहमात्मात्मप्रत्यक्षं चिन्मात्रं ज्योतिः, समस्तक्रमाक्रमप्रवर्त्तमानव्यावहारिक भावैश्चिन्मात्राकारेणाभिद्यमानत्वादेकः नारकादिजीवविशेषाजीव-पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणव्यावहारिक नवतत्त्वेभ्यष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावेनात्यंतविविक्तत्वाच्छुद्धः चिन्मात्रतया सामान्यविशेषोपयोगात्मकतानतिक्रमणाद्दर्शनज्ञानमयः, स्पर्शरसगंधवर्णनिमित्तसंवेदनपरिणतत्वेऽपि

उत्थानिका - इस प्रकार दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप परिणत आत्मा का स्वरूप संचेतन किस प्रकार का होता है, इस प्रकार कहते हुए उपसंहार करते हैं-

अन्वयार्थ - दर्शनज्ञानचारित्ररूप परिणत आत्मा यह जानता है कि - (खलु) निश्चय से (अहं) मैं (इक्को) एक हूँ, (सुद्धो) शुद्ध हूँ, (दंसणणाणमइओ) दर्शनज्ञानमय हूँ, (सदारूवी) सदा अरूपी हूँ, (किंचिवि अण्णं) किंचित्मात्र भी अन्य परद्रव्य (परमाणुमित्तं पि) परमाणु मात्र भी (मज्झ ण वि अत्थि) मेरा नहीं है, यह निश्चय है।

अर्थ- ज्ञानी जीव का ऐसा विचार होता है कि मैं एकाकी हूँ , शुद्ध हूँ , अर्थात् पर-द्रव्य के संबंध से सर्वथा रहित हूँ , दर्शन-ज्ञानमयी हूँ और सदा अरूपी हूँ। अतः इन सब बाह्य पर-द्रव्यों में मेरा परमाणु मात्र भी नहीं है। ।।४३।।

आ.व्या.- जो यह जीव अनादिकाल से उन्मत्त, पागल हो जाने से अत्यन्त अज्ञानी हुआ है वह विरक्त रहने वाले गुरुदेव के द्वारा निरन्तर समझाये जाते हुए भी महान् कष्ट से समझता है तब 'जिस प्रकार कोई पुरुष सोने को अपने हाथ में रखकर उसके रखने के स्थान को भूलकर बाद में उस सुवर्ण को अपने हाथ में देखता है, इस न्याय से' उसी प्रकार परमेश्वर आत्मा को जानकर, वह आत्मा इसी प्रकार की है, इस प्रकार श्रद्धान कर और उसकी प्राप्ति के अनुरूप चारित्र का पालन कर अपनी आत्मा में रममाण हुआ वह मैं स्वप्रत्यक्ष का विषय बना हुआ चैतन्य मात्र स्वरूप वाला प्रकाश हूँ। समस्त क्रम और अक्रम से होने वाले व्यावहारिक भावों के द्वारा मैं चैतन्यमात्ररूप

हूँ शुद्ध पूर्ण दृग बोधमयी सुधा से, मैं एक हूँ पृथक् हूँ सबसे सदा से।
मेरा न और कुछ है नित मैं अरूपी, मेरा नहीं जडमयी यह देह रूपी ।।४३।।

स्पर्शादिरूपेण स्वयमपरिणमनात्परमार्थतः सदैवारूपी, इति प्रत्यगयं स्वरूपं संचेतयमानः प्रतपामि । एवं प्रतपतश्च मम बहिर्विचित्रस्वरूपसंपदा विश्वे परिस्फुरत्यपि न किञ्चनाप्यन्यत्परमाणु-मात्रमप्यात्मीयत्वेन प्रतिभाति यद्भावकत्वेन ज्ञेयत्वेन चैकीभूय भूयो मोहमुद्भावयति, स्वरसत एवापुनःप्रादुर्भावाय समूलं मोहमुन्मूल्य महतो ज्ञानोद्योतस्य प्रस्फुरितत्वात् ।।३८।।

(ता.टी.)

अथ शुद्धात्मैवोपादेय इति श्रद्धानं सम्यक्त्वं तस्मिन्नेव शुद्धात्मनि स्वसंवेदनं सम्यग्ज्ञानं तत्रैव निजात्मनि वीतरागस्वसंवेदननिश्चलरूपं चारित्रमिति निश्चयरत्नत्रयपरिणतजीवस्य कीदृशं स्वरूपं भवतीत्यावेदयन्सन् जीवाधिकारमुपसंहरति-

ता.टी. - अहं अनादिदेहात्मैक्यभ्रान्त्याऽज्ञानेन पूर्वमप्रतिबुद्धोऽपि करतलविन्यस्तसुप्तविस्मृतपश्चान्निद्राविनाशस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमगुरुप्रसादेन प्रतिबुद्धो

आकार से उसके खण्ड न होने से एकरूप (अखण्डरूप) हूँ। नारकादि रूप जीवों के विशेष और अजीव पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष इन स्वरूप व्यवहारनयाश्रित नव तत्त्वों से टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव (पारिणामिक) रूप भाव के द्वारा अत्यन्त भिन्न शुद्ध हूँ। चैतन्यमात्र स्वरूप होने से सामान्योपयोगात्मकत्व और विशेषोपयोगात्मकत्व का उल्लंघन न करने से दर्शनमय और ज्ञानमय हूँ। स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण से युक्त पुद्गलद्रव्य के निमित्त से ज्ञान रूप से परिणमन नहीं करने से स्पर्शादि गुण युक्त पुद्गल द्रव्य से स्वयं परिणत न होने के कारण परमार्थ रूप से निश्चयनय की दृष्टि से मैं सदा अरूपी, अमूर्त हूँ। इस प्रकार यह अन्तरंग में अपने स्वरूप का अनुभव करने वाला मैं आत्मा प्रकट हो रहा हूँ। इस प्रकार प्रकट होने वाले मुझे आत्मा से बाहर अनेक प्रकार के स्वभावों की सम्पत्ति से सहित विश्वस्थ सम्पूर्ण पदार्थ में प्रकट होने पर भी किसी भी परमाणु के बराबर भी आत्मस्वरूप से अनुभव में नहीं आता है। जिससे कि भावक-भाव के रूप से और ज्ञेय के रूप से एकरूप होकर पुनः मोह उत्पन्न करा सके। अपने स्वरूप की अनुभूति से ही फिर उत्पन्न न हो इस प्रकार मोह को (द्रव्यमोह को और भावमोह को) जडमूल से उखाडक़र अनन्तज्ञानरूप प्रकाश का प्रस्फुरण, प्रकटन हुआ है। ।।३८।।

(ता.टी.)

अब शुद्धात्मा ही उपादेय है इस प्रकार का श्रद्धान तो सम्यक्त्व, उसी शुद्धात्मा में स्वसंवेदनरूप ज्ञान वही सम्यग्ज्ञान और उसी आत्मा में वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान को स्थिर करके रखना सो सम्यग्चारित्र है। इस प्रकार निश्चय रत्नत्रय में परिणत जीव का कैसा स्वरूप है, यह बताते हुए आचार्यदेव जीवाधिकार का उपसंहार करते हैं -

टीकार्थ- अहं अनादिकाल से देह और आत्मा की एक मान्यता रूप भ्रमात्मक अज्ञानभाव से जो पहले अप्रतिबुद्ध था (सही बात को भी नहीं समझने वाला था) किन्तु जिस प्रकार हाथ में

भूत्वा शुद्धात्मनि रतो यः सोऽहं वीतरागश्चिन्मात्रं ज्योतिः। पुनरपि कथम्भूतः? **इक्को** यद्यपि व्यवहारेण नरनारकादिरूपेणानेकस्तथापि शुद्धनिश्चयेन टंकोत्कीर्ण- ज्ञायकैकस्वभावत्वादेकः। **खलु स्फुटं।** पुनरपि किं रूपः? **सुद्धो** व्यावहारिक नव पदार्थेभ्यः शुद्धनिश्चयनयेन भिन्नः, अथवा रागादिभावेभ्यो भिन्नोऽहमिति शुद्धः। पुनरपि किं विशिष्टः? **दंसणणाणमइओ** केवलदर्शनज्ञानमयः। पुनरपि किं रूपः? **सदारूवी** निश्चयनयेन रूपरसगन्धस्पर्शाभावात्सदाप्यमूर्तः। **णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि** इत्थं भूतस्य सतः नैवास्ति ममान्यत्परमाणुमात्रमपि परद्रव्यं किमपि। यदेकत्वेन रंजकत्वेन ज्ञेयत्वेन वा पुनरपि मम मोहमुत्पादयति। कस्मात्? परमविशुद्धज्ञानपरिणतत्वात् ।।३८।।

रखे हुए सोने को भूल जाता है, या निद्रा में मग्न होकर सो जाता है, फिर निद्रा के दूर हटने पर उस स्वर्ण का स्मरण आ जाने से प्रसन्न हो जाता है, वैसे ही मैं भी परम-गुरु के प्रसाद से प्रतिबुद्ध होकर अब शुद्धात्मा में तल्लीन हो रहा हूँ एवं वीतराग चेतनामात्र ज्योति स्वरूप हूँ। **इक्को** यद्यपि व्यवहारनय से नर नारकादि रूप पर्यायों से अनेक रूप हूँ **खलु** ऐसा स्पष्ट है। **सुद्धो** शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा व्यावहारिक जीवादि नव पदार्थों से मैं भिन्न हूँ अथवा रागादि विभाव भावों से भिन्न हूँ। **दंसणणाणमइओ** केवल दर्शन-ज्ञानमय हूँ, **सदारूवी** निश्चयनय से रूप, रस, गंध और स्पर्श का अभाव होने से मैं सदा ही अमूर्तिक हूँ। **ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि** इस प्रकार इन पर द्रव्यों में से मेरे पास एक परमाणु मात्र भी नहीं है, जो कि एकत्व रूप से रंजायमान करने वाला होकर या ज्ञेयरूप होकर मेरी आत्मा में मोह उत्पन्न कर सके। क्योंकि मैं तो परम-विशुद्ध ज्ञान रूप में परिणत हो रहा हूँ अर्थात् परम समाधि में तत्पर होकर अपने आप में लीन हो रहा हूँ ।।४३।।

इस प्रकार श्री **जयसेनाचार्य** के द्वारा बनाई हुई शुद्धात्मा की अनुभूति है लक्षण जिसका ऐसी तात्पर्य नाम की समयसार की व्याख्या में सात स्थलों से 'जो पस्सदि अप्पाणं' इत्यादि २७ गाथाएँ व उसके पीछे एक उपसंहार गाथा इस प्रकार २८ गाथाओं से प्रथम जीवाधिकार पूर्ण हुआ। इस प्रकार प्रथम रंग पूर्ण हुआ।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. यह आत्मा किस कारण से उन्मत्त हो गया है ?

उत्तर- जैसे किसी मान्त्रिक के द्वारा मोहन मंत्र का प्रयोग किए जाने पर उस आत्मा को मति भ्रम होता है उसी तरह अनादिकाल से आत्मा से लगे हुए मोहनीय कर्म के कारण उस मंत्रमुग्ध पुरुष के समान यह संसारी आत्मा उन्मत्त हो गया अर्थात् अज्ञानरूप से परिणत हो गया है।

प्रश्न-२. आत्मा अप्रतिबुद्ध कब होता है और कब नहीं ?

इति समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां **तात्पर्यवृत्तौ** स्थलसप्तकेन **जो पस्सदि अप्पाणमित्यादि** सप्तविंशतिगाथाः। तदनन्तरमुपसंहार-सूत्रमेकमिति समुदायेनाष्टाविंशतिगाथाभिर्जीवाधिकारः समाप्तः।

।। इति प्रथमरङ्गः।।

उत्तर- जब आत्मा स्व-पर भेद विज्ञान को करके, परमेश्वर आत्मा का श्रद्धान करके और उसी आत्मा में अनुचरण करता है, तब वह आत्मा प्रतिबुद्ध कहलाता है और उसके बिना वह अप्रतिबुद्ध ही रहता है।

प्रश्न-३. आत्मा की इस अप्रतिबुद्ध दशा में क्या ज्ञान नहीं रहता है ?

उत्तर- 'मैं आत्मा हूँ' इस ज्ञान को वह अप्रतिबुद्ध नहीं रखता है। प्रतिबुद्ध होने पर ही यह अनुभव होता है कि मैं आत्मा हूँ।

प्रश्न-४. जब मैं आत्मा हूँ ऐसा अनुभव होता है तो उस समय और क्या अनुभव में आता है ?

उत्तर- उस समय आत्मा एक है, यह अनुभव में आता है। पर्याय की प्रधानता से व्यवहार नय की दृष्टि से यद्यपि आत्मा की या उसके ज्ञान गुण की अनेकता बनती है तो भी चैतन्य सामान्य की एकता अखण्डता बनी रहने से आत्मा का एकत्व सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न-५. और कैसा आत्मा अनुभव में आता है ?

उत्तर- आत्मा शुद्ध है, ऐसा अनुभव में आता है।

प्रश्न-६. आत्मा शुद्ध कैसे है ?

उत्तर- व्यवहार नय से जो जीव-अजीव आदि नव तत्त्व हैं, मैं इनसे अत्यन्त भिन्न हूँ अथवा रागादि भावों से मैं भिन्न हूँ इसलिए शुद्ध हूँ।

प्रश्न-७. इन नौ तत्त्वों में आस्रव आदि तत्त्वों का जीव या अजीव में अन्तर्भाव होता है या नहीं होता है ?

उत्तर- द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की गौण मुख्यता के अनुसार अन्य सात तत्त्वों का जीव, अजीव में अन्तर्भाव नहीं होता है; क्योंकि पर्यायार्थिक नय की मुख्यता से इन्हीं पर्यायों की मुख्यता होती है। इस समय जीव के चैतन्य भाव और अजीव के अचैतन्य भाव आदि द्रव्य की गौणता हो जाती है।

प्रश्न-८. इन आस्रव आदि का अन्तर्भाव किसी एक तत्त्व में होना चाहिए या तो जीव तत्त्व में या फिर अजीव तत्त्व में ये अन्तर्भूत हो जावें ?

उत्तर- ऐसा नहीं है। चूंकि ये जीव और अजीव दोनों तत्त्वों के संयोग से उत्पन्न परिणतियाँ हैं अतः इनका एक तत्त्व में अन्तर्भाव कर देने पर इनके सर्वथा जीव रूप या अजीव रूप होने का प्रसंग

आ जायेगा। मुख्य, गौण विवक्षा से इन आस्रवादिकों का दोनों तत्त्वों में अन्तर्भाव देखा जाता है। जब इन आस्रवादि में चैतन्य भाव की प्रधानता रहती है, तब वे जीव में अन्तर्भूत हो जाते हैं और जब अचेतन भाव की प्रधानता होती है तब वे अजीव में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

प्रश्न-९. आस्रव और बन्ध का अस्तित्व कैसे बनता है ?

उत्तर- अजीव रूप कर्म पुद्गलों का आस्रव और उनका जीव के साथ एकक्षेत्रावगाह रूप संश्लेष बन्ध होता है। जीव और अजीव का यह संश्लेष बन्ध होने पर आस्रव आदि भावों का अस्तित्व बनता है।

प्रश्न-१०. आस्रव बंध पूर्वक होने वाली संसार अवस्था क्या मोक्ष के लिए कारणभूत है ?

उत्तर- यदि संसार अवस्था मोक्ष के लिए कारणभूत न होवे तो मोक्ष रूप कार्य ही कैसे घटित होवे । संसारी जीव के मोक्ष होने के पूर्व काल की अवस्था संसार है जो अयोगीकेवली के अन्तिम समय की अवस्था है। ये चौदह गुणस्थान कर्म निमित्तक होने से संसार के होते हैं, मोक्ष के नहीं। इस अन्तिम संसार अवस्था का मोक्ष में अभाव होता है इसलिए संसार अवस्था मोक्ष की निमित्त कारण है। अन्यथा संसारपूर्वक मोक्ष होता है, यह बात सिद्ध नहीं होगी। यह पूर्वक शब्द ही निमित्त, हेतुता को कहता है।

प्रश्न-११. यदि संसार अवस्था मोक्ष के लिए निमित्त कारण है तो उपादान कारण कौन है ?

उत्तर- संसार अवस्था और मोक्ष अवस्था दोनों का उपादान कारण जीव है क्योंकि जीव के बिना इन दोनों पर्यायों का होना असम्भव है।

प्रश्न-१२. जैसे जीव-अजीव की संयोगज पर्याय आस्रव, बंध है वैसे ही क्या संवर, निर्जरा को माना जावे ?

उत्तर- हाँ ! संवर, निर्जरा जीव की संयोगज पर्याय से नहीं किन्तु जीव-अजीव से अवलम्बित वियोगज पर्याय का फल है। संवर और निर्जरा, इन दोनों तत्त्वों की सिद्धि भी गौण-मुख्यता से जीव-अजीव दोनों पर अवलम्बित है।

प्रश्न-१३. यह आत्मा किस नय से शुद्ध है ?

उत्तर- शुद्ध निश्चय नय से यह आत्मा व्यवहार नय के विषयभूत उपर्युक्त नव तत्त्वों से भिन्न नित्य अविनश्वर शुद्ध ज्ञायक स्वभाव रूप पारिणामिक भाव वाला होने से शुद्ध है।

प्रश्न-१४. यहाँ आत्मा का स्वरूप शुद्ध नय की अपेक्षा एक है, शुद्ध है, यह बताया जा रहा है या अनुभवगम्य स्थिति को दर्शाया जा रहा है ?

उत्तर- अरे भाई ! इस गाथा की उत्थानिका में लिखा है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र से परिणत आत्मा को किस प्रकार से स्वरूप का संचेतन होता है, यह कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि यहाँ आत्मा की शुद्ध रूपता का अनुभव करने वालों की स्थिति को दर्शाया है।

प्रश्न-१५. फिर यहाँ अनुभवगम्य स्थिति को हम लोगों को बताने का क्या प्रयोजन है ?

अथ ज्ञानसमुद्रे मज्जनादिना जगदुद्युज्यते-

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः।।३२।।

सं. टी.- उन्मग्नः-उच्छलितः, प्रकटीभूत इति यावत्, कोऽसौ? एषःअवबोधसिंधुः-अवबोधो-ज्ञानं। स एव सिंधुः, अनन्तगुणाधारत्वात् किंकृत्वा? आप्लाव्य-प्लावयित्वा, निराकृत्येत्यर्थः, कां? विभ्रमेत्यादिः-विभ्रमो-ममेदमिति मोहः, मद्यवद्भ्रमकारकत्वात्, स एव तिरस्करिणी-यवनिका तां कंटकादिभिर्दुःस्पर्शत्वेन, उभयोरुपमानोपमेययोः सादृश्यत्वात् जलेन सस्यविनाश्यत्वात्, कथं? भरेण-अतिशयेन, मज्जंतु-मज्जनं कुर्वंतु, कर्ममलक्षालनहेतुत्वात् तस्य, के? अमी समस्ताः-सर्वे लोकाः-भव्यजनाः, कथं? निर्भरं-अत्यर्थं, सममेक्यं युगपदेव, क्व? शांतरसे-शांतः-उपशमत्वं, स एव रसः-पानीयं, शाम्यस्य पापप्रक्षालनशीलत्वात्, आलोकं त्रिलोकशिखरपर्यंतं, उच्छलति-ऊर्ध्वगमनं कुर्वति सति-आलोकं व्याप्ते सति, इत्यर्थः। अन्यवारिधिजलस्योच्छलनशीलत्वात्।।३२।।

इति श्रीसमयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ पूर्वरङ्गः समाप्तः।

उत्तर- हम लोग अपनी अनुभवगम्य स्थिति को अभी अनुभव में भले न लाएँ किन्तु अशुद्ध दशा में अपनी शुद्ध दशा का श्रद्धान, ज्ञान इस तरह बनाए रखना है, यह आचार्यदेव का उद्देश्य है।

प्रश्न-१६. रत्नत्रय में परिणत यह आत्मा और कैसा होता है ?

उत्तर- यह आत्मा केवलज्ञान, दर्शन उपयोग मय है और स्पर्शादि से रहित अरूपी होता है। उस स्थिति में परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है, यह अनुभूत होता है।

प्रश्न-१७. रत्नत्रय में परिणत आत्मा की यह अनुभूति किस गुणस्थान में होती है ?

उत्तर- तेरहवें गुणस्थान में पूर्ण ज्ञानी होकर ही ऐसी अनुभूति होती है।

उत्थानिका - अब ज्ञानसमुद्र में डूबने आदि के लिए जगत् को प्रेरित करते हैं या जोडते हैं -

अन्वयार्थ - (एषः भगवान् अवबोधसिन्धुः) यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा (विभ्रम तिरस्कारिणीं भरेण आप्लाव्य) विभ्रमरूपी आड़ी चादर को समूलतया डुबोकर-दूर करके (प्रोन्मग्नः) स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है; (अमी समस्ताः लोका) इसलिए अब समस्त लोक (शांतरसे) उसके शांत रस में (समम् एव) एक साथ ही (निर्भरम्) अत्यन्त (मज्जन्तु) मग्न हो जाओ जो शांत रस (आलोकम् उच्छलति) समस्त लोक पर्यंत उछल रहा है।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस कलश का क्या आशय है ?

उत्तर- इस कलश में यह भावना व्यक्त की है कि संसारी जन इस ज्ञान समुद्र में डुबकी लगाएँ।

प्रश्न-२. आत्मा में इस ज्ञान समुद्र में डुबकी लगाने से टोकने वाला कौन है ?

उत्तर- आत्मा में उत्पन्न होने वाला विभ्रम।

प्रश्न-३. यह विभ्रम क्या है ?

उत्तर- 'यह मेरा है' इस प्रकार का विभ्रम अज्ञान मदिरा के समान मद पैदा करने वाला है।

प्रश्न-४. यह विभ्रम किसके समान है ?

उत्तर- यह विभ्रम परदे के समान है। जैसे समुद्र की आड.में कोई परदा आ जाए तो जल दिखता नहीं है। उसी तरह आत्मा मोह के उदय से भ्रमित होकर अपने स्वभाव को आच्छादित कर रहा है जब भ्रम दूर हो तो स्वभाव प्रकट होवे।

प्रश्न-५. इस भगवान् आत्मा में वह शांत रस कैसे प्रगट होता है ?

उत्तर- भगवान् आत्मा ज्ञानसमुद्र है। इस समुद्र में उस विभ्रम रूपी चादर को शक्ति से डुबोकर दूर करके इसके शान्त रस रूप जल में अवगाहन करो।

प्रश्न-६. यह शान्त रस कहाँ तक उछलता है ?

उत्तर- आत्मा का यह शान्त रस पूरे लोक में व्याप्त होकर उछलता है। तीन लोक के शिखर पर्यन्त ऊर्ध्व गमन करने पर यह समुद्र जल की तरह उछलने वाला कहा गया है।

इस प्रकार समयसार की आत्मख्याति संस्कृत टीका की हिन्दी में आत्मख्याति व्याख्या एवं प्रश्नोत्तर टीका करते हुए पूर्वरंग और आचार्य जयसेन के अनुसार पीठिका अधिकार के साथ जीवाधिकार उज्जैन वर्षायोग २०१३ में पूर्ण हुआ।

आरुहवि अंतरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण।
झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंदेहिं ।। ७।। मो.पा.

अर्थ :- बहिरात्मपन को मन वचन काय से छोडकर अन्तरात्मा का आश्रय लेकर परमात्मा का ध्यान करो, यह जिनवरेन्द्र-तीर्थङ्कर परमदेव ने उपदेश दिया है।

जीवाजीवाधिकार

अथ जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः।

(शार्दूलविक्रीडित)

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याय्य (य) यत्पार्षदान्
आसंसारनिबद्धबंधनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत्।
आत्माराममनंतधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत्।।३३।।

सं.टी.- ज्ञानं शुद्धात्मबोधः विलसति विलासं कुरुते, तदित्याध्याहारः, यत् ज्ञानं विशुद्धं निर्मलं । कुतः? आसंसारेत्यादिः आसंसारं पंचसंसारमभिव्याप्येत्यासंसारं निबद्धानि बंधनं प्राप्तानि, तानि च तानि बंधनानि च प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणानि, तेषां विधिः विधानं तस्य ध्वंसः विनाशः तस्मात् पुनः किंभूतं ? स्फुटत् प्रादुर्भवत्, किंकृत्वा? प्रत्याय्य-प्रतीतिगोचरान्कृत्वा, कान् ? पार्षदान्-सभापतीन् । कया ? जीवेत्यादिः जीवश्चाजीवश्च जीवाजीवौ तयोर्विवेकः पृथक् करणं, स एव पुष्कला विस्तीर्णा दृक्- दृष्टिस्तया, किंभूतं ? आत्मारामं आत्मा चिद्रूपः स एव आरामः क्रीडावनं निवासस्थानं, यस्य तत्, पुनः किंभूतं ? अनन्तधाम अनन्तं अंतातीतं धाम-तेजः, यस्य तत्, नित्योदितं-नित्यं- निरन्तरं, उदितं उदयप्राप्तं। केन? अध्यक्षेण सकलकेवलालोकप्रत्यक्षेण, महसा-तेजसा, लोकातिक्रान्तप्रकाशेन, धीरोदात्तं-धीरं-निष्कम्पं धैर्यादिगुणयुक्तत्वात् तच्च तदुदात्तं च उत्कटं, धीरोदात्तं, अनाकुलं आकुलतारहितं, मनः भव्यचित्तं, ह्लादयत् हर्षोद्रेकं कुर्वत् ।।३३।।

अन्वयार्थ/अर्थ - (ज्ञानं) ज्ञान है वह (मनो ह्लादयत्) मन को आनन्दरूप करता हुआ (विलसति) प्रगट होता है। वह (पार्षदान्) जीव-अजीव के स्वांग को देखनेवाले महापुरुषों के (जीव-अजीव-विवेक-पुष्कल-दृशा) जीव-अजीव के भेद को देखनेवाली अति उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि के द्वारा (प्रत्याययत्) भिन्न द्रव्य की प्रतीति उत्पन्न कर रहा है। (आसंसार-निबद्ध-बन्धन-विधि-ध्वंसात्) अनादि संसार से जिनका बन्धन दृढ.बँधा हुआ है ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मों के नाश से (विशुद्धं) विशुद्ध हुआ है, (स्फुटत्) स्फुट हुआ है- जैसे फूल की कली खिलती है उसी प्रकार विकसरूप है। और (आत्म-आरामम्) उसका रमण करने का क्रीड़ावन आत्मा ही है, अर्थात् उसमें अनन्त ज्ञेयों के आकार आकर झलकते हैं तथापि वह स्वयं अपने स्वरूप में ही रहता है; (अनन्तधाम) उसका प्रकाश अनन्त है; और वह (अध्यक्षेण महसा नित्य-उदितं) प्रत्यक्ष तेज से नित्य उदयरूप है। तथा वह (धीरोदात्तं) धीर है, उदात्त-उच्च है और इसीलिए (अनाकुलं) अनाकुल है- सर्व इच्छाओं से रहित निराकुल है। यहाँ धीरोदात्तम् धीर, उदात्त, अनाकुलं अनाकुल-ये तीन विशेषण शान्तरूप नृत्य के आभूषण जानना- ऐसा ज्ञान विलास करता है।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. मन को क्या आह्लाद उत्पन्न करता है ?

उत्तर- आचार्य कहते हैं कि मन को ज्ञान आह्लाद (आनन्द) उत्पन्न करता है। वह ज्ञान ही विलास करता है।

प्रश्न-२. यहाँ ज्ञान से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर- ज्ञानं शुद्धात्मबोधः (प.अ.त.) शुद्धात्मा का ज्ञान ही ज्ञान है। जो ज्ञान विशुद्ध हुआ है, निर्मल हुआ है वही यहाँ ज्ञान रूप से स्वीकृत है। ऐसा ज्ञान केवलज्ञान ही है।

प्रश्न-३. ऐसा शुद्धात्मा का ज्ञान कैसे प्राप्त होता है ?

उत्तर- आसंसारनिबद्धबंधनविधिध्वंसात्- अनादिकाल से बंधे हुए बंधन की विधि का ध्वंस करने से यह ज्ञान प्रकट होता है। अर्थात् पंच परावर्तन रूप संसार में व्याप्त होकर जो बंधन को प्राप्त होते हैं ऐसे कर्मों के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश चार प्रकार के बंधन हैं। इन कर्मों के बंधने की जो विधि है, विधान है या हेतु हैं उन हेतुओं के विनाश से यह शुद्धात्मा का निर्मल बोध स्फुटित होता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के भेद से कर्मों के बंधन की विधि के पाँच भेद हैं। उन भेदों के नष्ट होने से निर्मल, शुद्ध ज्ञान उत्पन्न हुआ शोभा पाता है। इन पाँच हेतुओं में से जब प्रारम्भ के चार हेतु नष्ट हो जाते हैं तो भी यह शुद्धात्म बोध उत्पन्न हो जाता है। इन मिथ्यात्व आदि चार प्रकार की विधि के विनाश से ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है, वही शुद्धात्मा का बोध है। योग से उस शुद्धात्मा के बोध में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती है। अरिहन्त परमात्मा के उस शुद्धात्म बोध के साथ होने वाली योग की क्रिया संसार सम्बन्धी कर्म बन्ध का कारण नहीं होती है। इसीलिए प्रवचनसार ग्रन्थ में यह योग क्रिया औदयिक होते हुए भी क्षायिकी कही गई है।

प्रश्न-४. यह शुद्धात्मा का ज्ञान क्या करके उत्पन्न हुआ है ?

उत्तर- यह ज्ञान पार्षद अर्थात् सभासदों को विश्वास उत्पन्न करता हुआ, उनके प्रति गोचर होता हुआ उत्पन्न हुआ है।

प्रश्न-५. यहाँ सभासदों से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर- आचार्य अमृतचन्द्र जी इस अजीव अधिकार को लिखते हुए ज्ञान की महिमा दिखा रहे हैं। प्रथम जीव अधिकार तो रंगभूमि की तरह था। अब इस अधिकार में वह जीव अजीव तत्त्व के स्वांग (ढोंग) को अच्छी तरह जानता है, यह जानकारी सभी भव्यात्माओं को दे रहे हैं। इस नाटक को देखने वाले आत्मतत्त्व के जिज्ञासु भव्य जीव ही यहाँ सभासद हैं जो इस नाटक को अच्छी तरह देख रहे हैं अर्थात् इस समयसार ग्रन्थ को पढ़ रहे हैं।

प्रश्न-६. इन सभासदों को यह प्रतीति किसके द्वारा उत्पन्न हो रही है ?

उत्तर- जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा- जीव तत्त्व और अजीव तत्त्व इन दोनों के विवेक से अर्थात्

पृथक् करने से जिनके अन्दर पुष्कल/विस्तीर्ण/विशाल/महान् दृष्टि उत्पन्न हुई है, उनके द्वारा ही यह जीव-अजीव का नाटक देखा जा रहा है और वे ही इसका अनुभव कर रहे हैं। अर्थात् जिन सभासदों की भेदविज्ञान की दृष्टि बडी पुष्ट हुई है। जिन्होंने बार-बार निर्विकल्प समाधि के बल से अपने भेद-विज्ञान को बहुत समृद्ध बना लिया है उनकी दृष्टि में यह समयसार प्रतीति को, अनुभूति को प्राप्त हो रहा है। ऐसे जीव ही मुख्य रूप से इस समयसार नाटक को देखने, सुनने के पात्र हैं।

प्रश्न-७. वह शुद्धात्मा का ज्ञान किस प्रकार का है ? अर्थात् उसकी और क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर- उस ज्ञान की विशेषताएँ निम्न लिखित हैं -

१. आत्मारामम् - उस ज्ञान का क्रीडा वन, निवास स्थान या आराम (उद्यान) चैतन्य रूप आत्मा ही है इसलिए वह शुद्धात्मा का ज्ञान ही आत्माराम है।

२. अनन्तधाम - वह ज्ञान अंतातीत, अनन्त तेज, प्रकाश स्वरूप है।

३. नित्योदितम् - वह ज्ञान निरन्तर, सदैव उदय को प्राप्त रहता है।

४. धीरोदात्तम्- वह ज्ञान धीर और उदात्त है। धैर्य आदि गुणों से युक्त होने से वह निष्काम है इसलिए धीर है तथा वह ही उत्कट है, शक्तिशाली है।

५. अनाकुलम् - वह ज्ञान ही आकुलता रहित अनाकुल है।

६. विशुद्धं स्फुटत् - वह ज्ञान विशुद्ध, निर्मल रूप में प्रकट हुआ है।

प्रश्न-८. वह ज्ञान नित्य उदित कैसे बना रहता है ?

उत्तर- महसाऽध्यक्षेण - समस्त लोकों को अतिक्रान्त करने वाले केवलज्ञान रूप तेज (प्रकाश) के द्वारा प्रत्यक्ष बना रहने से वह ज्ञान नित्य उदित है।

संजमसंजुत्तस्स य सुझाण जोयस्स मोक्खमग्गस्स ।
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं।। २०।। बो.पा. ।।

अर्थ :- संयम से संयुक्त और श्रेष्ठ ध्यान सहित जो मोक्षमार्ग उसका लक्ष्य अर्थात् जानने योग्य निशाना जो अपना निजस्वरूप वह ज्ञानद्वारा पाया जाता है अत: इस प्रकार के लक्ष्य को जानने के लिए ज्ञान को जानना।

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई ।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ।।३९।। ता.टी. ४४
अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं ।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति ।।४०।। ता.टी.४५
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति ।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ।।४१।। ता.टी.४६

अन्वयार्थ - (अप्पाणमयाणंता) आत्मा को न जानते हुए (परप्पवादिणो) पर को आत्मा कहने वाले (केई मूढा दु) कोई मूढ, मोही, अज्ञानी तो (अज्झवसाणं) अध्यवसान को (च तहा) और कोई (कम्मं) कर्म को (जीवं परूविंति) जीव कहते हैं। (अवरे) अन्य कोई (अज्झवसाणेसु) अध्यवसानों में (तिव्वमंदाणुभावगं) तीव्रमंद अनुभाग गत को (जीवं मण्णंति) जीव मानते हैं (तहा) और (अवरे) दूसरे कोई (णोकम्मं चावि) नोकर्म को (जीवोत्ति) जीव मानते हैं (अवरे) अन्य कोई (कम्मस्सुदयं) कर्म के उदय को (जीवं) जीव मानते हैं, कोई '(जो) जो (तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं) तीव्रमंदता रूप गुणों से भेद को प्राप्त होता है (सो) वह (जीवो हवदि) जीव है' इस प्रकार (कम्माणुभागम्) कर्म के अनुभाग को (इच्छंति) जीव इच्छते हैं - मानते हैं। (केवि) कोई (जीवो कम्मं उहयं) जीव और कर्म (दोण्णिवि खलु) दोनों मिले हुओं को ही (जीवमिच्छंति) जीव मानते हैं (दु) और (अवरे) अन्य कोई (कम्माणं संजोगेण) कर्म के संयोग से ही (जीवमिच्छंति) जीव मानते हैं। (एवंविहा) इस प्रकार के तथा (बहुविहा) अन्य भी अनेक प्रकार के (दुम्मेहा) दुर्बुद्धि-मिथ्यादृष्टि जीव (परं) पर को (अप्पाणं) आत्मा (वदंति) कहते हैं (तेण) उन्हें (णिच्छयवादीहिं) निश्चयवादियों ने (परप्पवादी) परात्मवादी (णिद्दिट्ठा) कहा है।

अर्थ - आत्मा को नहीं जानने वाले मूढ.पुरुष पर द्रव्य को ही आत्मा मानते हैं। उनमें से कितने ही अध्यवसान रागादि को और कोई कर्म को ही जीव कहते हैं। तथा कोई अध्यवसानों में भी तीव्रता मंदता को लिये हुए जो अनुभाग होता है उसे जीव मानते हैं । अन्य कोई नोकर्म को

सम्मोह से भ्रमित हैं जड.मूर्ख नामी, कर्त्तव्य-मूढ.कुछ हैं कुमतानुगामी ।
वे राग-रोषमय भाव विभाव को ही, स्वीकार 'जीव', तजते निज भाव को ही ।।४४।।

लो तीव्र-मंद अनुभाग निबंधनों को, है 'जीवरूप', कहते कुछ हैं तनों को ।
सम्मोह का यह विपाक यथार्थ में है, जो हो रहा भ्रम निजीय पदार्थ में है ।।४५।।

कोई कहे कि उदयागत कर्म को ही, विज्ञान धारक सचेतन जीव सो ही ।
तो तीव्र-मंद विधि के फल को 'निजात्मा' हैं अन्य लोग कहते बनते दुरात्मा ।।४६।।

जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केइ जीवमिच्छंति ।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ।।४२।। ता.टी.४७
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा ।
[1]तेण दु परमप्पवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा ।।४३।। ता.टी. ४८ (पंचकम्)

आ.टी.- इह खलु तदसाधारणलक्षणाकलनात्क्लीबत्वेनात्यंतविमूढाः संतस्तात्त्विकमात्मानमजानंतो बहवो बहुधा परमप्यात्मानमिति प्रलपंति । नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानमेव जीवस्तथाविधाध्यवसानात् अंगारस्येव काष्ण्यादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। अनाद्यनंतपूर्वापरिभूतावयवैकसंसरणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोऽतिरिक्तत्वेनान्य-स्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतान एव

चलते-फिरते शरीर को ही जीव मानते हैं। कोई कर्म के उदय को जीव मानते हैं। कोई कर्म के फल को जो तीव्र मंद रूप गुणों से भेद को प्राप्त होता है वह जीव है ऐसा इष्ट करते हैं। कोई जीव और कर्म दोनों मिले हुए को जीव मानते हैं। अन्य कोई लोग जीव को कर्मो के परस्पर संयोग से पैदा हुआ मानते हैं। इस प्रकार और भी आत्मा के विषय में अज्ञानी लोग भिन्न-भिन्न कल्पनायें करते हैं। वे वस्तुस्थिति के जानने वाले नहीं किंतु मंदबुद्धि हैं ऐसा यथार्थ जानने वाले सर्वज्ञदेव तथा गणधरादि ऋषियों ने कहा है ।। ३९ -४३ ।।

आ.व्या.- इस जीव-अजीव के ऐक्य रूप प्रकरण में निश्चित रूप से उस जीव के असाधारण लक्षण को नहीं जानने के कारण असमर्थपने से अत्यधिक विमूढ.होते हुए तत्त्व रूप से (परमार्थ से) आत्मा को नहीं जानते हुए बहुत से लोग बहुत प्रकार से पर (द्रव्य भाव) को भी यह आत्मा है, ऐसा कहते हैं। कोई कहते हैं कि, स्वाभाविक राग द्वेष से कलुषित अध्यवसान भाव ही जीव है क्योंकि अध्यवसान उसी प्रकार से पाया जाता है जैसे कि अंगार (कोयले) की ही कालिमा है क्योंकि कालिमा से भिन्न कोयला नहीं पाया जाता है। (१)

कोई कहते हैं कि अनादिकालीन पूर्व अवयवों वाली और अनन्तकाल तक के आगामी अवयवों वाली एक संसरण (भ्रमण) क्रिया रूप से खेलता हुआ कर्म ही जीव है क्योंकि कर्म के अतिरिक्त अन्य किसी जीव पदार्थ की उपलब्धि नहीं है। (२)

रे ! आठ काठ मिल खाट बनी यथा है, पा कर्म योग यह जीव बना तथा है ।
या कर्म और उदयागत कर्म दो वे, है जीव मूढ.इस भाँति सदैव रोवे ।।४७।।

मंदातिमंद मति-बाल, अनात्म को ही, माने निजातम सदा तज तत्त्व बोधि ।
ये सर्व मात्र भव-कानन पंथ पंथी, ऐसा कहे मुनि सुधी, तज ग्रंथ ग्रंथी ।।४८।।

१. ते ण दु परमट्ठवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा।।

जीवस्ततोऽतिरिक्तस्यान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। नवपुराणावस्थादिभावेन प्रवर्तमानं नोकर्मैव जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाक एव जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । सातासातरूपेणाभिव्याप्त समस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभव एव जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। मज्झितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयमेव जीवः कात्स्न्यर्तः कर्मेणोतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। अर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोग एव जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाया इवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । एवमेवंप्रकारा इतरेऽपि बहुप्रकाराः परमात्मेति व्यपदिशन्ति दुर्मेधसः किन्तु न ते परमार्थवादिभिः परमार्थवादिन इति निर्दिश्यंते ।।३९-४३ ।।

कोई कहते हैं कि तीव्र और मन्द अनुभाग से भेदभिन्नता को प्राप्त हुए अत्यन्त कठिनता से अन्त को प्राप्त होने वाले राग रस से पूर्ण भरी अध्यवसान (वैभाविक भावों) की परम्परा ही जीव हैं क्योंकि उस अध्यवसान से भिन्न अन्य रूप से जीव नहीं प्राप्त होता है। (३)

कोई कहते हैं कि नई पुरानी अवस्था आदि भाव से प्रवर्तन करने वाला नोकर्म ही जीव है क्योंकि उस नोकर्म रूप शरीर से भिन्न रूप से अन्य किसी जीव की उपलब्धि नहीं होती है। (४)

कोई कहते हैं कि सभी प्राणियों को ही पुण्य और पाप रूप से व्याप्त करता हुआ कर्म का फल ही जीव है क्योंकि शुभ-अशुभ भाव के अलावा अन्य कोई जीव की उपलब्धि नहीं होती है (५)

कोई कहते हैं कि साता-असाता रूप से सहित समस्त तीव्र और मन्दरूप गुणों के द्वारा (दो प्रकार से) भेद को प्राप्त कर्म का अनुभव ही जीव है क्योंकि सुख और दुःख के अतिरिक्त अन्य कोई जीव की उपलब्धि नहीं होती है। (६)

कोई कहते हैं कि दही शक्कर की भाँति मिले हुए दोनों रूप से आत्मा और कर्म दोनों ही मिलकर जीव हैं क्योंकि पूर्ण रूप से कर्म से भिन्न अन्य किसी जीव की उपलब्धि नहीं होती है (७)

कोई कहते हैं कि अर्थक्रिया करने में समर्थ कर्म का संयोग ही जीव है क्योंकि आठ काष्ठ के संयोग से बनी खाट जिस तरह है उसी तरह कर्म संयोग के अतिरिक्त अन्य किसी जीव की उपलब्धि नहीं होती है। (८)

इस तरह अन्य प्रकार से भी अन्य लोग बहुत प्रकार से 'पर को यह आत्मा है' इस प्रकार दुर्बुद्धि जन कहते हैं किन्तु परमार्थवादियों के द्वारा ये परमार्थ के जानकार हैं, इस तरह नहीं कहे जाते हैं।

(ता.टी.)

अजीवाधिकारः

अथानन्तरं श्रृंगारसहितपात्रवज्जीवाजीवाविवेकीभूतौ (जीवाजीवेकीभूतौ)प्रविशतः। तत्र स्थलत्रयेण त्रिंशद्गाथापर्यन्तमजीवाधिकारः कथ्यते। तेषु प्रथमस्थले शुद्धनयेन देहरागादिपरद्रव्यं जीवस्वरूपं न भवतीति निषेधमुख्यत्वेन **अप्पाणमयाणंता** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथादशकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्र गाथादशकमध्ये परद्रव्यात्मवादे पूर्वपक्षमुख्यत्वेन गाथापंचकं तदनन्तरं परिहारमुख्यत्वेन सूत्रमेकम्। अथाष्टविधं कर्मपुद्गलद्रव्यं भवतीति कथनमुख्यत्वेन सूत्रमेकम्। ततश्च व्यवहारनयसमर्थनद्वारेण गाथात्रयं कथ्यत इति समुदायपातनिका। तद्यथा-

अथ देहरागादिपरद्रव्यं निश्चयेन जीवो भवतीति पूर्वपक्षं करोति-

ता. टी. - **अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई** आत्मानमजानन्तः मूढास्तु परद्रव्यमात्मानं वदन्तीत्येवंशीलाः केचन परात्मवादिनः **जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति।** यथांगारात् काष्ण्यं भिन्नं नास्ति तथा रागादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्तीति रागाद्यध्यवसानं कर्म च जीवं वदन्तीति। अथ **अवरे अज्झवसाणे सु तिव्वमंदाणुभावगं जीवं मण्णंति** अपरे केचनैकान्तवादिनः

(ता.टी.)

अब इसके आगे श्रृंगार किये हुए नाटक कलाकार के समान जीव और अजीव दोनों एक-रूप होकर आते हैं । यहाँ तीन स्थलों से तीस गाथाओं पर्यंत अजीवाधिकरण कहा जाता है। उनमें पहले स्थल में 'अप्पाणमयाणंतो' इत्यादि दस गाथाओं पर्यंत तो मुख्यता से यह बतलाते हैं कि शुद्धनिश्चयनय से देह और रागादि पर द्रव्य जीव के स्वरूप नहीं हो सकते। उन दस गाथाओं में से भी पर द्रव्य को आत्मा मानने रूप पूर्वपक्ष की मुख्यता से प्रथम पाँच गाथायें हैं । तत्पश्चात एक गाथा से उसका निराकरण है । उसके आगे आठ प्रकार के कर्म भी पुद्गल द्रव्य हैं ऐसा एक गाथा से कथन किया गया है फिर व्यवहारनय का समर्थन करते हुए तीन गाथाएँ कही हैं । इस प्रकार समुदाय पातनिका हुई ।

अब देह व रागादि जो पर द्रव्य हैं वे नियम से जीव हैं ऐसा पूर्वपक्ष करते हैं-

टीकार्थ- अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई जो आत्मा को तो जानते नहीं है किंतु आत्मा से भिन्न शरीरादि पर द्रव्य को ही जीव नाम से कहते हैं ऐसे कितने ही परात्मवादी मोही जीव है । उनमें से कोई जीव **अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति** जैसे अंगारे से कोयले का कालापन कोई भिन्न नहीं हैं, वैसे ही रागादि भावों से भिन्न जीव नहीं है किंतु रागादिरूप अध्यवसान भाव या कर्म ही जीव है ऐसा कहते हैं। **अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभावगं जीवं**

रागाद्यध्यवसानेषु तीव्रमन्दतारतम्यानुभावस्वरूपं शक्ति माहात्म्यंगच्छतीति तीव्रमन्दानुभावगस्तं जीवं मन्यन्ते। **तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति** तथैवापरे चार्वाकादयःकर्मनोकर्मरहित परमात्मभेदविज्ञानशून्याः शरीरादिनोकर्म चापि जीवं मन्यन्ते। अथ- **कम्मस्सुदयं जीवं अवरे** अपरे कर्मण उदयं जीवमिच्छन्ति। **कम्माणुभागमिच्छंति** अपरे च कर्मानुभागं लतादार्वस्थिपाषाणरूपं जीवमिच्छन्ति। कथम्भूतः स चानुभागः? **तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो** तीव्रत्वमन्दत्वगुणाभ्यां वर्त्तते यः स जीवो भवतीति। अथ- **जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति** जीवकर्मोभयं द्वे अपि जीवकर्माणि शिखरिणीवत् खलु स्फुटं जीवमिच्छन्ति। अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति अपरे केचन अष्टकाष्ठखट्वावदष्टकर्मणां संयोगेनापि जीवमिच्छन्ति। कस्मात् ? अष्टकर्म संयोगादन्यस्य शुद्धजीवस्यानुपपत्तेः। अथ- **एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा** एवंविधा बहुविधा बहुप्रकारा देहरागादि परद्रव्यमात्मानं वदन्ति दुर्मेधसो दुर्बुद्धयः। **तेण दु परप्पवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा** तेन कारणेन तु पुनः देहरागादिकं परद्रव्यमात्मानं वदन्तीत्येवंशीलाः परात्मवादिनो निश्चयवादिभिः सर्वज्ञैर्निर्दिष्टा इति पंचगाथाभिः पूर्वपक्षः कृतः ।।४४-४८।।

मण्णंति कुछ एकांतवादी लोग रागादि अध्यवसान भावों में जो तीव्रता मन्दता रूप तारतम्य लिये हुए अनुभव होता है तत्स्वरूप शक्ति समूह को प्राप्त होने वाला ही जीव है ऐसा कहते हैं। **तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति** वैसे ही चार्वाक आदि जो कर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध परमात्मा के भेदविज्ञान से शून्य हैं वे शरीरादि नोकर्म को ही जीव मानते हैं। **कम्मस्सुदयं जीवं अवरे** कुछ कर्म के उदय को ही जीव कहते हैं। **कम्माणुभागमिच्छंति** व कुछ लता, दारु, अस्थि और पाषाणादि रूप जो कर्मो का फल है उसे जीव कहते हैं। वह अनुभाग **तिव्वत्तणमंदत्तण गुणेहि जो सो हवदि जीवो** तीव्रता मंदतारूप भाव से अपना फल देता है वही जीव है । **जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति** जीव और कर्म इन दोनों को शिखरिणी के समान मिले हुए को ही कुछ लोग जीव कहते हैं। **अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीव मिच्छंति** जैसे आठ काठों का परस्पर संयोग होकर एक खाट बन जाती है वैसे ही आठ कर्मों के संयोग से जीव हो जाता है । ऐसा कुछ लोग कहते हैं क्योंकि आठ कर्मो के संयोग से भिन्न शुद्ध जीव की उपलब्धि नहीं है । **एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा** इसी प्रकार और भी अनेक प्रकार की कल्पना करने वाले मंदबुद्धि वाले जीव है जो कि देहरागादिरूप परद्रव्य को ही आत्मा कहते हैं। **तेण दु परप्पवादी णिच्छयवादीहिं णिदिद्ट्ठा** इसलिए वास्तविक कथन करने वाले सर्वज्ञ भगवान ने ऐसा कहा है कि ये लोग इन देहरागादि पर द्रव्य को ही आत्मा मानने वाले होने से परात्मवादी हैं। इस प्रकार पूर्वपक्ष का कथन करने वाली पाँच गाथाएँ हुई ।। ४४-४८।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. यहाँ कितने प्रकार के एकान्तवादियों की मान्यता दिखाई है ?

उत्तर- यहाँ पाँच गाथाओं में आठ प्रकार के एकान्तवादियों की मान्यता दिखाई है।

प्रश्न-२. जो कलुषित अध्यवसान को जीव मानता है, उसमें गलत क्या है ?

उत्तर- इस तरह की मान्यता वाला राग, द्वेष आदि कलुषित अध्यवसानों को आत्मा मानता है। स्वाभाविक का अर्थ होता है जो सदाकाल उस द्रव्य के गुण रूप से बना हुआ है। यदि रागादि को आत्मा के स्वाभाविक भाव माना जाय तो आत्मा रागादि रूप है, यह मानना पडेग़ा फिर तो रागादि भाव से आत्मा कलुषित होता है, यह कहना भी उचित नहीं होगा क्योंकि स्वभावभूत भाव उस द्रव्य को अन्यथा परिणमन नहीं कराता है। इस कथन की पुष्टि में जो कोयले और कालापन का उदाहरण दिया है वह उदाहरणाभास है। देखा जाय तो कोयले का कालापन तो स्वाभाविक है जो सदा एक सा, एक समान रहता है किन्तु जीव में ऐसा नहीं देखा जाता है। जीव रागादि से रहित भी होता है, यह बात प्रतीति में आती है। इसलिए यह उलटी मान्यता मिथ्यादृष्टि जीव की होती है, यह सिद्ध है।

प्रश्न-३. जो दूसरा मिथ्यादृष्टि जीव है उसकी मान्यता तो ठीक जान पडती है क्योंकि अनादि अनन्त संसार में परिभ्रमण कराना कर्म का कार्य है इसलिए कर्म ही जीव है और आप जैन लोग भी तो यही कहते हैं कि सब कुछ कर्म की क्रीडा है ?

उत्तर- अरे! ज्ञानी आत्मन् ! हम जैन लोग यह मानते हैं कि कर्म ही अनादि अनन्त संसार में भ्रमण कराता है किन्तु ऐसा नहीं मानते हैं कि कर्म ही जीव है। मिथ्यादृष्टि जीव की मिथ्या मान्यता इसी बात से समझ में आती है कि वह कर्म और जीव को भिन्न भी कह रहा है और कर्म को ही अभिन्न रूप से जीव भी मान रहा है। जिसमें वास्तव में भेद है वह कभी अभेद रूप कैसे हो सकता है ? यदि भेद में भी अभेद समझ आ रहा है तो यही मिथ्यादृष्टि की दृष्टि है। यही स्वरूप विपर्यास कहलाता है।

प्रश्न-४. मिथ्यादृष्टि की तीसरी मान्यता में तीव्र और मन्द अनुभाग से सहित जीव माना गया है, इसमें क्या गलत है ?

उत्तर- जीव की स्वाभाविक परिणति एक रूप होती है। उस परिणति में तीव्र और मन्द अनुभाग किसी जीव में समाप्त भी हो सकता है। यह अनुभाग परसापेक्ष है तो वह जीव का स्वरूप कैसे हो सकता है ? यह मान्यता अज्ञान रूप है, इसलिए गलत है।

प्रश्न-५. आत्मा और शरीर (नोकर्म) का ऐक्य सभी को दिखाई देता है इसलिए शरीर ही जीव है, इसमें क्या गलत है ?

उत्तर- आत्मा और शरीर का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। संसारी जीवों में जो ऐक्य दिखाई देता है वह अपनी भ्रमपूर्ण मिथ्या मान्यता के कारण है। दो संयोगी वस्तुओं में ऐक्य होने पर भी स्वभावत:

एक-दूसरे रूप उनका परिणमन नहीं हो जाता है। स्वर्ण और पाषाण का भी अनादिकाल से संयोग पाया जाता है किन्तु स्वर्ण कभी पाषाण रूप और पाषाण कभी स्वर्ण रूप नहीं होता है, इसी तरह जीव और शरीर के विषय में जानना। दो भिन्न पदार्थों में ऐक्य का आभास ही मिथ्यात्व नामक कर्मोदय अन्य भाव से होता है इसलिए यह मान्यता भी गलत है।

प्रश्न-६. शुभाशुभ कर्म का फल भोगना ही जीव है, इसमें क्या मिथ्या है ?

उत्तर- अरे भाई ! शुभ-अशुभ कर्म तभी फल देते हैं जब हमने उन कर्मों का बंध किया हो। वह कर्म का फल हमें संवेदन में भी तब आता है जब उस फल को अपना मानकर विभाव रूप परिणत होते हों। जो आत्मा इन कर्मफल और कर्मगत भावों से विचलित नहीं होते हैं वे क्या आत्मा नहीं रहेंगे ? क्या वे अनात्मा (जड़) हो जायेंगे ? इससे स्पष्ट है कि कर्मविपाक का अनुभव करना परकीय भाव का अनुभव है, उसे जीव मानना वैभाविक परिणति को आत्मीय मानना है। इसीलिए ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है।

प्रश्न-७. प्रत्येक आत्मा सुख या दु:ख का संवेदन ही करने वाला देखा जाता है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं, अत: यही आत्मा का स्वरूप है, ऐसा मानना क्या गलत है ?

उत्तर- ये सुख-दु:ख रूप परिणाम भी कर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं। यदि ऐसा नहीं तो कभी भी एक समान सुख रूप या दु:ख रूप परिणाम संवेदन में क्यों नहीं आता है ? उसमें परिवर्तन होने का अर्थ ही है कि वह वैभाविक परिणति है। जो सुख आत्मा का स्वाभाविक भाव है, वह सदा शुद्ध आत्मा में एक समान रहता है। यह सुख-दु:ख रूप संवेदन किसी अन्य के कारण अनुभव में आता है। यह सिद्ध हो जाने पर उसे आत्मा का स्वभाव मानना मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न-८. जीव और कर्म की दही-शक्कर के समान मिश्र अवस्था है, यही जीव का स्वरूप है। उभयात्मक अवस्थागत जीव की मान्यता में क्या गलत है ?

उत्तर- ऐसा कहने पर तो जीव का स्वभाव चेतन और अचेतन दोनों रूप होगा जो कि असंभव है। चेतन और अचेतन दोनों एक साथ एक द्रव्य के स्वभाव नहीं हो सकते हैं। जो संयुक्त अवस्था दिखाई देती है वह अशुद्ध जीव का स्वरूप होता है, शुद्ध जीव का नहीं। यदि दही-शक्कर भिन्न-भिन्न भी पाए जाते हैं फिर उनकी मिली- जुली दशा स्वभाव तो नहीं हुई, विभाव ही हुई और विभाव का अभाव कभी न कभी, किन्हीं जीवों में अवश्य होता है। इसलिए उभयात्मक जीव नहीं होता है। जीव एक चैतन्य स्वभाव वाला ही है।

प्रश्न-९. आठ कर्मों के संयोग वाला ही जीव अनादि से है जैसे कि आठ लकडिय़ों के आधार से खाट बनती है। काष्ठ के बिना खाट नहीं, ऐसे ही कर्म के बिना जीव नहीं, इसमें क्या गलत है ?

उत्तर- ऐसा जीव कभी जीव ही नहीं रहेगा क्योंकि कर्म का कार्य कर्म रूप ही होगा। जीव कभी कर्म का परिणाम (या कार्य) नहीं हो सकता है। ऐसा जीव तो पराश्रित और अन्य आधार वाला होगा। वस्तुत: संसारी जीव आठ कर्मों के साथ रहते हुए भी कभी अपने स्वरूप से उन कर्मों से

बना है, ऐसा नहीं है। क्योंकि कर्म पुद्गल है और पुद्गल का कार्य पौद्गलिक (जड़) रूप ही होगा चेतन रूप नहीं। अत: संयोगज स्वरूप वाला जीव मानना स्वयं का भ्रम है इसलिए मिथ्यात्व है।

प्रश्न-१०. इन्हें मिथ्यादृष्टि किसने कहा है ?

उत्तर- जो निश्चय से जीव का स्वरूप जानते हैं ऐसे सर्वज्ञदेव के द्वारा ही इन्हें परात्मवादी (पर को आत्मा मानने वाला) कहा गया है।

प्रश्न-११. आत्मा का असाधारण लक्षण ज्ञान है। ज्ञान द्वारा ही यह आत्मा जाना जाता है एवं ज्ञान द्वारा ही आत्मा की अनुभूति व उपलब्धि हो सकती है। ज्ञान- अर्थात् स्वसंवेदन ज्ञान- सम्यग्ज्ञान। इस सम्यग्ज्ञान से ही आत्मलाभ हो सकता है क्यों ?

उत्तर- आत्मा का असाधारण लक्षण ज्ञान है, यह ठीक है किन्तु जिस ज्ञान से आत्मा को जाना जाता है और जिस ज्ञान से आत्मानुभूति की जाती है वे दोनों ज्ञान भिन्न-भिन्न नाम पाते हैं। आप ने दोनों ज्ञानों को एक ही मान लिया यही सबसे बडा भ्रम है। सम्यग्ज्ञान से आत्मा को जाना जाता है और स्वसंवेदन ज्ञान से आत्मा की अनुभूति की जाती है। स्वसंवेदन ज्ञान वीतराग निर्विकल्प समाधि की दशा में होता है और सम्यग्ज्ञान सराग दशा में सविकल्प अवस्था में भी बना रहता है। स्वसंवेदन ज्ञान और सम्यग्ज्ञान को एक कहने पर तो सदैव ही आत्मा को स्वसंवेदन ज्ञान बना रहने का प्रसंग आ जाएगा। अर्थात् भोगानुभव, विषयलीनता, व्यापार आदि कार्य, नरकों में भी मार-काट के साथ स्वसंवेदन ज्ञान नहीं रहता है किन्तु सम्यग्दर्शन के साथ होने वाला सम्यग्ज्ञान बना रहता है। इसलिए दोनों ज्ञानों को एक मानना भूल भरी बात है। इसी तरह इन ज्ञानों का कार्य एक ही मानना भी भूल भरी बात है। आत्मा को जानना और अनुभव करना अलग-अलग बात है जो कि क्रमश: सम्यग्ज्ञान और स्वसंवेदन ज्ञान के कार्य हैं।

कुतः-

एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।
केवलिजिणेहिं भणिया किह ते जीवो त्ति वुच्चंति ।।४४।। ता.टी. ४९

उत्थानिका - ये लोग परात्मवादी क्यों हैं?, यह कहते हैं-

अन्वयार्थ - (एदे) ये पूर्वकथित अध्यवसान आदि (सव्वे भावा) भाव हैं वे सभी (पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा) पुद्गलद्रव्य के परिणाम से उत्पन्न हुए हैं, इस प्रकार (केवलिजिणेहिं) केवली सर्वज्ञ जिनेन्द्रदेव ने (भणिया) कहा है (ते) उन्हें (जीवो त्ति) जीव ऐसा (किह वुच्चंति) कैसे कहा जा सकता है?

अर्थ - केवली भगवान ने बतलाया है कि उपर्युक्त सब अवस्थायें पौद्गलिक द्रव्य कर्म के संबंध से होने वाली हैं। इसलिए ये सब जीव नहीं कही जा सकतीं ।

आ.व्या.- चूँकि ये अध्यवसान आदि समस्त ही भाव विश्व को साक्षात् (प्रत्यक्ष) देखने वाले भगवान् अरिहन्त ने पुद्गल द्रव्य के परिणाममय कहे हैं। ऐसे होते हुए, चैतन्य स्वभाव से शून्य पुद्गल द्रव्य से भिन्न कहे जाने वाले चैतन्य स्वभाव रूप जीव द्रव्य होने के लिए ये परिणाम समर्थ नहीं होते हैं। इसलिए ये 'अध्यवसान आदि भाव जीव हैं' यह पक्ष निश्चित ही आगम, युक्ति और स्वानुभव के द्वारा बाधित होता है। पर को आत्मा कहने वाले परमार्थवादी नहीं हैं।

उनमें सर्वप्रथम ये ही सर्वज्ञ के वचन आगम हैं और स्वानुभव से सहित युक्ति यह है कि 'स्वाभाविक राग-द्वेष से मलिन अध्यवसान (परिणाम) जीव नहीं है क्योंकि स्वर्ण की कालिमा के समान उन अध्यवसानों से भिन्नपने के साथ अन्य चैतन्य स्वभाव के विवेचक (भेदविज्ञानियों) के द्वारा स्वयं उपलब्धि (अनुभूति) होती है' (१)

और अनादि अनन्तकाल से भूत और भावी अवयवों वाली परिभ्रमण लक्षण की क्रिया रूप से क्रीडा करता हुआ कर्म ही जीव है, ऐसा नहीं है क्योंकि कर्म से भिन्नपने के साथ अन्य (अत्यन्त पृथग्) चैतन्य स्वभाव की भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं (प्रत्यक्ष) अनुभूति की जाती है (२)

इसी तरह तीव्र, मन्द अनुभाग से भेद को प्राप्त हुए, अति कठिन राग रस से भरे हुए अध्यवसान की परम्परा जीव नहीं है। क्योंकि इन परिणामों की परम्परा से भिन्नपने के साथ अन्य चैतन्य स्वभाव की भेदविज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलब्धि (अनुभूति या प्राप्ति) की जाती है (३)

नई, पुरानी आदि अवस्था भेद से प्रवर्तमान (चलता हुआ) नोकर्म (शरीर) जीव नहीं है

ये पूर्व के कथित भाव विभाव सारे, हैं मूर्त से उदित हैं जड़ के पिटारे ।
आश्चर्य 'जीव' फिर रे बन जाये कैसे? हैं केवली वचन ये गज-मोति जैसे ।।४९।।

आ.टी.- यतः एतेऽध्यवसानादयः समस्ता एव भावा भगवद्भिर्विश्वसाक्षिभिरर्हद्भिः पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वेन प्रज्ञप्ताः संतश्चैतन्यशून्यात्पुद्गलद्रव्यादतिरिक्तत्वेन प्रज्ञाप्यमानं चैतन्यस्वभावं जीवद्रव्यं भवितुं नोत्सहंते ततो न खल्वागमयुक्तिस्वानुभवैर्बाधितपक्षत्वात् तदात्मवादिनः परमार्थवादिनः। एतदेव सर्वज्ञवचनं तावदागमः। इयं तु स्वानुभवगर्भिता युक्तिः। न खलु नैसर्गिकरागद्वेष-कल्माषितमध्यवसानं जीवस्तथाविधाध्यवसानात्कार्तस्वरस्येव श्यामिकाया अतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खल्वनाद्यनंतपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणलक्षणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु तीव्रमंदानुभवभिद्यमानदुरंतरागरस-निर्भराध्यवसानसंतानो जीवस्ततोतिरिक्तत्वे नान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु नवपुराणावस्थादिभेदेन प्रवर्तमानं नोकर्म जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाको जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभवो जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु

क्योंकि शरीर से भिन्नपने के साथ अन्य चैतन्य स्वभाव की भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलब्धि की जाती है। (४)

समस्त आत्माओं को पुण्य, पाप रूप से पराभूत करता हुआ कर्म विपाक ही जीव है, ऐसा भी नहीं है, क्योंकि शुभ, अशुभ भाव से भिन्न अन्य चैतन्य की भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलब्धि (अनुभूति) की जाती है। (५)

साता-असाता रूप से अभिव्याप्त समस्त तीव्र और मन्द गुणों के द्वारा भेद को प्राप्त हुआ कर्म का अनुभव ही जीव है अर्थात् साता या असाता कर्म का अनुभव ही जीव है, ऐसा भी निश्चित रूप से नहीं है। क्योंकि सुख, दुःख से भिन्न अन्य चैतन्य स्वभाव की भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं अनुभूति की जाती है। (६)

दही-शक्कर की मिली हुई अवस्थाकी तरह दोनों स्वभावात्मकपना होने से आत्मा और कर्म की मिश्र अवस्था रूप दोनों ही जीव हैं, ऐसा भी नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण कर्म से भिन्न अन्य (पृथग्भूत) चैतन्य स्वभाव की भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं अनुभूति की जाती है। (७)

अर्थ क्रिया करने में समर्थ कर्म का संयोग जीव है, ऐसा भी नहीं है क्योंकि जैसे आठ काठ के संयोग से बनी खाट पर शयन करने वाले पुरुष और खाट में भिन्नता है, उसी तरह कर्मसंयोग से भिन्न अन्य चैतन्य स्वभाव की भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं अनुभूति की जाती है (८)

यहाँ पुद्गल से भिन्न आत्मा की उपलब्धि के प्रति विसंवाद करने वाले पुरुषों को साम्य भाव से

मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयं जीवः कात्स्न्र्यतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खल्वर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोगो जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाशायिनः पुरुषस्येवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वादिति। इह खलु पुद्गलभिन्नात्मोपलब्धि प्रति विप्रतिपन्नः साम्नैवैवमनुशास्यः।

अथ परिहारं वदति-

ता.टी. - एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा एते सर्वे देहरागादयः कर्मजनितपर्यायाः पुद्गलद्रव्यकर्मोदय परिणामेन निष्पन्नाः। **केवलिजिणेहिं भणिया किह ते जीवोत्ति वुच्चंति** केवलिजिनैः सर्वज्ञैः कर्मजनिता इति भणिताः कथं ते निश्चयनयेन जीवा

ही सिखाना उचित है।

(ता.टी.)

अब जो जीव का उपर्युक्त स्वरूप बतलाया है उसका परिहार करते हैं-

टीकार्थ- एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ये सभी देहरागादिरूप कर्म- जनित अवस्थायें पौद्गलिक द्रव्यकर्म के उदय रूप परिणाम से उत्पन्न हुई हैं। इसलिए **केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवोत्ति उच्चंति** सर्वज्ञ भगवान् ने इन्हें कर्मजनित बतलाया है अतःनिश्चयनय से इन्हें जीव कैसे कहा जा सकता है, कभी नहीं कहा जा सकता। देखो, अंगारे से कालेपन के समान जीव भी रागादि से भिन्न नहीं है। ऐसा जो कहा गया है वह ठीक नहीं है; यह बात हम अनुमान से सिद्ध कर दिखाते है । देखो, शुद्ध जीव रागादि से भिन्न है - यह पक्ष हुआ; क्योंकि परमसमाधि में स्थित पुरुषों के द्वारा शरीर और रागादि से सर्वथा भिन्न ऐसे चिदानंद एक स्वभाव वाले शुद्ध जीव की उपलब्धि देखी जाती है यह हेतु हुआ। कीट कालिमादि से भिन्न स्वर्ण के समान; यह दृष्टान्त हुआ। **किं च** पूर्वपक्षकार ने जो अंगार का दृष्टान्त दिया है यहाँ वह घटित नहीं होता। क्योंकि जैसे स्वर्ण का पीलापन और अग्नि का उष्णपना स्वभाव है वैसे ही अंगारे का भी कृष्णपना स्वभाव है; उसे पृथक् नहीं कर सकते । किन्तु रागादिक तो डांक के द्वारा स्फटिक में आई हुई उपाधि के समान जीव के विभाव भाव हैं; इसलिए उनको निर्विकार शुद्धात्मानुभूति के बल से जीव पृथक् किया जा सकता है, दूर हटाया जा सकता है । इसी प्रकार जो यह कहा गया है कि आठ काठों के संयोग से खाट नाम की वस्तु बन जाती है; उसी प्रकार आठ कर्मो के संयोग से जीव उत्पन्न हो जाता है; सो भी ठीक नहीं है । इस बात को भी सिद्ध करने के लिए अनुमान देते है । देखो; शुद्ध जीव आठ कर्मो के संयोग से भिन्न वस्तु है, यह पक्ष हुआ । क्योंकि परम समाधि में स्थित रहने वाले महापुरुषों के द्वारा आठ कर्मों के संयोग से पृथग्भूत शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाले जीव

इत्युच्यन्ते न कथमपि। किंच विशेषः - अंगारात् काष्ण्यवद्रागादिभ्यो भिन्नो जीवो। नास्तीति यद्भणितं तदयुक्तम्। कथमिति चेत् ? रागादिभ्यो भिन्नः शुद्धजीवोऽस्तीति पक्षः परमसमाधिस्थ पुरुषैः शरीररागादिभ्यो भिन्नस्य चिदानन्दैकस्वभावशुद्धजीवस्योपलब्धेरिति हेतुः। किट्टकालिकास्वरूपात्सुवर्णवदिति दृष्टान्तः। किं च अंगारदृष्टान्तोऽपि न घटते। कथमिति चेत् ? यथा सुवर्णस्य पीतत्वं अग्नेरुष्णत्वं स्वभावस्तथांगारस्य कृष्णत्वस्वभावस्य तु पृथक्त्वं कर्तुं नायाति। रागादयस्तु विभावाः स्फटिकोपाधिवत् ततस्तेषां निर्विकारशुद्धात्मानुभूतिबलेन पृथक् कर्तुं शक्यते इति। यदप्युक्तमष्टकाष्ठसंयोगखट्वावदष्टकर्मसंयोग एव जीवस्तदप्यनुचितम् अष्टकर्मसंयोगात् भिन्नः शुद्धजीवोऽस्तीति पक्षवचनं अष्टकाष्ठसंयोगखट्वाशायिनः पुरुषस्येव परमसमाधिस्थपुरुषैरष्टकर्मसंयोगात् पृथग्भूतस्य शुद्धबुद्धैकस्वभावजीवस्योपलब्धेरिति दृष्टान्तसहितहेतुः। किं च देहात्मनोरत्यन्तं भेदः इति पक्षः भिन्नलक्षण उपर्युक्तलक्षितत्वादिति हेतुः जलानलवदिति दृष्टान्तः।।४९।। इति परिहारगाथा गता।

की उपलब्धि हुई देखी जाती है, यह हेतु हुआ । जैसे कि आठ काठ के संयोग से बनी हुई खटिया पर सोने वाला पुरुष उससे भिन्न होता है यह दृष्टांत हुआ । और सुनो, देह और आत्मा में परस्पर अत्यन्त भेद है - यह पक्ष हुआ । क्योंकि इन दोनों का लक्षण भिन्न-भिन्न है जिससे वे दोनों भिन्न-भिन्न पहचाने जा सकते हैं - यह हेतु हुआ । जैसे कि अग्नि और पानी- यह दृष्टांत हुआ । इस प्रकार परिहार गाथा पूर्ण हुई ।।४९।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. ये पर को आत्मा मानने वाले मिथ्यादृष्टि हैं, यह किस प्रकार सिद्ध होता है ?

उत्तर- आगम, युक्ति और स्वानुभव के द्वारा पर-अध्यवसान आदि जीव नहीं हैं, यह सिद्ध होता है।

प्रश्न-२. आगम क्या है ?

उत्तर- ये शरीर, राग आदि कर्मजनित पर्यायें हैं जो पुद्गल द्रव्य रूप कर्म के उदय से बनी हैं, ऐसा सर्वज्ञ भगवान् ने कहा है, यह सर्वज्ञ वचन ही आगम हैं। (ता.टी.) (आ.टी.)

प्रश्न-३. युक्ति क्या है ?

उत्तर- दृष्टान्त और हेतु के द्वारा पक्ष को (साध्य को) सिद्ध करना युक्ति है।

प्रश्न-४. यहाँ पक्ष क्या है ?

उत्तर- रागादि से भिन्न शुद्ध जीव होता है, यह हमारा पक्ष (साध्य) है। (ता.टी.)

प्रश्न-५. इस पक्ष की सिद्धि का हेतु क्या है ?

उत्तर- परम समाधि में स्थित पुरुष के द्वारा शरीर और रागादि से भिन्न चिदानन्द एक स्वभाव रूप शुद्ध जीव की उपलब्धि होती है, यह हेतु है।

प्रश्न-६. इस विषय में दृष्टान्त क्या है ?

उत्तर- जैसे स्वर्ण शुद्ध होने पर किट्टि-कालिमा से भिन्न उपलब्ध होता है, वैसे ही निर्विकल्प समाधि में जीव शुद्ध अनुभव होता है। (ता.टी.)

प्रश्न-७. प्रतिवादी ने तो कोयले की कालिमा के समान जीव का स्वरूप बताया था, यह दृष्टान्त क्यों नहीं कहा?

उत्तर- यह दृष्टान्त घटित नहीं होता है।

प्रश्न-८. क्यों घटित नहीं होता है ?

उत्तर- जैसे स्वर्ण का पीलापन और अग्नि की उष्णता उस स्वर्ण और अग्नि का स्वभाव है, उसी प्रकार कालिमा भी कोयले का स्वभाव है और स्वभाव को कभी पृथक् नहीं किया जा सकता है। चूंकि राग आदि विभाव हैं और स्फटिक मणि के नीचे रखी उपाधि के समान भिन्न है इसलिए रागादि भावों का निर्विकार शुद्धात्मा की अनुभूति के बल से पृथक् करना शक्य है। अत: कोयले की कालिमा का स्वभावभूत दृष्टान्त घटित नहीं होता है।

प्रश्न-९. सर्वज्ञदेव ने तो दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, पूजा, शील, संयम आदि शुभ भावों को पुद्गल द्रव्य के परिणाम कहा है, क्या यह सही है ?

उत्तर- कदापि नहीं, क्या इस गाथा में या इसकी किन्हीं आचार्य प्रणीत टीका में ऐसा लिखा है कि दया, दान आदि शुभ भाव पुद्गल के परिणाम हैं? यदि नहीं तो बार-बार अपनी काषायिक परिणति को सर्वज्ञ वाणी का लेबल लगाकर कहने का अर्थ ही है कि वह आत्मा स्वयं सर्वज्ञ बनकर वास्तविक सर्वज्ञ को झुठला रहा है।

दया, दान, पूजा, शील, संयम रूप परिणाम आत्मस्वभाव के साधक हैं और आत्मा के स्वकीय गुण हैं। संयम, व्रत, चारित्र आदि मात्र शुभभाव नहीं हैं। ये आत्मा के चारित्र गुण की विभिन्न पर्यायें हैं जो चारित्रवन्तों, श्रमण भगवन्तों में ही पाई जाती है, चारित्रहीनों में नहीं।

प्रश्न-१०. तो क्या ये व्रत, तप आदि आत्मा के चारित्र गुण की पर्यायें हैं ?

उत्तर- हाँ अवश्य हैं। यदि नहीं हैं तो व्रत, तप, संयम के बिना कोई भी चारित्र आत्मा में क्यों नहीं उत्पन्न होता है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने प्राकृत चारित्र भक्ति में इन व्रत, तपों को नमस्कार किया है। सामायिक- छेदोपस्थापना चारित्र अहिंसादि व्रत, मूलगुण, शील आदि के बिना क्या कहीं होता है ? अर्थात् नहीं होता है ।

अहिंसादीणि उत्ताणि महवयाणि पंच य ।
समिदीओ तदो पंच पंच इंदियणिग्गहो ।। प्राकृत आचार्य भक्ति

अर्थात्- पाँच अहिंसा आदि महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय निग्रह इत्यादि अट्ठाईस मूलगुणों को आचार्यदेव भक्ति राग से नमस्कार करते हैं।

प्रश्न-११. आचार्य कुन्दकुन्द देव ने जिस व्रत, तप, संयम को नमस्कार किया है वह सम्यक्त्व के साथ रहने वाला है और जिस व्रत, तप को यहाँ शुभभाव कहकर अधर्म कहा जा रहा है, वह सम्यक्त्व रहित है ?

उत्तर- इसमें भी दोष है। प्रथम बात तो यह कि यदि आप सम्यक्त्व रहित व्रत, तप को अधर्म कह रहे हैं, तो सर्वत्र व्रत, तप आदि शुभ भाव को क्यों नकारते हैं? सम्यक्त्व रहितता या सम्यक्त्व सहितता के साथ ही इन व्रत आदि का कथन करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि सम्यक्त्व रहित होने पर भी व्रत, तप, दया सर्वथा अनिष्टकारी नहीं हैं। सम्यक्त्व रहित के दो अर्थ हैं, एक तो प्रकट मिथ्यादृष्टि के मिथ्या तप जैसे कि जटाजूट धारण करने वाले पाखण्डी। और दूसरे जिनदर्शन में व्रत, तप करने वाले लोग जो अरिहन्त की, पंचपरमेष्ठी की पूजा-भक्ति करने वाले किन्तु अन्तरंग से किसी कारण सम्यक्त्व से रहित हैं, तो ऐसे जीवों को व्रत, तप पालन करते-करते भी कभी न कभी सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है, ऐसी स्थिति में इन व्रत-तपों से कोई हानि नहीं दिखी। यदि कहो कि पहले सम्यक्त्व हो तब व्रत, तप लेना ; तो भाई सम्यक्त्व है, इस पर्याय को पहचानने का कोई भी आगम या अनुभव प्रमाण नहीं है। ऐसे में सर्वथा व्रत, तप को शुभभाव कहकर अधर्म बताना उस जीव को कल्याण मार्ग से वंचित करना ही है। तीसरी बात यह है कि उक्त कथन से व्यवहार चारित्र की ही सर्वत्र निन्दा की जाती है, जबकि व्यवहार चारित्र सम्यक्त्व सहित चारित्र है। सम्यक्त्व के साथ जो व्रत, तप, मूलगुण पालन करना है वही व्यवहार चारित्र है। 'उस व्यवहार चारित्र से कभी निश्चय चारित्र प्राप्त नहीं होता है। व्यवहार चारित्र शुभभावमय है, वह आत्मा का परिणाम नहीं है'। ऐसा कहना आगम विरुद्ध हैं। यदि ये व्रत, तप, संयम आत्मा के परिणाम नहीं हैं तो कषायों के उदय में ही इन्हें होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं है। आत्मा में कषायों का अभाव होने पर आत्मा के गुणों का प्रकट होना ही व्रत, तप, संयम है। अन्यथा ये सब मिथ्यादृष्टियों के पास ही होते सम्यग्दृष्टियों की आत्मा में नहीं । जब आत्मा में चारित्र गुण की समीचीन परिणति उत्पन्न होती है तो वह आत्मा व्रत, मूलगुणों को धारण करता है। यही व्यवहार चारित्र है जो निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान रूप निश्चय चारित्र का कारण होता है ।

प्रश्न-१२ जो पुद्गल से भिन्न आत्मा की उपलब्धि में विचार करते हैं, उन्हें किस ढंग से अपने चैतन्य को समझना चाहिए ?

उत्तर- उन्हें साम्यभाव से ही समझना चाहिए।

प्रश्न-१३ वह साम्यभाव की विधि क्या है ?

उत्तर- कलश ३४ में उसी की विधि कही गयी है

अथ परविवेकेनोत्साहयति -

इह खलु पुद्गलभिन्नात्मोपलब्धिं प्रति विप्रतिपन्नः साम्नैवैवमनुशास्यः।

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम् ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो ननु किमनुपलब्धिर्भाति किञ्चोपलब्धिः।। ३४ ।।

सं.टी.- ननु शब्दोत्र-आमन्त्रणे, विरम-विरक्तो भव संसारदुःखादेः पराद्वचोव्यापाराच्च अपरेण-परकीयेन, अकार्यकोलाहलेन कार्यादन्योऽकार्यः,

तद्भावे निषिद्धे च स्वरूपार्थेऽप्यतिक्रमे।
ईषदर्थे च सादृश्यात्तद्विरुद्धतदन्ययोः।।

इति नञ्शब्दस्य तदन्यवाचित्वात्, अकार्यश्चासौ कोलाहलश्च स, तेन-तथाहि-नैसर्गिकरागद्वेष-कर्मकल्माषितं, अध्यवसानमेव जीवः, तथाविधाध्यवसानादंगारस्येव कार्त्स्न्यात्तदतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वाद् इति केचित्।।१।। अनाद्यनन्तपूर्वापरीभूतावयवैक-संसरणक्रियारूपेण क्रीडन् कर्मैव जीवः, कर्मणातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वाद् इति केचित् ।।२।। तीव्रमन्दानुभवभिद्यमानदुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतान एव जीवस्ततोऽतिरिक्तस्यान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्।।३।। नवपुराणावस्थादिभावेन वर्तमानं नोकर्मैव जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् ।।४।। विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाक एव जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्।।५।।

उत्थानिका - पर का विवेक करने के साथ उत्साहित करते हुए कहते हैं-

अन्वयार्थ/अर्थ - हे भव्य! तुझे (अपरेण) अन्य (अकार्य-कोलाहलेन) व्यर्थ ही कोलाहल करने से (किम्) क्या लाभ है? तू (विरम) इस कोलाहल से विरक्त हो और (एकम्) एक चैतन्यमात्र वस्तु को (अपि स्वयं निभृतः सन्) निश्चल लीन होकर (पश्य षण्मासम्) देख; ऐसा छह मास अभ्यास कर और देख कि ऐसा करने से (हृदय-सरसि) अपने हृदय सरोवर में, (पुद्गलात् भिन्नधाम्नः) जिसका तेज, प्रताप, प्रकाश पुद्गल से भिन्न है ऐसे उस (पुंसः) आत्मा की (ननु किम् अनुपलब्धिः भाति) प्राप्ति नहीं होती है (किं च उपलब्धिः) या होती है?

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. 'ननु' यह अव्यय पद किसके लिए है ?

उत्तर- 'ननु' का अर्थ यहाँ 'आमंत्रण' से है। अर्थात् बुलाकर यहाँ संबोधन किया गया है। यह संबोधन कृपापूरक है।

प्रश्न-२. यहाँ आमन्त्रण में क्या करने को कहा गया है ?

उत्तर- आचार्य कहते हैं कि हे भव्यात्मन् ! तुम संसार के दुःखों से और दूसरों से बिना मतलब के वचन व्यपार से दूर होओ, विरक्त होओ।

सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमन्द गुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभव एव जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यास्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्।।६।। मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयमेव जीवः कार्त्स्न्यतः कर्मणोऽतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्।।७।। अर्थक्रियासमर्थः कर्म संयोग एव जीवः, कर्म संयोगात् खट्वाया इव काष्ठ संयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्।।८।। एवमेवं प्रकारेण कोलाहलेन किं ? न किमपि, तर्हि किं कर्त्तव्यं ? एकं षण्मासं षण्मासपर्यन्तं, पश्य अवलोकय, किंभूतः सन् ? स्वयमपि स्वत एव परनिरपेक्षो भूत्वा, निभृतः सन् निश्चलः सन् समस्तव्यापारतन्वादिचिन्तां विहाय, क्व ? हृदय सरसि-हृदयं-चित्तमेव, सरः सरोवरं, तस्मिन्, पुंस आत्मनः, तदा अनुपलब्धिः अप्राप्तिः किं ? भाति,-प्रतिभासते, च पुनः, पक्षान्तरे-उपलब्धिः प्राप्तिः, किं भाति, निश्चलं स्वात्मस्वरूपेऽवलोकिते सति षण्मासाभ्यन्तरे आत्मनः, अनुपलब्धिः उपलब्धिर्वा भवति इत्यर्थः, किंभूतस्य पुंसः ? पुद्गलात्-परमाण्वादिद्रव्यात्, भिन्नधाम्नः भिन्नं अतिरिक्तं, धाम तेजो यस्य तत्।।३४।।

प्रश्न-३. इसके अलावा और किससे विरक्त होने का कहा है ?

उत्तर- करने योग्य जो है वह कार्य कहलाता है। नहीं करने योग्य अकार्य कहलाता है। अकार्य ही वह कोलाहल है। उस नहीं करने योग्य अकार्य रूप कोलाहल से दूर होने को कहा है।

प्रश्न-४. यह कोलाहल किस प्रकार का है ?

उत्तर- जो उपर्युक्त आ.टी. में आठ प्रकार से पर को आत्मा मानने वाले मिथ्यादृष्टियों का कथन है। इस प्रकार के कोलाहल से क्या सिद्ध होगा ? तेरा क्या प्रयोजन बनेगा ? अर्थात् किसी की मान्यता यह है, किसी की यह है इस प्रकार के अकरणीय कोलाहल से तुझे कोई सिद्धि नहीं है।

प्रश्न-५. तो फिर हमें क्या करना चाहिए ?

उत्तर- तुम तो छह मास तक एक आत्मा का अवलोकन करो। जैसा आत्मा है वैसा आत्मा स्वयं ही उपलब्ध हो जाएगा।

प्रश्न-६. क्या करते हुए मैं आत्मा को देखूँ ?

उत्तर- स्वयं ही पर से निरपेक्ष होकर निश्चल होते हुए अर्थात् समस्त व्यापार (मन, वचन, काय को किसी कार्य में लगाना) और शरीर की चिन्ता को छोड़कर आत्मा को देखो।

प्रश्न-७. उस आत्मा का अवलोकन कहाँ करूँ ?

उत्तर- हृदय ही चित्त है। उस हृदय सरोवर में उस आत्मा को देखो।

प्रश्न-८. ऐसा देखते हुए क्या होगा ?

उत्तर- निश्चल रूप से स्व आत्म स्वरूप का अवलोकन होने पर छह महीने में आत्मा की तब अनुपलब्धि प्रतिभासित होती है या आत्मा की उपलब्धि (अनुभूति या प्राप्ति) होती है ? यह स्वयं

देखो ।

प्रश्न-९. वह आत्मा कैसा है ?

उत्तर- परमाणु आदि पुद्गल द्रव्य से सर्वथा भिन्न प्रकाशपुंज है। जिसका प्रकाश (तेज) पुद्गल से भिन्न प्रकार का है, ऐसा वह आत्मा है।

प्रश्न - १०. कलश काव्य ३४ में परात्मवादियों को सीधा साम्यभाव से समझाते हुए आत्मानुभवन को प्रेरित किया है, क्या ऐसा संभव है कि कोई मिथ्यादृष्टि सीधा आत्मानुभव करके आत्मा को प्रत्यक्ष कर ले?

उत्तर- आपका प्रश्न उचित है किन्तु यहाँ पर जिन्हें परात्मवादी कहा है उन्हें तत्व की विपरीत मान्यता वाले मिथ्यादृष्टि नहीं समझना इसीलिए इसका स्पष्टीकरण स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द देव ने गाथा ४४ में किया है कि ये गाथा ३९ से ४३ तक जो भाव कहे हैं वे भी जिनेन्द्र भगवान ने कहे हैं किन्तु पुद्गल द्रव्यमय कहे हैं। उसी का स्पटीकरण फिर गाथा ४६ में किया है कि ये सभी भाव व्यवहारनय से जीव के हैं। इससे स्पष्ट होता है कि जो व्यवहारनय से आत्मा की चर्चा में लगे रहते है उन्हें उस नय से हटाकर आत्म चर्या में निमग्न होने के लिए निश्चयनय की प्रेरणा दी है। यहाँ व्यवहार से नय से जीव को कर्म संयुक्त, राग, द्वेष, मोह मय मानने वाले व्यवहार सम्यग्दृष्टियों को निश्चय सम्यग्दृष्टि बनाने का उपदेश है। उन्हीं के लिए आचार्य अमृतचन्द जी साम्यभाव से आत्मानुभवन की प्रेरणा दे रहे हैं, यह स्पष्ट है।

कथंचिदन्वयप्रतिभासेप्यध्यवसानादय:पुद्गलस्वभावा इति चेत् -

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति ।
जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ।। ४५।। ता.टी. ५०

आ.टी.- अध्यवसानादिभावनिर्वर्तकमष्टविधमपि च कर्म समस्तमेव पुद्गलमयमिति किल सकलज्ञज्ञप्ति:। तस्य तु यद्विपाककाष्ठामधिरूढस्य फलत्वेनाभिलप्यते तदनाकुलत्वलक्षण-सौख्याख्यात्मस्वभावविलक्षणत्वात्किल दु:खं, तदंत:पातिन एव किलाकुलत्वलक्षणा अध्यवसानादिभावा:। ततो न ते चिदन्वयविभ्रमेप्यात्मस्वभावा: किंतु पुद्गलस्वभावा: ।।४५।।

उत्थानिका - कथंचित् अन्वय का प्रतिभास होने पर भी अध्यवसान आदि पुद्गल के स्वभाव हैं इस प्रकार पूछने पर कहते हैं-

अन्वयार्थ - (अट्ठविहं पि य) आठों प्रकार का (कम्मं) कर्म (सव्वं) सब (पुग्गलमयं) पुद्गलमय है ऐसा (जिणा) जिनेन्द्रभगवान सर्वज्ञदेव (विंति) कहते हैं- (जस्स विपच्चमाणस्स) पक्व होकर उदय में आने वाले कर्म का (फलं) फल (तं) प्रसिद्ध (दुक्खं) दु:ख है (वुच्चदि) ऐसा कहा है।

अर्थ- ये आठ प्रकार के कर्म पुद्गलमयी हैं ऐसा जिनेन्द्र भगवान् कहते हैं ; क्योंकि उदय में आये हुए सभी कर्मों का फल दु:ख स्वरूप होता है।।५०।।

आ.व्या.- अध्यवसान आदि भावों को उत्पन्न करने वाला आठों ही प्रकार का जो कर्म है वह सब पुद्गल है, ऐसा सर्वज्ञ भगवान् का कथन है। विपाक (फल देने) की पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ वह कर्म के फल रूप से कहा जाता है। वह कर्म का फल निश्चित रूप से दु:ख है क्योंकि वह अनाकुलत्व लक्षण वाले सौख्य रूप आत्म स्वभाव से विपरीत है। ये अध्यवसान आदि भाव उसी दु:ख में अन्तर्भूत होते हैं इसलिए आकुलत्व लक्षण वाले हैं। इसी कारण से उन अध्यवसान आदि भावों में चैतन्य के अन्वयपने का विभ्रम उत्पन्न होने पर भी वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं किन्तु पुद्गल के स्वभाव हैं।

(ता.टी.)

जब कि रागादि अध्यवसानभावों में चिद्रूप का प्रतिभास होता है तब इनको पुद्गल स्वभाव कैसे कहा जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर आगे देते हैं -

---

सर्वज्ञ ये कह रहे जिन चित्स्वरूपी, हैं कर्म अष्टविध पुद्गलरूप रूपी ।
आता यदा उदय में बस कर्म बैरी, दे दु:ख मात्र फल हो, भव बीच फेरी ।।५०।।

अथ चिद्रूपप्रतिभासेऽपि रागाद्यध्यवसानादयः कथं पुद्गलस्वभावा भवन्तीति चेत्-

ता.टी.- **अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति** सर्वमष्टविधमपि कर्म पुद्गलमयं भवतीति जिना वीतरागसर्वज्ञा ब्रुवन्ति कथयन्ति। कथम्भूतं ? यत्कर्म जस्स फलं तं **वुच्चदि दुक्खं ति विपच्चमाणस्स** यस्य कर्मणः फलं तत्प्रसिद्धमुच्यते किं व्याकुलत्वस्वभावत्वात् दुःखमिति । कथम्भूतस्य कर्मणः? विशेषेण पच्यमानस्योदयागतस्य। इदमत्र तात्पर्यम्। अष्टविधकर्मपुद्गलस्य कार्यमनाकुलत्वलक्षणपरमार्थसुखविलक्षण- माकुलत्वोत्पादकं दुःखं रागादयोऽप्याकुलत्वोत्पादकदुःखलक्षणास्ततः कारणात्पुद्गलकार्यत्वात् शुद्धनिश्चयनयेन पौद्गलिका इति।।५०।। अष्टविधं कर्म पुद्गलद्रव्यमेवेति कथनरूपेण गाथा गता।।५०।।

टीकार्थ- अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति कर्म आठ प्रकार के होते हैं; वे सभी पुद्गलमय हैं ऐसा सर्वज्ञ जिन भगवान् बतलाते हैं क्योंकि **जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खं ति विपच्चमाणस्स** उदय में आये हुए इन आठ कर्मो का फल आकुलता को लिये हुए दुःखरूप होता है । तात्पर्य यह है कि आठों प्रकार के कर्मों का कार्य अनाकुलता है लक्षण जिसका; ऐसे पारमार्थिक सुख से विलक्षण है, आकुलता का उत्पादक है अतः वह दुःखरूप है और रागादि भाव भी आकुलता के उत्पादक होने से दुःख स्वरूप ही हैं । इस प्रकार आठ कर्म तो पुद्गलमय ही हैं; इसलिए शुद्धनिश्चयनय से पौद्गलिक हैं । इस प्रकार आठ कर्मों को पुद्गलमय बताने वाली यह गाथा पूर्ण हुई ।।५०।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. अध्यवसान आदि रूप भाव किसे कहते हैं ?

उत्तर- आत्मा में उत्पन्न होने वाले राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व, ममत्व आदि रूप वैभाविक परिणाम अध्यवसान कहलाते हैं।

प्रश्न-२. ये अध्यवसान किस कारण से आत्मा में उत्पन्न होते हैं ?

उत्तर- आत्मा में पहले से बँधे हुए द्रव्य कर्मों का उदय इन भावों की उत्पत्ति में कारण पडता है।

प्रश्न-३. कर्म का फल क्या कहलाता है ?

उत्तर- सत्ता रूप से आत्मा में पडा कर्म जब उदय को प्राप्त होता है तब वह उस कर्म का फल कहलाता है। इसी को कर्म का विपाक कहते हैं।

प्रश्न-४. यह कर्म का विपाक किस रूप है ?

उत्तर- सभी कर्मो का विपाक दुःख रूप है।

प्रश्न-५. तो सुख रूप क्या है ?

उत्तर- आत्मा का, इन कर्मोदय के अभाव में प्राप्त होने वाला, अनाकुल परिणाम ही सुख है।

प्रश्न-६. क्या सभी कर्म दु:ख रूप हैं, या मात्र आत्म सुख को घातने वाले मोहनीय आदि कर्म ?

उत्तर- सामान्य रूप से सभी कर्म दु:ख रूप हैं तभी यहाँ आ.टी. में आठों कर्म से उत्पन्न भाव कर्म को दु:ख कहा है। फिर भी विशेष रूप से आत्मा के अनाकुल अनन्त सुख का घात करने वाले घातिया कर्म का अभाव हो जाने पर आत्मा का स्वाभाविक अनाकुल सुख प्रकट हो जाता है। अध्यात्म की दृष्टि से आत्मस्वभाव को दृष्टि में रखकर कर्मजन्य परिणाम को दु:ख कहा जाता है, सर्वथा नहीं।

प्रश्न-७. जब घातिया कर्मों के अभाव से अनाकुल सुख प्रकट हो गया फिर अन्य अघाति कर्मों का उदय दु:ख कैसे रहा ?

उत्तर- सामान्य से कर्म का उदय बना रहने पर असिद्धत्व नाम का औदयिक भाव बना रहता है। इस औदयिक भाव के कारण केवलज्ञानी को भी सिद्धत्व की अनुभूति का सुख नहीं मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि आयु कर्म आदि अघाति होने पर भी आत्मा के लिए शरीर में बंधन के लिए कारणभूत होने से कुछ- न - कुछ स्वभावगत सिद्धत्व परिणाम के घातक हैं, अत: दु:ख रूप हैं।

प्रश्न-८. अध्यवसान और अध्यवसाय में क्या अन्तर है ?

उत्तर- अध्यवसान रागादि परिणाम का नाम है और तर्क आदि के द्वारा वस्तु की परीक्षा करना या सम्यग्ज्ञान रखना अध्यवसाय है। जैसा कि पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में कहा है-

कर्त्तव्योऽध्यवसाय: सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु- ३५

अर्थात्- समीचीन अनेकान्तात्मक तत्त्वों में अध्यवसाय करना चाहिए।

प्रश्न-९. फिर अनध्यवसाय क्या कहलाता है ?

उत्तर- तत्त्वार्थ का निर्णय नहीं करना या वस्तु रूप का ज्ञान ही नहीं होना अनध्यवसाय कहलाता है। इसी को मोह भी कहा जाता है, जिसमें 'यह क्या है ?' ऐसा जानने का प्रयास भी नहीं होता है। यह मिथ्यात्व की परिणति है। कहा भी है- 'संशयविपर्ययानध्यवसाय- विवक्तमात्मरूपं तत्' (पुरुषार्थ सिद्धयुपाय- ३५)

अर्थात्- सम्यग्ज्ञान संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित आत्म रूप होता है ।

प्रश्न-१०. आत्मा के अनाकुल आनन्द स्वभाव से विलक्षण पुण्य-पाप दु:ख रूप हैं। वे सुख का साधन कैसे हो सकते हैं ? फिर भी उन्हें साधन कहा जाता है। जैसे मोक्षमार्ग दो प्रकार का नहीं है, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है, उसी प्रकार से साधन दो प्रकार के नहीं, उनका कथन दो प्रकार से है। जब निश्चय सम्यग्दर्शन होता है तब साथ में जो देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा का राग होता है, उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। वस्तुत: राग तो चारित्र का दोष है ?

उत्तर- यह कथन आगम विरुद्ध है। एकान्त मान्यता अनेकान्त दर्शन में मिथ्यात्व है। जो कथन आचार्यों की लेखनी में नहीं है और उनके अभिप्राय के विपरीत है वह सब एकान्त मिथ्यात्व है। देखो -

१. आत्मा के अनाकुल आनन्द स्वभाव से विलक्षण पुण्य-पाप दुःख रूप हैं। वे सुख के साधन कैसे हो सकते है ? यह कथन अनेकान्त के विरुद्ध है। दुःख-सुख भी आत्मा के साधन बनते हैं, यह मात्र कहने की बात नहीं है। किन्तु पूर्वक्षणवर्ती कारण और उत्तर क्षणवर्ती कार्य की तरह न्याय सिद्ध है। दुःख रूप असाता कर्म का उदय आने पर सनतकुमार चक्रवर्ती को जब कोढ़ हुआ तो उन्होंने आत्मा के अनाकुल सुखानुभूति की प्राप्ति का मार्ग अपनाया। उन्हें वह अनुभूति प्राप्त हुई। दुःखमय संसार की स्थिति को देखकर मन में जब दुःख उत्पन्न होता है तो वह संसार से वैराग्य का कारण बनकर आत्मप्राप्ति का लक्ष्य बनाता है। यही दुःख कारण रूप कहलाता है। बाहुबली ने भरत की धृष्टता देखकर इसी कारण वैराग्य धारण कर आत्मानुभूति प्राप्त की। चन्द्रगुप्त मौर्य, चाणक्य आदि अनेक जीवात्माओं के लिए यह दुःख आत्मानुभूतिजन्य सुख का कारण बना है। इसी तरह कर्मोदयजन्य सुख भी आत्मा के अनाकुल स्वभाव का साधक है। वज्रवृषभनाराच संहनन, उच्च गोत्र, मनुष्यायु, अनेक नामकर्म ऐसे सुख रूप कर्मोदयगत परिणाम हैं जो केवलज्ञान के लिए या निर्विकल्प आत्मानुभूति के लिए कारण हैं। उत्तम संहनन रूप पुण्यसुख के बिना कभी निश्चल आत्मानुभूति नहीं हो सकती है और उसके बिना कभी केवलज्ञान के साथी निराकुल सुख का लाभ नहीं हो सकता है। इसलिए यह एकान्त धारणा मिथ्यात्वजन्य है, जो सहकारी कारणों को कारण रूप से स्वीकार नहीं करती है।

२. 'यहाँ साधन दो प्रकार के नहीं हैं'। ऐसा कहकर निमित्त साधन को झुठलाया जा रहा है या मान्य नहीं किया जा रहा है। आचार्य समन्तभद्र आदि दार्शनिक आचार्यों ने कार्य की उत्पत्ति दोनों ही साधनों से मानी है, एक साधन से नहीं। **'हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा'** कार्य सदैव दोनों हेतुओं (साधनों) से निष्पन्न होता है। **(स्वयंभूस्तोत्र- ३३)** इसी तरह **'न तद्विरुद्धं बहिरंतरंगनिमित्त-नैमित्तिकयोगतस्ते'** बहिरंग निमित्त और अन्तरंग नैमित्तिक के योग से ही कार्य होता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। **(स्वयंभूस्तोत्र- ४३)** ऐसा किसी आचार्य का अभिप्राय नहीं कि हेतु दो प्रकार का होता नहीं है वह तो मात्र कहा जाता है। जिनवाणी में जो होता है वही कहा जाता है। अपने मन की वाणी में तो होता कुछ है और कहा कुछ और जाता है।

३. साधन दो प्रकार के नहीं होते हैं इसके लिए मोक्षमार्ग का उदाहरण भी उदाहरणाभास है। जैसे साधन वास्तविक रूप में दो प्रकार के हैं उसी प्रकार मोक्षमार्ग भी वास्तविकता में दो प्रकार का है। कहने मात्र के लिए नहीं। **'निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः' (प्र.सार ७/३०)** यहाँ मोक्षमार्ग को निश्चय और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का स्थित हुआ कहा है। जो जिस रूप में स्थित होता है वह उस रूप से ही कहा जाता है। यह मात्र कथन शैली नहीं है,

जैसा आपने कहा है कि 'मोक्षमार्ग दो प्रकार का नहीं है किन्तु वैसा कहा जाता है'। यह अपने मन की मनमानी अवधारणा है। स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द देव व्यवहार मोक्षमार्ग का स्वरूप बताकर उस पर चलने की प्रेरणा दे रहे हैं और उस मार्ग को स्थापित कर रहे हैं। देखें-

धम्मादी सद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं ।
चेट्ठा तवम्मि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ।। पंचा. १६०

अर्थ- धर्म आदि द्रव्यों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है। अंग पूर्वों का ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है और तप में चेष्टा करना चारित्र है। यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

क्या यह व्यवहार मोक्षमार्ग मात्र कहने के लिए है ? जिसे कुछ करना नहीं है उसके लिए यह मात्र कहने के लिए ही हो सकता है। यदि व्यवहार मोक्षमार्ग कुछ नहीं है तो उसका अंगभूत व्यवहार सम्यग्दर्शन भी कुछ नहीं ठहरा। फिर छह द्रव्यों का श्रद्धान भी मात्र कहने के लिए ही हुआ, करने के लिए नहीं हुआ।

४. इसी के आगे और भी मान्यता देखो कि- 'जब निश्चय सम्यग्दर्शन होता है तब देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा का राग होता है, उसे व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं।' यानी निश्चय सम्यग्दर्शन पहले होगा फिर व्यवहार सम्यग्दर्शन में श्रद्धा का राग होगा। आचार्यों ने निश्चय को साध्य और व्यवहार को साधन कहा है। न्याय में साधन होने पर साध्य की प्राप्ति होती है, यह सर्वत्र मान्य है। किन्तु यहाँ साध्य होने पर साधन की बात है जो नितान्त उलटी ही नहीं किन्तु आचार्यों के अभिप्राय से विरुद्ध होने के कारण मिथ्यात्व की पोषक है।

'निश्चयमोक्षमार्गसाधकं व्यवहारमोक्षमार्गं जानीहि' (पर.प्र.टी. २/१४)

अर्थात्- व्यवहार मोक्षमार्ग को निश्चय मोक्षमार्ग का साधक जानो। ऐसे बहुत से उद्धरण हैं जिन्हें लिखा जाना बार-बार पिष्टपेषण करना है।

५. राग चारित्र का दोष है, यह भी आगम विरुद्ध बात है। भला जो चारित्र आत्मा का स्वाभाविक गुण है उसका दोष राग कैसे हो सकता है ? जो राग कषाय के कारण होता है उसे आत्मा के गुण का दोष बता दिया। जो परिणाम कर्म का है उसे आत्मा का दोष कहा जा रहा है और उधर जो तप, संयम आदि आत्मा के परिणाम हैं उन्हें शुभाशुभ कहकर पुद्गल के परिणाम कहना एकदम उलटा प्ररूपण करके जिनशासन को दूषित करने का प्रयास है।

यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तदा कथं जीवत्वेन सूचिता इति चेत्-

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं ।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ।। ४६ ।। ता.टी. ५१

आ.टी.- सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावः जीवा इति यद्भगवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनम्। व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमंतरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशंकमुपमर्दनेन हिंसाभावाद्भवत्येव बंधस्याभावः। तथा रक्तद्विष्टविमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः ।।४६।।

उत्थानिका - यदि अध्यवसान आदि पुद्गल के स्वभाव हैं तो जीवपने से कैसे सूचित हुए हैं, यह कहते हैं-

अन्वयार्थ - (एदे सव्वे) यह सब (अज्झवसाणादओ भावा) अध्यवसानादि भाव (जीवा) जीव हैं इसप्रकार (जिणवरेहिं) जिनेन्द्रदेव ने (उवएसो वण्णिदो) जो उपदेश दिया है सो (ववहारस्स दरीसणं) व्यवहारनय दिखाया है।

अर्थ - ये सब रागादि अध्यवसानमयी भाव जीव हैं; ऐसा जिनवर भगवान् ने जो उपदेश दिया है वह व्यवहार नय का मत है ।।५१।।

आ.व्या.- 'ये सभी अध्यवसान आदि भाव जीव हैं' इस प्रकार जो भगवान् सर्वज्ञ के द्वारा कहा गया है, वह अभूतार्थ रूप उस व्यवहार का भी दर्शन है। व्यवहार नय व्यवहारी जनों को परमार्थ का प्रतिपादक होने से अपरमार्थ होने पर भी तीर्थप्रवृत्ति के निमित्त से दिखाना, म्लेच्छों को म्लेच्छ भाषा में समझाने के समान न्यायपूर्ण (उचित) ही है। उस व्यवहार नय के बिना तो शरीर से जीव का परमार्थ से भेद देखने से त्रस-स्थावर जीवों का भस्म (राख) के समान निःशंक होकर उपमर्दन (घात) कर देने से हिंसा का अभाव होगा, जिससे हिंसा होने पर भी बंध का अभाव होगा। उसी प्रकार 'रागी, द्वेषी विमूढ.जीव कर्म से बँध रहा है वही छुडाने योग्य है' इस तरह का कथन भी नहीं बनेगा; क्योंकि राग, द्वेष, मोह के द्वारा जीव का परमार्थ से भेद देखा जाने पर भी मोक्ष के उपाय को ग्रहण करने का अभाव होगा, जिससे मोक्ष का ही अभाव होगा।

जो राग-रोषमय भाव तुझे दिखाते, वे 'जीव' मात्र व्यवहारतया कहाते ।
ऐसा सदा कह रही यह जैनवाणी, पी ले तृषा झट बुझा, अति शीत पानी ।।५१।।

अथ यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तर्हि रागी द्वेषी मोही जीव इति कथं जीवत्वेन ग्रन्थान्तरे प्रतिपादिता इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति-

ता.टी.- **ववहारस्स दरीसणं** व्यवहारनयस्य स्वरूपं दर्शितं। यत्किं कृतम्? **उवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं** उपदेशो वर्णितः कथितो जिनवरैः। कथम्भूतः? **जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा** जीवा एते सर्वे अध्यवसानादयो भावाः परिणामा भण्यन्त इति। किं च विशेषः। यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यावलम्बनत्वेनाभूतार्थस्तथापि रागादिबहिर्द्रव्यावलम्बनरहित विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्वावलम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद्दर्शयितुमुचितो भवति। यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्ध निश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवन्तीति मत्वा निःशंकोपमर्दनं कुर्वन्ति जनाः। ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येकं दूषणं, तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहितः पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोऽपि न करोति ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणम्। तस्माद् व्यवहारनयव्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्रायः।। ५१ ।।

इस पर कोई प्रश्न करता है कि यदि रागद्वेषादि अध्यवसानभाव पुद्गलमय ही है तो फिर जीव रागी, द्वेषी, मोही होता है; इस प्रकार अन्य ग्रंथों में इनको जीव स्वरूप क्यों कहा गया ? इसका उत्तर आगे देते हैं?

टीकार्थ- ववहारस्स दरीसणं यह व्यवहार नय का दर्शन है - मत है - स्वरूप है - जो कि **उवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं** जिनेन्द्र भगवान् ने बतलाया कि **जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा** ये सब अध्यवसानादि भाव, परिणाम भी जीव हैं । स्पष्टीकरण यह है कि यद्यपि व्यवहारनय बहिर्द्रव्य का आलंबन लेने से अभूतार्थ है किन्तु रागादि बहिर्द्रव्य के आलंबन से रहित और विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव के आलंबन सहित ऐसे परमार्थ के प्रतिपादक व्यवहार नय को सर्वथा भुला दिया जाये तो फिर शुद्ध निश्चय से तो त्रस और स्थावर जीव हैं ही नहीं; अतः फिर लोग निःशंक होकर उनके मर्दन में प्रवृत्ति करने लगेंगे,.ऐसी दशा में पुण्य रूप धर्म का अभाव हो जायगा, एक दूषण तो यह आयेगा । तथा शुद्ध निश्चयनय से तो जीव रागद्वेष मोह से रहित पहले से ही हैं अतः मुक्त ही हैं, ऐसा मानकर फिर मोक्ष के लिए भी अनुष्ठान कोई क्यों करेगा, अतः मोक्ष का भी अभाव हो जाएगा, यह दूसरा दूषण आयेगा । इसलिए व्यवहारनय का व्याख्यान परम आवश्यक है,निरर्थक नहीं है ।।५१।।

पंडित जयचंदजी का भावार्थ - परमार्थनय तो जीव को शरीर और राग-द्वेष-मोह से भिन्न कहता है । यदि इसी का एकांत किया जाये,तब शरीर तथा राग, द्वेष, मोह पुद्गलमय ठहरे और तब पुद्गल के घात से हिंसा नहीं हो सकती और राग द्वेष मोह से बंध नहीं हो सकता । इस प्रकार परमार्थ से संसार और मोक्ष दोनों का अभाव हो जाएगा, ऐसा एकान्तरूप वस्तु का स्वरूप नहीं

है। अवस्तु का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण मिथ्या अवस्तुरूप ही है इसलिए व्यवहार का उपदेश न्याय प्राप्त है । इस प्रकार स्याद्वाद से दोनों नयों का विरोध मिटाकर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है ।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस गाथा में क्या बताया गया है ?

उत्तर- यहाँ एकान्त निश्चय नय के अभिप्राय को दूर करने के लिए व्यवहार नय का स्वरूप दिखाया गया है।

प्रश्न-२. वह व्यवहार नय का स्वरूप किसलिए है ?

उत्तर- निश्चय नय से ये राग, द्वेष, कषाय आदि हिंसात्मक भाव आत्मा के नहीं हैं किन्तु व्यवहार नय से ये आत्मा के ही हैं। ऐसा केवली भगवान् ने कहा है।

प्रश्न-३. यह व्यवहार नय तो केवल कहने के लिए है, हेय स्वरूप है। वास्तविक तो है नहीं फिर इसका स्वरूप क्यों दिखाया है ?

उत्तर- इसीलिए दिखाया है कि इस जीव आत्मा की उलटी धारणा न बन जाए। व्यवहार नय यदि केवल कथन मात्र होता और वस्तु का स्वरूप नहीं होता तो फिर छह काय के जीवों का वध करना, हिंसा आदि पाँच पाप करना केवल कथन शैली होती, वास्तविकता में तो जीव का बंध और पाप आदि कुछ नहीं होते। यदि व्यवहार नय की वास्तविकता न होती तो जीव को बंध भी नहीं होता क्योंकि जीव कर्मों से बंध रहा है, यह कथन भी व्यवहारनय का है। जीव की हिंसा से पाप कर्म का बंध होता है। यह कथन भी व्यवहारनय का है। यदि यह व्यवहार नय अभूतार्थ (जिसे असत्यार्थ कहा जाता है।) ही है तो जीव की बंध पर्याय, संसार पर्याय सब झूठ ही कहलावे। जब जीव का बंध झूठ है फिर मोक्ष किसे होवे, वह तो वास्तव में मुक्त ही है क्योंकि बंध है सो अभूतार्थ है, वह व्यवहार नय का विषय है। ऐसी मिथ्या परिणति हो जाने पर जीव की रक्षा करना और जीव को मारना सब एक समान हो जाएगा, इस एकान्त मिथ्यात्व से बचाने के लिए यह व्यवहार नय का स्वरूप भगवान् सर्वज्ञ ने प्रतिपादित किया है। व्यवहार नय मात्र कथन शैली नहीं है किन्तु वस्तु का वास्तविक स्वरूप दर्शाता है। यही बात आचार्य अमृतचन्द्र जी ने टीका में कही है कि यदि व्यवहार नय के बिना जीव प्रवृत्ति करे तो जैसे राख को मसलने से हिंसा नहीं होती वैसे ही जीवसमूह को मारने से, कुचलने से नहीं होती, यह सिद्ध होगा ऐसी स्थिति में जीव को बंध का अभाव होगा। बंध का अभाव हो गया तो फिर मोक्ष किसको होगा ? इसलिए मोक्ष भी व्यवहारनय से ही होता है। निश्चयनय से तो आत्मा में जिस तरह बंध का अभाव है उसी तरह मोक्ष का भी अभाव है। इसके अलावा जीव को रागी, द्वेषी, मोही कहना, यह भी व्यवहारनय से है। यदि व्यवहार नय असत्य और हेय ही है तो फिर कोई भी जीव वास्तव में रागी, द्वेषी, मोही, पापी ही

नहीं होगा। जब वास्तव में जीव राग, द्वेष, मोह से रहित है और आत्मा स्वभावत: शुद्ध है तो सांख्य मत और जैन मत में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। सांख्य मत भी यह कहता है 'कि पुरुष आत्मा सदा काल निर्बन्ध, शुद्ध है। बंध मात्र प्रकृति में होता है अपनी अविद्या से पुरुष बँधा है, ऐसा प्रतिभासित होता है।' इसी तरह यदि जीव राग, द्वेष, मोह से रहित हो गया तो फिर मोक्ष के उपाय का ही अभाव होगा। क्योंकि मोक्ष का उपाय तो तब ही किया जाएगा, जब जीव वास्तव में बँधा हो। जीव वास्तव में बंधा है ऐसा माने बिना कभी मोक्षमार्ग ही नहीं बन सकता है।

अत: जीव वास्तव में कर्म से बँधा है और बँध रहा है, ऐसा मानो। यह मानना व्यवहार नय से है क्योंकि व्यवहार नय ही दो भिन्न स्वभाव वाली वस्तुओं में बंध दशा को दिखाता है, निश्चय नहीं। इससे सिद्ध है कि यदि जीव की बंध दशा यथार्थ है, भूतार्थ है तो **व्यवहार नय भी अपने विषय का कथन करने में यथार्थ है, भूतार्थ है, सर्वथा अभूतार्थ नहीं।**

प्रश्न-४. भाई ! संसार, मोक्षमार्ग व मोक्ष ये सब पर्यायें हैं, धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति भी पर्यायरूप है। पर्याय है, इसलिए व्यवहार है। यद्यपि व्यवहार अपरमार्थभूत है, क्योंकि उसके आश्रय से निर्मलता प्रगट नहीं होती तथापि उसका दर्शाना न्यायसंगत है, क्योंकि उसका अस्तित्व तो है न ? त्रिकाली शुद्ध तत्त्व भूतार्थ है, सत्यार्थ है व पर्याय अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। पर्याय आश्रय करने लायक नहीं है, इसलिए उसे अपरमार्थ कहा है। पर्याय है ही नहीं, ऐसा नहीं है।

उत्तर- क्यों द्रव्य की समग्र परिणति को छोडक़र मात्र पर्याय पर ही दृष्टि रखे हो भाई ! यदि संसार, मोक्षमार्ग व मोक्ष ये सब पर्याय हैं तो ये पर्यायें क्या द्रव्य से पृथक् हैं। क्या इन पर्यायों के साथ द्रव्य नहीं रहता है ? क्या पर्याय हैं इसलिए व्यवहार है? हम पूछते हैं कि व्यवहार क्या पर्याय को ही विषय बनाता है ? **आलाप पद्धति** में व्यवहार नय के दो भेद कहे हैं-

१. सामान्यसंग्रहभेदको व्यवहारो यथा द्रव्याणि जीवाजीवा:। अर्थात् सामान्य संग्रह में भेद करने वाला व्यवहार नय- जैसे द्रव्य दो प्रकार के हैं- जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य।

२. विशेष संग्रह भेद को व्यवहारो यथा - जीवा संसारिणो मुक्ताश्च इति व्यवहारोऽपि द्वेधा। अर्थात् संग्रह में विशेष भेद करने वाला व्यवहार जैसे कि जीव संसारी और मुक्त हैं।

आचार्यों ने व्यवहार में द्रव्य को ग्रहण किया है। संसारी और मुक्त जीव ये क्या मात्र पर्याय भेद से होते हैं ? बिना अशुद्ध द्रव्य के संसारी पर्याय और बिना शुद्ध द्रव्य के मोक्ष पर्याय कहाँ से आएगी ? और 'यह कहना कि व्यवहार अपरमार्थ है क्योंकि उसके आश्रय से निर्मलता प्रकट नहीं होती है' यह तर्क भी खोखला है। निर्मलता व्यवहार में व्यवहार के द्वारा ही प्रकट होती है। निश्चय से जब तुमने द्रव्य को त्रैकालिक शुद्ध मान ही लिया तो अब उसमें निर्मलता और मलिनता का प्रश्न ही नहीं उठता। यह वचन वक्ता के लिए स्ववचन बाधित है। एक तरफ पर्याय मात्र को अशुद्ध

दिखाकर द्रव्य को शुद्ध मानना और फिर उस द्रव्य की शुद्धता को प्रकट करना ये दोनों बातें स्वयं विरोध को प्राप्त हैं। जब द्रव्य शुद्ध है, तो फिर शुद्धता प्रकट करने की बात ही गलत है। ये सब मनगढंत व्याख्यायें मात्र अज्ञानी श्रोताओं को ही लुभाती हैं।

'त्रिकाली शुद्ध तत्त्व भूतार्थ है, पर्याय अभूतार्थ है' ऐसा कथन ही आगम विरुद्ध है। यदि ऐसा होता तो मात्र पर्याय को ही शुद्ध करने की बात आगम में कही होती, द्रव्य को नहीं। द्रव्य को शुद्ध-अशुद्ध दो रूप क्यों कहा है ? द्रव्यार्थिक नय में द्रव्य के दो भेद शुद्ध द्रव्यार्थिक नय और अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय क्यों कहे हैं ? यह तो द्रव्य भिन्न और पर्याय भिन्न करने की एकान्तिक जिद है। जबकि जैसा द्रव्य होता है वैसी ही पर्याय निकलती है। अशुद्ध द्रव्य की अशुद्ध पर्याय और शुद्ध द्रव्य की शुद्ध पर्याय होती है। त्रिकाली शुद्ध तत्त्व तो मात्र चैतन्य सामान्य की अपेक्षा से है। यह शुद्धता तो अनादि से अभव्य जीव में भी पडी है और अनन्त काल ज्यों की त्यों पडी रहेगी। इस त्रिकाली शुद्धता से न संसार होता है और न मोक्ष होता है। आपने पूरा मोक्षमार्ग पर्याय कह दिया तो वह मोक्षमार्ग भी पर्याय होने से अपरमार्थ हो गया। मोक्षमार्ग अपरमार्थ है। मोक्ष अपरमार्थ है, तो फिर परमार्थ क्या है ? आपके कथन से तो यही बात समझ में आती है कि मोक्षमार्ग सच्चा है और न मोक्ष सच्चा है। फिर चर्चा और चर्या में क्या करना ? आचार्य अमृतचन्द्र जी महाराज को इस निश्चय एकान्त अवधारणा का भय था, तभी उन्होंने कहा कि निश्चय नय से बंध, मोक्ष का ही अभाव है फिर रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग का भी अभाव कहीं न हो जाए। अतः व्यवहारनय ही परमार्थ तक पहुँचाने वाला है और परमार्थ का प्रतिपादक है। आचार्य कुन्दकुन्द देव और सभी टीकाकारों ने व्यवहार नय का व्याख्यान किया है और इस व्यवहारनय की उपादेयता को स्वीकार किया है, यह टीकाओं से स्पष्ट है।

बिना चिंतन के मंथन नहीं होता ।

अथ केन दृष्टांतेन प्रवृत्तो व्यवहार इति चेत् -

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो ।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ।। ४७ ।। ता.टी. ५२
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ।। ४८ ।। ता.टी. ५३ (युगलम्)

आ.टी.- यथैष राजा पंच योजनान्यभिव्याप्य निष्क्रामतीत्येकस्य पंचयोजनान्यभिव्याप्तु-मशक्यत्वाद्व्यवहारिणां बलसमुदाये राजेति व्यवहारः परमार्थतस्त्वेक एव राजा; तथैष जीवः समग्रं रागग्राममभिव्याप्य प्रवर्तत इत्येकस्य समग्रं रागग्राममभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणामध्यवसाना-दिष्वन्यभावेषु जीव इति व्यवहारः, परमार्थतस्त्वेक एव जीवः ।।४७-४८ ।।

उत्थानिका - अब किस दृष्टान्त से यह व्यवहार प्रवृत्त होता है, ऐसा पूछने पर कहते हैं-

अन्वयार्थ - जैसे कोई राजा सेनासहित निकला वहाँ (राया हु णिग्गदो) 'यह राजा निकला' (त्ति य एसो) इस प्रकार जो यह (बलसमुदयस्स) सेना के समुदाय को (आदेसो) कहा जाता है सो वह (ववहारेण दु उच्चदि) व्यवहार से कहा जाता है (तत्थ) उस सेना में (एको णिग्गदो राया) राजा तो एक ही निकला है; (एमेव य) इसी प्रकार (अज्झवसाणादि अण्णभावाणं) अध्यवसानादि अन्य भावों को (जीवो त्ति) 'यह जीव है' इस प्रकार (सुत्ते) परमागम में कहा है सो (ववहारो कदो) व्यवहार किया है, (तत्थ णिच्छिदो) यदि निश्चय से विचार किया जाये तो उनमें (जीवो एको) जीव तो एक ही है।

अर्थ - राजा जब कहीं जाता है तो अपने किंकरों को साथ लेकर जाता है वहाँ उस सारे समुदाय को ही यह राजा जा रहा है इस प्रकार व्यवहार से कहा जाता है । वैसे ही राग द्वेषादि अध्यवसान भाव जो अन्य पुद्गलादि द्वारा उत्पन्न हुए हैं अतएव कथञ्चित् जीव से भिन्न भावों सहित जीव को ही व्यवहारनय से आगम में जीव कहा गया है ।।५२-५३।।

आ.व्या.- जैसे यह राजा पाँच योजन (रास्ते) को घेर कर निकल रहा है किन्तु एक राजा का पाँच योजन तक व्याप्त (घेरना) करना अशक्य है, फिर भी व्यवहार करने वालों का सेना के समूह में राजा का इस तरह व्यवहार होता है। परमार्थ से देखा जाय तो एक ही राजा है। उसी प्रकार

है जा रही रभस से चतुरंग सेना, भूपाल है चल रहा पर मान लेना ।
ऐसा सहर्ष व्यवहार स्वगीत गाता, राजा यथार्थ वह यद्यपि एक जाता ।।५२।।

संयोगजन्य रति-राग विभाव भावों, को जीव मान चलती व्यवहारता वो ।
पूछो यथार्थ जिन आगम से, अकेला, है जीव, बाह्य सब खेल झमेल मेला ।।५३।।

अथ केन दृष्टान्तेन प्रवृत्तो व्यवहार इत्याख्याति -

ता.टी. - राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो राजा हु स्फुटं निर्गत एव बलसमुदयस्यादेशः कथनं। **ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया** बलसमूहं दृष्ट्वा पंचयोजनानि व्याप्य राजा निर्गत इति व्यवहारेणोच्यते। निश्चयनयेन तु तत्रैको राजा निर्गत इति दृष्टान्तो गतः। इदानीं दार्ष्टान्तमाह - **एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं** एवमेव राजदृष्टान्तप्रकारेणैव व्यवहारः। केषाम्? अध्यवसानादीनां जीवादिभिन्नभावानां रागादिपर्यायाणां। **जीवो त्ति कदो सुत्ते** कथम्भूतो व्यवहारः ? रागादयो भावाः व्यवहारेण जीव इति कृतं भणितं सूत्रे परमागमे। **तत्थेको णिच्छिदो जीवो** तत्र तेषु रागादिपरिणामेषु मध्ये निश्चितो ज्ञातव्यः। कोऽसौ? जीवः कथम्भूतः? शुद्धनिश्चयनयेनैको भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितः शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीव- पदार्थः। इति व्यवहारनयसमर्थनरूपेण गाथात्रयं गतम् ।। ५२-५३ ।।

यह जीव समस्त राग समूह को व्याप्त करके रहता है किन्तु एक आत्मा का समग्र राग समूह को व्याप्त करके रहना अशक्य है फिर भी व्यवहारीजनों को अध्यवसान आदि अन्य भावों में जीव है, इस प्रकार का व्यवहार होता है। परमार्थ से देखा जाय तो जीव एक ही है।

जब कि व्यवहार का उपदेश आवश्यक है तो फिर वह कैसे प्रवृत्त होता है सो दृष्टांत द्वारा बताते हैं -

टीकार्थ- राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्य आदेसो राजा के साथ जाती हुई सेना को देखकर सारी सेना को ही यह राजा जा रहा है **ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया** जो कि पाँच योजन तक फैला हुआ है, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है, किंतु निश्चय से देखें तो राजा एक ही है (जो अधिक से अधिक दो फुट में फैला हुआ है) यह दृष्टांत हुआ । अब दार्ष्टान्त बतलाते हैं - **एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं** इसी प्रकार राजा के दृष्टांत से मिलता हुआ ही यह व्यवहार है कि रागादि अध्यवसान भाव जीव से भिन्न हैं, उनको **जीवोत्ति कदो सुत्ते** यह रागादि भाव जीव हैं इस प्रकार परमागम में कहा गया है **तत्थेको णिच्छिदो जीवो** किन्तु वहाँ पर जीव तो निश्चित रूप से एक ही है जो शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव वाला है ।।५२-५३।।

इस प्रकार व्यवहारनय के समर्थन रूप तीन गाथायें हुई ।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. यहाँ आ.टी. में यह क्यों कहा है कि 'एक आत्मा का समग्र राग समूह को व्याप्त करके रहना अशक्य है' ?

उत्तर- आत्मा के सभी अध्यवसान परिणाम जो रागादि स्वभाव वाले हैं ये परिणाम एक साथ

अशुद्ध जीव में उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। चूंकि यह नियम है कि द्रव्य एक समय में एक पर्याय रूप से ही परिणमन करता है, अनेक पर्याय रूप परिणमन नहीं करता है इसलिए अशुद्ध आत्मा में सभी राग आदि का समूह एक साथ आत्मा को व्याप्त करके नहीं रहता है। यद्यपि आत्मा में क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायों का बंध एक साथ होता है। किन्तु उदय एक समय में एक का ही रहता है। इस अपेक्षा से सभी अध्यवसान एक साथ आत्मा में उदय को प्राप्त होकर व्याप्त नहीं हो पाते हैं।

प्रश्न-२. इन गाथाओं में व्यवहार नय का समर्थन है या निषेध है ?

उत्तर- उपर्युक्त इन तीन (४६, ४७ ४८) गाथाओं में व्यवहार नय के समर्थन से कथन किया है। 'इति व्यवहार नय समर्थन रूपेण गाथात्रयं गतम्' (ता.टी.)। इस प्रकार व्यवहार नय के समर्थन रूप से तीन गाथाएँ समाप्त हुईं, यह तात्पर्य वृत्ति टीका में कहा है।

प्रश्न-३. भाई ! त्रिकाल आनन्द का घनपिण्ड शुद्ध नित्य प्रभु असंख्य प्रकार की अशुद्धता या विकार में कैसे आए ? अशुद्धता या विकार को करने वाला तो आत्मा में कोई गुण, व्यक्ति या स्वभाव ही नहीं है। पर्याय में जो भी और जैसे भी अशुद्धता होती है, वह स्वतन्त्र रूप से अशुद्ध उपादान से होती है। अशुद्ध उपादान कहें या व्यवहार कहें, एक ही बात है। शुद्ध उपादान भूत वस्तु अशुद्ध उपादान में किसी प्रकार भी कारण नहीं है।

उत्तर- भाई ! यह कैसा वाक्जाल है ? एक तरफ तो यह कहा जा रहा है कि आत्मा में अशुद्धता का विकार करने वाला कोई गुण, स्वभाव या शक्ति नहीं है, जबकि आचार्यों ने आत्मा में वैभाविकी शक्ति स्वीकार की है जिससे आत्मा का अशुद्ध उपादान रूप से अनादिकाल से परिणमन होता आ रहा है। **आलाप पद्धति** में द्रव्य के स्वभावों का कथन है। उनमें जीव और पुद्गल के इक्कीस स्वभावों को गिनाया है। उसमें जीव द्रव्य का विभाव स्वभाव, अशुद्ध स्वभाव भी माना गया है। यदि जीव द्रव्य का अशुद्ध परिणमन का स्वभाव नहीं होता तो मात्र शुद्ध द्रव्यार्थिक नय का ही कथन किया जाता किन्तु कर्मोपाधि सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का कथन भी **आलाप पद्धति** में है। जैसे- **'कर्मोपाधिसापेक्षोऽशुद्ध द्रव्यार्थिको यथा क्रोधादिकर्मजभाव आत्मा'** अर्थात्- 'कर्म उपाधि से सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है जैस क्रोध आदि कर्म से उत्पन्न भाव वाला आत्मा है।'

जब द्रव्य अशुद्ध हुआ है तभी वह अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का विषय बनता है। यही उपादान की अशुद्धता कहलाती है।

यों तो वक्ता ने उपादान की अशुद्धता स्वीकारी नहीं है फिर आगे की बात में कहता है कि अशुद्ध उपादान कहें या व्यवहार कहें एक ही बात है। यह विरोधाभास कैसा ? यहाँ अशुद्ध उपादान को स्वीकार भी लिया और उसे पर्याय कह दिया। उपादान भी अशुद्ध कहना और उसे पर्याय कहना ये दोनों गलत एवं विरुद्ध कथन हैं। यदि उपादान अशुद्ध है तो जीव द्रव्य ही अशुद्ध है। उसकी पर्याय

यद्येवं तर्हि किंलक्षणोऽसावेकष्टंकोत्कीर्णः परमार्थजीव इति पृष्टः प्राह -

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ।। ४९ ।। ता.टी. ५४

आ.टी.- यः खलु पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरसगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरसगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारसनात्, स्वभावतः

मात्र अशुद्ध नहीं है। फिर आगे अशुद्ध उपादान और शुद्ध उपादान दोनों की बात कह दी। भाई ! एक समय में एक ही आत्मा की उपादान शक्ति के भला दो रूप एक साथ कैसे हो सकते हैं ? जिसे वक्ता ने शुद्ध उपादान कहने का भ्रम पाल रखा है वह तो शक्ति की अपेक्षा से है। वर्तमान में संसारी आत्मा में अशुद्ध उपादान की व्यक्ति है, फिर भी उसमें शुद्ध होने की शक्ति सदा विद्यमान है; क्योंकि आत्मा कभी जड़ या अचेतन रूप नहीं हुआ है। शक्ति रूप से आत्मा में शुद्ध ज्ञायक, त्रैकालिक स्वभाव, ज्ञान घन अवस्था पड़ी है किन्तु वर्तमान में वह आच्छादित है। इस ज्ञायक भाव का आच्छादन भी आचार्य अमृतचन्द्र जी ने पूर्व में टीका ११ में स्वीकार किया है। इस तरह वर्तमान में अशुद्ध उपादान रूप द्रव्य और उसकी पर्यायें हैं। शुद्ध उपादान तो सिद्ध प्रभु का है। एक साथ दो उपादान घटित नहीं होते हैं।

उत्थानिका - यदि इस प्रकार है तो वह एक टंकोत्कीर्ण स्वभाव वाला परमार्थ जीव किस लक्षण वाला है। इस प्रकार पूछने पर उत्तर देते हुए कहते हैं-

अन्वयार्थ - हे भव्य! तू (जीवं) जीव को (अरसं) रसरहित, (अरूवं) रूपरहित, (अगंधं) गन्धरहित, (अव्वत्तं) अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियगोचर नहीं ऐसा, (चेदणागुणं) चेतना जिसका गुण है, ऐसा (असद्दं) शब्दरहित (अलिंगग्गहणं) किसी चिह्न से ग्रहण न होने वाला और (अणिद्दिट्ठसंठाणं) जिसका कोई आकार नहीं कहा जाता ऐसा (जाण) जान।

अर्थ- शुद्ध जीव तो ऐसा है कि जिसमें न रस है, न गंध है और न वह इन्द्रियों के गोचर ही है । केवल चेतना गुणवाला है । शब्द रूप भी नहीं है, जिसका किसी भी चिह्न द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता है और जिसका कोई निश्चित आकार भी नहीं है ।।५४।।

आ.व्या.- १. जो (शुद्ध जीव है वह) निश्चय से पुद्गल द्रव्य से भिन्न द्रव्यत्व वाला है जिससे (उस शुद्ध जीव द्रव्य में) रस गुण का भाव विद्यमान नहीं है इसलिए अरस है।

आत्मा सचेतन अरूप अगंध प्यारा, अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा ।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा, आकार से रहित है सुख का पिटारा ।।५४।।

क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनारसनात् सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवल-रसवेदनापरिणामापन्नत्वेनारसनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रसपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं रसरूपेणापरिणमनाच्चारसः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरूपगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरूपगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनारूपणात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलंबेनारूपणात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणाम-स्वभावत्वात्केवलरूपवेदनापरिणामापन्नत्वेनारूपणात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रूपपरिच्छेद-परिणतत्वेपि स्वयं रूपरूपेणापरिणमनाच्चारूपः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानगंधगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमगंधगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रिया-वष्टंभेनागंधनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रिया- वलंबेनागंधनात्,

२. जो (शुद्ध जीव है वह) निश्चय से पुद्गल द्रव्य के गुणों से भिन्न होने से स्वयं इस गुणपने से रहित है, इसलिए अरस है।

३. परमार्थ से जो (शुद्ध जीव है वह) पुद्गल द्रव्य के स्वामित्व को नहीं रखता है, इसलिए अरस है।

४. जो (शुद्ध जीव है वह) निश्चय से स्वभाव से ही क्षायोपशमिक भाव वाला नहीं है इसलिए भावेन्द्रिय के अवलंबन से वह रस नहीं चखता है, जिस कारण से वह अरस है।

५. सम्पूर्ण ज्ञेयों के विषय में साधारण रूप से एक जैसा संवेदन (जानने) रूप परिणाम स्वभाव वाला होने से केवल रस के वेदन (जानने) रूप परिणाम को प्राप्त नहीं है इसलिए रस नहीं रखने से अरस है।

६. समस्त ज्ञेयों के साथ ज्ञायक आत्मा तादात्म्य नहीं रखता है जिससे रस ज्ञान से परिणत होने पर भी स्वयं रस रूप से परिणमन नहीं करता है इसलिए अरस है।

उसी प्रकार -

१. जो (शुद्ध जीव है वह) निश्चय से पुद्गल द्रव्य से भिन्न द्रव्यत्व वाला है जिससे (उस शुद्ध जीव द्रव्य में) रूप गुण का भाव विद्यमान नहीं है इसलिए अरूप है।

२. जो (शुद्ध जीव है वह) निश्चय से पुद्गल द्रव्य के गुणों से भिन्न होने से स्वयं भी रूपगुण नहीं है, इसलिए जीव अरूप है।

३. परमार्थ से जो (शुद्ध जीव है वह) पुद्गल द्रव्य के स्वामित्व को नहीं रखता है, इसलिए द्रव्येन्द्रिय के अवलंबन से रूप नहीं देखता है जिस कारण से वह अरूप है।

४. जो (शुद्ध जीव है वह) निश्चय से स्वभाव से ही क्षायोपशमिक भाव वाला नहीं है इसलिए भावेन्द्रिय के अवलंबन से वह रूप नहीं देखता है, जिस कारण से वह अरूप है।

सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलगंध- वेदनापरिणामापन्नत्वेनागंधनात् सकलज्ञेय ज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्गन्ध-परिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं गंधरूपेणापरिणमनाच्चागंधः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानस्पर्शगुणत्वात्, पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमस्पर्शगुणत्वात्, परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेनास्पर्शनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रिया- वलंबेनास्पर्शनात्, सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभाव-त्वात्केवलस्पर्शवेदनापरिणामापन्नत्वेनास्पर्शनात् सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधात्स्पर्श-परिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं स्पर्शरूपेणापरिणमनाच्चास्पर्शः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमान-शब्दपर्यायत्वात्, पुद्गलद्रव्यपर्यायेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमशब्दपर्यायत्वात्, परमार्थतः

---

५. सम्पूर्ण ज्ञेयों के विषय में साधारण रूप से एक जैसा संवेदन (जानने) रूप परिणाम स्वभाव वाला होने से केवल रूप के वेदनरूप (जाननेरूप) परिणाम को प्राप्त नहीं है इसलिए रूप नहीं देखने से अरूप है ।

६. समस्त ज्ञेयों के साथ ज्ञायक आत्मा तादात्म्य नहीं रखता है जिससे रूप ज्ञान से परिणत होने पर भी स्वयं रूप मय परिणमन नहीं करता है इसलिए अरूप है।

उसी प्रकार -

१. जो (शुद्ध जीव है वह) निश्चय से पुद्गल द्रव्य से भिन्न द्रव्यत्व वाला है जिससे (उस शुद्ध जीव द्रव्य में) गन्ध गुण का भाव विद्यमान नहीं है इसलिए अगन्ध है।

२. जो (शुद्ध जीव है वह) निश्चय से पुद्गल द्रव्य के गुणों से भिन्न होने से स्वयं इस गन्ध गुणपने से रहित है, इसलिए अगन्ध है।

३. परमार्थ से जो (शुद्ध जीव है वह) पुद्गल द्रव्य के स्वामित्व को नहीं रखता है, इसलिए द्रव्येन्द्रिय के अवलंबन से गन्ध नहीं लेता है जिस कारण से वह अगन्ध है।

४. जो (शुद्ध जीव है वह) निश्चय से स्वभाव से ही क्षायोपशमिक भाव वाला नहीं है इसलिए भावेन्द्रिय के अवलंबन से वह गन्ध नहीं लेता है, जिस कारण से वह अगन्ध है।

५. सम्पूर्ण ज्ञेयों के विषय में साधारण रूप से एक जैसा संवेदन (जानने) रूप परिणाम स्वभाव वाला होने से केवल गन्ध के वेदन (जानने) रूप परिणाम को प्राप्त नहीं है इसलिए गन्ध नहीं लेने से अगन्ध है।

६. समस्त ज्ञेयों के साथ ज्ञायक आत्मा तादात्म्य नहीं रखता है जिससे गन्ध ज्ञान से परिणत होने पर भी स्वयं गन्धमय परिणमन नहीं करता है इसलिए अगन्ध है।

उसी प्रकार -

१. जो (शुद्ध जीव है वह) निश्चय से पुद्गल द्रव्य से भिन्न द्रव्यत्व वाला है जिससे (उस शुद्ध जीव

पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद्द्रव्येन्द्रियावष्टंभेन शब्दाश्रवणात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्-भावेन्द्रियावलंबेन शब्दाश्रवणात् सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलशब्दवेदनापरिणामा-पन्नत्वेन शब्दाश्रवणात्, सकलज्ञेयज्ञायक-तादात्म्यस्य निषेधाच्छब्दपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं शब्दरूपेणापरिणमनाच्चाशब्दः। द्रव्यांतरारब्धशरीरसंस्थानेनैव संस्थान इति निर्देष्टुमशक्यत्वात्, नियतस्वभावेनानियत-संस्थानानंतशरीरवर्तित्वात्, संस्थाननामकर्मविपाकस्य पुद्गलेषु निर्दिश्यमानत्वात्, प्रतिविशिष्ट-संस्थानपरिणतसमस्तवस्तुतत्त्वसंवलितसहज संवेदनशक्तित्वेऽपि स्वयमखिललोकसंवलनशून्यो-पजायमाननिर्मलानुभूतितयात्यंतमसंस्थानत्वाच्चानिर्दिष्टसंस्थानः। षड्द्रव्यात्मक- लोकाज्ज्ञेयाद्व्यक्तादन्यत्वात्, कषायचक्राद्भावकाद्व्यक्तादन्यत्वात्, चित्सामान्य

द्रव्य में) स्पर्श गुण का भाव विद्यमान नहीं है इसलिए अस्पर्श है।

२. जो (शुद्ध जीव है वह) निश्चय से पुद्गल द्रव्य के गुणों से भिन्न होने से स्वयं इस स्पर्श गुणपने से रहित है, इसलिए अस्पर्श है।

३. परमार्थ से जो (शुद्ध जीव है वह) पुद्गल द्रव्य के स्वामित्व को नहीं रखता है, इसलिए द्रव्येन्द्रिय के अवलंबन से स्पर्श नहीं करता है जिस कारण से वह अस्पर्श है।

४. जो (शुद्ध जीव है वह) निश्चय से स्वभाव से ही क्षायोपशमिक भाव वाला नहीं है इसलिए भावेन्द्रिय के अवलंबन से वह स्पर्श नहीं करता है, जिस कारण से वह अस्पर्श है।

५. सम्पूर्ण ज्ञेयों के विषय में साधारण रूप से एक जैसा संवेदन (जानने) रूप परिणाम स्वभाव वाला होने से केवल स्पर्श के वेदन (जानने) रूप परिणाम को प्राप्त नहीं है इसलिए स्पर्श नहीं लेने से अस्पर्श है।

६. समस्त ज्ञेयों के साथ ज्ञायक आत्मा तादात्म्य नहीं रखता है जिससे स्पर्श ज्ञान से परिणत होने पर भी स्वयं स्पर्शमय परिणमन नहीं करता है इसलिए अस्पर्श है।

उसी प्रकार -

१. जो (शुद्ध जीव है वह) निश्चय से पुद्गल द्रव्य से भिन्न द्रव्यत्व वाला है जिससे (उस शुद्ध जीव द्रव्य में) शब्द गुण का भाव विद्यमान नहीं है इसलिए अशब्द है।

२. जो (शुद्ध जीव है वह) निश्चय से पुद्गल द्रव्य के गुणों से भिन्न होने से स्वयं इस शब्द गुणपने से रहित है, इसलिए अशब्द है।

३. परमार्थ से जो (शुद्ध जीव है वह) पुद्गल द्रव्य के स्वामित्व को नहीं रखता है, इसलिए द्रव्येन्द्रिय के अवलंबन से शब्द नहीं करता है जिस कारण से वह अशब्द है।

४. जो (शुद्ध जीव है वह) निश्चय से स्वभाव से ही क्षायोपशमिक भाव वाला नहीं है इसलिए भावेन्द्रिय के अवलंबन से वह शब्द नहीं करता है, जिस कारण से वह अशब्द है।

निमग्नसमस्तव्यक्तित्वात्, क्षणिकव्यक्तिमात्राभावात्,व्यक्ताव्यक्तमिश्रितप्रतिभासेऽपि व्यक्तास्पर्शत्वात्, स्वयमेव हि बहिरंतः स्फुटमनुभूयमानत्वेऽपि व्यक्तोपेक्षणेन प्रद्योतमानत्वाच्चाव्यक्तः। रसरूपगंधस्पर्शशब्दसंस्थानव्यक्तत्वाभावेऽपि स्वसंवेदनबलेन नित्यमात्मप्रत्यक्षत्वे सत्य-नुमेयमात्रत्वाभावादलिंगग्रहणः। समस्तविप्रतिपत्तिप्रमाथिना विवेचकजनसमपतसर्वस्वेन सकल-मपि लोकालोकं कवलीकृत्यात्यंतसौहित्यमंथरेणेव सकलकालमेव मनागप्यविचलितानन्य-साधारणतया स्वभावभूतेन स्वयमनुभूयमानेन चेतनागुणेन नित्यमेवांतःप्रकाशमानत्वात् चेतनागुणश्च। स खलु भगवानमलालोक इहैकष्टंकोत्कीर्णः प्रत्यग्ज्योतिर्जीवः।।४९।।

---

५. सम्पूर्ण ज्ञेयों के विषय में साधारण रूप से एक जैसा संवेदन (जानने) रूप परिणाम स्वभाव वाला होने से केवल शब्द के वेदन (जानने) रूप परिणाम को प्राप्त नहीं है इसलिए शब्द नहीं करने से अशब्द है।

६. समस्त ज्ञेयों के साथ ज्ञायक आत्मा तादात्म्य नहीं रखता है जिससे शब्द ज्ञान से परिणत होने पर भी स्वयं शब्द मय परिणमन नहीं करता है इसलिए अशब्द है।

अनिर्दिष्ट संस्थान -

१. पुद्गल द्रव्य से रचे गये शरीर के संस्थान से ही संस्थान बनता है इसलिए (शुद्ध जीव को) संस्थान वाला कहना अशक्य है।

२. अपने नियत स्वभाव के द्वारा अनियत संस्थान वाले अनन्त शरीरों में रहता है इसलिए भी (शुद्ध जीव) अनिर्दिष्ट संस्थान वाला है।

३. संस्थान नाम कर्म का विपाक पुद्गलों (शरीर) में कहा गया है, जीव में नहीं जिससे जीव अनिर्दिष्ट संस्थान वाला है।

४. अपने-अपने विशिष्ट संस्थान रूप से परिणत समस्त वस्तु तत्त्व के साथ जिसकी सहज संवेदन शक्ति मिली हुई है फिर भी स्वयं समस्त लोक के मिलाप से शून्य होने से उत्पन्न हुई निर्मल अनुभूतिपने से पूर्ण रूप से संस्थान रहित है, इसलिए भी शुद्ध जीव अनिर्दिष्ट संस्थान वाला है।

अव्यक्त स्वभाव -

१. छह द्रव्यात्मक यह लोक ज्ञेय है। यह ज्ञेय व्यक्त है। जो शुद्ध जीव है वह इससे भिन्न है इसलिए अव्यक्त है।

२. कषायों का समूह भावक है। यह भावक-भाव व्यक्त है। जो शुद्ध जीव है वह इससे भिन्न है इसलिए अव्यक्त है।

३. चित् सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ समाई हुई हैं, इसलिए जो शुद्ध जीव है वह अव्यक्त स्वभाव वाला है।

४.जो शुद्ध आत्मा है वह क्षणिक व्यक्ति (प्रकट) मात्र स्वभाव वाला नहीं है इसलिए वह अव्यक्त है।

एवमजीवाधिकारमध्ये शुद्धनिश्चयनयेन देहरागादिपरद्रव्यं जीवस्वरूपं न भवतीति कथनमुख्यतया गाथादशकेन प्रथमोऽन्तराधिकारो व्याख्यातः-

ता.टी. - अथानन्तरं वर्णरसादिपुद्गलस्वरूपरहितोऽनन्तज्ञानादिगुणस्वरूपश्च शुद्धजीव एव उपादेय इति भावनामुख्यतया द्वादशगाथा पर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्र द्वादशगाथासु मध्ये परमसामायिकभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानन्दसुखसमरसीभाव परिणतशुद्धजीव एवोपादेय इति मुख्यत्वेन **अरसमरूव** इत्यादिसूत्रगाथैका। अथाभ्यन्तरे रागादयो

---

५. जो शुद्ध आत्मा है उसमें व्यक्त और अव्यक्त विशेष रूप से मिला हुआ प्रतिभास होने पर भी वह व्यक्त मात्र को स्पर्श नहीं करता है, इसलिए जीव अव्यक्त है।

६. जो शुद्ध आत्मा है वह स्वयं अपने से ही बहिरंग और अन्तरंग में प्रकट रूप से अनुभव में आने पर भी व्यक्त के प्रति उपेक्षा (उदासीन) स्वभाव से प्रकाशमान है इसलिए जीव अव्यक्त है।

अलिंगग्रहण स्वभाव

रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तपने का अभाव होने पर भी जो शुद्ध परमार्थभूत जीव है वह स्वसंवेदन के बल से नित्य आत्मा के प्रत्यक्षपने को प्राप्त है। ऐसा होने पर अकेले अनुमान से ही नहीं जाना जाता अतः जीव अलिंगग्रहण है।

चेतना गुण स्वभाव

समस्त विवादों का नाश करने से भेदविज्ञानी जनों को अपना सब कुछ समर्पित कर देने से समस्त लोक -अलोक को अपना कवल बनाकर मानों अत्यन्त तृप्ति के कारण अत्यन्त शान्त रहने से सभी काल में थोडा भी अपने अनन्य (अभिन्न) साधारण स्वभाव से विचलित नहीं होने से स्वभावभूत स्वयं ही अनुभव में आने वाले चेतना गुणसे और सदैव अन्तरंग में प्रकाशमान रहने से जीव चेतना गुण वाला है।

ऐसा वह भगवान् जीव पदार्थ निर्मल प्रकाश वाला है, इस लोक में एक टंकोत्कीर्ण स्वभाव वाला है और अन्तरंग में ज्योतिर्मान है।

इस प्रकार अजीवाधिकारमें शुद्धनिश्चयनय से देह रागादि पर द्रव्य हैं, वे जीव स्वरूप नहीं होते । इस प्रकार के कथन की मुख्यता लिये हुए दस गाथाओं से यह पहला स्थल पूर्ण हुआ ।

आगे यह बताते हुए कि वर्ण, रसादि पुद्गल के स्वरूप से रहित और अनन्तज्ञानादि गुण स्वरूप जो शुद्ध जीव है,वही उपादेय है इस भावना की मुख्यता से १२ गाथाओं पर्यंत व्याख्यान करते है । उन १२ गाथाओं में से 'अरसमरूव' ऐसी एक गाथा है, जिसमें मुख्यता से यह बतलाया जाता है कि परम सामायिक भावना में परिणत जो अभेदरत्नत्रय वही है लक्षण जिसका ऐसी निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न हुआ जो परमानन्दमय सुखरूप समरसी भाव उसमें परिणत रहने वाला शुद्ध जीव है वही उपादेय हैं। फिर अभ्यंतररागादि और बाह्य वर्णादि ये सभी शुद्ध जीव के स्वरूप नहीं हैं ऐसा

बहिरंगे वर्णादयश्च शुद्धजीवस्वरूपं न भवतीति तस्यैव गाथासूत्रस्य विशेषविवरणार्थं **जीवस्स णत्थि वण्णो** इत्यादिसूत्रषट्कम्। ततः परं त एव रागादयो वर्णादयश्च व्यवहारेण सन्ति शुद्धनिश्चयनयेन न सन्तीति परस्पर सापेक्ष नयद्वयविवरणार्थं ववहारेण दु-इत्यादि सूत्रमेकम्। तदनन्तरमेतेषां रागादीनां व्यवहारनयेनैव जीवेन सह क्षीरनीरवत् सम्बन्धो न च निश्चयनयेनेति समर्थनरूपेण **एदेहिं य संबंधो** इत्यादि सूत्रमेकम्। ततश्च तस्यैव व्यवहारनयस्य पुनरपि व्यक्त्यर्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्तसमर्थनरूपेण **पंथे मुस्संतं** इत्यादि गाथात्रयं। इति द्वितीयस्थले समुदायपातनिका। तद्यथा- अथ यदि निश्चयेन रागादिरूपो जीवो न भवति तर्हि कथंभूतः शुद्धजीव उपादेयस्वरूप इत्यत्राह-

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं निश्चयनयेन रसरूपगन्धस्पर्शशब्दरहितं मनोगतकामक्रोधादि- विकल्पविषयरहितत्वेनाव्यक्तं सूक्ष्मम्। पुनरपि किं विशिष्टम्? शुद्धचेतनागुणम्। पुनश्च किं रूपम्? **जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं** निश्चयनयेन स्वसंवेदनज्ञानविषयत्वादलिंगग्रहणं समचतुरस्रादिषट् संस्थान रहितं च यं पदार्थं तमेवंगुणविशिष्टं शुद्धजीवमुपादेयमिति हे शिष्य जानीहि। इदमत्र तात्पर्यम्। शुद्धनिश्चयनयेन सर्वपुद्गलद्रव्यसम्बन्धिवर्णादिगुणशब्दादिपर्यायरहितःसर्वद्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रियमनोगतरागादिविकल्पाविषयो धर्माधर्माकाशकालद्रव्यशेषजीवान्तरभिन्नोऽनन्तज्ञानदर्शन सुखवीर्यश्च यः स एव शुद्धात्मा समस्तपदार्थसर्वदेशसर्वकालब्राह्मणक्षत्रियादिनानावर्णभेदभिन्नजन समस्तमनोवचनकायव्यापारेषु दुर्लभः स एवापूर्वः स चैवोपादेय इति मत्वा निर्विकल्पनिर्मोहनिरंजननिजशुद्धात्मसमाधिसंजातसुखामृत-रसानुभूतिलक्षणे गिरिगुहागह्वरे स्थित्वा सर्वतात्पर्येण ध्यातव्य इति। एवं सूत्रगाथा गता ।। ५४ ।।

जो एक गाथा से बताया था उसी का विशेष वर्णन करने के लिए 'जीवस्य णत्थि वण्णो' इत्यादि छह गाथा सूत्र हैं। इसके आगे रागादि और वर्णादि ऐसे दोनों भाव व्यवहारनय से जीव के हैं किन्तु शुद्ध निश्चयनय से जीव के नहीं हैं, इस प्रकार परस्पर अपेक्षा लिये हुए दोनों नयों का व्याख्यान करने के लिए 'ववहारेणदु' इत्यादि एक सूत्र है। उसके आगे इन रागादिकों का जीव के साथ जो दूध और जल के समान संबंध है वह व्यवहार से है किन्तु निश्चय से नहीं, इस प्रकार का समर्थन करते हुए 'एदेहि य संबंधो' इस प्रकार एक सूत्र है। उसके आगे उसी व्यवहारनय को दृष्टांतदार्ष्टांत से स्पष्ट करते हुए 'पंथे मुस्संतं' इत्यादि तीन गाथा सूत्र हैं। इस प्रकार द्वितीय स्थल की समुदाय पातनिका हुई । अब यदि निश्चय से जीव रागादिरूप नहीं है तो फिर उपादेय स्वरूप शुद्ध जीव कैसा है सो बतलाते हैं।

टीकार्थ - अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं निश्चयनय से जीव रस,रूप,गंध,स्पर्श और शब्द से भी रहित है और मनोगत काम क्रोधादि के विकल्पों के विषय से रहित होने के कारण अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म है । फिर कैसा है, शुद्ध ज्ञानचेतना गुणवाला है तथा **जाण अलिंगग्गहणं**

जीवमणिदिट्ठ संठाणं निश्चयनय की अपेक्षा मात्र स्वसंवदेन ज्ञान का विषय होने के कारण किसी भी बाह्य लिंग से ग्रहण नहीं किया जा सकता तथा समचतुरस्रादि छह संस्थानों से भी रहित है । ऐसे उपर्युक्त गुणों से विशिष्ट जीव को हे शिष्य ! तुम शुद्ध जीव समझो और उसे ही उपादेय रूप से स्वीकार करो । तात्पर्य यह है कि शुद्ध निश्चयनय से जीव पुद्गल द्रव्य संबंधी वर्णादि गुण और शब्दादि पर्याय इन सबसे रहित है । सब प्रकार की द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय तथा मन इनसे होने वाले रागादि विकल्पों का जो विषय नहीं है तथा धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य,कालद्रव्य एवं इतर सब जीव द्रव्यों से भिन्न है किन्तु अनन्त ज्ञान,अनन्त दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इन गुणों से युक्त है वही शुद्धात्मा है जो सम्पूर्ण पदार्थों में, सम्पूर्ण देशों में, सब ही कालों में, ब्राह्मण,क्षत्रिय आदि नाना वर्णभेदों से विभक्त रहने वाले जनसाधारण के समस्त मन ,वचन और काय के व्यापारों में मिलना दुर्लभ है क्योंकि वह अपूर्व है और वही उपादेय है । ऐसा मानकर पर्वत की गुफा, दराड इत्यादि में बैठकर विकल्प रहित, मोहरहित,तथा सब प्रकार के झंझटों से रहित जो निज शुद्धात्मा उसकी समाधि से उत्पन्न जो सुखामृतरस उसकी अनुभूति ही है। लक्षण जिसका, ऐसे शुद्ध जीव का भले प्रकार से ध्यान करना चाहिए । इस प्रकार सूत्रगाथा पूर्ण हुई ।।५४।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस गाथा और इसकी टीका में आत्मा का स्वरूप किस नय से और क्या बताया गया है?

उत्तर- स्वयं आचार्य अमृतचन्द्र जी ने इस गाथा की उत्थानिका में लिखा है कि जो एक, टंकोत्कीर्ण स्वभाव वाला परमार्थ से अर्थात् निश्चयनय से जीव है, उसका लक्षण इस गाथा में यहाँ कहा जा रहा है। साथ ही आत्मख्याति टीका में उसी निश्चय नय से जो शुद्ध-बुद्ध सिद्ध परमात्मा है, उसका यहाँ स्वरूप दिखाया है।

प्रश्न-२. यह गाथा अन्य ग्रन्थों में भी पायी जाती है, क्यों ?

उत्तर- यह गाथा शुद्ध आत्मा के शुद्ध स्वरूप को कहती है, इसलिए यह ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द को अत्यन्त प्रिय था, ऐसा प्रतिभासित होता है। प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, भावपाहुड. आदि मूल ग्रन्थों के अलावा अन्य ग्रन्थों में भी यह गाथा प्रचलित होने से पायी जाती है।

प्रश्न-३. जिन छह कारणों से जीव का रस, रूप, गंध, स्पर्श से रहित स्वभाव बतलाया है उनका स्पष्टीकरण करें?

उत्तर- १. निश्चय नय से आत्मा रस, रूप, गंध, स्पर्श से रहित है क्योंकि परमार्थभूत शुद्ध आत्मा में पुद्गल द्रव्य विद्यमान नहीं है। इसलिए शुद्ध द्रव्य जब मात्र आत्मद्रव्य होता है, उसमें पुद्गल द्रव्यपने का स्वभाव नहीं है। वह आत्मद्रव्य पुद्गलद्रव्य से भिन्न है, यह प्रथम कथन में समझाया है।

२. दूसरे कथन में पुद्गल द्रव्य के गुणों से भिन्नपने को दिखाया है। पुद्गल द्रव्य के स्पर्श,

रस आदि गुणों का शुद्ध चैतन्य आत्मा में अत्यन्त अभाव है। यह भाव इस द्वितीय कथन में कहा है।

३. शुद्ध आत्मा पुद्गल द्रव्य का स्वामित्व नहीं रखता है। इन्द्रियाँ जड़ हैं, पौद्गलिक हैं। शुद्ध जीव में इन इन्द्रियों का अभाव है, इसलिए इन इन्द्रियों के द्वारा होने वाली देखने, चखने, सूंघने आदि क्रियाओं का अभाव है। यहाँ सिद्ध जीव में इस स्वामित्व का अभाव कहा है। वस्तुतः अरिहन्त अवस्था में ही इन्द्रियाँ कार्य करना बन्द कर देती हैं क्योंकि आत्मा अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से ज्ञान करने लगता है।

४. जैसे तृतीय कथन में द्रव्येन्द्रियों का आत्मा में अभाव दिखाया वैसे ही भावेन्द्रियों का भी अभाव जानना। भावेन्द्रियाँ तभी तक काम करती हैं जब तक आत्मा में ज्ञान का क्षायोपशमिक भाव रहता है। अरिहन्त दशा में ही ज्ञान का क्षायिक भाव प्रकट हो जाने पर क्षायोपशमिक भाव समाप्त हो जाता है। भावेन्द्रिय का अभाव होने पर ही द्रव्येन्द्रियाँ अपना कार्य नहीं करती हैं। इसी कारण अरिहन्त देव इन्द्रियों से न देखते हैं, न सूंघते हैं और न शब्द सुनते हैं।

शंका- जब भगवान् अरिहन्त देव शब्द नहीं सुनते फिर किसी वक्ता के प्रश्न का उत्तर कैसे देते हैं?

समाधान - भगवान् किसी वक्ता विशेष के प्रश्न को सुनकर उत्तर नहीं देते हैं किन्तु वक्ता का बोलना और दिव्य ध्वनि का खिरना एक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से होता है। वस्तुतः भगवान् किसी एक ज्ञेय पर कभी केन्द्रित नहीं होते हैं।

शंका - भाई ! बोलने वाला अन्य पदार्थ है। बोलने वाला आत्मा नहीं है। यद्यपि बोलने का आत्मा राग भाव करता है तथापि आत्मा बोलता नहीं है। यह तो भाषा वर्गणा का पर्याय रूप परिणमन है, इसमें जीव के बोलने का राग भाव निमित्त है। 'ध्वनि जो सुनाई पडती है, वह तो जड़ की पौद्गलिक पर्याय है' 'भगवान् की दिव्य ध्वनि' यह भी व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में भगवान् का आत्मा दिव्यध्वनि का कर्त्ता नहीं है। दिव्यध्वनि तो स्वयं के कारण अपने जन्मक्षण में होती है। भाषा वर्गणा की उस समय उस पर्याय रूप परिणमन करने की अपनी योग्यता है, उसके कारण ही वह उस पर्याय रूप परिणमन करती है ?

समाधान - भाई! इस प्रश्न के कुछ बोल सही हैं, कुछ बोल गलत हैं। जब तक नयों के सहारे से किसी वस्तु को समझने-समझाने का उपाय नहीं किया जाता है तब तक श्रोता उलझता रहता है। वक्ता उलझाता रहता है। व्यवहार नय से आत्मा में पुद्गल का स्वामित्व है, निश्चय नय से नहीं है। इसलिए व्यवहार नय से आत्मा में पुद्गल के स्वामित्व के कारण स्वभाव से विपरीत क्रिया भी देखने में आती है। यह व्यवहार दशा में होता है।

सर्वप्रथम यह बात ही गलत है कि 'बोलने वाला अन्य पदार्थ है, बोलने वाला आत्मा नहीं है।' अन्य पदार्थ क्या रेडियो या टेप-कैसेट की तरह जड़ स्वरूप है जो बोलने वाला है। संयोगज

पर्याय के साथ रहने वाला संसारी जीव आत्मा बोलता है। यह व्यवहार नय से सत्य है। शरीर के संयोग से इन्द्रियों के आलंबन से बोलने, सूंघने, चखने आदि की सभी क्रियाएँ आत्मा ही करता है। जब तक इन क्रियाओं को करने वाला आत्मा शरीर में रहता है, तभी तक ये क्रियाएँ संभव है, शरीर से आत्मा के निकल जाने पर नहीं। इसी से स्पष्ट है कि बोलने वाला आत्मा है अन्य पदार्थ नहीं है। यदि वक्ता निश्चय नय की अपेक्षा से कहे कि आत्मा नहीं बोलता है, तो बात सार्थक होती है। किन्तु नय अपेक्षा रखे बिना भ्रम पैदा होते हैं।

वक्ता की यह बात भी गलत है कि 'यद्यपि आत्मा बोलने का रागभाव करता है तथापि आत्मा बोलता नहीं है।' इस अभिप्राय में व्यवहार को गलत सिद्ध करना और उसका निषेध करने का अभिप्राय है और निश्चय को सही कहने का गलत अभिप्राय है। तभी वक्ता नयों की योजना किए बिना कहता है। उपर्युक्त कथन मिथ्या है। क्योंकि आत्मा रागभाव भी कर रहा है, यह व्यवहारनय की स्वीकारता है तथापि आत्मा बोलता नहीं यह निश्चय की अपेक्षा है। दोनों नयों को इस तरह मिलाने से किया गया कथन मिथ्या है, असत्य है। इसका सही समाधान यह है कि 'यद्यपि आत्मा बोलने का रागभाव करता है तो व्यवहार नय की अपेक्षा आत्मा बोलता भी है तथापि निश्चयनय की अपेक्षा आत्मा बोलता नहीं है क्योंकि वह शब्द पर्याय के स्वामित्व से रहित है।'

इसी तरह आगे के बोल में कि 'ध्वनि जो सुनाई पडती है, वह तो जड़ की पौद्गलिक पर्याय है' यह कहना भी निश्चय नय से ठीक है। 'भगवान् की दिव्य ध्वनि' यह भी व्यवहार से कहा जाता है। यह व्यवहार से कहा जाना भी गलत नहीं है। संयोगज पर्याय जब भी उत्पन्न होती है तो उसमें दोनों द्रव्यों का कर्त्तापन आता है। इसलिए ध्वनि, बोलना जब भी होगा व्यवहार दशा में ही होगा और वह मात्र व्यवहार नय से कहा नहीं जाता है किन्तु वास्तव में उस नय से वह उसी का होता है। फिर आगे का कथन गलत है कि 'वास्तव में भगवान् आत्मा दिव्य ध्वनि का कर्त्ता नहीं है। भाषा वर्गणा की अपनी परिणमन करने की योग्यता है।' ऐसे बोल वक्ता के अन्तरंग की कलुषता या अज्ञानता को बताते हैं। यदि वक्ता नयों को जानते हुए भी इस तरह बोलता है तो उसकी अन्तरंग की कलुषता निश्चय एकान्त को प्रचारित करने की व्यक्त होती है। यदि वक्ता नय ज्ञान का प्रयोग करना नहीं जानता है तो यह उसकी अज्ञानता है। देखो भाई ! 'दिव्य ध्वनि' यह अपने आप में संयोगज शब्द है अन्यथा ध्वनि, दिव्य ध्वनि में कोई अन्तर ही नहीं रहता। वक्ता कह रहा है कि 'वास्तव में आत्मा दिव्यध्वनि का कर्त्ता नहीं है।' यह कथन इसलिए मिथ्या है कि 'वास्तव में' यह शब्द तो निश्चय नय के अभिप्राय को दिखा रहा है। और 'दिव्यध्वनि का कर्त्ता' यह व्यवहार नय का वाक्य है। दोनों नयों की योजना एक वाक्य में करना, यही कथन का मिथ्यापन है। दिव्यध्वनि का कर्त्ता कहना यह व्यवहारनय से बना संबंध है। व्यवहार नय का संबंध व्यवहार नय से कर्त्ता को स्वीकारता है ।

अत: 'अरिहन्त भगवान् व्यवहार नय से दिव्यध्वनि के कर्त्ता हैं।' यह कथन शत प्रतिशत समीचीन है और निश्चय नय से दिव्य ध्वनि के कर्त्ता नहीं हैं। यह कथन भी उपयुक्त है क्योंकि निश्चय नय में एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के स्वामित्व को नहीं स्वीकारता है। भाषा वर्गणा की उस समय परिणमन करने की योग्यता तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से परिणत आत्मा में ही आती है, अन्य किसी आत्मा में नहीं। इसलिए नय की समायोजना बिना, ये सब बोल भोले प्राणियों के लिए अनर्थ करने वाले हैं। इसी को **आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने युक्त्यनुशासन** में कहा है कि-

काल: कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतु: प्रवक्तुर्वचनानयो वा।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी- प्रभुत्वशक्तेरपवादहेतु: ।।

अर्थात्- हे भगवन् ! यह कलिकाल है। श्रोता का कलुष आशय है और वक्ता के वचनों में नयपना नहीं है। इसलिए आपके शासन की एकाधिपत्य रखने की प्रभुत्व शक्ति वक्ता श्रोता में नहीं होने से आपका शासन अपवाद का कारण बना है।

आत्मा एक अखण्ड ज्ञायक स्वभाव वाला है। वह सभी पदार्थों को ज्ञेय रूप में एक समय में एक साथ जानता है। वह ज्ञायक आत्मा ज्ञप्ति क्रिया से परिणत होकर सभी ज्ञेयों को एक साथ जानता है फिर वह केवल रस मात्र को जाने, रूप मात्र को जाने इत्यादि एक ज्ञेय में उसकी परिणति नहीं होती है। छद्मस्थ जीव की परिणति में तो एक ज्ञेय के प्रति झुकाव होने से एक समय में उस ज्ञेय मात्र को जानना बन जाता है। मतिज्ञान से रस मात्र का, शब्दमात्र का, रूपमात्र का ज्ञान होता है, किन्तु केवलज्ञान से नहीं।

सभी ज्ञेयों के साथ ज्ञायक शुद्ध आत्मा का तादात्म्य संबंध नहीं है। इसी कारण आत्मा ज्ञान रूप परिणमित होने पर भी उस रस, रूप, गंध आदि रूप परिणमित नहीं होता है।

यदि शुद्ध आत्मा भी सभी ज्ञेयों के ज्ञान के साथ उसी रूप परिणत हो जाता है, ऐसा माना जावे तो वह युगपत् अग्नि रूप से, जल रूप से, परिणत होता है, ऐसा मानना पडेगा, जो अनुभव विरुद्ध बात है।

प्रश्न-४. आत्मा अनिर्दिष्ट संस्थान वाला है, इस विषय में चार बिन्दु दिये हैं, कृपया उनका भी स्पष्टीकरण करें?

उत्तर- **१.** संसार अवस्था में जितने शरीराकारों में आत्मा दिखाई देता है उन शरीरों के आकार के निमित्त से जीव में नैमित्तिक पर्याय रूप से आकार दिखाई देता है। जीव का यह आकार शरीर निमित्तक है और आयु पर्यन्त तक का है, इसलिए क्षणिक है। यह जीव का आकार व्यवहार नय से है। शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध जीव का अपना कोई 'प्रतिनियत' आकार नहीं है। इसलिए आत्मा का अनिर्दिष्ट संस्थान है।

२. आत्मा अपने प्रतिनियत ज्ञान स्वभाव वाला है और क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात प्रदेशी है। भिन्न-भिन्न आकार वाले अनन्त शरीरों को धारण करने पर भी वह किसी एक नियत आकार

(संस्थान) में कभी नहीं रहता है। इसलिए भी अनिर्दिष्ट संस्थान वाला है।

३. सिद्धान्त शास्त्रों में संस्थान नाम कर्म को पुद्गल विपाकी कहा है। अर्थात् इस नाम कर्म का फल पुद्गल में ही होता है, इस अपेक्षा से भी आत्मा में कोई संस्थान नहीं होने से शुद्ध आत्मा अनिर्दिष्ट संस्थान वाला है।

४. आत्मा का ज्ञायक स्वभाव अपनी ज्ञप्ति क्रिया से सामान्य रूप से समस्त लोक को अपने में मिलाकर जान रहा है फिर भी किसी ज्ञेय के आकार रूप से परिणमन नहीं कर रहा है। इसलिए परमार्थभूत शुद्ध जीव का आकार अनिर्दिष्ट संस्थान है।

प्रश्न-५. आत्मा को अव्यक्त कहा है, उसमें भी छह प्रकार से समझाया है, कृपया इनका भी स्पष्ट ज्ञान करायें?

उत्तर- संसार में छह द्रव्य हैं, वे ज्ञेय हैं इसलिए व्यक्त हैं। स्वयं शुद्ध ज्ञायक आत्मा इन छह द्रव्यों से भिन्न है, ज्ञायक स्वभाव मात्र है, इसलिए अव्यक्त है। शुद्ध आत्मा के लिए अपना आत्मा ज्ञायक भाव मात्र संवेदन में आता है। इसी अपेक्षा से आत्मा स्वसंवेदन से व्यक्त है फिर भी जैसे अन्य ज्ञेय उस आत्मा के ज्ञान में झलकते हैं, उस तरह अपना आत्मा नहीं झलकता है इसलिए अव्यक्त कहा है, सर्वथा नहीं। देखो भाई ! यहाँ कहा है कि छह द्रव्य रूप जो लोक है, वह ज्ञेय है तो अपना आत्मा भी तो इसी लोक में एक द्रव्य है। वह शुद्ध या अशुद्ध आत्मा दूसरे शुद्ध आत्मा के लिए तो ज्ञेय बन ही रहा है, इसलिए उनके ज्ञान में आने से अपना शुद्ध आत्मा व्यक्त है। किन्तु शुद्ध आत्मा को अपना आत्मा स्वयं उस तरह ज्ञेय नहीं बनता है जिस तरह अन्य आत्मा बनते हैं, इस अपेक्षा से यहाँ अव्यक्त कहा है।

प्रश्न-६. छह द्रव्य तो आत्मा है ही नहीं, पर छह द्रव्यों को जानने वाली एक समय की व्यक्त पर्याय जितना भी आत्मा नहीं है। एक समय की पर्याय जितना आत्मा को मानने वाला मूढ. मिथ्यादृष्टि है?

उत्तर- यहाँ छह द्रव्य आत्मा में जैसे ज्ञेय बनते हैं वैसे अपना आत्मा ही अपने आत्मा में ज्ञेय कैसे बनेगा इसलिए पर छह द्रव्यों को आत्मा जानता है, इसलिए छह द्रव्य तो आत्मा है ही नहीं ऐसा समझना। परन्तु छह द्रव्यों को जानने वाली एक समय की व्यक्त पर्याय ज्ञान की पर्याय है। ज्ञान की पर्याय आत्मा प्रमाण ही रहती है,अन्य प्रमाण नहीं। यहाँ शुद्ध द्रव्य का अव्यक्त स्वभाव बतलाया जा रहा है। कथंचित् आत्मा एक समय पर्याय प्रमाण होता है। ऐसा मानने से कोई मूढ़ मिथ्यादृष्टि नहीं होता है। केवलज्ञानी में घटित होने वाली यह पर्याय अपने ज्ञान की पर्याय में जोड़कर किसी भी तरह की मान्यता बताने का एकान्त करना सम्यग्दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं रखता है।

प्रश्न-७. 'मैं छह द्रव्य से भिन्न सातवाँ द्रव्य हूँ' ऐसा विचार करने वाली पर्याय स्व द्रव्य की तरफ ढलती है। विकल्पात्मक दशा में जब तक ऐसा विचार करता है, तब तक भी सूक्ष्म भेद का अंश रहता है, परन्तु जब पर्याय स्वद्रव्य में ढलती है तब यह भेद भी छूट जाता है। भाई ! आचार्यों के

द्वारा ये गूढतम भाव भी सरल भाषा में व्यक्त हो गये हैं ?

उत्तर- अरे ज्ञानी भाई ! तेरा आत्मा छह द्रव्यों से भिन्न नहीं है। किन्हीं भी आचार्यों ने छह द्रव्यों से भिन्न अपना आत्मा सातवाँ द्रव्य है, ऐसा नहीं कहा है। बात समझने की है कि आत्मा में छह द्रव्य तो व्यक्त हैं किन्तु आत्मा स्वयं अव्यक्त है। यह अनुभूति केवलज्ञान के साथ है। केवलज्ञान में यह अव्यक्त स्वभाव प्रकट है। उसे अपने ज्ञान की पर्याय के साथ जोडऩा अनुचित है। जो पर्याय स्वभाव विश्व के समस्त ज्ञेयों को देख रही है, वह अपने मतिज्ञान में कभी भी उत्पन्न नहीं होती है। और अगर तुम ऐसा विचार कर भी लोगे तो भी पर्याय स्व द्रव्य की तरफ नहीं ढलती। पर्याय को ढालने का विचार हवा को हाथ से पकड़ने सरीका बन जाता है। केवल विचार करने से विकल्प दशा और निर्विकल्प दशा नहीं बन जाती है और न ही आचार्यों ने ऐसा विचार करने को कहा है। यहाँ बात केवलज्ञान की परिणति की है वह ज्ञायक मात्र एक शुद्ध आत्मा अपने आपको छह द्रव्य गत ज्ञेयों से भिन्न देखता है और यह कथन आप छद्मस्थ ने अपने ऊपर लगा लिया। वह आत्मा अनुभूति से सब द्रव्यों को भिन्न देखता है। उसका विचार मात्र करने से स्वद्रव्य की उपलब्धि हो जाती तो यह किसी तोते को रटाकर उसे भी करा दी जाती। आचार्यों के जो अभिप्राय कहीं से कहीं तक एक प्रतिशत भी नहीं हैं, उन्हें जबरदस्ती आचार्यों के कहकर अपनी बात को सही बनाने का छल ही सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है। मैं छह द्रव्य से भिन्न सातवाँ द्रव्य हूँ, ऐसा विचार करने का दुस्साहस भी किन्हीं आचार्यों ने नहीं किया है फिर कहने की बात तो बहुत दूर की है। जिन्हें आचार्यों की वाणी की आसादना (विराधना) करने का भय नहीं है उनके लिए क्या कहा जा सकता है।

२. कषायों के समूह भावक भाव हैं। जब तक आत्मा इन कषायों के साथ रहता है तब तक वह अपने को व्यक्त महसूस करता है। किन्तु जब आत्मा इन कषायों के समूह से रहित होकर शुद्ध-बुद्ध अखण्ड एक ज्ञायक मात्र रह जाता है तो वह स्वयं अव्यक्त होता है। अव्यक्त से अर्थ यहाँ आत्मा के सूक्ष्म परिणमन कर जाने से है।

३. चैतन्य की जितनी भी शुद्ध पर्यायें हैं वे सभी उस शुद्ध परमार्थभूत जीव के चित् सामान्य में अन्तर्लीन हैं। इस सूक्ष्म पर्याय रूप से परिणमित हुआ आत्मा अव्यक्त है। आत्मा की शुद्ध अवस्था में सभी पर्यायें चैतन्य सामान्य में उत्पन्न होते हुए भी आत्मा अव्यक्त है।

४. आत्मा क्षणिक व्यक्ति मात्र नहीं है। आत्मा में प्रति समय व्यक्त पर्याय क्षण-क्षण में उत्पन्न होती है। आत्मा मात्र एक समय की व्यक्त पर्याय वाला नहीं है। वह शुद्ध आत्मा त्रिकाल स्वभावी चैतन्य है इसलिए अव्यक्त स्वभाव वाला है।

५. एक समय की पर्याय की अपेक्षा व्यक्तता और त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से अव्यक्तता है। इस अपेक्षा द्रव्य और पर्याय प्रति समय बने रहते हैं। अत: व्यक्त-अव्यक्त रूप प्रतिभासित होता है। ऐसा मिश्र रूप होने पर भी शुद्ध, परमार्थभूत, एक स्वभाव वाला जीव द्रव्य है, पर्याय मात्र रही है इसलिए अव्यक्त है।

६. वैसे तो शुद्ध सिद्ध भगवान् आत्मा स्वयं अपने को अपने से ही भीतर-बाहर स्पष्ट अनुभव कर रहे हैं। फिर भी एक समयवर्ती व्यक्तता के प्रति उस आत्मा की उदासीनता है अर्थात् झुकाव नहीं है। वह आत्मा अपने समूचे द्रव्य को ज्ञायक भाव से अनुभव करता है। साथ में प्रत्येक गुण की पर्याय को अनुभव करता है। अनन्त पर्यायों को प्रति समय जानता रहता है। केवल एक पर्याय को जाने या उसका आनन्द ले तो अगले समय वे ज्ञान, आनन्द से रहित हो जावेंगे किन्तु ऐसा होता नहीं है। वे सिद्ध प्रभु एक समय का ही आनन्द नहीं भोगते हैं या एक समय ही क्षणिक ज्ञान नहीं रखते हैं। यह भाव यहाँ कहा है। इसलिए भी शुद्ध आत्मद्रव्य सिद्ध भगवान् की आत्मा अव्यक्त है।

प्रश्न-८. शरीर में चाहे जैसी वेदना हो, उस वेदना का आत्मा स्पर्श नहीं करता है, इसी कारण तो कहते हैं कि क्षणिक व्यक्ति (पर्याय) को तू आत्मा की तरफ ले जा ! तुझे आत्मा मिलेगा और आनन्द भी अवश्य आयेगा?

उत्तर- जिस क्षणिक व्यक्ति की यहाँ बात कही जा रही है वह शुद्ध आत्मा की एक समयवर्ती पर्याय है। उस पर्याय की व्यक्ति छद्मस्थों में कदापि नहीं होती और न कभी क्षणवर्ती पर्याय का परिणमन स्वेच्छा से होता है। उस क्षणिक पर्याय की अनुभूति शुद्ध अवस्था में होती है। एक समयवर्ती पर्याय अर्थपर्याय होती है और वह सर्वज्ञ के द्वारा ही जानने योग्य है। उस सर्वज्ञ की क्षणिक पर्याय को अपनी ज्ञान पर्याय से मोडऩे का प्रयास एक बावला करने चला है। अशुद्ध अवस्था में एक समयवर्ती पर्याय किसी भी तरह न अनुभूत होती है और न ज्ञान में आती है। क्षणिक पर्याय अपने हाथ की कोई वस्तु नहीं है, जो कहीं भी मुड़ जाए। पर्याय कभी नहीं मुडती हैं और न किसी तरफ ले जायी जा सकती है। यह कोरा वाक्जाल है जो हवा में लट्ठ मारने जैसा निष्फल और निष्प्रयोजनीय है। ऐसा पुरुषार्थ करने को न भगवान् ने कहा है और न किन्हीं आचार्यों का अभिप्राय है। शुद्ध आत्मा का अव्यक्त स्वभाव कैसे है ? क्यों है ? यह समझाने के लिए कुछ कारण बताये जा रहे हैं। पर्याय से आत्मद्रव्य की उपलब्धि नहीं होती है किन्तु आत्म द्रव्य को उपलब्ध कर लेने से पर्याय की उपलब्धि सहज है क्योंकि द्रव्य कभी पर्याय से जुदा नहीं है और न कभी पर्याय द्रव्य से जुदा है।

प्रश्न-९. आत्मा का स्वभाव अलिंगग्रहण है, इसका अर्थ क्या है ?

उत्तर- शुद्ध सिद्ध परमात्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष की सामर्थ्य से अपने को प्रत्यक्ष जानते हैं। उस आत्मा को इन्द्रियों, मन और क्षायोपशमिक ज्ञान से नहीं जान सकते हैं। उस शुद्ध आत्मा को अनुमान ज्ञान से भी नहीं जाना जा सकता है। स्वयं प्रत्यक्ष को अनुमान की आवश्यकता नहीं। दूसरा भी शुद्ध आत्मा को किसी लिंग, साधन, चिह्न से कभी ग्रहण नहीं कर सकता है इसलिए वह अनुमेय नहीं है। हाँ ! अशुद्ध संसारी आत्मा की सिद्धि अनुमान प्रमाण से होती है, जो न्याय ग्रन्थों में सिद्ध है।

अथ सकलद्रव्यव्यतिरिक्तमात्मद्रव्यं विचकास्ति

सकलमपि विहायाह्राय चिच्छक्तिरिक्तं स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रं ।
इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात् कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम् ।।३५।।

सं.टी.-कलयतु-ध्यायतु,पश्यतु जानातु वा कलिवलिकामधेनुरिति वचनात्। कः? आत्मा चिद्रूपः कं? इमं प्रत्यक्षीभूतं स्वानुभवादिभिः आत्मानं स्वस्वरूपं। क्व? आत्मनि-स्वस्वरूपे, किंभूतं? साक्षात् प्रत्यक्षं, विश्वस्य जगतः उपरि चरन्तं अग्रिमभागे परिस्फुरन्तं लोकातिशायिमाहात्म्यं, लोकालोकपरिच्छेदकं वा। चरधातोर्ज्ञानार्थवाचकत्वात्,परं उत्कृष्टं, अनन्तं अन्तातीतं किं कृत्वा? स्वं आत्मानं, अवगाह्य अनुभूय, किंभूतं स्वं? चिच्छक्तिमात्रं ज्ञानशक्तिमात्रं स्फुटतरं अतिव्यक्तं, च पुनः किंकृत्य? विहाय-त्यक्त्वा, सकलमपि समस्तमपि परद्रव्यं, नत्वेकदेशेनेत्यपि शब्दार्थः, किंभूतं तत्? चिच्छक्तिरिक्तं ज्ञानशक्तिमुक्तं-अचेतनमिति यावत्, अह्राय शीघ्रं, शीघ्रवाच्यव्ययं, 'स्रग्झगित्यंजसाह्राय' इत्यमरः।।३५।।

उत्थानिका - अब सकलद्रव्यों को छोड़कर आत्मानुभव की प्रेरणा देते हैं -

अन्वयार्थ/अर्थ - (चिच्छक्तिरिक्तं) चित्शक्ति से रहित (सकलमपि) अन्य समस्त भावों को (अह्राय) मूल से (विहाय) छोड़कर (च) और (स्फुटतरम्) प्रगट रूप से (स्वं चित्छक्तिमात्रं) अपने चित्शक्तिमात्र भाव का (अवगाह्य) अवगाहन करके (विश्वस्य उपरि) समस्त पदार्थसमूहरूप लोक के ऊपर (चारु चरंतं) सुन्दर रीति से प्रवर्तमान ऐसे (इमम्) इस (परम्) एकमात्र (अनन्तम्) अविनाशी (आत्मानम्) आत्मा का (आत्मा) भव्यात्मा (आत्मनि) आत्मा में ही (साक्षात् कलयतु) अभ्यास करो, साक्षात् अनुभव करो।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस कलश में क्या प्रेरणा दी है ?

उत्तर- इस कलश में ध्यान करने की प्रेरणा दी है। ध्यान करो, देखो, जानो, अनुभव करो यह एकार्थवाची क्रियाएँ हैं। (प.अ.त.)

प्रश्न-२. कौन किसका ध्यान करे ?

उत्तर- चिद्रूप आत्मा इस प्रत्यक्षीभूत स्व आत्मा का स्वानुभव आदि के द्वारा ध्यान करे।

प्रश्न-३. कहाँ ध्यान करें ?

उत्तर- अपने स्वरूप में ठहर कर ध्यान करें। (प.अ.त.)

प्रश्न-४. जिसका ध्यान किया जावे उस आत्मा का स्वरूप कैसा है ?

उत्तर- १. जगत् के ऊपर अग्रिम भाग में लोक पर अतिशय युक्त महिमा जिसकी साक्षात् प्रकट हो रही है। अथवा जो आत्मा लोक और अलोक को जानने वाला है। २. जो आत्मा उत्कृष्ट है।

३. जो आत्मा अन्त रहित है। (प.अ.त.)

प्रश्न-५. क्या करके उस आत्मा का ध्यान करें ?

उत्तर- अपनी आत्मा में अवगाहित करके अर्थात् अपनी आत्मा को अनुभूत करके उस आत्मा का ध्यान करें। जो अपना आत्मा ज्ञान शक्ति मात्र है, अति व्यक्त है।

प्रश्न-६. ऐसी आत्मा का ध्यान करने के लिए और क्या करना चाहिए ?

उत्तर- जितने भी पर द्रव्य हैं उन सभी को 'ये अचेतन हैं, ज्ञान शक्ति से रहित हैं' इस प्रकार जानकर शीघ्र छोड़ दो। यह अनुभव तभी होगा जब पर द्रव्यों को पूरा छोड़ दिया जाय, एकदेश छोड़ने पर भी यह आत्मानुभव नहीं होगा। (प.अ.त.)

प्रश्न-७. आत्मा के अनुभव की प्रेरणा देते हुए अमृतचन्द्राचार्य देव क्या कहते हैं कि चित्शक्ति से रहित अन्य समस्त भावों को मूल से ही छोड़कर अर्थात् शुभाशुभ चैतन्य शक्ति से रहित भाव है। चाहे तीर्थंकर प्रकृति को बांधने वाला भाव हो, चाहे पंच महाव्रत का विकल्प हो, चाहे गुण-गुणी के भेद रूप विकल्प हो, ये समस्त भाव चैतन्य शक्ति से खाली है, अन्य हैं। इन सभी भावों को तू मूल से ही छोड़- ऐसा उपदेश देते हैं।?

उत्तर- वक्ता नय विहीन, भूमिका विहीन बोलता है। यह सबसे बडा दोष है। यह ठीक है कि आचार्य अमृतचन्द्र जी ने आत्मा के अनुभव की प्रेरणा दी है। यह अनुभव कब होगा, इसके लिए समस्त पर द्रव्यों को छोड़ने के लिए कहा है, यह तथ्य इसी कलश की संस्कृत टीका से स्पष्ट है। प्रश्न ६ में यही कहा है। यहाँ भावों को छोड़ने की बात की जा रही है। विवेक सम्पन्न आत्मन्! जरा इतना विचार तो करो कि तीर्थंकर प्रकृति आदि भावों को छोड़ने की बात अमृतचन्द्र जी महाराज ने नहीं कही। यह तो वक्ता ने अपना भाव लपेटा है। दूसरी बात यह है कि छोड़ा तो तब जाता है जब अपने पास कुछ हो। क्या तीर्थंकर की भावना जैसी दर्शन विशुद्धि तुम्हारे पास है, जो छोडोगे? क्या महाव्रत रूप शुभ विकल्प तुम्हारे पास है, जो छोडोगे ? क्या गुण-गुणी मात्र का विकल्प ध्यान तुम्हारे पास है, जो छोडोगे ? यहाँ इस तरह के भावों को छोड़ने की चर्चा करना किस भूमिका के लिए ग्राह्य होगा ? जो महाव्रती दर्शन विशुद्धि आदि भावना करते हैं वही तो निर्विकल्प दशा का अनुभव करेंगे तब ये भाव स्वत: छूटेंगे। यहाँ बिना भूमिका के इन भावों को 'मूल से' छोड़ने का उपदेश देने की प्रेरणा की जा रही है। इसका मतलब यह हुआ कि तू अव्रत-व्रत इन सभी भावों को छोड़दे। सामान्य श्रावक के पास है क्या? जो छोड़कर बैठने से उसे आत्मानुभूति होने लगे। अरे ! जो सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण है, उस सम्यक्त्व की वृद्धि से बढता हुआ दर्शन विशुद्धि का भाव चैतन्य से खाली है, यह कहकर दुनिया को मिथ्या उपदेश ही दिया है। जो महाव्रत कषायों के अभाव में उत्पन्न होते हैं और आत्मा के स्वकीय चारित्र गुण को प्रकट करने वाले हैं, उन व्रत संयम भाव को मूल से ही चैतन्य शक्ति से खाली कहना भी मिथ्या उपदेश है। मूल श्लोक में 'भाव' शब्द है ही नहीं। आचार्य शुभचन्द्र जी की परमाध्यात्म तरंगिणी टीका

में 'समस्त पर द्रव्यों को छोड़ने की बात कही है'। इसलिए मूल में बहुत बडी भूल हुई है। इसी तरह 'अह्नाय' शब्द का अर्थ 'मूल से' इस तरह किया है किन्तु संस्कृत टीका में 'शीघ्र ही' इस अर्थ में किया है। इस तरह श्लोकों के अर्थ के अनर्थ किए हैं, जो स्पष्ट समझ में आ रहा है।

प्रश्न-८. प्रगटतया अपने चित्शक्ति मात्र का अवगाहन करके अर्थात् ज्ञान स्वभाव मात्र वस्तु स्वयं प्रगट है, उसमें डुबकी लगाकर, प्रवेश कर !! अवगाहन कर !! जिस प्रकार समुद्र में डुबकी लगाई जाती है, अवगाहन किया जाता है, उसी प्रकार चैतन्य समुद्र में डुबकी लगा। वर्तमान पर्याय के द्वारा त्रिकाल ज्ञान स्वभावी शुद्ध चैतन्य सिन्धु में प्रवेश कर !

उत्तर- अध्यात्म ग्रन्थों में अपने चित्शक्ति मात्र स्वभाव में रमण करने की ही मुख्यता है और वह चित्शक्ति जो प्रगटतया अर्थात् प्रकट रूप से कही, वह भी ठीक है क्योंकि परम पारिणामिक सहज भाव को दृष्टि में रखकर वह चित् शक्ति प्रकट रूप मानी है। इस परमपारिणामिक भाव की प्राप्ति सभी जीवों में समान समझना। भव्य में चाहे अभव्य जीव में, सभी में यह चित्शक्ति इसी तरह प्रगट रूप है। एक तो यह सामान्य भाव जीव द्रव्य के आलंबन के लिए कहा है क्योंकि गुण, पर्याय इसी द्रव्य का आधार है। दूसरी बात यह है कि ध्यान के समय ही इस समय भाव का आलंबन लिया जाता है क्योंकि सामान्य धर्म को पकड़ना सामान्य व्यक्ति के ज्ञान का विषय नहीं है। इसलिए बृहद् द्रव्यसंग्रह की टीका में इस भाव को ध्येय रूप कहा है जो ध्यान काल में आलंबन योग्य है। **'तत्रशुद्धाशुद्धपारिणामिकमध्ये शुद्धपारिणामिकभावो ध्यानकाले ध्येयरूपो भवति'। वृ.द्र.सं.टी. १३**

श्री **नियमसार ग्रन्थ** में भी इस सदा प्रकट चित्शक्ति का वर्णन है। इसे कारण समयसार इसलिए कहा है कि कार्य समयसार रूप केवलज्ञान की परिणति के लिए कारण क्या बने? जो त्रैकालिक हो, ध्रुव हो, शुद्ध हो वही ध्यान का विषय यदि होगा तभी प्रकट रूप से त्रैकालिक, ध्रुव, शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति होगी क्योंकि कारण सदृश कार्य होता है। इसी न्याय पर से इस परम पारिणामिक भाव का आलंबन लेने की प्रेरणा दी जाती है। परन्तु यह भी ध्यान रखो कि इस सूक्ष्म भाव का ज्ञान तो कोई भी कर सकता है पर इसे अनुभव में लाना, इसमें डुबकी लगाना मात्र शब्दों से नहीं होता है। इसलिए कहा है-

परिग्रहाग्रहं मुक्त्वा कृत्वोपेक्षां च विग्रहे।
निर्व्यग्रप्रायचिन्मात्रविग्रहं भावयेद् बुधः।। नि.सा.टी.१९

अर्थ - परिग्रह के आग्रह को छोड़कर तथा शरीर के प्रति उपेक्षा करके बुध पुरुष अव्यग्रता से (निराकुलता से) भरा हुआ चैतन्य मात्र जिसका शरीर है उस आत्मा की भावना करे।

यह उपदेश भी वहीं नियमसार की १२वीं गाथा की टीका में दिया है जहाँ इस कारणसमयसार रूप अप्रतिहत निरावरण चित्शक्ति का रूप दर्शाया है। नियमसार ग्रन्थ की टीका करते हुए

पद्मप्रभमलधारिदेव ने इन दोनों कलश ३५-३६ का उद्धरण देकर वहीं स्वयं स्वरचित काव्य में कहा है कि निर्विकल्प समाधि वाला आत्मा ही परपरिणति से दूर अतुल, निष्पाप, चिन्मात्र को प्राप्त करता है।

'अतुलमनघमात्मा निर्विकल्पः समाधिः
परपरिणतिदूरं याति चिन्मात्रमेषः।।' नि.सा.टी.६०

टीकाकार ने इस परम पारिणामिक भाव का आलंबन लेने की योग्यता वाला भव्यात्मा कौन होता है इसका वर्णन भी समय-समय पर यत्र-तत्र किया है। जैसे कि -

अंचितपंचमगतये पंचमभावं स्मरन्ति विद्वान्सः।
संचितपंचाचाराः किंचनभावप्रपंचपरिहीणाः।। नि.सा. ५८

अर्थात् - ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य रूप इन पाँच आचारों से युक्त और किंचित भी परिग्रह के प्रपंच से सर्वथा रहित ऐसे विद्वान पूजनीय (श्रमणराज) ही पंचमगति को प्राप्त करने के लिए पंचम भाव का स्मरण करते हैं।

इत्यादि अनेक कथन से स्पष्ट है कि वीतराग श्रमण, मुनिराज ही इस परम पारिणामिक भाव से शुद्ध आत्मा में डुबकी लगाने की पात्रता रखते हैं। जो योग्यता रखते हैं उनकी वीतराग परिणति को राग कहकर निन्दा करना और स्वयं सरागी दशा में वीतरागता की बातें करके वीतराग बन बैठना तथा सरागी को भी उसी दशा में डुबकी लगाने के लिए कहना यह अध्यात्म का दुष्प्रयोग है। ध्यान दें, कि आचार्य अमृतचन्द्र जी के कलशों का भाव क्या है? इन दोनों (३५-३६) कलशों का उद्धरण **मुनि पद्मप्रभमलधारी देव ने नियमसार टीका** में किया है और उसी स्थान पर पंचाचार से परिणत आत्मा इस पंचमभाव का स्मरण करते हैं, यह कहकर इस अध्यात्म का खुलासा किया है।

प्रश्न-९. यहाँ कोई प्रश्न करता है कि इसका कोई साधन है या नहीं? **श्री पंचास्तिकाय** नामक शास्त्र में भी आता है कि व्यवहार/निश्चय का साधन है। उसे उत्तर देते है कि भाई ! वहाँ तो निमित्त कैसा होता है, इसका ज्ञान कराने के लिए व्यवहार को साधन कहा है। वास्तव में तो व्यवहार साधन है ही नहीं, एक मात्र निश्चय ही मोक्ष का साधन है। निश्चय के साथ-साथ राग किस जाति का होता है, इसका ज्ञान कराने के लिए व्यवहार में साधनपने का उपचार किया है।?

उत्तर- भाई ! कैसी चतुराई है! खुद ही प्रश्न किया खुद ही उत्तर दे लिया। आचार्य प्रणीत पंचास्तिकाय शास्त्र में स्पष्ट आया है कि व्यवहार निश्चय का साधन है। इस सीधी सी बात को समझाने के लिए इतना घुमावदार उत्तर स्वयं देना ताकि लोग यह न समझें कि वक्ता को मालूम नहीं है कि **पंचास्तिकाय** में व्यवहार को निश्चय का साधन कहा है और एक चतुर वकील की तरह स्वयं अपना पक्ष रखकर उसका खण्डन कर देना ताकि कोई उस पर दूसरा अपनी दलील पेश न कर सके। आचार्य प्रणीत बात को भी सरासर झुठलाने का यह कैसा दुस्साहस है! जो कह रहा है कि 'वास्तव में तो व्यवहार साधन है ही नहीं, एक मात्र निश्चय ही मोक्ष का साधन है।' सामने रखे प्रमाण को एकदम उलटा करके सरेआम आचार्य प्रणीत वचन को अप्रमाणिक बताने का यह अक्षम्य अपराध असह्य है जो कहता है कि 'निश्चय के साथ-साथ राग किस जाति का होता है, इसका ज्ञान कराने के लिए व्यवहार में साधनपने का उपचार किया है।' जरा इसे से यह तो पूछो कि निश्चय के साथ-साथ राग किस जाति का होता है ? क्या निश्चय के साथ भी राग होता है ? आचार्य कहते हैं कि समस्त रागादि का अभाव होने पर निश्चय स्वरूप आत्मा का अनुभव होता है। फिर वक्ता स्वयं भी 'जहाँ निश्चय है वहाँ रागादि नहीं होते हैं' ऐसा मानता है तो फिर यहाँ निश्चय के साथ-साथ रागादि कैसे आ गये? व्यवहार से साधन यथार्थ है/सत्य है। जब उस व्यवहार में भी साधनपने का उपचार किया है, तो ऐसा कहना साधन के बिना साध्य सिद्धि करने का प्रयास है जो 'आकाश पुष्प' के समान असिद्ध है।

प्रश्न-१०. इस कलश में व्यवहार का निषेध ही बताया गया है। शुभाशुभ राग चैतन्य शक्ति से खाली है, अत: इसे छोड़ने का ही उपदेश दिया है। व्यवहार रत्नत्रय का राग भी चैतन्य शक्ति से खाली है। यह सम्यक् एकान्त का स्वरूप बताया है। निश्चय से भी होता है और व्यवहार से भी होता है, ऐसा मानना सम्यक् अनेकान्त नहीं, मिथ्या अनेकान्त है ?

उत्तर- ये सब अपने मन के कषाय भाव हैं जिनका आचार्यों के अभिप्राय से दूर-दूर तक कोई लेना-देना नहीं है। इस कलश में कहीं भी व्यवहार का निषेधपरक कथन नहीं है। पाठक स्वयं पढ़ें और देखें कि यहाँ समयसार की गाथाओं में भी व्यवहार नय का निषेध नहीं किया है किन्तु व्यवहार नय से भी जीव अध्यवसान वाला है। ऐसा गाथा ४६, ४७, ४८ में कहा है। जिससे व्यवहार नय से जीव क्या है, यह दिखाकर व्यवहार नय का समर्थन किया है।

अपने मन से यह कहना कि यहाँ शुभाशुभ राग को छोड़ने का उपदेश है सर्वथा गलत है। यहाँ तो विश्व के ऊपर स्फुरायमान सिद्ध भगवान् के ध्यान का उपदेश है, जो शुभ राग के बिना सम्भव नहीं है। निश्चय से भी होता है, व्यवहार से भी होता है, यही मानना अनेकान्त है। मात्र निश्चय से मानना मिथ्या अनेकान्त है क्योंकि अनेकान्त में दोनों विरोधी धर्मों का नयों के द्वारा विवक्षा वश कथन किया जाता है। न्याय ग्रन्थों में सभी दार्शनिक आचार्यों ने वस्तु स्वरूप दोनों नय से स्वीकारा है। मात्र एक नय निश्चय नय से मानना सम्यक् एकान्त है, ऐसा कथन अनेकान्त दर्शन

के विरुद्ध है। अनेकान्त शब्द ही अपने आप में तभी सार्थक होता है, जब निश्चय और व्यवहार दोनों से वस्तु को माना जाए।

'सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्' आचार्य अमृतचन्द्र जी ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में कहा है कि उस अनेकान्त को नमस्कार हो जो समस्त नय से विलसित पदार्थों के विरोध को भी समाप्त कर देता है। यह वक्ता का दुस्साहस है जो सम्यक् अनेकान्त स्वरूप को मिथ्या कहता है और मिथ्या एकान्त को सम्यक् एकान्त कह रहा है। अनेकान्त उसी को कहते हैं जिसमें दोनों नयों का विरोध रहित कथन हो।

सर्वथा नियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ।। २७।। अरजिनस्तवनम् (स्वयं.रूपेत्र)

अर्थ- हे भगवन् ! आपके न्याय में स्यात् शब्द 'सर्वथा' नियम का त्याग करता है, जो जैसा वस्तु भाव दिखता है, उसी अपेक्षा से कथन करता है। आत्मा के शत्रु बने अन्य एकान्तशिदियों के यहाँ यह स्यात् शब्द नहीं है।

सर्वत्र आचार्यों ने निश्चय मोक्षमार्ग-व्यवहार मोक्षमार्ग, निश्चय रत्नत्रय-व्यवहार रत्नत्रय, निश्चय सम्यक्त्व-व्यवहार सम्यक्त्व आदि के द्वारा निश्चय से भी होता है, व्यवहार से भी होता है, यही दर्शाया है। इसी को सम्यक् अनेकान्त कहते हैं। मात्र एक नय से वस्तु स्वरूप मानना सम्यक् एकान्त नहीं मिथ्या एकान्त है। जिस वस्तु का जैसा प्ररूपण जिनेन्द्र भगवान् ने किया है और उसमें कोई तर्क काम नहीं करता है, वह सम्यक् एकान्त होता है। जैसे- द्रव्य छह होते हैं। निश्चय मोक्षमार्ग व्यवहार मोक्षमार्ग से होता है। केवलज्ञान निश्चय मोक्षमार्ग से होता है। इत्यादि। मोक्षमार्ग निश्चय से भी होता है और व्यवहार से भी होता है। यह मिथ्या अनेकान्त नहीं किन्तु सम्यक् अनेकान्त है। अन्यथा व्यवहार मोक्षमार्ग का सर्वथा लोप हो जाएगा। व्यवहार मोक्षमार्ग सर्वथा मिथ्या होने पर निश्चय मोक्षमार्ग भी गधे के सींग की तरह असत् होगा।

एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं प्रमाणसिद्धं, तदतत्स्वभावम्।
त्वया प्रणीतं सुविधे! स्वधाम्ना, नैतत्समालीढपदं त्वदन्यैः।। १।।

अर्थ - हे सुविधिनाथ भगवन! आपके द्वारा अपने ज्ञान स्वरूप तेज से प्रतिपादित तत्त्व (जीवादि पदार्थ) एकान्तदर्शन का निषेध करने वाला है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है तथा तत् और अतत् स्वभाव को लिये है अर्थात् विधि निषेध रूप है। है भगवान! यह तत्त्व आपसे भिन्न किसी और के द्वारा प्रतिपादित नहीं हो सका है।

अथ चेतनाचेतने विभजति-

चिच्छक्तिव्याप्त सर्वस्वसारो जीव इयानयम्।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ।। ३६ ।।

सं.टी.- अयं जीवः आत्मा, इयान् एतावन्मात्रः चिच्छक्तीत्यादि-चिच्छक्त्या-ज्ञानाविभागप्रतिच्छेदेन व्याप्तं सर्वस्वसारं सर्वतः सामस्त्येन, सारं अन्तर्भागो यस्य सः, अमी प्रत्यक्षाः शरीरादयः, सर्वेऽपि-समस्ता अपि, भावाः पदार्थाः, पौद्गलिकाः पुद्गले भवाः पौद्गलिकाः, अतः एतस्मात् चैतन्यात्, अतिरिक्ताः भिन्नाः ज्ञानशून्या इत्यर्थः।।३६।।

उत्थानिका - अब चेतन-अचेतन का विभाजन करते हैं-

अन्वयार्थ - (चिच्छक्तिव्याप्त सर्वस्वसारो) चैतन्यशक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्व-सार है ऐसा (अयं जीवः) यह जीव (इयान्) इतना मात्र ही है; (अतोऽतिरिक्ताः) इस चित्शक्ति से शून्य (अमी भावाः) जो ये भाव हैं (सर्वेऽपि) वे सभी (पौद्गलिकाः) पुद्गलजन्य हैं-पुद्गल के ही हैं।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस कलश में क्या भाव दर्शाया है ?

उत्तर- पूर्व के कलश में समस्त पौद्गलिक द्रव्यों को छोड़कर अनुभूति करने को कहा था और इस कलश में सभी पदार्थ पौद्गलिक हैं, यह कहा है।

प्रश्न-२. यह जीव आत्मा कैसा है ?

उत्तर- यह आत्मा ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद रूप चैतन्य शक्ति से व्याप्त है। जिस आत्मा का सर्व ओर से अन्तर्भाग सार है।

प्रश्न-३. चैतन्य से अन्य भाव कैसे हैं ?

उत्तर- चैतन्य से भिन्न सभी पदार्थ पौद्गलिक हैं और ज्ञानशून्य हैं।

प्रश्न-४. तो फिर दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति, तप इत्यादि विकल्प पुद्गल द्रव्य के ही हैं। चाहे व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प हो, चाहे तीर्थंकर प्रकृति को बाँधने वाला शुभ भाव हो। ये सभी भाव चित्शक्ति से खाली हैं, शून्य हैं। अतः पुद्गल सम्बन्धी हैं, पुद्गल ही हैं ?

उत्तर- कलश में जिस चैतन्य शक्ति मात्र से व्याप्त सार वाला आत्मा कहा है वह इतना मात्र जीव है। यहाँ देखा जाए तो जीव का प्रमाण या जीव मात्र को समझाया गया है। जो जीव आत्मा चेतन मात्र है और अचेतन से रहित है उस जीव का यहाँ स्वरूप कथन है। यहाँ भाव से अभिप्राय पदार्थ से है। जिससे अचेतन पदार्थों से भिन्न चेतन पदार्थ मात्र दिखाने का प्रयोजन है।उस चित्शक्ति के

अलावा सभी पदार्थ अचेतन हैं, ऐसा तात्पर्य निकला। फिर भी भाव का अर्थ यदि चैतन्य भावों से लिया जाता है तो चित् शक्ति भाव मात्र के अलावा अन्य सभी भाव पौद्गलिक हैं, यह कहा है। ऐसी स्थिति में मात्र दया, दान, व्रत, पूजा, भक्ति ही पौद्गलिक भाव नहीं है किन्तु चित् शक्ति के अलावा अन्य सभी भाव पौद्गलिक हुए हैं। मात्र व्यवहार मोक्षमार्ग या व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प पौद्गलिक नहीं हैं किन्तु निश्चय रत्नत्रय भी ध्यान की परिणति है। वह ध्यान भी चित् शक्ति मात्र आत्मा में नहीं है अत: वह भाव भी पौद्गलिक है। केवल शुभ या अशुभ भाव चित् शक्ति से खाली हैं तो श्रेणी में होने वाले सभी शुद्ध भाव भी चित्शक्ति से खाली हैं। यहाँ चित् शक्ति मात्र भाव ही आत्मा है तो अन्य दर्शन गुण, ज्ञान गुण, चारित्र गुण आदि विकल्प भी यहाँ चित् शक्ति में नहीं स्वीकारे हैं। चित् शक्ति से भिन्न यहाँ सभी पदार्थों को पौद्गलिक कहा है तो जब तक आत्मा का पुद्गल से संयोग है तब तक यहाँ पौद्गलिक पदार्थों से सम्बन्ध वाला आत्मा कहा है। जो सिद्ध लोक में शुद्ध चिन्मात्र आत्मा विराजमान है उस आत्मा को यहाँ चित् शक्ति से व्याप्त कहा है। इस कलश का संबंध पूर्व कलश से है। पूर्व के कलश ३५ में लोक के ऊपर रहने वाले उन सिद्ध आत्मा का ध्यान करने को कहा है और यहाँ उन्हीं सिद्ध आत्मा का अन्तरंग सार चैतन्य शक्ति मात्र बताया है।

हे मोक्षमार्गेच्छुक! भगवान् ने क्या किया है, तीर्थंकर ने किसी को गुरू नहीं बनाया, उन्होंने केवल सिद्धों को नमस्कार किया इसलिए हम भी ऐसा ही करें ऐसी नकल से सम्यग्दर्शन नहीं होगा किन्तु अपने मन रूपी बैल की नाक में वीतरागी गुरु के हाथ से संयम की नकेल लगवाओ। तीर्थंकर ने जो हमें आदेश दिया है उसे करने की अकल लगाओ इसी से भव-पीडा दूर होगी।

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो ।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहणणं ।। ५० ।। ता.टी. ५५
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ।। ५१ ।। ता.टी. ५६
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ।। ५२ ।। ता.टी. ५७

अन्वयार्थ - (जीवस्स) जीव के (वण्णो) वर्ण (णत्थि) नहीं, (णवि गंधो) गंध भी नहीं, (णवि रसो) रस भी नहीं, (णवि फासो) स्पर्श भी नहीं (य) और (णवि रूवं) रूप भी नहीं, (ण सरीरं) शरीर भी नहीं, (णवि संठाणं) संस्थान भी नहीं, (ण संहणणं) संहनन भी नहीं; (जीवस्स) जीव के (णत्थि रागो) राग भी नहीं, (णवि दोसो) द्वेष भी नहीं, (मोहो) मोह भी (णेव विज्जदे) विद्यमान नहीं, (णो पच्चया) प्रत्यय-आस्रव भी नहीं, (ण कम्मं) कर्म भी नहीं (चावि) और (णोकम्मं) नोकर्म भी (से णत्थि) उसके नहीं हैं; (जीवस्स) जीव के (णत्थि वग्गो) वर्ग नहीं, (ण वग्गणा) वर्गणा नहीं, (णेव फड्ढया केई) कोई स्पर्धक भी नहीं, (णोअज्झप्पट्ठाणा) अध्यात्मस्थान भी नहीं (य) और (अणुभायठाणाणि णेव) अनुभावस्थान भी नहीं हैं; (जीवस्स) जीव के (केई जोयट्ठाणा णत्थि) कोई योगस्थान भी नहीं, (वा) अथवा (बंधठाणा ण) बंधस्थान भी नहीं, (य) और (उदयट्ठाणा णेव) उदयस्थान भी नहीं (केई मग्गणट्ठाणया ण) कोई मार्गणास्थान भी नहीं हैं; (जीवस्स) जीव के (णो ठिदिबंधट्ठाणा) स्थितिबंधस्थान भी नहीं (वा) अथवा (संकिलेसठाणा ण) संक्लेशस्थान भी नहीं, (विसोहिट्ठाणा णेव) विशुद्धिस्थान भी नहीं (वा) अथवा (संजमलद्धिठाणा णो) संयमलब्धिस्थान भी नहीं है (य) और (जीवस्स) जीव के (जीवट्ठाणा णेव) जीवस्थान भी नहीं (वा) अथवा (गुणट्ठाणा) गुणस्थान भी (ण अत्थि) नहीं हैं; (जेण दु) क्योंकि (एदे सव्वे) ये सब (पुग्गलदव्वस्स) पुद्गलद्रव्य के (परिणामा) परिणाम हैं।

लो जीव के सरस गंध नहीं नहीं हैं, ये स्पर्श वर्ण गुण रूप सभी नहीं हैं ।
संस्थान संहनन सुन्दर है न काया, आलोक धाम जिसमें तम है न छाया ।।५५।।

ये जीव के न रति राग यथार्थ में हैं, ना मोह विभ्रम विभाव पदार्थ में हैं ।
नो-कर्म, कर्म अघ प्रत्यय भी नहीं हैं, वन्दूँ इसे बस यही शिव की मही है ।।५६।।

है जीव की न विधि वर्ग न वर्गणाएँ, ना तीव्र मंद विधि स्पर्धक की कलाएँ ।
अध्यात्म और अनुभाव न थान हीन, वन्दूँ उसे रह सकूँ निज में विलीन ।।५७।।

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ।। ५३ ।। ता.टी. ५८
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ।। ५४ ।। ता.टी. ५९
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ।। ५५ ।। ता.टी. ६० (षट्कम्)

आ.टी.- यः कृष्णो हरितः पीतो रक्तः श्वेतो वा वर्णः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्य परिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः सुरभिर्दुरभिर्वा गंधः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्य-परिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः कटुकः कषायः तिक्तोऽम्लो मधुरो वा रसः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्य-परिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः स्निग्धो रूक्षः शीतः उष्णो गुरुर्लघुर्मृदुः कठिनो वा स्पर्शः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्।

अर्थ- वर्ण,गंध,रस,स्पर्श और रूप तथा संस्थान और संहनन ये जीव के स्वभाव नहीं है। राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्वादि प्रत्यय, तथा कर्म नोकर्म ये जीव के स्वभाव नहीं है। वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभाग स्थान ये भी जीव के स्वभाव नहीं हैं। कोई भी योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान और मार्गणास्थान ये सब जीव के स्वभाव नहीं हैं । स्थिति बंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धस्थान, संयमलब्धिस्थान, तथा जीवस्थान और गुणस्थान ये सब भी जीव के स्वभाव नहीं हैं किन्तु ये सब पुद्गलद्रव्य के संयोग से होने वाले परिणाम हैं ।।५५-६०।।

अनु.व्या. - जो कृष्ण, हरित, पीत, रक्त, काला श्वेत वर्ण हैं वे सब जीव के नहीं हैं इसलिए पुद्गल द्रव्य का परिणाम होने से अपनी अनुभूति से ये वर्ण भिन्न हैं। जो सुरभि दुरभि गंध हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।२।। जो कटु, कषाय, तिक्त , आम्ल, मधुर रस हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के

ये योग थान नहिं आतम में दिखाते, औ बन्ध-थान तक थान जहाँ न पाते ।
होते नहीं उदयथान न मार्गणायें, शुद्धात्म को हम अतः शिर तो नवायें ।।५८।।
संक्लेश-थान स्थिति बन्धन थान दो, वे, ना जीव के नहिं सुसंयम लब्धि होवे ।
ये शुद्धि थान तक आतम के नहीं हैं, मैं भी इसे विनत हूँ नत वे गणी हैं ।।५९।।
ये जीवथान गुणथान, न जीव के हैं, ये चूँकि सर्व जड़रूप अजीव के हैं ।
चैतन्य धाम, जड़से अति भिन्न न्यारा, आराध्य जीव वह है मम है सहारा ।।६०।।

यत्स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रं रूपं तन्नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यदौदारिकं वैक्रियिकमाहारकं तैजसं कार्मणं वा शरीरं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्य-परिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यत्समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमंडलं स्वाति कुब्जं वामनं हुंडं वा संस्थानं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यद्वज्रवृषभनाराचं वज्रनाराचं नाराचमर्धनाराचं कीलिका असंप्राप्तासृपाटिका वा संहननं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्य-परिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः प्रीतिरूपो रागः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्य-परिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। योऽप्रीतिरूपो द्वेषः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्य-परिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो मोहः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्य-परिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। ये मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्ययास्ते सर्वेऽपि न संति जीवस्य पुद्गल-द्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यद् ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रांतरायरूपं कर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यत्षट्पर्याप्तित्रिशरीरयोग्यवस्तुरूपं नोकर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यः शक्तिसमूहलक्षणो वर्गः स सर्वोऽपि

परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।३।। जो स्निग्ध, रूक्ष, शीत, उष्ण, गुरु, लघु, मृदु, कठिन स्पर्श हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।४।। जो स्पर्शादि सामान्य परिणाम मात्र रूप हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।५।। जो औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्मण शरीर हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।६।। जो समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन, हुंडक संस्थान हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।७।। जो वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलक, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।८।। जो प्रीति रूप राग है वह सब ही जीव के नहीं है, इसलिए यह पुद्गल का परिणाम है, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।९।। जो अप्रीति रूप द्वेष है वह सब ही जीव के नहीं है, इसलिए यह पुद्गल का परिणाम है, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न है ।।१०।। जो यथार्थतत्त्व की अप्राप्ति रूप मोह है वह सब ही जीव के नहीं है, इसलिए यह पुद्गल का परिणाम है, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न है ।।११।। जो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग प्रत्यय हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।१२।। जो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अन्तराय रूप कर्म हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह

नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। या वर्गसमूहलक्षणा वर्गणा सा सर्वापि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि मंदतीव्ररसकर्मदलविशिष्टन्यासलक्षणानि स्पर्धकानि तानि सर्वाण्यपिनसंति जीवस्य पुद्गलद्रव्य-परिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि स्वपरैकत्वाध्यासे सति विशुद्ध चित्परिणामातिरिक्तत्वलक्षणान्यध्यात्मस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिरसपरिणाम-लक्षणान्यनुभागस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि कायवाङ्मनोवर्गणापरिस्पंदलक्षणानि योगस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिपरिणामलक्षणानि बन्ध-स्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि स्वफलसंपादनसमर्थकर्मावस्थालक्षणान्युदयस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञान-संयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञाहारलक्षणानि मार्गणास्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य

अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।१३।। जो छह पर्याप्ति, तीन शरीर योग्य रूप पुद्गल स्कन्ध नोकर्म हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।१४।। जो कर्म के रस की शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेद का समूह रूप वर्ग है वह सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।१५।। जो वर्गों का समूह रूप वर्गणा है वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए यह पुद्गल का परिणाम है, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न है ।।१६।। जो मंद, तीव्र रस रूप कर्म का समूह रूप विशिष्ट वर्ग, वर्गणा का स्थापन जिनका लक्षण है ऐसे स्पर्द्धक वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।१७।। जो स्व-पर के एकपने के आशय रूप विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से न्यारापना जिसका लक्षण है ऐसे योगस्थान वे सब ही जीव के नहीं हैं । इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।१८।। जो भिन्न-भिन्न विशेष रूप प्रकृति के रस रूप परिणाम जिनका लक्षण है ऐसे अनुभागस्थान हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।१९।। जो काय, वचन, मन रूप वर्गणा का चलना जिसका लक्षण है ऐसे योगस्थान वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।२०।। जो भिन्न-भिन्न विशेषण को लिये प्रकृति के परिणाम जिनका लक्षण है ऐसे बंधस्थान हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।२१।। जो अपने फल को प्रकट करने में समर्थ कर्म की अवस्था जिसका लक्षण है ऐसे उदय स्थान हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं,

पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिकालांतरसहत्वलक्षणा-निस्थितिबंधस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि कषायविपाकोद्रेकलक्षणानि संक्लेशस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि कषायविपाकानुद्रेकलक्षणानि विशुद्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि चारित्रमोहविपाकक्रमनिवृत्तिलक्षणानि संयमलब्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मैकेन्द्रिय द्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपंचेन्द्रियलक्षणानि जीव-स्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्। यानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्य-संयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणोपशमकक्षपकानिवृत्तिबादरसांपरायो-पशमकक्षपकसूक्ष्मसांपरायोपशमकक्षपकोपशांतकषायक्षीणकषायसयोगकेवल्ययोगकेवलिलक्षणानि गुणस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न संति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् ।।५०-५५।।

इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।२२।। जो गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा, आहार जिनका लक्षण है ऐसे मार्गणास्थान हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।२३।। जो भिन्न-भिन्न विशेषण को लिये प्रकृतियों के कालांतर तक साथ रहना जिनका लक्षण है ऐसे स्थिति बंध के स्थान हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।२४।। जो कषाय के विपाक का उत्कृष्टपना जिनका लक्षण है ऐसे संक्लेशस्थान हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।२५।। जो कषाय के विपाक का मंदपना जिनका लक्षण है ऐसे विशुद्धिस्थान हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।२६।। जो चारित्रमोह के उदय की अनुक्रम से निवृत्ति जिनका लक्षण है ऐसे संयमलब्धिस्थान हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।२७।। जो पर्याप्त, अपर्याप्त, बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय जिनका लक्षण है ऐसे जीवस्थान हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।।२८।। जो मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली, अयोगकेवली ऐसे गुणस्थान हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं, इसलिए ये पुद्गल के परिणाम हैं, इस तरह अपनी

अथ बहिरंगे वर्णाद्यभ्यन्तरे रागादिभावाः पौद्गलिकाः शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्वरूपं न भवन्तीति प्रतिपादयति -

ता.टी.- वर्णगन्धरसस्पर्शास्तु रूपशब्दवाच्याः स्पर्शरसगन्धवर्णवती मूतश्च औदारिकादिपंचशरीराणि, समचतुरस्रादिषट्संस्थानानि, वज्रर्षभनाराचादि षट् संहननानि चेति। एते वर्णादयो धर्मिणः शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सन्तीति साध्यो धर्मश्चेति धर्मधर्मिसमुदयलक्षणः पक्षः आस्था, सन्धा, प्रतिज्ञेति यावत् पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वादिति हेतुः। एवमत्र व्याख्याने पक्षहेतुरूपेणांगद्वयमनुमानं ज्ञातव्यम्।

अथ रागद्वेषमोहमिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूपपञ्चप्रत्ययमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्न ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयाहारादिषट्पर्याप्ति-रूपनोकर्माणि इत्यस्य जीवस्य शुद्धनिश्चयनयेन सर्वाण्येतानि न सन्ति। कस्मात्? पुद्गलपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात्।।५५।।

अथ परमाणोरविभाग-परिच्छेद-रूप-शक्तिसमूहो-वर्ग इत्युच्यते। वर्गाणां समूहो वर्गणा भण्यते। वर्गणा समूहलक्षणानि स्पर्द्धकानि च कानिचिन्न सन्ति। अथवा कर्मशक्तेः क्रमेण विशेषवृद्धिः

अनुभूति से भिन्न हैं ।।२९।। ऐसे ये सब ही पुद्गल के परिणाम रूप भाव हैं वे सब ही जीव के नहीं हैं। जीव तो परमार्थ चैतन्यशक्ति मात्र है।

आगे कहते हैं कि बाह्य में शरीर के वर्णादि और अभ्यंतर में रागादि विभावभाव जो पुद्गल सम्बन्ध से उत्पन्न हुए हैं, शुद्ध निश्चयनय से जीव स्वरूप नहीं हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हैं-

टीकार्थ- रूप शब्द से कहे जाने वाले वर्ण, गंध, रस और स्पर्श तथा रस, गंध, वर्ण वाली मूर्ति व औदारिक आदि पाँच शरीर, समचतुरस्रादि छह संस्थान और वज्रवृषभनाराच आदि छह संहनन ये सभी वर्णादिक धर्मी निश्चय नय से जीव के नहीं होते हैं। यह साध्य अथवा धर्म हुआ। धर्म और धर्मी दोनों मिलकर समुदाय रूप पक्ष हुआ। जिसको आस्था, संधा या प्रतिज्ञा नाम से भी कहा जाता है। ये सब जीव के नहीं हैं। क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणाममय हैं एवं शुद्धात्मानुभूति से भिन्नता रखने वाले हैं, यह हेतु हुआ। इस प्रकार इस व्याख्यान में पक्ष तथा हेतु इन दो अंगों वाला अनुमान हुआ।

इसी प्रकार राग-द्वेष, मोह अथवा मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद-कषाय और योग रूप पाँचों प्रत्यय एवं मूल और उत्तरप्रकृतियों के भेद से विभक्त किये जाने वाले ज्ञानावरणादि आठ कर्म, औदारिक, वैक्रियिक और आहारकरूप तीन शरीर, आहारादि छह पर्याप्तिरूप नोकर्म ये सब भी शुद्ध निश्चयनय से जीव के नहीं हैं, क्योंकि ये सब भी पुद्गल द्रव्य के परिणाममय हैं एवं शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं।

परमाणु के अविभाग प्रतिच्छेद रूप शक्तिसमूह को वर्ग कहते हैं और वर्गों के समूह को वर्गणा कहते हैं तथा वर्गणा के समूह को स्पर्द्धक कहते हैं। ये सभी जीव के नहीं हैं। अथवा कर्म

स्पर्द्धकलक्षणम्। तथा चोक्तं वर्ग-वर्गणा-स्पर्द्धकानां त्रयाणां लक्षणम्।।५६।।

'वर्गः शक्तिसमूहोऽणोर्बहूनां वर्गणोदिता।
वर्गणानां समूहस्तु स्पर्द्धकं स्पर्द्धकापहैः।।'

शुभाशुभरागादिविकल्परूपाध्यवसानानि भण्यन्ते, तानि च न सन्ति। लतादार्वस्थिपाषाणशक्ति-रूपाणि घातिकर्मचतुष्टयानुभागस्थानानि भण्यन्ते। गुडखाण्डशर्करामृतसमानानि शुभाघातिकर्मानुभाग-स्थानानि भण्यन्ते। निंबकांजीरविषहालाहलसदृशान्यशुभाघातिकर्मानुभागस्थानानि च तान्येतानि सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सन्ति। कस्मात्? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात्।। ५७।।

अथ वीर्यान्तराय-क्षयोपशमजनितमनोवचनकायवर्गणावलम्बन-कर्मादान-हेतु-भूतात्म-प्रदेश-परिस्पन्द-लक्षणानि योगस्थानानि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेश-रूप-चतुर्विध-बन्धस्थानानि सुखदुःखफलानुभवरूपाण्युदयस्थानानि गत्यादिमार्गणास्थानानि च सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सन्ति। कस्मात् ? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूते- र्भिन्नत्वात्।।५८।।

की शक्ति क्रम से विशेष वृद्धि को प्राप्त हो उसे स्पर्द्धक कहते हैं। सो ही इन तीनों का लक्षण आगम में बतलाया है। अणु की शक्ति के समूह का नाम वर्ग और बहुत से वर्गों के समूह का नाम वर्गणा और वर्गणाओं के समूह का नाम स्पर्द्धक, ऐसा स्पर्द्धकों को नष्ट करने वालों के द्वारा कहा गया है। इस प्रकार शुभ तथा अशुभरूप रागादिक के विकल्प जहाँ हों वे अध्यवसान कहलाते हैं। वे भी जीव के नहीं हैं। लता, दारु, हड्डी और पाषाण जैसी शक्ति को लिये हुए चार घातिया कर्मों के अनुभाग स्थान होते हैं। गुड, खाण्ड, शर्करा और अमृत समान जो शुभरूप अघातिया कर्म हैं, उनके अनुभाग स्थान होते हैं। नीम, कांजी, विष और हलाहल सरीखे अनुभाग स्थान अशुभ अघातिया कर्मों के होते हैं। ये सभी शुद्ध निश्चयनय से जीव के नहीं हैं क्योंकि ये पुद्गल द्रव्य के परिणाममय हैं एवं शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले जो मन, वचन, काय उनकी वर्गणा के आलम्बन से कर्मग्रहण करने के हेतुभूत जो आत्मप्रदेशों का परिस्पन्दन वही है लक्षण जिसका ऐसे योगस्थान, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप चार प्रकार का बंधस्थान, सुखदुःख का अनुभव रूप उदयस्थान और गति आदि मार्गणास्थान, ये सब भी शुद्ध निश्चयनय से जीव के नहीं हैं, क्योंकि ये सब पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं एवं शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं।

जीव के साथ कुछ काल तक रहने वाले स्थितिबंधस्थान कषायों की उत्कृष्टता रूप संक्लेशस्थान, कषायों के मंद उदयरूप विशुद्धि स्थान और कषायों को क्रम से हीन करने रूप संयमलब्धिस्थान ये सब भी शुद्ध निश्चयनय से जीव के नहीं हैं क्योंकि ये सब भी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय हैं एवं शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं। जैसा कि गाथा में बताया है- 'बादर

अथ जीवेन सह कालान्तरावस्थानरूपाणि स्थितिबन्धस्थानानि। कषायोद्रेकरूपाणि संक्लेशस्थानानि कषायमन्दोदयरूपाणि विशुद्धिस्थानानि कषाय-क्रमहानिरूपाणि संयमलब्धि स्थानानि च सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सन्ति। कस्मात्? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात्।५९।।

अथ जीवस्य शुद्ध निश्चयनयेन 'बादरसुहमेइंदी बितिचउरिंदी-असण्णिसण्णीणं। पज्जत्ता-पज्जत्ता एवं ते चउदसा होंति' इति गाथाकथितक्रमेण बादरैकेन्द्रियादि चतुर्दश जीवस्थानानि मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानानि च सर्वाण्यपि न सन्ति। कस्मात्? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात्। कुत इति चेत् ? यतः कारणादेते वर्णादिगुणस्थानान्ताः परिणामाः शुद्धनिश्चयनयेन पुद्गलद्रव्यस्य पर्याया इति।।६०।।

अयमत्र भावार्थः सिद्धान्तादिशास्त्रेषु अशुद्धपर्यायार्थिकनयेनाभ्यन्तरे रागादयो बहिरंगे शरीरवर्णापेक्षया वर्णादयोऽपि जीवाः इत्युक्ताः। अत्र पुनरध्यात्मशास्त्रे शुद्धनिश्चयनयेन निषिद्धा इत्युभयत्रापि नयविभागविवक्षया नास्ति विरोधः। इति वर्णाद्यभावस्य विशेषव्याख्यानरूपेण सूत्रषट्कं गतम् ।। ५५-६० ।।

एकेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असैनी पंचेन्द्रिय, सैनी पंचेन्द्रिय ये सात पर्याप्त और अपर्याप्त भेद से चौदह जीव समास हैं तथा मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थान ये सभी शुद्ध निश्चयनय से जीव के नहीं हैं, क्योंकि ये सभी पुद्गल द्रव्य के परिणाममय हैं एवं शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं। इसका भी कारण यह है कि ये सब वर्णादि गुणस्थान पर्यन्त भाव शुद्ध निश्चयनय से (देखने पर) पुद्गल द्रव्य की पर्यायें हैं। तात्पर्य यह है कि **सिद्धान्त आदि शास्त्रों में अशुद्ध पर्यायार्थिकनय का आश्रय लेकर अन्तरंग में तो रागादिक भाव और बाह्य में शरीर के वर्ण की अपेक्षा वर्णादिक इन सबको जीव कहा है। किन्तु यह तो अध्यात्म शास्त्र है इसलिए यहाँ पर शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा लेकर इनका निषेध किया है। इस प्रकार दोनों स्थानों पर नय विभाग की विवक्षा से कोई विरोध नहीं है।** इस प्रकार वर्णादिक के अभाव का विशेष व्याख्यान करने रूप में छह गाथायें कहीं।। ५५-६० ।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. ये वर्ण आदि भाव जीव के नहीं हैं, इसमें क्या हेतु है ?

उत्तर- ये वर्ण आदि भाव जीव के नहीं हैं क्योंकि शुद्धात्मा की अनुभूति से ये भिन्न हैं, यह हेतु है।

प्रश्न-२. शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न है या अपनी अनुभूति से भिन्न है, जैसा कि पं. जयचन्द जी ने अपनी हिन्दी टीका के भावार्थ में लिखा है कि ये भाव अपनी अनुभूति से भिन्न हैं?

उत्तर- भैया! ये भाव अपनी अनुभूति से भिन्न हैं तो अपनी अनुभूति तो सबको ही होती है। इसलिए 'अपनी' कहने से कुछ अर्थ नहीं निकलता है। हाँ ! आचार्य अमृतचन्द्र जी ने इसे मात्र

'अनुभूति' से भिन्न कहा है सो उसका स्पष्टीकरण आचार्य जयसेन जी ने किया है कि ये भाव शुद्धात्मा की अनुभूति से भिन्न हैं।

प्रश्न-३. सम्यग्दृष्टि जीव इस अनुभूति को कैसे करते हैं ?

उत्तर- चतुर्थ गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक तथा सातवें गुणस्थान की प्रवृत्ति रूप परिणति तक निश्चय नय की अपेक्षा से 'ये भाव अपनी आत्मा से भिन्न हैं' ऐसा श्रद्धानात्मक विचार चलता है। उसके बाद निर्विकल्प ध्यान में स्थित होकर सप्तम, अष्टम आदि गुणस्थान में शुद्धात्मा से इनका भिन्न अनुभव करते हैं और बाद में बारहवें आदि गुणस्थान में रागादि का सर्वथा अभाव हो जाने से शुद्धात्मा का यथार्थ में अनुभव होता है। उसके बाद अरिहन्त दशा में शुद्ध ज्ञानभाव का अनुभव होता है। सिद्ध दशा में शरीर और कर्म के सर्वथा अभाव से 'शुद्ध चिन्मात्र' का अनुभव होता है।

हे सम्यग्ज्ञानिन्! मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में परस्पर निर्विरोध होने पर बनता है। रत्नत्रय में सम्यग्ज्ञान मध्य में आता है। इसी कारण से सम्यग्ज्ञान कारण रूप भी है और कार्य रूप भी है। यह तो सभी जानते है कि सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्ज्ञान होता है। यह सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन का कार्य होने से इसे कार्य-सम्यग्दर्शन कहते है। सम्यग्ज्ञान की यात्रा यहीं समाप्त नहीं हो जाती है। वास्तव में आत्मा में तत्त्वार्थ श्रद्धान से सम्यग्दर्शन -सम्यक्चारित्र का कारण बनता है। जब यह सम्यक्चारित्र दिलाये तो यह कारण- सम्यग्ज्ञान होता है। वीतरागी आचार्यो द्वारा प्रणीत यही मार्ग है। आचार्य अमृतचन्द्र जी ने कहा है- 'ज्ञानक्रियानय परस्पर तीव्रमैत्री' अर्थात् सम्यग्ज्ञान और क्रिया यानी सम्यक्चारित्र में परस्पर मैत्री है।

अथ वर्णादीनां विविक्तं बंभण्यते-

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः ।
तेनैवांतस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ।। ३७ ।।

सं.टी.- अस्य प्रत्यक्षस्य, पुंसः आत्मनः, वर्णाद्या वा-वर्णगंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननादयो बहिर्भावाः, वा पुनः रागमोहादयः रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थान-बन्धस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबन्धस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानजीवस्थानादयः, सर्वे समस्ताः एव-निश्चयेन, भावाः पदार्थाः, भिन्ना अतिरिक्ताः, आत्मातिरिक्ता इत्यर्थः तेनैव वर्णादीनां भिन्नत्वकारणेनैव, तत्त्वतः परमार्थतः अन्तः अभ्यन्तरे स्वस्वरूपे, पश्यतः अवलोकयतः-स्वध्यानं कुर्वत-इति भावः, अमी वर्णरागादयः नो दृष्टाः नावलोकिताः स्युः भवेयुः। अवलोकनेऽन्तः सति किं दृष्टं ? एकं अद्वितीयं परं उत्कृष्टं परमात्मानमित्यर्थः, दृष्टं अवलोकितं, अन्तः पश्यतः पुंसः स्याद् भवेत् ।।३७।।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं यानी आत्मा से वर्णादिक भिन्न हैं -

अन्वयार्थ - (वर्ण-आद्याः) जो वर्णादिक (वा) अथवा (रागमोहादयः वा) रागमोहादिक (भावाः) भाव कहे (सर्वे एव) वे सब ही (अस्य पुंसः) इस पुरुष-आत्मा से (भिन्नाः) भिन्न हैं (तेन एव) इसलिए (अन्तःतत्त्वतः पश्यतः) अन्तर्दृष्टि से देखने वाले को (अमी नो दृष्टाः स्युः) ये सब दिखाई नहीं देते, (एकं परं दृष्टं स्यात्) मात्र एक सर्वोपरि तत्त्व ही दिखाई देता है- केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेदरूप आत्मा ही दिखाई देता है।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१ ये वर्ण आदि अपनी आत्मा के नहीं हैं, ऐसा किन आत्माओं में नहीं देखा गया है ?

उत्तर- परमार्थ से अर्थात् निश्चय से अन्तरंग में अपने स्वरूप का ध्यान करने वाले को ये वर्ण आदि आत्मा के नहीं हैं, ऐसा देखने में आता है।

प्रश्न-२ ऐसा अपनी आत्मा का ध्यान करने पर उनको क्या दिखता है ?

उत्तर- अपने स्वरूप का ध्यान करने वाले आत्मा द्वारा एक अद्वितीय, परम उत्कृष्ट परमात्मा ही देखा गया है अर्थात् चैतन्यमय एक अभेद स्वभाव वाला आत्मा अनुभव में आता है, अन्य कुछ नहीं।

ननु वर्णादयो यद्यमी न संति जीवस्य तदा तन्त्रांतरे कथं संतीति प्रज्ञाप्यंते इति चेत्-

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ।। ५६।। ता.टी. ६१

आ.टी.-इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वाज्जीवस्य पुद्गलसंयोगवशादनादि-प्रसिद्धबंधपर्यायस्य कुसुम्भरक्तस्य कार्पासिकवासस इवौपाधिकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य विदधाति। निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवलंब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति। ततो व्यवहारेण वर्णादयो गुणस्थानान्ता भावा जीवस्य सन्ति निश्चयेन तु न सन्तीति युक्ता प्रज्ञप्तिः।। ५६।।

उत्थानिका - अब शिष्य पूछता है कि - यदि ये वर्णादिक भाव जीव के नहीं हैं तो अन्य सिद्धान्तग्रन्थों में ऐसा कैसे कहा गया है कि 'वे जीव के हैं'? उसका उत्तर कहते हैं-

अन्वयार्थ- (एदे) ये (वण्णमादीया गुणठाणंताभावा) वर्ण से लेकर गुणथानपर्यंत जो भाव कहे गये वे (ववहारेण दु) व्यवहारनय से तो (जीवस्स हवंति) जीव के हैं (दु) किन्तु (णिच्छयणयस्स) निश्चयनय के मत में (केई ण) उनमें से कोई भी जीव के नहीं हैं।

अर्थ - यद्यपि वर्ण को आदि लेकर गुणस्थान पर्यंत जो भाव ऊपर कहे हैं वे सब निश्चयनय से तो जीव के नहीं है किंतु व्यवहारनय से तो सब जीव के हैं।। ६१।।

आ.व्या.- यदि ये वर्णादिभाव जीव के नहीं हैं तो फिर सिद्धान्तग्रन्थ में ये 'जीव के हैं' ऐसा क्यों कहा गया है, ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं- इस संसार अवस्था में व्यवहार नय पर्याय के आश्रित है। वह पर्याय जीव की पुद्गल के संयोग के कारण अनादि से स्वतःसिद्ध बन्धपर्याय है। जिस कारण से कुसुंभ फूल (टेसू के फूल) के लाल रंग का कपास के वस्त्र से संयोग होने के समान औपाधिक भावों का आलम्बन लेकर प्रवृत्त हुआ यह व्यवहार नय परभाव को पर के कहता है। निश्चय नय तो द्रव्य के आश्रित है तो वह केवल जीव के स्वभावभूत भाव का आलम्बन लेकर प्रवृत्त होता हुआ दूसरे के भाव को किंचित् मात्र भी दूसरे से नहीं कहता अर्थात् दूसरे के भाव को दूसरे से कहने को निषेध करता है। इसलिए व्यवहार से वर्ण आदि से लेकर गुणस्थान अन्त तक के भाव जीव के हैं किन्तु निश्चयनय से जीव के नहीं हैं, इस प्रकार का कथन उचित (न्यायपूर्ण) ही है।

वर्णादिभाव इस आतम में लसे हैं, माने गये सकल वे व्यवहार से हैं ।
आत्मा अमूर्त अजरामरनिर्विकारा, ऐसा नितान्त नय निश्चय ने निहारा ।।६१।।

अथ यदुक्तं पूर्वं सिद्धान्तादौ जीवस्य वर्णादयो व्यवहारेण कथिताः अत्र तु प्राभृतग्रन्थे निश्चयनयेन निषिद्धाः तमेवार्थं दृढयति -

ता.टी. - व्यवहारनयेन त्वेते जीवस्य भवन्ति वर्णाद्या गुणस्थानान्ता भावाः पर्याया न तु केऽपि निश्चयनयेनेति।।६१।। एवं निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण गाथा गता ।

उत्थानिका - पूर्व में जो बताया था कि सिद्धान्तादि ग्रन्थों में वर्णादिक को व्यवहार से जीव के कहे हैं और इस प्राभृत ग्रन्थ में निश्चयनय की अपेक्षा लेकर इनका निषेध किया है इसी बात को दृढ़ करने के लिए आगे की गाथा कहते हैं-

टीकार्थ - स्वामी कुंदकुंद कहते हैं कि यद्यपि वर्ण को आदि लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो भाव ऊपर कह आये हैं वे सब निश्चयनय से तो जीव के नहीं हैं किन्तु व्यवहारनय से तो ये सब जीव के हैं। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार के समर्थनरूप यह गाथा पूर्ण हुई।

विशेषार्थ - व्यवहारनय पर्यायार्थिक है, अतएव जीव के साथ पुद्गल का संयोग होने से जीव की औपाधिक अवस्था हो रही है उसका वर्णन करता है इसलिए वर्णादिक से गुणस्थान पर्यंत भावों को जीव के कहता है किन्तु निश्चयनय तो मूल द्रव्य को लक्ष्य में लेकर स्वभाव का ही कथन करने वाला है इसलिए निश्चयनय की दृष्टि में जीव के नहीं हैं, क्योंकि सिद्ध अवस्था में ये नहीं होते । यह सब विवक्षाभेद से है, स्याद्वाद से है। स्याद्वाद में इसका कोई विरोध नहीं है।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. व्यवहार नय किसका आश्रय लेता है ?

उत्तर- **व्यवहार नयः किल पर्यायाश्रितत्वात्** (आ.टी.)- व्यवहार नय निश्चित ही पर्याय का आश्रितपना रखता है।

प्रश्न-२. यहाँ पर्यायाश्रित में पर्याय से क्या ग्रहण करना है ?

उत्तर- जैसा कि स्वयं आ.टी. में आचार्यदेव ने लिखा है कि 'जीवस्य पुद्गलसंयोगवशादनादिप्रसिद्धबंधपर्यायस्य' अर्थात् पुद्गल द्रव्य के संयोग के कारण अनादिकाल से प्रसिद्ध बंधपर्याय का यहाँ ग्रहण करना है।

प्रश्न-३. बंधपर्याय क्या पर्याय मात्र है या द्रव्य भी है ?

उत्तर- बंधपर्याय से तात्पर्य संयोगी दशा की परिणति है। परिणति, भेद, परिणाम, विवर्त, कार्य, नैमित्तिक और पर्याय ये शब्द एकार्थवाची हैं। बाह्य और आभ्यन्तर कारणों से द्रव्य की जो विशिष्ट परिणति होती है वही परिणाम या पर्याय कही जाती है। जीव द्रव्य का पुद्गल द्रव्य के साथ संयोग होने से आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष रूप ये परिणतियाँ होती हैं। दो द्रव्यों के संयोग और वियोग से होने वाली ये परिणतियाँ हैं। इन्हें मात्र पर्याय समझकर पर्याय दृष्टि से देखना एक भूल

भरी बात है। यह पर्याय द्रव्य से भिन्न स्वभाववाली नहीं होती है। जीव और पुद्गल कर्म के संयोग से उत्पन्न हुई परिणति को यह व्यवहार नय विषय करता है। इस तरह पर (अन्य) अन्य भाव को धारण करता है, यह व्यवहार नय कहता है। बंध अनादिकाल से जीव में चला आ रहा है। बंध परिणति (पर्याय) का कथन व्यवहार नय करता है इसी कारण से जीव में कर्मोदय कृत नैमित्तिक भाव और जीव के भाव से कर्म बन्ध रूप नैमित्तिक परिणमन होता है, यहाँ किसी अन्य के भाव को अन्य कोई धारण करता है, यह कहने का अर्थ है। अर्थात् जीव भी पुद्गल के भाव को धारण करता है अन्यथा अनादिकाल से चली आई यह बंधपर्याय ही संभव नहीं है। इससे स्पष्ट है कि आचार्यदेव का आशय पर्याय कहने से बंधपर्याय को दिखाने का है अर्थात् दो द्रव्यों की एकमेक परिणति बताने का है, जो इस टीका से भी स्पष्ट है और गाथा ६ की आ.टी. में भी यही भाव है।

प्रश्न-४. पर्याय दृष्टि से जीव बंधा है, पर्याय दृष्टि से जीव में कुछ मलिनता है, पर्याय दृष्टि से ही जीव में अशुद्धि है, द्रव्य दृष्टि से जीव त्रिकाल शुद्ध है, इस प्रकार तो इसी **समयसार** के भावार्थ में कई जगह लिखा है। इससे तो यही समझ आता है कि द्रव्य तो शुद्ध है मात्र पर्याय में अशुद्धि है ?

उत्तर- अरे भाई ! दृष्टि की यह बात तो आचार्यों के अभिप्राय को न समझने से हुई है। ऐसे भावार्थ से ही भ्रमित होते-होते सुधीजन एकान्त निश्चय की ऐसी धारणा में बँध गये हैं। नयचक्र आदि ग्रन्थों के पढ़े बिना नयों का सम्यग्ज्ञान नहीं होता है। ऐसा कोई भी व्यवहार नय नहीं है जो मात्र पर्याय को दृष्टि में रखता हो। देखो ! सिद्धान्त की दृष्टि से तो नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत ये सात नय कहे हैं। इन नयों को द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से विभाजित किया है। इसमें नैगम, संग्रह, व्यवहार नय ये तीन द्रव्यार्थिक नय कहे हैं और शेष चार नय पर्यायार्थिक नय कहे हैं। इससे स्पष्ट होता है कि व्यवहार नय द्रव्यार्थिक नय है।

अब अध्यात्म भाषा की दृष्टि से नय का विभाजन देखें। इस दृष्टि से नयों के दो भेद हैं- निश्चय नय और व्यवहार नय। अध्यात्म की दृष्टि में 'निश्चयनयः अभेदविषयः, व्यवहारः भेदविषयः' ऐसा आलाप पद्धति ग्रन्थ में कहा है। अर्थात् निश्चय नय अभेद को विषय करता है और व्यवहार नय भेद को विषय करता है। यह व्यवहार नय भी दो प्रकार का है- १. सद्भूत व्यवहार नय २. असद्भूत व्यवहार नय।

जो एक वस्तु को विषय करता है वह सद्भूत व्यवहार नय है। यह भी दो प्रकार का होता है। उनमें अशुद्ध गुण और अशुद्ध गुणी के भेद को जो विषय करता है उसे उपचरित सद्भूत व्यवहार नय कहते हैं। जैसे जीव के मतिज्ञान आदि गुण। मतिज्ञान आदि क्षायोपशमिक भाव होने से अशुद्ध हैं और उनका आश्रयभूत जीव भी अशुद्ध है। मतिज्ञान ज्ञान गुण की पर्याय (परिणति) है इसलिए

पर्याय और पर्यायी (द्रव्य) के भेद को विषय करने वाला भी यही नय है। इस नय के लिए अशुद्ध गुण और अशुद्ध पर्याय का आश्रय अशुद्ध द्रव्य होता है, शुद्ध द्रव्य नहीं होता है। इसी को तीनों शब्दों की अपेक्षा से समझें-

१. व्यवहार नय इसलिए कहा क्योंकि यह एक जीव के गुण और पर्यायों में भेद को विषय करने वाला है।

२. सद्भूत इसलिए कहा है कि यह एक वस्तु (दो द्रव्यों के संयोग से बनी एक अशुद्ध वस्तु) में जीव के गुण, पर्यायों को विषय करता है।

३. उपचरित इसलिए कहा है कि ये गुण व पर्याय जीव के वास्तविक न होकर अशुद्ध स्वभाव से परिणमन करने के कारण हैं।

दूसरा अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। जैसे जीव के केवलज्ञानादि गुण आदि। ज्ञानादि गुण और उस गुण की पर्याय केवलज्ञानादि क्षायिक भाव होने से शुद्ध गुण, शुद्ध पर्याय हैं और इन गुण पर्याय का आश्रयभूत जीव भी शुद्ध है। अशुद्ध द्रव्य शुद्ध गुण या शुद्ध पर्याय का आश्रय नहीं हो सकता है। इस नय से शुद्ध गुण, शुद्ध पर्याय का आश्रय शुद्ध द्रव्य होता है। यह सिद्ध होता है।

१. अनुपचरित इसलिए कहा है कि शुद्ध जीव का यह ज्ञान गुण का परिणमन, केवलज्ञान आदि पर्याय की उत्पत्ति वास्तविक है, कर्मोपाधि सापेक्ष नहीं है।

२. सद्भूत इसलिए कहा है कि एक शुद्ध जीव के गुण, पर्यायों को यह विषय करता है।

३. व्यवहार इसलिए कहा है कि एक शुद्ध जीव के ही गुण, पर्यायों में भेद को विषय बना रहा है।

इसी तरह असद्भूत व्यवहार नय भी दो प्रकार का है, जो संश्लेष रहित वस्तुओं के संबंध को विषय बनाता है उसे उपचरित असद्भूत व्यवहार नय कहा है। जैसे देवदत्त का धन। यहाँ धन, मकान आदि भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं उन्हें एक जीव का कहना यह उपचरित असद्भूत व्यवहार है।

१. भेद की मुख्यता को विषय करने वाला होने से व्यवहार है।

२. दो भिन्न वस्तुओं को (द्रव्यों को) विषय करने से असद्भूत है।

३. दो वस्तुओं में संश्लेष संबंध नहीं होने से उपचरित है। जो संश्लेष सहित भिन्न वस्तुओं के संबंध को विषय करता है, उसे अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय कहा है, जैसे जीव का शरीर।

१. शरीर और जीव के भेद को विषय बनाने वाला होने से व्यवहार है।

२. शरीर और जीव दोनों भिन्न वस्तुएँ होने से उनको विषय बनाता है अतः असद्भूत है।

३. भिन्न होते हुए भी संश्लेष सहित हैं (दूध-पानी की तरह) इसलिए अनुपचरित है।

इस तरह चाहे सैद्धान्तिक भाषा से व्यवहार नय का कथन हो और चाहे अध्यात्म भाषा से व्यवहार नय का कथन हो वह पर्याय मात्र को विषय नहीं बनाता है। द्रव्य को ही विषय बनाता है। यह व्यवहार नय की विशेषता है कि वह एक द्रव्य को नहीं अपितु दो द्रव्यों को अपना एक

साथ विषय बनाता है।

इस वर्णन से यह भी स्पष्ट है कि द्रव्य को शुद्ध और पर्याय को अशुद्ध कहने वाला कोई भी नय नहीं है। द्रव्य को शुद्ध और पर्याय को अशुद्ध बताने वाला यह कथन ही अनेकान्त के विरुद्ध है, वस्तु व्यवस्था के विपरीत है और पूर्णत: मिथ्या है।

प्रश्न-५. क्या सैद्धान्तिक अपेक्षा से वर्णित द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक नय का अध्यात्म अपेक्षा से वर्णित निश्चय, व्यवहार नय से कोई संबंध है ?

उत्तर- अवश्य है। गाथा १३ की आ.टी. में इसका स्पष्टीकरण है। वहाँ लिखा है कि- जो द्रव्य का मुख्यतया अनुभव कराता है, वह द्रव्यार्थिक नय है और जो पर्याय का मुख्यतया अनुभव कराता है, वह पर्यायार्थिक नय है। द्रव्य और पर्याय दोनों को पर्याय (भेद) रूप से अनुभव कराने पर दोनों ही नय भूतार्थ हैं। यहाँ व्यवहार नय से दोनों नयों को भूतार्थ कहा है। व्यवहार नय द्रव्य और पर्याय दोनों को विषय बनाता है, मात्र पर्याय को नहीं। इस व्यवहार नय से संसार अवस्था को प्राप्त अशुद्ध जीव द्रव्य और पर्याय दोनों ही अनुभव में आते हैं। इसीलिए व्यवहार नय भेद को विषय बनाता है, यह कहा है। निश्चय नय तो द्रव्य और पर्याय रूप भेद को नहीं छूता हुआ शुद्ध वस्तु मात्र जीव स्वभाव का अनुभव कराने वाला है। उस अनुभूति में दोनों नय अभूतार्थ हो जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि निश्चय नय से होने वाली अनुभूति में द्रव्य और पर्याय का भेद मिट जाता है और वस्तु का स्वभाव मात्र अनुभव में आता है। इस वर्णन से यह भी स्पष्ट होता है कि **व्यवहार नय वस्तु के द्रव्य-पर्याय समग्र को भेद करके ग्रहण करता है और निश्चय नय द्रव्य-पर्याय की विवक्षा से ऊपर उठकर वस्तु के एक स्वभाव (जैसे जीव का ज्ञान स्वभाव) मात्र को ग्रहण करता है।** यही बात गाथा ६ एवं ५६ की टीका में है कि व्यवहार नय अनादिकाल से चले आए अशुद्ध जीव की एक द्रव्य पर्याय रूप बन्ध परिणति को समग्र ग्रहण करता है किन्तु निश्चय नय जीव द्रव्य के स्वभाव मात्र का आश्रय लेने वाला है।

प्रश्न-६. व्यवहार नय जानने लायक है, जबकि निश्चय नय आदरने लायक है- क्या ऐसा वीतराग का स्याद्वाद कथन है ? क्या यह कथन उचित है ?

उत्तर- यह कथन पूर्णत: अनुचित है। दोनों नय भगवान् की वाणी से निकले हैं। दोनों नयों से भगवान् ने तत्त्व का प्ररूपण किया है। यदि ऐसा मान लिया जाय तो फिर श्री षट्खण्डागम सूत्र, तत्त्वार्थ सूत्र, शास्त्र आदि सभी ग्रन्थ और व्यवहार नय के विषयभूत चैत्य, चैत्यालय आदि मात्र जानने लायक रह जायेंगे, आदरने लायक नहीं। यह सब वीतराग शासन के विपरीत होगा। 'मात्र निश्चय नय आदर करने लायक है' ऐसा कहने वाला स्याद्वाद शासन का शत्रु है।

कुतो जीवस्य वर्णादयो निश्चयेन न संतीति चेत् -

एदेहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो ।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ।। ५७।। ता.टी. ६२

आ.टी.- यथा खलु सलिलमिश्रितस्य क्षीरस्य सलिलेन सह परस्परावगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षणभूतक्षीरत्वगुणव्याप्यतया सलिलादधिकत्वेन प्रतीयमानत्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसंबंधाभावात् न निश्चयेन सलिलमस्ति, तथा वर्णादिपुद्गलद्रव्यपरिणाम-मिश्रितस्यास्यात्मनः पुद्गलद्रव्येण सह परस्परावगाहलक्षणे संबंधे सत्यपि स्वलक्षण-भूतोपयोगगुणव्याप्यतया सर्वद्रव्येभ्योऽधिकत्वेन प्रतीयमानत्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावात् न निश्चयेन वर्णादिपुद्गलपरिणामाः सन्ति।। ५७।।

उत्थानिका - निश्चय से वर्णादि भाव जीव के क्यों नहीं होते हैं ? इस प्रकार उत्तर देते हैं :-

अन्वयार्थ - (एदेहिं य संबंधो) इन वर्णादिक भावों के साथ जीव का सम्बन्ध (खीरोदयं जहेव) दूध और पानी का एकक्षेत्रावगाहरूप संयोगसम्बन्ध है ऐसा (मुणेदव्वो) जानना (य) और (ताणि) वे (तस्स दु ण हुंति) उस जीव के नहीं हैं (जम्हा) क्योंकि जीव (उवओगगुणाधिगो) उनसे उपयोगगुण से अधिक है - वह उपयोग गुण के द्वारा भिन्न ज्ञान होता है।

अर्थ- इन वर्णादिक भावों के साथ संसारी जीव का एकक्षेत्रावगाही संयोग संश्लेष संबंध होता है । जैसा कि दूध का जल के साथ होता है। ऐसा होने पर भी वास्तविकता में ये जीव के नहीं हो जाते क्योंकि जीव तो इनके साथ रहकर भी अपने उपयोग गुण के कारण इनसे भिन्न ही झलकता है ।।

आ.व्या.- जिस तरह जल से मिले हुए दूध का जल के साथ परस्पर अवगाह लक्षण वाला सम्बन्ध होता है फिर भी स्वलक्षणभूत दुग्धपने के गुण से व्याप्यपना रहता है। जिस कारण से अधिक रूप (पृथक्पने) से प्रतीति में आता है किन्तु अग्नि का उष्ण गुण के साथ जैसा तादात्म्य रूप सम्बन्ध है जल के साथ दूध का उस प्रकार का सम्बन्ध न होने से निश्चय से दूध में जल नहीं होता है। उसी तरह वर्ण आदि पुद्गल द्रव्य के परिणाम से मिश्रित आत्मा का पुद्गल द्रव्य के साथ परस्पर में अवगाह लक्षण वाला सम्बन्ध होता है फिर भी स्वलक्षणभूत उपयोग गुण से व्याप्यपना रहता है। जिस कारण से सभी द्रव्यों से भिन्न अधिक रूप (पृथक् पने) से प्रतीति में आता है किन्तु अग्नि का उष्ण गुण के साथ जिस प्रकार का तादात्म्य रूप सम्बन्ध है, वर्णादिक के साथ आत्मा का उस प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। इसलिए वर्णादि रूप पुद्गल के परिणाम निश्चय से आत्मा के नहीं हैं।। ५७।।

वर्णादि संग रहता फिर भी निराला, आत्मा सुशोभित रहा उपयोग वाला ।
लो क्षीर में वह भले मिल जाय नीर, पै नीर, नीर रहता बस क्षीर, क्षीर।।६२।।

अथ कस्माज्जीवस्य निश्चयेन वर्णादयो न सन्तीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति -

ता.टी. - एदेहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो एतैः वर्णादिगुणस्थानान्तैः पूर्वोक्तपर्यायैः सह सम्बन्धो यथैव क्षीरनीरसंश्लेषस्तथा मन्तव्यः। न चाग्न्युष्णत्वयोरिव तादात्म्यसम्बन्धः। कुत इति चेत्? **ण य हुंति तस्स ताणि दु** न च भवन्ति तस्य जीवस्य ते तु वर्णादिगुणस्थानान्ता भावाः पर्यायाः। कस्मात्? **उवओगगुणाधिगो जम्हा** यस्मादुष्णगुणेनाग्निरिव केवलज्ञानदर्शनगुणेनाधिकः परिपूर्ण इति। ननु वर्णादयो बहिरंगास्तत्र व्यवहारेण क्षीरनीरवत् संश्लेषसंबन्धो भवतु नचाभ्यन्तराणां रागादीनां तत्राशुद्धनिश्चयेन भवितव्यमिति। नैवं, द्रव्यकर्मबन्धापेक्षया योसौ असद्भूतव्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्यज्ञापनार्थं रागादीनामशुद्धनिश्चयो भण्यते। वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्चयोऽपि व्यवहार एवेति भावार्थः।। ६२।।

निश्चयनय से वर्णादिक जीव के क्यों नहीं हैं ऐसा पूछने पर उत्तर देते हैं ह्न

टीकार्थ- एदेहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो इन पूर्वोक्त कथित पर्यायस्वरूप वर्णादि गुणस्थान पर्यंत भावों के साथ जीव का वैसा ही संयोगरूप (संश्लेष रूप) संबंध है जैसा कि परस्पर में दूध और पानी का होता है,किन्तु अग्नि का उष्णता के साथ जैसा तादात्म्य संबंध है वैसा संबंध इनका जीव के साथ नहीं है। इसलिए **ण य हुंति तस्स ताणि दु** ये सब वर्णादि गुणस्थानपर्यंत भाव जीव के नहीं हैं किन्तु **उवओगगुणाधिगो जम्हा** जैसे अग्नि उष्णता से परिपूर्ण है उसी प्रकार जीव मात्र ज्ञान दर्शन गुण को लिये हुए है। यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि वर्णादिक जो बाहर दिखते हैं उनका तो जीव से क्षीर-नीर के समान संयोग संबंध है, उसको व्यवहार से जीव का कहना ठीक है किन्तु अभ्यन्तर में होने वाले रागादि भावों का ऐसा संयोग संबंध नहीं हो सकता। इन रागादि का सम्बन्ध इस जीव के साथ अशुद्धनिश्चयनय से कहना योग्य है? आचार्य इसका समाधान करते हैं कि हे भाई! ठीक है,रागादिक का संबंध जीव के साथ अशुद्धनिश्चयनय से है ऐसा जो कहा गया है वह तो आत्मा के साथ द्रव्यकर्म का संबंध बतलाने वाले असदभूतव्यवहारनय की अपेक्षा तारतम्य भेद दिखलाने के लिए कहा गया है। वास्तव में अशुद्ध निश्चयनय भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही है, ऐसा समझना चाहिए ।। ६२।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. निश्चय से वर्ण आदि भाव जीव के क्यों नहीं होते हैं ?

उत्तर- क्योंकि वर्ण आदि भाव और जीव में तादात्म्य लक्षण वाला सम्बन्ध नहीं होता है।

प्रश्न-२. तादात्म्य लक्षण सम्बन्ध क्या होता है ?

उत्तर- तत् एव आत्मा यस्य स तादात्म्यः अर्थात् वह ही जिसकी आत्मा या स्वरूप होता है वह तादात्म्य कहलाता है। जैसे अग्नि का उष्णता के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है; क्योंकि उष्णता ही अग्नि

है और अग्नि ही उष्ण है। उसी तरह आत्मा का अपने ज्ञानादि गुणों के साथ तादात्म्य रहता है।

प्रश्न-३. फिर ये वर्ण आदि भाव जीव के क्यों हैं ?

उत्तर- व्यवहार से हैं।

प्रश्न-४. व्यवहार से जीव में इन भावों की सिद्धि कैसे होती है ?

उत्तर- अवगाहन लक्षण वाले सम्बन्ध से।

प्रश्न-५. यह सम्बन्ध क्या है ?

उत्तर- आत्मा के प्रदेशों और कर्म के प्रदेशों का एकमेक होकर रहना परस्पर में अवगाहन लक्षण वाला सम्बन्ध कहलाता है जैसे कि दूध का पानी के साथ होता है।

प्रश्न-६. आत्मा और पुण्य-पाप, गुणस्थान आदि भाव एक अवगाहना में व्याप्त होते हुए भी स्वलक्षणभूत उपयोग गुण से देखने पर अर्थात् परिणति के अन्तरंग में ढलने पर वे आत्मा से भिन्न ज्ञात होते हैं। इस कारण से सभी अन्य भाव पर्याय में होते हुए भी द्रव्य में नहीं हैं, क्या ऐसा कह सकते हैं?

उत्तर- जितनी बात आचार्यों के द्वारा कही गई है वह तो यथार्थ है शेष कथन मिथ्या हैं। आत्मा और पुण्य-पाप, गुणस्थान आदि भाव स्वलक्षणभूत उपयोग गुण से देखने पर भिन्न ज्ञात होते हैं। यह यथार्थ है। किन्तु ये सभी पुण्य-पाप, गुणस्थान आदि भाव पर्याय में होते हैं, द्रव्य में नहीं, यह बात मिथ्या है। यहाँ पर्याय से अर्थ यदि बन्धपरिणति को मानकर कहें तो ठीक है अन्यथा निरपेक्ष रूप से पर्याय मात्र अर्थ लगाना गलत है। पुण्य-पाप, गुणस्थान आदि भाव भी पर्याय स्वरूप हैं। पर्यायों में कभी पर्याय नहीं रहती है। पर्याय द्रव्य में रहती है। अन्य भाव पर्याय में रहते हैं द्रव्य में नहीं, यह कथन इसीलिए सिद्धान्त विरुद्ध होने से असत्य है।

प्रश्न-७. द्रव्य गुण तो त्रिकाली ध्रुव, कूटस्थ अक्रिय हैं, इसमें कोई क्रिया नहीं, परिणमन या बदलाव नहीं है। क्रिया तो परिणति या पर्याय में है। राग की क्रिया तो द्रव्य व गुण में है ही नहीं, परन्तु निर्मलता की क्रिया भी द्रव्य-गुण में नहीं है। क्या ऐसा नहीं है?

उत्तर- द्रव्य अपने गुणों को और गुण अपने द्रव्य को कभी नहीं छोडते हैं इस अपेक्षा से कूटस्थ कहना तो ठीक है किन्तु सर्वथा कूटस्थ, अक्रिय है, यह कथन मिथ्या है। यदि द्रव्य में और गुण में कोई क्रिया नहीं अर्थात् कोई परिणमन या बदलाव नहीं तो कूटस्थ द्रव्य में कोई अर्थक्रिया सम्भव ही नहीं है। कूटस्थ द्रव्य और कूटस्थ गुण में क्रिया के अभाव में किसी पर्याय की कल्पना भी गधे के सींग के समान है। द्रव्य कूटस्थ होता है, यह बात सर्वथा एकान्त मिथ्यात्व की है। जो एकान्ती मत वाले द्रव्य को नित्य कूटस्थ मानते हैं उन्हीं की तरह यह कथन भी हैं जिसका खण्डन न्याय ग्रन्थों में भरपूर है। द्रव्य भी अपनी गुण-पर्यायों के साथ परिणमन करता है। 'द्रवति द्रोष्यति अदुद्रवत् स्वगुणपर्यायान् इति द्रव्यम्' अर्थात् जो द्रवित होता है द्रवित होगा या जिसने अपनी गुण-पर्यायों के साथ परिणमन किया था वह द्रव्य है। कहा भी है-

अण्णइ रूवं दव्वं विसेस रूवो हवेइ पज्जाओ।
दव्वं पि विसेसेण हि उप्पज्जदि णस्सदे सददं।। (कार्तिकेय अनुप्रेक्षा २४०)

अर्थात्- द्रव्य अन्वयी रूप है। विशेष रूप पर्याय है। द्रव्य भी विशेष रूप से निरन्तर उत्पन्न होता है और विनष्ट होता है।

दूसरी बात यह है कि पर्याय द्रव्य या गुण की ही होती है। द्रव्य और गुण में जो बदलाव स्वीकार नहीं करता है वह पर्याय को भी कैसे स्वीकार कर सकता है ? क्योंकि ऐसे कूटस्थ द्रव्य गुण का परिणमन नहीं होना ही पर्याय के अभाव को दिखाता है। पर्याय की अपनी कोई पर्याय नहीं होती है किन्तु द्रव्य और गुण की ही पर्याय होती है। 'गुणविकाराः पर्यायाः' (आलाप पद्धति) अर्थात्- गुणों के विकार को ही या कार्य को ही पर्याय कहते हैं। इसी तरह 'विभावद्रव्यव्यंजनपर्यायाश्चतुर्विधा नरनारकादि पर्यायाः' (आलाप पद्धति) अर्थात् नर, नारक आदि ये चार प्रकार की पर्यायें विभाव द्रव्य व्यंजनपर्यायें हैं। स्पष्ट है कि द्रव्य और गुणों में विभाव और स्वभाव रूप दोनों प्रकार का परिणमन, बदलाव होता है। मात्र पर्याय में क्रिया, परिणति या बदलाव नहीं होता है। निर्मलता भी मात्र पर्याय में नहीं किन्तु द्रव्य गुण दोनों में आती है। अशुद्ध द्रव्य के अशुद्ध गुणों का कथन भी आगम सिद्ध है। इसलिए पर्याय की अशुद्ध पर्याय में राग, पर्याय में व्यवहार रत्नत्रय सब कुछ पर्याय दृष्टि से देखना मिथ्यात्व का पोषण करना है।

कथं तर्हि व्यवहारोऽविरोधक इति चेत्-

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ।।५८।। ता.टी. ६३

तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ।।५९।। ता.टी. ६४

उत्थानिका - फिर व्यवहार अविरोधक कैसे है, ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं-

अन्वयार्थ - (पंथे मुस्संतं) जैसे मार्ग में जाते हुए व्यक्ति को लुटता हुआ (पस्सिदूण) देखकर (एसो पंथो) यह मार्ग (मुस्सदि) लुटता है, इस प्रकार (ववहारी लोगा) व्यवहारीजन (भणंति) कहते हैं; किन्तु परमार्थ से विचार किया जाये तो (कोई पंथो) कोई मार्ग तो (ण य मुस्सदे) नहीं लुटता, मार्ग में आता हुआ मनुष्य ही लुटता है; (तह) इसी प्रकार (जीवे) जीव में (कम्माणं णोकम्माणं च) कर्मों का और नोकर्मों का (वण्णं) वर्ण (पस्सिदुं) देखकर (जीवस्स) जीव का (एस वण्णो) यह वर्ण है, इस प्रकार (जिणेहिं) जिनेन्द्रदेव ने (ववहारदो) व्यवहार से (उत्तो) कहा है। (एवं) इसी प्रकार (रसगंधफासासंठाणादीय) रस, गंध, स्पर्श, संस्थान आदि (जे सव्वे) जो सब (समुद्दिट्ठा य)हैं (ववहारस्स) वे सब व्यवहार से ही जीव के हैं ऐसा (णिच्छयदण्हू) निश्चय के देखने वाले (ववदिसंति) कहते हैं।

अर्थ- जैसे मार्ग में चलते हुए को लुटता देखकर व्यवहारी जन कहते हैं कि यह मार्ग लुटता है। पर वास्तव में देखा जाये तो कोई मार्ग नहीं लुटता,किन्तु उस मार्ग में पथिक ही लुटते हैं। उसी प्रकार जीव में रहने वाले कर्मों के और नोकर्म के वर्णों को देखकर यह जीव का है ऐसा व्यवहार से जिनेन्द्रदेव कहते हैं। इसी प्रकार गंध, रस, रूप और शरीर का आकार इत्यादि सभी व्यवहारनय से जीव के हैं ऐसा निश्चयनय के जानने वाले लोग कहते हैं ।।

कोई लुटा पथिक को लख के बिचारा, मोही कहे पथ लुटा व्यवहार धारा ।
पै वस्तुत: पथ कभी लुटता नहीं है, देखा गया पथिक ही लुटता सही है ।।६३।।

देहादि का सुभग वर्ण, निहार, मानो, लो 'जीव' सुन्दर सुदृश्य सुधा सुजानो ।
ऐसा पुनीत जिन-शासन शस्य बोले, भाई! अवश्य व्यवहार रहस्य खोले ।।६४।।

एवं रसगंधफासासंठाणादीय जे समुद्दिट्ठा ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ।।६०।। ता.टी. ६५ (त्रिकलम्)

आ.टी.- यथा पथि प्रस्थितं कंचित्सार्थं मुष्यमाणमवलोक्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण मुष्यत एष पंथा इति व्यवहारिणां व्यपदेशेऽपि न निश्चयतो विशिष्टाकाशदेशलक्षणः कश्चिदपि पंथा मुष्येत; तथा जीवे बंधपर्यायेणावस्थितं कर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण जीवस्यैष वर्ण इति व्यवहारतोऽर्हद्दिवानां प्रज्ञापनेऽपि न निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणाधिकस्य जीवस्य कश्चिदपि वर्णोऽस्ति एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थान-संहननरागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्ग-वर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थान-योगस्थानबंधस्थानोदयस्थान-मार्गणास्थानस्थितिबंधस्थान-संक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानजीवस्थानगुणस्थानान्यपि व्यवहारतोऽर्हद्दिवानां-प्रज्ञापनेऽपि निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणेनाधिकस्य जीवस्य सर्वाण्यपि न सन्ति, तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावात् ।। ५८-६०।।

आ.व्या.- जैसे रास्ते पर चलते हुए व्यापारियों के समूह को लुटते हुए देखकर उस रास्ते पर होने वाली लूट क्रिया के (निमित्त से उपचार से) व्यवहारीजनों का यह कथन होता है कि 'यह रास्ता लुटता है।' ऐसा होने पर भी निश्चय से जिसका लक्षण विशिष्ट आकाशप्रदेश हैं ऐसा कोई भी मार्ग नहीं लुटता है, उसी प्रकार जीव में बंध पर्याय (परिणति) के कारण स्थित हुए कर्म अथवा नोकर्म के वर्ण (रूप) को देखकर जीव में स्थित होने से उपचार से 'जीव का यह वर्ण है' इस प्रकार व्यवहार से अर्हत् देव ने कहा है। किन्तु निश्चय से सदैव ही अमूर्त स्वभाव वाले उपयोग गुण से परिपूर्ण जीव का कोई भी १- वर्ण (रूप) नहीं होता है।

इसी प्रकार २- गंध ३- रस ४- स्पर्श ५-रूप ६- शरीर ७-संस्थान ८-संहनन ९-राग १०-द्वेष ११-मोह १२-प्रत्यय (मिथ्यात्वादि आस्रव) १३-कर्म १४-नोकर्म १५-वर्ग १६-वर्गणा १७-स्पर्धक, १८-अध्यात्म स्थान १९-अनुभाग स्थान २०-योग स्थान २१-बंध स्थान २२-उदय स्थान २३-मार्गणा स्थान २४- स्थिति बंध स्थान २५-संक्लेश स्थान २६- विशुद्धि स्थान २७-संयम लब्धि स्थान २८-जीव स्थान २९-गुणस्थान; ये सभी व्यवहार से हैं ऐसी अर्हंतदेव की प्रज्ञापना है। ऐसा होने पर भी निश्चय से सदैव ही अमूर्त स्वभाव और उपयोग गुण से परिपूर्ण जीव ये सभी (वर्णादि) नहीं होता है क्योंकि जीव और वर्णादि में तादात्म्य लक्षण रूप सम्बन्ध का अभाव है।

अब प्रश्न हो सकता है कि यह पुरुष काले वर्णवाला है और यह धवल वर्णवाला है ऐसा

संस्थान आदिक शरीर विकार सारे, ये स्पर्श रूप रस गंध गुणादि न्यारे ।
हैं जीव के पर सुनो व्यवहार से हैं? ऐसे कहें मुनि निजातम में बसे हैं ।।६५।।

अथ तर्हि कृष्णवर्णोऽयं धवलवर्णोऽयं पुरुष इति व्यवहारो विरोधं प्राप्नोतीत्येवं पूर्वपक्षे कृते सति व्यवहाराविरोधं दर्शयतीत्येका पातनिका । द्वितीया तु तस्यैव पूर्वोक्तव्यवहारस्य विरोधं लोकप्रसिद्धदृष्टान्तद्वारेण परिहरति -

ता.टी. - पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी पथि मार्गे मुष्यमाणं सार्थं दृष्ट्वा व्यवहारिणो लोका भणन्ति। किं भणन्ति? **मुस्सदि एसो पंथो** मुष्यत एष प्रत्यक्षीभूतः पन्थाश्चौरैः कर्तृभूतैः। ण य पंथो मुस्सदे कोई न च विशिष्टशुद्धाकाशलक्षणः पन्था मुष्यते कश्चिदपि, किन्तु पन्थानमाधारीकृत्य तदाधेयभूता जना मुष्यन्त इति दृष्टान्तगाथा गता। **तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं** तथा तेन पथि सार्थदृष्टान्तेन जीवेऽधिकरणभूते कर्मनोकर्मणां शुक्लादिवर्णं दृष्ट्वा। **जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो** जीवस्य एष वर्णो जिनैर्व्यवहारतो भणित इति दार्ष्टान्तगाथा गता। **एवं रसगंधफासासंठाणादीय जे समुद्दिट्ठा** एवमनेनैव दृष्टान्तदार्ष्टान्तन्यायेन रसगन्धस्पर्शसंस्थानसंहननरागद्वेषमोहादयो ये पूर्वगाथाषट्केन समुद्दिष्टाः। **सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति** ते सर्वे व्यवहारनयस्याभिप्रायेण निश्चयज्ञा जीवस्य व्यपदिशन्ति कथयन्तीति नास्ति व्यवहारविरोधः। इति दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां व्यवहारनयसमर्थनरूपेण गाथात्रयं गतम् ।। ६३-६५।। एवं शुद्धजीव एवोपादेय इति प्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वादशगाथाभिर्द्वितीयान्तराधिकारो व्याख्यातः।

जो व्यवहार है,वह व्यर्थ ठहरेगा? इसका परिहार करते हुए आगे की गाथा में व्यवहार की सार्थकता दिखलाते हैं अथवा दूसरे प्रकार से यों कहो कि इस प्रकार आयी हुई व्यवहारनय की निरर्थकता को लोकप्रसिद्ध दृष्टांत द्वारा दूर करते हैं -

टीकार्थ- पंथे मुस्संत पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी मार्ग में चलते हुए को लुटा हुआ देखकर सर्व साधारण लोग ऐसा कह दिया करते हैं कि **मुस्सदि एसो पंथो** यह सामने वाला मार्ग तो चोरों द्वारा लूट लिया जाता है। किन्तु **ण य पंथो मुस्सदे कोई** मार्ग तो शुद्ध आकाश स्वरूप है उसे कोई भी लूट नहीं सकता,किन्तु उस मार्ग को आधार लेकर चलने वाले पथिक लुटते हैं यह दृष्टांत हुआ। **तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं** उसी प्रकार अधिकरणभूत जीव में होने वाले कर्म, नोकर्म के शुक्लादि वर्ण को देखकर **जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो** व्यवहार से जिनेन्द्र भगवान ने ऐसा कहा है कि अमुक जीव का अमुक वर्ण है यह दार्ष्टांत गाथा हुई। **एवं रसगंधफासा संठाणादीय जे समुद्दिट्ठा** इसी प्रकार उपर्युक्त दृष्टान्त-दार्ष्टांत के न्याय से रस गंध,स्पर्श,संस्थान,संहनन और राग, द्वेष, मोहादिक जो पहले छह गाथाओं में बता आये हैं **सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति** उन सबको निश्चय के जानने वाले महापुरुष व्यवहार नय के द्वारा जीव के कहते हैं। इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। इस प्रकार दृष्टांत और दार्ष्टांत के द्वारा व्यवहारनय का समर्थन करते हुए तीन गाथा पूर्ण हुई ।। ६३-६५।।

विशेषार्थ - बात यह है कि शुद्धनिश्चयनय तो शुद्धात्मा के अनुभव स्वरूप है। जहाँ गुणस्थानादि न झलक कर मात्र ज्ञाता द्रष्टापन ही झलकता है और उसी का अनुमनन, चिंतन होता है। किन्तु जहाँ ध्यानस्वरूप निश्चयनय का अवलंबन छूटा कि साधक को कर्त्तव्यशीलता पर आकर कि मैं कौन हूँ और मुझे क्या करना चाहिए? मैं मुनि हूँ और छठे गुणस्थान की अवस्था में हूँ अत: मुझे स्तवन आदि षट् आवश्यक करना चाहिए इत्यादि विकल्पों को अपनाना होता है। किन्तु व्यवहार संपन्न कर फिर ध्यानस्वरूप निश्चय पर पहुँचता है। वहाँ थक जाने पर फिर व्यवहार में आता है। इस प्रकार अभ्यास दशा में साधक को निश्चय से व्यवहार और व्यवहार से निश्चय पर बार-बार जाना-आना होता है। इसी को लक्ष्य रखकर आचार्यदेव ने दोनों को अपने-अपने स्थान पर उपयोगी दिखलाया है। इस प्रकार अभ्यास द्वारा अशुद्धता को दूर कर शुद्धता पर आना यह प्रत्येक साधक का मुख्य कर्तव्य है।

शुद्ध जीव ही उपादेय है, इस व्याख्यान को लेकर बारह गाथाओं द्वारा यह दूसरा अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ ।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इन तीन गाथाओं में यहाँ किसका कथन किया है ?

उत्तर- इन तीन गाथाओं में यहाँ पहले कहे हुए वर्ण आदि से रहित ही जीव है, ऐसी एकान्त धारणा का निरसन करने के लिए व्यवहार नय से जीव में वर्ण आदि होते हैं, यह कथन किया है। व्यवहार नय से कथन करने का कारण यह है कि जीव संसारी अवस्था में जीव को सर्वथा वर्ण आदि से रहित मानने का भ्रम न पाल ले। इस तरह इन तीन गाथाओं में व्यवहार नय का समर्थन है। जैसा कि ता.टी. में कहा है कि 'इति दृष्टान्त दार्ष्टान्ताभ्यां व्यवहारनयसमर्थनरूपेण गाथात्रयं' अर्थात् इस तरह दृष्टान्त और दार्ष्टान्त के द्वारा व्यवहार नय का समर्थन करने रूप तीन गाथाएँ कही गयी हैं।

प्रश्न-२. व्यवहार नय का विषय तो व्यवहारी जनों के द्वारा कहा जाता है, सर्वज्ञ-वीतराग भगवान् ने तो निश्चय से आत्मा का जो स्वरूप देखा है, वही कहा है ?

उत्तर- ऐसा नहीं है। आ.टी. में लिखा है कि इस व्यवहार नय का प्रज्ञापन (कथन) अर्हन्तदेव ने किया है। जो अर्हन्तदेव ने कहा है, व्यवहारीजन उसको व्यवहार नय से वैसा ही मानते हैं तभी वे दोनों नयों के ज्ञाता सम्यग्ज्ञानी कहलाते हैं। एकान्त रूप से सर्वथा व्यवहार से जीव का स्वरूप जानने वाले या सर्वथा निश्चय से जीव का स्वरूप जानने वाले एकान्त मिथ्यादृष्टि हैं।

प्रश्न-३. इस ग्रन्थ में पहले तो गाथा ५० से ५५ तक में वर्ण आदि गुणस्थान तक के २९ बोलों से ये जीव के नहीं हैं, ऐसा कहकर निश्चय से जीव का स्वरूप दिखाया। फिर आगे की ५ गाथाओं में ये वर्ण आदि गुणस्थान तक के २९ बोल जीव के होते हैं, यह कहा। पहले मना किया फिर उसी

को हाँ किया, ऐसा कथन क्यों किया जाता है ?

उत्तर- अरे भाई ! यह मुख्य-गौण विवक्षा कहलाती है। अध्यात्म प्रधान ग्रन्थ में शुद्ध निश्चय नय से जीव के शुद्ध स्वभाव को कहने की मुख्यता दिखलाते हैं फिर गौण रूप से व्यवहार से भी जीव का स्वरूप दिखलाते हैं ताकि निश्चय एकान्त मत का प्रसंग न आ जाए। सिद्धान्तग्रन्थ **जीवकाण्ड** आदि में व्यवहार नय से जीव के स्वरूप को दिखाने की मुख्यता रहती है, इसलिए पहले वहाँ जीव समास, गुणस्थान आदि से जीव का स्वरूप दिखाते हैं, बाद में एक गाथा में सिद्ध भगवान् का, मार्गणा रहित दशा का कथन भी अवश्य करते हैं ताकि व्यवहार एकान्त मत का प्रसंग न आ जाए। इस तरह आचार्यों ने पूर्वापर विरोध रहित मुख्य-गौण विवक्षा से जिनागम में अनेकान्त स्वरूप से तत्त्वों का प्रतिपादन किया है।

प्रश्न-४. क्या आत्मा की वर्तमान पर्याय में परद्रव्य के साथ मात्र एक समय का ही सम्बन्ध है क्या शरीर, कर्म, राग, गुणस्थानों के भेद आदि के साथ भी एक समय का ही सम्बन्ध है। वस्तु तो वस्तुपने त्रिकाल है, उसकी एक समय की पर्याय में वर्णादि के साथ सम्बन्ध देखकर 'वे वर्णादि जीव के हैं' ऐसा व्यवहार से ही तो कहा जाता है ?

उत्तर- अरे ! भव्यात्मन् ! आचार्य परम्परा के विरुद्ध वचन बोलते समय क्यों तुझे मिथ्यात्व का बिल्कुल भी भय नहीं लगता है ? आत्मा और परद्रव्य के साथ मात्र एक समय का ही सम्बन्ध है। 'ही' लगाकर कथन कर रहा है और व्यवहार नय से भी मात्र एक समय का संबंध मान रहा है। तेरी बुद्धि कहाँ चली गई है ? यदि मात्र ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से कहा होता तो फिर भी मान्य होता किन्तु व्यवहार नय से 'ही' लगाकर कथन करना तो व्यवहार नय को समाप्त करना ही हुआ। माना भी तो एक समय मात्र का ही संबंध, ताकि उस व्यवहार को मिटाने में एक समय से ज्यादा समय न लगे। विचार तो करो कि कितने ही ऐसे गुणस्थान हैं, जो नियम से अन्तर्मुहूर्त और अधिक काल के होते हैं। एक समय मात्र का ही गुणस्थान काल होता तो मोक्षमार्ग की कुछ भी व्यवस्था नहीं ठहर सकती है। आत्मा में बंधस्थान कोडा-कोडी सागरों प्रमाण काल के कहे हैं। अनादि से चली आई बंधपर्याय की स्थिति को एक समय मात्र ही देखने वाला बुद्ध की तरह क्षणिकैकान्त मिथ्यादृष्टि तो है ही, साथ ही द्रव्य दृष्टि से आत्मा को नित्य त्रिकाल शुद्ध मानने वाला सांख्यमत की तरह नित्यैकान्त मिथ्यादृष्टि भी है। सुधीजन स्वयं विचार करें।

ॐ

कुतो जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो नास्तीति चेत्-

तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादि ।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ।।६१।। ता.टी. ६६

आ.टी.- यत्किल सर्वास्वप्यवस्थासु यदात्मकत्वेन व्याप्तं भवति तदात्मकत्वव्याप्तिशून्यं न भवति तस्य तैः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः स्यात् । ततः सर्वास्वप्यवस्थासु वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्व- व्याप्तिशून्यस्याभवतश्च पुद्गलस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धः स्यात्। संसारावस्थायां कथंचिद्वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभव-तश्चापि मोक्षावस्थायां सर्वथा वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्याभवतश्च जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो न कथंचनापि स्यात्।।६१।।

उत्थानिका - जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य लक्षण वाला सम्बन्ध क्यों नहीं है, ऐसा प्रश्न होने पर कहते हैं-

अन्वयार्थ - (वण्णादि) जो वर्णादिक हैं वे (संसारत्थाण) संसार में स्थित (जीवाणं) जीवों के (तत्थभवे) उस संसार में (होंति) होते हैं और (संसारपमुक्काणं) संसार से मुक्त हुए जीवों के (हु) निश्चय से (वण्णदओ केई) वर्णादिक कोई भी भाव (णत्थि) नहीं हैं; इसलिए तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है।

अर्थ- संसार में स्थित जीवों के साथ वर्णादिकका संबंध है,परंतु संसार से रहित मुक्त जीवों के साथ वर्णादिक का कोई भी संबंध नहीं है।

आ.व्या.- जो निश्चित ही सभी अवस्थाओं में जिस स्वरूपपने से व्याप्त (सदैव युक्त) रहता है वह उस स्वरूपपने की व्याप्ति से रहित नहीं होता है। उस पदार्थ का उन भावों के साथ तादात्म्य लक्षण वाला संबंध होता है। इसलिए सभी अवस्थाओं में वर्णादि स्वरूपपने से व्याप्त होते हुए और वर्ण आदि स्वरूपपने की व्याप्ति से रहित नहीं होते हुए पुद्गल का वर्णादि के साथ तादात्म्य लक्षण वाला संबंध होता है। संसार अवस्था में कथंचित् वर्णादि स्वरूपपने से व्याप्ति होते हुए और वर्णादि स्वरूपपने की व्याप्ति से रहित नहीं होते हुए भी मोक्ष अवस्था में सर्वथा वर्णादि स्वरूपपने की व्याप्ति से रहित होता हुआ और वर्णादि स्वरूपपने की व्याप्ति नहीं होते हुए जीव

औपाधिकी परिणती बदबू निराली, संसारिजीव भर में दुःख शील वाली ।
संसार मुक्त शुचि आतम में अकेली, सच्चेतना महकती सुखदा चमेली ।।६६।।

अतः परं जीवस्य निश्चयनयेन वर्णादितादात्म्यसम्बन्धो नास्तीति पुनरपि दृढीकरणार्थं गाथाष्टकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तत्रादौ संसारिजीवस्य व्यवहारेण वर्णादितादात्म्यं भवति, मुक्तावस्थायां नास्तीति ज्ञापनार्थं **तत्थभवे** इत्यादि सूत्रमेकम् । ततः परं जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीति दुरभिनिवेशे सति जीवाभावो दूषणं प्राप्नोतीति कथनमुख्यत्वेन **जीवो चेव** हि इत्यादिगाथात्रयं । तदनन्तरमेकेन्द्रियादिचतुर्दशजीव समासानां जीवेन सह शुद्धनिश्चयनयेन तादात्म्यं नास्तीति कथनार्थं तथैव वर्णादितादात्म्यनिषेधार्थं च **एक्कं च दोण्णि** इत्यादिगाथात्रयम्। ततश्च मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानानामपि जीवेन सह शुद्धनिश्चयनयेन तादात्म्यनिराकरणार्थं, तथैवाभ्यन्तरे रागादितादात्म्यनिषेधार्थं **च मोहणकम्म** इत्यादिसूत्रमेकम् । एवमष्टगाथाभिस्तृतीयस्थले समुदायपातनिका । तद्यथाह्न

अथ कथं जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धो नास्तीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददातिह्न

ता.टी. - तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाणं होंति वण्णादी तत्र विवक्षितावविवक्षितभवे संसारस्थानां जीवानामशुद्धनयेन वर्णादयो भवन्ति। **संसारपमुक्काणं** संसारप्रमुक्तानां। **णत्थि दु**

का वर्णादि के साथ तादात्म्य लक्षण वाला संबंध कदापि नहीं होता है।

अर्थ - इसके आगे निश्चयनय से जीव के साथ वर्णादिक का तादात्म्य सम्बम्ध नहीं है, इसी बात को दृढ.करने के लिए आठ गाथाओं पर्यंत व्याख्यान करते हैं। वहाँ पहले व्यवहारनय से संसारी जीव के वर्णादिक के साथ एकमेकता है किन्तु मुक्त अवस्था में नहीं,इस प्रकार बतलाने के लिए **तत्थभवे** इत्यादि रूप से एक सूत्र है । फिर **जीवो चेव** हि इत्यादि तीन गाथायें हैं। जिनमें यह कहा गया है कि यदि जीव के साथ वर्णादिक का तादात्म्य मानने का दुराग्रह किया जायेगा तो जीव द्रव्य का ही अभाव हो जायेगा यह बड़ा भारी दूषण है। फिर भी **एक्कं च दोण्णि** इत्यादि तीन गाथायें ऐसी हैं जिनमें बतलाया गया है कि एकेन्द्रियादि चौदह जीवसमासों का जीव के साथ शुद्धनिश्चयनय से तादात्म्य संबंध नहीं है। और वर्णादिक का भी तादात्म्य संबंध नहीं है । इसके आगे **मोहणकम्मं** इत्यादि एक गाथा सूत्र है,जिसमें मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों का भी जीव के साथ शुद्धनिश्चयनय से तादात्म्य संबंध नहीं है। वैसे ही अन्तरङ्ग में होने वाले रागादि भावों का भी तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार आठ गाथाओं द्वारा पूरे होने वाले तीसरे स्थल की यह समुदाय पातनिका है ।

अब यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जीव के साथ वर्णादिक का तादात्म्य संबंध क्यों नहीं है? इसका उत्तर देते हैं-

टीकार्थ- तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाणं होंति वण्णादी वहाँ विवक्षित वर्तमान और अविवक्षित भूत या भावी भव में जो संसार में स्थित हैं उन्हीं जीवों के अशुद्धनय से वर्णादिक का

वण्णादओ केई पुद्गलस्थवर्णादितादात्म्यसम्बन्धाभावात्। केवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वादिपर्यायैः सह यथा तादात्म्यसम्बन्धोऽस्ति तथा वा तादात्म्यसम्बन्धाभावादशुद्धनयेनापि न सन्ति पुनर्वर्णादयः केऽपि ।। ६६।। इति वर्णादितादात्म्यनिषेधरूपेण गाथा गता ।

संबंध है,किन्तु **संसारपमुक्काणं णत्थि दु वण्णादओ केई** संसार से रहित मुक्त जीवों के,वर्णादिक जो पुद्गल के गुण हैं, उनका तादात्म्य संबंध नहीं है क्योंकि जैसा तादात्म्य संबंध जीव के साथ केवलज्ञानादि गुणों का और सिद्धत्वादिपर्यायों का है वैसा तादात्म्य संबंध वर्णादिक के साथ अशुद्धनय से भी जीव का नहीं है। इस प्रकार जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य संबंध का निषेध करने वाली गाथा पूर्ण हुई।। ६६।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. तादात्म्य संबंध किसे कहते हैं?

उत्तर- जो पदार्थ अपनी सभी दशाओं में अपने निजी धर्म (गुण या स्वभाव) से सदा निरन्तर सहित होता है और उस अपने निजी धर्म से कभी अलग नहीं होता है, उस धर्म का अपने पदार्थ के साथ तादात्म्य संबंध होता है।

प्रश्न-२. जीव पदार्थ का तादात्म्य संबंध किससे है ?

उत्तर- जीव पदार्थ का तादात्म्य संबंध अपने दर्शन, ज्ञान उपयोग के साथ होता है।

प्रश्न-३. पुद्गल का तादात्म्य संबंध किससे है ?

उत्तर- पुद्गल का तादात्म्य संबंध वर्ण (रूप), रस, गंध, स्पर्श से है।

प्रश्न-४. क्या संसारी जीव का कर्म पुद्गलों से तादात्म्य संबंध होता है ?

उत्तर- नहीं होता है। यदि होता तो मोक्ष अवस्था में भी जीव का उस रूप आदि से संबंध होता किन्तु वैसा नहीं पाया जाता है।

प्रश्न-५. तो फिर संसारी जीव का कर्म पुद्गलों के साथ कैसा संबंध होता है ?

उत्तर- संसारी जीव का कर्म पुद्गलों के साथ एकक्षेत्रावगाह संश्लेष संबंध होता है।

प्रश्न-६. फिर ता.टी. में संसारी जीव का व्यवहार से वर्ण आदि के साथ तादात्म्य होता है, ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर- क्योंकि संसारी अवस्था में जीव वर्ण आदि से रहित कभी नहीं होता है। मात्र संसारी जीव की संसार अवस्था की अपेक्षा से ऐसा कहा है जो व्यवहार नय से सही है। अर्थात् संसारी जीव का कर्म पुद्गलों से कथंचित् तादात्म्य है, सर्वथा नहीं। यही बात आ.टी. में भी कही है। संसार अवस्था में कथंचित् जीव की रूप आदि के साथ उसी स्वरूप से व्याप्त रहने की स्थिति बनती है इसलिए आचार्य अमृतचन्द्र जी ने भी कथंचित् तादात्म्य संबंध स्वीकार किया है। इसी से संसार अवस्था में जीव कथंचित् मूर्त है, यह भी सिद्ध होता है।

जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुरभिनिवेशे दोषश्चायम् -

जीवो चेव हि एदे सव्वे भाव त्ति मण्णसे जदि हि ।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ।। ६२।। ता.टी. ६७

आ.टी.- यथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभिः पुद्गलद्रव्यमनुगच्छंतः पुद्गलस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयंति, तथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभिर्जीवमनुगच्छंतो जीवस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयंतीति यस्याभिनिवेशः तस्य शेषद्रव्यासाधारणस्य वर्णाद्यात्मकत्वस्य पुद्गललक्षणस्य जीवेन स्वीकरणाज्जीवपुद्गलयोरविशेषप्रसक्तौ सत्यां पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येव जीवाभावः ।। ६२।।

उत्थानिका - जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य है इस प्रकार के मिथ्या अभिप्राय को मानने पर यह दोष आता है -

अन्वयार्थ - (जदि हि च) यदि तुम (त्ति मण्णसे) ऐसे मानोगे कि (एदे सव्वे भाव) ये वर्णादिक सर्व भाव (जीवो एव हि) जीव ही हैं, (दु) तो (दे) तुम्हारे मत में (जीवस्स य अजीवस्स) जीव और अजीव का (कोई) कोई (विसेसो) भेद (णत्थि) नहीं रहता।

अर्थ - (संसारी जीव को संबोधकर आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई) यदि इन सब ही भावों में जीव को माना जायेगा तो कहने में जीव और अजीव (पुद्गल) में परस्पर कोई भेद नहीं रहता है।

आ.व्या.- वर्ण आदि भाव क्रम से उत्पत्ति और विनाश के द्वारा की हुई उन पर्यायों के साथ पुद्गल द्रव्य का अन्वय बनाये रखते हैं। उस पुद्गल की जैसे वर्णादि के साथ तादात्म्य को वे पर्यायें सिद्ध करती हैं उसी प्रकार वे वर्ण आदि भाव क्रम से उत्पत्ति और विनाश के द्वारा की हुई उन-उन पर्यायों के साथ जीव का अन्वय बनाए रखती हैं और उस जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य संबंध प्रसिद्ध करती हैं। इस प्रकार जिसका अभिनिवेश (दुरभिप्राय) है उसको शेष द्रव्यों में नहीं पाये जाने वाले असाधारण, वर्णादि स्वरूप वाले पुद्गल के लक्षण की जीव के साथ स्वीकारता दी जाती है। जिससे जीव और पुद्गल में कोई विशेषता न रह जाने का प्रसंग आ जाने पर पुद्गलों से भिन्न जीव द्रव्य का अभाव होता है। जिस कारण से जीव का अभाव ही सिद्ध होता है।

वर्णादि निश्चयतया यदि जीव में हों, कैसे प्रभेद फिर जीव अजीव में हो ।
थोडा विचार कर तू तज भोग भाई! भिन्नातिभिन्न जड.जीव पडे.दिखाई ।।६७।।

अथ जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुराग्रहे सति दोषं दर्शयति ह्न

ता.टी. - जीवो चेव हि एदे सव्वे भावत्ति मण्णसे जदि हि यथानन्तज्ञानाव्याबाधसुखादिगुणा एव जीवो भवति वर्णादिगुणा एव पुद्गलस्तथा जीव एव हि स्फुटमेते वर्णादयः सर्वे भावा मनसि मन्यसे यदि चेत्? **जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई तदा किं दूषणं** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावजीवस्य जडत्वादिलक्षणाजीवस्य च तस्यैव मते कोऽपि विशेषो भेदो नास्ति। ततश्च जीवाभावदूषणं प्राप्नोतीति सूत्रार्थः ।।६७।।

इस पर भी यदि जीव के साथ वर्णादिक का दुराग्रह किया जाता है तो क्या दोष उत्पन्न होता है उसे दिखलाते हैं-

टीकार्थ- जीवो चेव हि एदे सव्वे भाव त्ति मण्णसे जदि हि जैसे अनंतज्ञान और अव्याबाध सुख आदि जीव में होते हैं वैसे ही वर्णादिगुण पुद्गल में हैं ऐसा स्पष्ट है, फिर भी यदि तू अपने मन में ऐसा समझता है कि वर्णादिक भी जीव के गुण हैं तो **जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो हि दे कोई** यह बड़ा भारी दूषण आता है कि विशुद्धज्ञान दर्शन स्वभाववाला जीव और जड़त्वादि स्वभावभाला अजीव इस प्रकार का जो भेद है, वह तेरे मत में सर्वथा नहीं रहता एवं शुद्ध जीव का अभाव ही हो जाता है, ऐसा इस सूत्र का अर्थ है ।।६७।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस गाथा में क्या कहा है ?

उत्तर- जीव का वर्णादि भावों के साथ तादात्म्य संबंध मानने पर जो दोष उत्पन्न होता है उस दोष को यहाँ कहा है।

प्रश्न-२. जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्य मानने वाला क्या मानता है ?

उत्तर- वह मानता है कि जैसे पुद्गल की पर्यायों के साथ वर्णादि रहते हैं और पुद्गल द्रव्य के साथ अनुगमन करते हैं वैसे ही वर्णादि भी जीव की पर्यायों के साथ रहते हैं और जीव द्रव्य में अन्वय रूप से बने रहते हैं।

प्रश्न-३. ऐसा मानने पर क्या दोष उत्पन्न होगा ?

उत्तर- ऐसा मानने पर तो जीव और पुद्गल द्रव्य में एकमेकपना होने पर उन द्रव्यों की एकता का प्रसंग आ जाएगा। अर्थात् द्रव्य दो न होकर एक पुद्गल ही रह जाएगा जिससे जीव का अभाव सिद्ध हो जाएगा।

संसारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्यमित्यभिनिवेशेऽप्ययमेव दोषः-

जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादि ।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ।। ६३।। ता.टी. ६८

एवं पुग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी ।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो ।। ६४।। ता.टी.६९ (युगलम्)

आ.टी.- यस्य तु संसारावस्थायां जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीत्यभिनिवेशस्तस्य तदानीं स जीवो रूपित्वमवश्यमवाप्नोति। रूपित्वं च शेषद्रव्यासाधारणं कस्यचिद्द्रव्यस्य लक्षणमस्ति। ततो रूपित्वेन लक्ष्यमाणं यत्किंचिद्भवति स जीवो भवति। रूपित्वेन लक्ष्यमाणं पुद्गलद्रव्यमेव भवति। एवं पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति, न पुनरितरः कतरोऽपि। तथा च सति, मोक्षावस्थायामपि नित्यस्वलक्षणलक्षितस्य द्रव्यस्य सर्वास्वप्यवस्थास्वनपायित्वादनादिनिधनत्वेन पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति, न पुनरितरः कतरोऽपि। तथा च सति, तस्यापि पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्या- भावाद्भवत्येव जीवाभावः ।। ६३-६४।।

उत्थानिका - संसार अवस्था में ही जीव का वर्ण आदि के साथ तादात्म्य होता है, इस प्रकार का अभिनिवेश होने पर भी यह दोष आता है, यह कहते हैं-

अन्वयार्थ - (जदि) यदि (तुज्झ) तुम्हारा मत यह हो कि (संसारत्थाणं जीवाणं) संसार में स्थित जीवों के ही (वण्णादि) वर्णादिक (होंति) हैं (तम्हा) तो इस कारण से (संसारत्था जीवा) संसार में स्थित जीव (रूवित्तमावण्णा) रूपित्व को प्राप्त हुए; (एवं) ऐसा होने से (तह लक्खणेण) वैसा लक्षण अर्थात् रूपित्वलक्षण तो पुद्गलद्रव्य का होने से, (मूढमदी) हे मूढबुद्धि! (पुग्गलदव्वं) पुद्गलद्रव्य ही (जीवो) जीव कहलाया (य) और (णिव्वाणमुवगदो वि) निर्वाण प्राप्त होने पर भी (पुग्गलो) पुद्गल (जीवत्तं) जीवत्व को (पत्तो) प्राप्त हुआ।

अर्थ- यदि संसार अवस्था में जीव के साथ तादात्म्य मान लिया जाये तो तेरे कहने में

संसार में स्थिति भले इस जीव की है, संयोग-जन्य वह चूँकि अजीव की है ।
तादात्म्य जीव जड़ में यदि मानते हो, तो जीव मूर्त बनता नहिं जानते हो? ।। ६८।।

हो जाय मूर्त जड़ जीव, अजीव होंगे, सिद्धत्व प्राप्त सब सिद्ध न जीव होंगे ।
साम्राज्य मात्र जड़ का जग में बनेगा, संसार दुःख फिर क्या शिव क्या रहेगा? ।। ६९।।

अथ संसारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्यसम्बन्धोऽस्तीति दुरभिनिवेशेऽपि जीवाभाव एव दोष इत्युपदिशति-

ता.टी.- जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादि यदि चेत्संसारस्थजीवानां पुद्गलस्येव वर्णादयो गुणास्तव मतेन तवाभिप्रायेणैकान्तेन भवन्तीति। **तम्हा संसारत्था जीवा**

संसारी जीव रूपी ठहरे। अत: फिर हे भोले भाई! पुद्गल द्रव्य स्वरूप ही जीव ठहरा तब फिर निर्वाण भी पुद्गल का होगा, क्योंकि दोनों के लक्षण में कोई भेद नहीं रहा।

अनु.व्या.- संसार अवस्था में जीव का वर्ण आदि के साथ तादात्म्य होता है इस प्रकार का जिसका अभिनिवेश (दुराग्रह) है उसके अनुसार उस समय वह जीव अवश्य ही रूपित्व को प्राप्त होता है। रूपीपना तो किसी द्रव्य का शेष द्रव्यों में न पाया जाने वाला असाधारण लक्षण है। इस कारण से रूपीपने से लक्ष्य रूप हुआ (या जाना हुआ) जो कुछ भी होता है वह जीव होता है। किन्तु रूपीपने से लक्ष्य किया हुआ पुद्गल द्रव्य ही होता है। इस प्रकार पुद्गल द्रव्य ही स्वयं जीव होता है, अन्य कोई दूसरा पदार्थ जीव नहीं होता है। और उस प्रकार होने पर मोक्ष अवस्था में भी पुद्गल द्रव्य ही जीव होता है, दूसरा कोई पदार्थ जीव नहीं होता है क्योंकि द्रव्य नित्य ही अपने लक्षण से पहचाना जाता है और वह लक्षण द्रव्य की सभी अवस्थाओं में कभी विनाश को नहीं प्राप्त होने से अनादि अनिधन होता है और ऐसा मानने पर उसके मतानुसार भी पुद्गलों से भिन्न जीव द्रव्य का अभाव होता है जिससे जीव का अभाव ही सिद्ध होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जो वर्णादि भाव हैं वे जीव नहीं हैं।

विशेषार्थ- जो कोई भी व्यक्ति इस दुराग्रह को रखता है कि संसार दशा में भी जीव का और वर्णादि का तादात्म्य संबंध है तो उसके अनुसार जीव परमार्थ से रूपी या मूर्तिक हुआ। रूपीपना तो पुद्गल द्रव्य का विशिष्ट धर्म है। जीव और पुद्गल में पाया जाने वाला रूपित्व धर्म एक जैसा हो जाने से दोनों द्रव्यों के बीच का भेद ही मिट जाएगा। जिस तरह रूपित्व धर्म के द्वारा पहचाना जाने वाला द्रव्य पुद्गल होता है उसी तरह जीव द्रव्य भी स्वयं पुद्गल होगा। मुक्त दशा में भी स्वयं पुद्गल द्रव्य ही जीव होगा तो सर्वथा जीव का अभाव ही सिद्ध होगा।

अब यदि जीव के साथ में सर्वथा वर्णादिक का तादात्म्य न मानकर केवल संसार अवस्था में ही तादात्म्य मानने का दुराग्रह किया जाता है तो भी जीव का अभावरूप दूषण आता है ऐसा कहते है-

टीकार्थ- जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादि यदि संसार में स्थित जीवों के

रूवित्तमावण्णा ततः किं दूषणं? संसारस्थजीवा अमूर्त्तमनन्तज्ञानादिचतुष्टयस्वभावलक्षणं त्यक्त्वा शुक्लकृष्णादिलक्षणं रूपित्वमापन्ना भवन्ति । अथ ह्न **एवं पुग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण जीवस्य रूपित्वे सति पुद्गलद्रव्यमेव जीवः, नान्यः कोऽपि विशुद्धचैतन्यचमत्कारमात्रस्तवलक्षणेन तवाभिप्रायेण हे मूढमते ! न केवलं संसारावस्थायां पुद्गल एव जीवत्वं प्राप्तः। **णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो** निर्वाणमुपगतोऽपि पुद्गल एव जीवत्वं प्राप्तः नान्यः कोऽपि चिद्रूपः । कस्मादिति चेत्, वर्णादितादात्म्यस्य पुद्गलद्रव्यस्येव निषेधयितुमशक्यत्वादिति भवत्येव जीवाभावः। किं च संसारावस्थायामेकान्तेन वर्णादितादात्म्ये सति मोक्ष एव न घटते, कस्मादिति चेत्? केवलज्ञानादिचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्यैव मोक्षसंज्ञा सा च जीवस्य पुद्गलत्वे सति न संभवतीति भावार्थः ।।६८-६९।। एवं जीवस्य वर्णादितादात्म्ये सति जीवाभावदूषणद्वारेण गाथात्रयं गतम्।

तेरे कहने के अनुसार पुद्गल के समान,वर्णादिक गुण एकान्त से मान लिये जायें **तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा** तो संसार में स्थित जो जीव हैं वे अमूर्तस्वरूप जो अंनतज्ञानादि चतुष्टयमय लक्षण को छोड़कर शुक्लकृष्णादि लक्षण वाले रूपीपन को प्राप्त हो जायेंगे यह दूषण आयेगा। **एवं पुग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमदी** हे भोले प्राणी! इस प्रकार जीव के रूपीपना आ जाने पर जीव भी पुद्गल ही ठहरा, उससे भिन्न विशुद्ध चैतन्य चमत्कार वाला जीव तेरे अभिप्राय में कोई नहीं रहा। इतना ही नहीं कि संसारावस्था में ही जीव पुद्गल ठहरा, परंतु **णिव्वाण मुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो** निर्वाण अवस्था को प्राप्त होते हुए भी यह पुद्गल ही जीवपन को प्राप्त होगा न कि उससे भिन्न चैतन्य जीव। कारण कि वहाँ पर भी पुद्गल द्रव्य के वर्णादिक गुणों का निषेध नहीं किया जा सकेगा इसलिए जीव का अभाव हो जाएगा और संसार अवस्था में एकान्त से वर्णादि का तादात्म्य मान लेने पर मोक्ष कोई वस्तु ही नहीं ठहरेगी। क्योंकि केवलज्ञानादि चतुष्टय की अभिव्यक्तिरूप कार्यसमयसार का ही नाम मोक्ष है जो कि वह भी जीव को पुद्गलपना प्राप्त हो जाने पर किसी भी प्रकार से संभव नहीं है,ऐसा आचार्य का तात्पर्य है ।।६८.६९।।

इस प्रकार जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य संबंध मान लेने पर जीव और पुद्गल इन दोनो का एक ही लक्षण हो जाने से जीव का अभाव हो जायेगा, इस प्रकार का वर्णन करते हुए तीन गाथाएँ पूर्ण हुई।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. लोक तो बस ऐसा मानता है कि दया, दान, व्रत, भक्ति आदि व्यवहार किया करो, इन्हीं से कल्याण हो जाएगा, परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि प्रभो! इन रंग, राग व भेद के सर्वभावों का पुद्गल के साथ संबंध है। यदि आत्मा रंग रूप, राग रूप या भेद रूप हो जावे तो वह रूपी पुद्गल हो जाएगा ?

उत्तर- लोक में मानने वाले दोनों प्रकार के लोग हैं। मिथ्यादृष्टि जीव एकान्त से रंग, राग का जीव के साथ अभेद मानता है और वह तादात्म्य संबंध को सर्वथा मानता है, इसलिए उसका मानना कथंचित् गलत है। कथंचित् इसलिए कि समीचीन मान्यता में भी दया, दान, व्रत, भक्ति आदि व्यवहार क्रियाएँ सहयोग करती हैं। इन दया, दानादि की समीचीन क्रिया करते-करते भी सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। देखो! भगवान् ऋषभदेव ने दश भव पूर्व में महाबल राजा की पर्याय में अपनी अल्प उम्र जानकर जब धर्म पर श्रद्धान किया तो उन्हें उसी समय सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। उन्होंने स्वयंबुद्ध मन्त्री के कहने पर अतिशय वैराग्य को प्राप्त होकर सभी जिनालयों में जाकर अष्टाह्निका पूजा की। बाद में सिद्धकूट के ऊपर जाकर परिजनों को विदा किया और स्वयंबुद्ध मन्त्री के उपदेश के अनुसार केशलोंच करते हुए दीक्षा ले ली। साथ ही प्रायोपगमन संन्यास धारण किया। बाईस दिन की सल्लेखना के साथ ईशान कल्प में ललितांग देव हुआ। वहाँ से चयकर वज्रजंघ राजा हुआ। एक बार उन्होंने दो चारण मुनिराज को आहारदान दिया। एक साथ मरण करके राजा-रानी दोनों ने भोगभूमि में जन्म लिया। उस भोगभूमि में उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने को स्वयंबुद्ध मन्त्री का जीव जो वर्तमान पर्याय में मुनिराज थे, वहाँ गए। तब उस जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। इससे स्पष्ट है कि व्रत, तप यदि सम्यक्त्व के बिना भी होते हैं तो भी सर्वथा बुरे नहीं होते हैं। सम्यक्त्व के बिना भी कथंचित् वे व्रतादि कल्याणकारी हैं। इस तादात्म्य संबंध की मान्यता तो कोई घोर मिथ्यादृष्टि जीव ही रखेगा जो शरीर से भिन्न आत्मा को मानता ही न हो। आत्मा को शरीर से भिन्न मानते-जानते हुए भी उसे सम्यक्त्व हो गया है, ऐसा भी कोई आवश्यक नहीं है। उस महाबल को यह सब ज्ञान था तभी तो उसने व्रत, सल्लेखना आदि धारण की किन्तु सम्यक्त्व नहीं था। इन व्यवहार की क्रिया से ही उस जीव की इतनी योग्यता बनी रही कि दो भव बाद भोगभूमि में उत्पन्न हुआ। वहाँ उसे जब सम्यक्त्व प्राप्त हुआ तब भी देव बनने के बाद पुनः मनुष्य बना। सुविधि राजा की पर्याय में पुनः अणुव्रतों को धारण करके अन्त में संन्यासपूर्वक मरण किया और अच्युतेन्द्र बना। वही जीव फिर वज्रनाभि चक्रवर्ती बना। अन्त में दीक्षित हो दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओं से उसने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। मरण करके सर्वार्थसिद्धि में गया और वहाँ से आकर ऋषभदेव तीर्थंकर बने। तीर्थंकर बनने वाली आत्मा ने भी पहले दश भवों में और अन्तिम भव में पुनः महाव्रतादि धारण करके व्यवहार क्रियायें कीं। इससे उस जीव का कौन सा अकल्याण हो गया? आत्मा को निकट भव्य मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि राग, रंग से रहित ही मानते हैं और व्यवहार की क्रियाएँ भी करते हैं। इसलिए व्रत आदि व्यवहार क्रियाओं का सर्वथा खण्डन करते रहना और उन्हें अकल्याणकारी बताते रहना उचित नहीं है। यह विषय मूलगाथाओं के साथ कुछ भी संबंध नहीं रखता है।

सम्यक् संकल्प से कल्पकाल के पाप कटते हैं।

एवमेतत् स्थितं यद्वर्णादयो भावा न जीव इति-

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा ।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ।।६५।। ता.टी.७०

एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणा दु करणभूदाहिं ।
पयडीहिं पुग्गलमईहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो ।।६६।। ता.टी. ७१ (युगलम्)

आ.टी.- निश्चयतः कर्मकरणयोरभिन्नत्वात् यद्येन क्रियते तत्तदेवेति कृत्वा, यथा कनकपत्रं कनकेन क्रियमाणं कनकमेव, न त्वन्यत्, तथा जीवस्थानानि बादरसूक्ष्मैकेन्द्रिय द्वित्रिचतुःपंचेन्द्रिय-पर्याप्तापर्याप्ताभिधानाभिः पुद्गलमयीभिः नामकर्मप्रकृतिभिः क्रियमाणानि पुद्गल एव, न तु जीवः। नामकर्मप्रकृतीनां पुद्गलमयत्वं चागमप्रसिद्धं दृश्यमानशरीरादिमूर्तकार्यानुमेयं च। एवं गंधरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननान्यपि पुद्गलमयनामकर्म-प्रकृतिनिर्वृत्तत्वे सति तद-व्यतिरेकाज्जीवस्थानैरेवोक्तानि। ततो न वर्णादयो जीव इति निश्चयसिद्धान्तः ।।६५-६६ ।।

उत्थानिका - इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि वर्णादिभाव जीव के नहीं हैं, इस प्रकार कहते हैं-

अन्वयार्थ - (एक्कं च) एकेन्द्रिय, (दोण्णि) द्वीन्द्रिय, (तिण्णि य) त्रीन्द्रिय, (चत्तारि य) चतुरिन्द्रिय और (पंच इंदिया) पंचेन्द्रिय (बादरपज्जत्तिदरा) बादर, सूक्ष्म पर्याप्त और अपर्याप्त (जीवा) जीव तथा ये (णामकम्मस्स) नामकर्म की (पयडीओ) प्रकृतियाँ हैं; (एदाहि य) ये (पयडीहिं) प्रकृतियाँ (पुग्गलमईहिं ताहिं) जो पुद्गलमयरूप से प्रसिद्ध हैं उनके द्वारा (करणभूदाहिं) करणस्वरूप होकर (णिव्वत्ता) रचित (जीवट्ठाणा) जो जीवस्थान-जीवसमास हैं वे (जीवो) जीव (कहं) कैसे (भण्णदे) कहे जा सकते हैं?

अर्थ - एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीव हैं और बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त तथा अपर्याप्त जो जीव हैं वे नाम कर्म की प्रकृतियाँ हैं। इन प्रकृतियों के द्वारा करण स्वरूप होकर जीवसमास रचे हैं, वे प्रकृति पुद्गलमय हैं। इसलिए इनसे बने को जीव कैसे कहा जाए।

पर्याप्त सूक्ष्म त्रस थावर बादरादि, ये नाम कर्म प्रकृती विकलेन्द्रियादि ।
संसारि-जीव बँधता इनसे यदा है, पूर्वोक्त नाम मिलते उसको तदा हैं ।।७०।।

रूपाभिभूत जड़ पुद्गल कर्म द्वारा, ये जीव थान सब निर्मित हैं सुचारा ।
मानो इन्हें फिर सचेतन जीव कैसा? जो है असंभव, सुसंभव होय कैसा? ।।७१।।

अथैवं स्थितं बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियादिसंज्ञिपञ्चेन्द्रिय पर्यन्तं चतुर्दशजीवस्थानानि शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्ति तथा देहगता वर्णादयोऽपीत्यावेदयतिह्न

ता.टी. - एकद्वित्रिचतु: पञ्चेन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिबादरपर्याप्तेतराभिधाना: प्रकृतयो भवन्ति। कस्य सम्बन्धिन्यो नामकर्मण इति। अथ- एताभिरमूर्त्तातीन्द्रियनिरञ्जनपरमात्मतत्त्वविलक्षणा-भिर्नामकर्मप्रकृतिभि: पुद्गलमयीभि: पूर्वोक्ताभिर्निर्वर्तितानि चतुर्दशजीवस्थानानि निश्चयनयेन कथं जीवा भवन्ति? न कथमपि । तथाहि यथा रुक्मेण करणभूतेन निर्वृत्तमसिकोशं तु रुक्मैव भवति तथा पुद्गलमयप्रकृतिभिर्निष्पन्नानि जीवस्थानानि पुद्गलद्रव्यस्वरूपाण्येव भवन्ति न च जीवस्वरूपाणि। तथा तेनैव जीवस्थानदृष्टान्तेन तदाश्रिता वर्णादयोऽपि पुद्गलस्वरूपा: भवन्ति, न च जीवस्वरूपा: इत्यभिप्राय:।। ७०-७१।।

आ.व्या.- निश्चय से कर्म और करण में अभिन्नपना होता है। जिस कारण से 'जो (कर्म) जिस (करण) से किया जाता है वह (कर्म) उस रूप ही होता है' ऐसा जानकर के जिस प्रकार स्वर्णपत्र स्वर्ण के द्वारा बना हुआ होने से स्वर्ण ही है, अन्य नहीं है, उसी प्रकार पुद्गलमयी नाम कर्म की प्रकृतियाँ जो बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्त नाम वाली हैं, उनके द्वारा बने हुए ये जीवस्थान पुद्गल ही हैं, किन्तु जीव नहीं हैं। नाम कर्म की ये प्रकृतियाँ पुद्गलमय हैं, यह बात आगम से सिद्ध है और दिखाई देने वाले शरीर, आकार आदि मूर्त द्रव्य के कार्य हैं, यह अनुमान गम्य होने से अनुमान सिद्ध भी है। इसी प्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान और संहनन भी पुद्गलमय नाम कर्म की प्रकृतियों से बने हुए हैं, यह कथन उनसे अभिन्न रूप जीवस्थानों के कहने पर हो गया है। इसलिए वर्णादि जीव नहीं हैं। यह निश्चय का सिद्धान्त है।

विशेषार्थ - यहाँ आगम प्रमाण और अनुमान प्रमाण से जीवस्थानों को पुद्गलमय सिद्ध किया है। इन जीवस्थानों के पुद्गलमयपने की सिद्धि हो जाने पर गंध, रस आदि भी पुद्गलमय हैं, यह अपने आप सिद्ध हो जाता है।

आगे कहते हैं बादर और सूक्ष्म के भेद से एकेन्द्रिय जीव और द्वीन्द्रियादि-पंचेन्द्रिय पर्यंत जो चौदह जीवसमास हैं वे भी शुद्धनिश्चयनय से जीव के स्वरूप नहीं हैं तो फिर वर्णादिक जो देहगत धर्म हैं वे जीव के कैसे हो सकते हैं?

टीकार्थ - एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय व पंचेन्द्रिय असंज्ञी,संज्ञी बादर और सूक्ष्म पर्याप्त और अपर्याप्त ये सब नामकर्म संबंधी प्रकृतियाँ हैं जो अमूर्त्त, अतीन्द्रिय और निरंजन ऐसे परमात्मतत्त्व से विलक्षणता लिये हुए हैं। इन पूर्वोक्त पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियों द्वारा

निष्पन्न १४ जीवसमास हैं। अत: वे निश्चयनय से जीव कैसे कहे जा सकते हैं? कभी नहीं कहे जा सकते हैं । जैसे करणभूत सोने के द्वारा बनाया गया तलवार का म्यान स्वर्णरूप ही होता है वैसे ही पुद्गल प्रकृतियों के द्वारा निष्पन्न हुए जीवसमास भी पुद्गल द्रव्य स्वरूप ही हैं न कि जीवस्वरूप। ऐसा कहने से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जब जीवस्थान ही पुद्गल है तो वर्णादिक तो सर्वथा ही पुद्गलाश्रित हैं,अत:फिर वे तो जीव के स्वरूप किसी भी प्रकार न होकर पुद्गल स्वरूप ही हैं। ऐसा इन दोनों गाथाओं का अभिप्राय है।।७०-७१।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. आगम प्रमाण किसे कहते हैं ?

उत्तर- आगम यानी सिद्धान्त, सिद्धान्त ग्रन्थों में जो कहा है वह आगम प्रमाण है।

प्रश्न-२. आगम किसे कहते हैं ?

उत्तर- **'आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागम:' (परीक्षा मुख ३/९४)** आप्त के वचनों की मुख्यता से जुडा हुआ अर्थ ज्ञान आगम है।

प्रश्न-३. अनुमान प्रमाण क्या है ?

उत्तर- **साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम् (परीक्षामुख ३/९)** अर्थात् साधन से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है।

प्रश्न-४. अनुमेय क्या है ?

उत्तर- जो अनुमान प्रमाण के योग्य है, वह अनुमेय है। अर्थात् जिसकी सिद्धि अनुमान प्रमाण से की जाती है, वह अनुमेय है और इसी आ.टी. में कहा है कि दिखाई देने वाले शरीर, आकार आदि मूर्त कार्य हैं। इसी मूर्त कार्य रूप साधन के बल पर यह सिद्ध होता है कि ये शरीर, आकार आदि पुद्गल कर्म की प्रकृतियों के कार्य हैं। यहाँ मूर्त शरीर रूप साधन (हेतु) के द्वारा कर्म प्रकृतियाँ भी मूर्त हैं, पुद्गलमय हैं, इस साध्य की सिद्धि अनुमान प्रमाण से की गई है।

प्रश्न-५. आ.टी. में कर्म-करण में अभिन्नता निश्चय से कही है, इसका खुलासा करें ?

उत्तर- कर्म-करण का अर्थ है उपादेय-उपादान सम्बन्ध। करण-उपादान कारण है और उसका परिणाम या कार्य उपादेय कहलाता है। जैसे स्वर्ण के द्वारा बनाया जाने वाला स्वर्ण पत्र स्वर्ण रूप ही होता है, अन्य मिट्टी आदि द्रव्य रूप नहीं होता है। तो यहाँ उपादान कारणभूत स्वर्ण करण है और उससे बनने वाला स्वर्ण पत्र उसका कर्म है, जो उपादेयभूत होता है। निश्चय से कर्म-करण एक द्रव्य में ही घटित होते हैं। निश्चय नय की विवक्षा में द्रव्य की कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण रूप ये छहों अवस्थायें एक ही द्रव्य में घटित होती हैं। इसलिए निश्चय नय की अपेक्षा कर्म-करण में अभेदपना है।

प्रश्न-६. तो क्या व्यवहार नय से कर्म-करण भिन्न भी होते हैं?

उत्तर- हाँ ! व्यवहार नय से षट्कार की व्यवस्था में कर्म-करण आदि सभी कारकों में भिन्नता भी होती है क्योंकि व्यवहार षट्कारकी अनेक द्रव्यविषयक होती है। व्यवहार नय से स्वर्ण उपादान कारण है तो सुनार, हथौडा आदि करण साधन होते हैं और स्वर्णपत्र रूप पर्याय कर्म है। इत्यादि।

प्रश्न-७. यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि यात्रा करने का भाव, पूजा करने का भाव, दान देने का भाव, मन्दिर वगैरह बनवाने का भाव राग है और इस राग का कारण पुद्गल है। राग कार्य है व उसका कारण पुद्गल जड़ कर्म है। चैतन्यमय जीव कारण तथा राग, उसका कार्य ऐसा नहीं हो सकता है?

उत्तर- यहाँ निश्चय नय की मुख्यता से आत्मा में वर्णादि का अभाव दिखाया है और वर्णादि पुद्गलमय होते हैं, यह निश्चय नय से जानना। व्यवहारनय से आत्मा में ये वर्णादि होते हैं, यह व्यवहारनय से जानना। आत्मा में निश्चय नय से प्राप्त हुए भाव संसारावस्था में शक्ति रूप से रहते हैं, व्यक्त रूप से तो व्यवहार नय के ही भाव हैं। जैसे अमूर्तिक आत्मा का स्वभाव संसार दशा में नहीं होता है वह निश्चय नय से आत्मा में शक्ति रूप है। तो निश्चय नय से आत्मा जब व्यक्त होगी तब उसमें व्यवहार नय की मुख्यता वाला मूर्तिक स्वभाव गौण होगा। इस तरह दोनों नयों की अभिव्यक्ति मुख्य-गौण रूप से होती रहती है। निश्चय नय से यहाँ समयसार में आत्मा का स्वरूप बताया जा रहा है। न कि मात्र निश्चयनय से ही आत्मा को मानने का हठाग्रह सिखाया जा रहा है। मूल ग्रन्थ और टीका ग्रन्थों में क्या ऐसा अर्थ निकाला गया है, जो अर्थ यहाँ निकाला है? यह अप्रासंगिक कथन है जो नयाभास कहलाता है। निश्चय से वस्तु के कथन के अवसर पर व्यवहार से वस्तु धर्म की अवहेलना करना नयाभास है। यात्रा करने का भाव, पूजा करने का भाव आदि धर्म नहीं हैं तो इनका अभाव करने का भाव भी धर्म नहीं हैं। वस्तुतः धर्म क्या, अधर्म क्या? यह विभाजन व्यवहार से ही होता है। निश्चय से तो आत्मा में न तो धर्म भाव है, न अधर्म भाव है। ये तो ऐसे ही अप्रासंगिक कथन हैं कि पिता की मृत्यु के समय पर जैसे कोई बेटा अपनी बहिन की शादी की बात करे। जिस समय पिता की मृत्यु हुई और वह व्यवहार को नहीं समझने वाला यदि कहे कि न कोई मरता है, न कोई जीता है, आज ही हम अपनी बहिन का विवाह करेंगे। जैसे यह व्यक्ति हँसी का पात्र होता है उसी प्रकार यह वक्ता भी हास्य का पात्र है। राग भाव एकान्त से यदि पुद्गल का ही है तो अलग-अलग आत्माओं में वह राग भिन्न-भिन्न शक्ति वाला क्यों होता है? सभी का राग एक साथ क्यों नहीं छूट जाता है, जो यह जानते हैं कि राग पुद्गल है और चैतन्य उसका न कार्य है, न कारण है। एक को समझाने पर वह तो मोक्षमार्ग में लग जाता है और एक को समझाने पर किंचित् राग का अभाव नहीं होता है, यह राग यदि एकान्ततः पुद्गल ही होता तो सभी को एक साथ मोक्ष हो गया होता। मन्दिर बनाने का राग, पूजा करने का भाव, जहाँ श्रावक में उपयोगी है, वहाँ वही धर्म है और जहाँ इन कार्यों को करने की भूमिका नहीं, उन वीतरागी श्रमणों में यह कार्य गौण है वहाँ उनके लिए यह राग स्वतः छूटता जाता है। श्रावकों को उनकी भूमिका में मन्दिर का राग त्याज्य है, यह ज्ञान देना वस्तुतः उन्हें धर्ममार्ग से भ्रष्ट करना है। आचार्य

अमृतचन्द्र जी भी पहले कह आये हैं कि व्यवहार धर्म के अभाव में तीर्थप्रवृत्ति का ही अभाव हो जाएगा। अत: ये भाव यदि आचार्यों के लिए मान्य होते तो वे स्वत: अपनी टीकाओं में इन क्रियाओं का निषेध क्यों नहीं करते! अवश्य करते।

प्रश्न-८. देखो ! मैं तो इतना ही जानता हूँ कि यह अँगुली जो मुडती है, यह मुड़ना कार्य पर्याय है और परमाणु इसका कारण है, आत्मा इसका करण नहीं है। इसी प्रकार पुण्य-पाप के भाव कार्य हैं तथा पुद्गल उनका करण साधन है ?

उत्तर- अभी तुम्हें यह ज्ञान नहीं है कि निश्चयषट्कारकी और व्यवहारषट्कारकी की व्यवस्था किस नय के साथ किस भूमिका में घटित होती है? जो कार्य अनेक द्रव्य के आश्रित होते हैं वहाँ व्यवहार षट्कारकी की मुख्यता होती है और सराग अवस्था में यही षट्कारकी व्यवस्था घटित होती है। जब कार्य एक द्रव्याश्रित ही मुख्यतया घटित होता है तब निश्चय षट्कारकी व्यवस्था होती है जो वीतराग अवस्था में घटित होती है। अंगुली मोड़ने का कार्य शरीर में तभी संभव है जब शरीर में आत्मा हो। आत्मा के साथ मन काम कर रहा हो और शरीर में अंगुली मोड़ने का बल भी हो। एक कार्य के लिए यहाँ अनेक द्रव्यों का आश्रय है, इसलिए यह मुड़ना कार्य है, परमाणु इसका कारण है, आत्मा इसका करण नहीं है, साधन नहीं, यह कहना अज्ञान है और नय ज्ञान की अनभिज्ञता है। क्या शरीर से आत्मा निकलने के बाद अंगुली मुड़ने की क्रिया संभव है? क्या अन्तिम अवस्था में जब आत्मा शरीर में हो किन्तु अशक्त होने के कारण अंगुली नहीं मोड़पाती हो तब वह मुड़ने रूप कार्य पर्याय, उन्हीं परमाणु कारणों के विद्यमान रहने पर भी घटित क्यों नहीं होती है? संयोगज पर्याय में आत्मा और पुद्गल दोनों में करण-कर्म की व्यवस्था बनती है अन्यथा विश्व का कोई भी कार्य कभी घटित नहीं होगा। किसी ने किसी के कार्य में सहायता की, एक द्रव्य ने दूसरे द्रव्य का उपकार किया, इत्यादि बातें कभी संभव नहीं होंगी। तत्त्वार्थ सूत्र के पंचम अध्याय में बताए गए द्रव्यों के परस्पर उपकार घटित नहीं होंगे और 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' यह सूत्र ही असिद्ध हो जाएगा। इसलिए जो बातें समीचीन व्यवहार के योग्य नहीं हैं वे निश्चय धर्म की प्राप्ति के योग्य त्रिकाल में कभी नहीं हो सकती हैं। पाप-पुण्य एकान्तिक रूप से जड़पुद्गलों का मानो तो शुभ-अशुभ भाव में अन्तर भी नहीं बचेगा। जिससे हिंसा-अहिंसा सब पुद्गल-जड़मय होगी। आत्मा तो इनका करण-साधन रहा नहीं, फिर आत्मा का नरक-स्वर्ग में जाना, आत्मा को व्रत आदि धारण करना, आत्मा को पाप से बचाना, आत्मा को प्रायश्चित्त आदि तपों से शुद्ध करना इत्यादि सभी व्यर्थ होगा।

राग या पुण्य-पाप भाव किसके हैं, इसका सटीक स्पष्ट विवेचन **वृहद् द्रव्य संग्रह गाथा ४८ की टीका** में है। जिसका अर्थ इस प्रकार है- 'स्त्री व पुरुष दोनों के संयोग से उत्पन्न हुए पुत्र की भाँति तथा चूने व हल्दी के मिश्रण से उत्पन्न हुए वर्ण विशेष की भाँति रागादि भाव जीव तथा

कर्म इन दोनों के संयोग से जनित हैं। नय विवक्षा के अनुसार एकदेश शुद्ध निश्चय नय से राग भाव (या पुण्य-पाप भाव) कर्म जनित कहलाते हैंफ किन्तु अशुद्ध निश्चय नय से ये रागादि जीव जनित कहलाते हैं।

इसी तरह आचार्यों ने दोनों नयों से संयोगी पर्याय को कथंचित् शरीर कथंचित् आत्मा की माना है। एकान्त कथन मिथ्यामत का पोषक है। इसलिए पाप-पुण्य आदि भाव कथंचित् जीव के और कथंचित् पुद्गल के हैं, यह सिद्ध है। अन्यथा जीव को पापी जीव या पुण्य जीव कैसे कहा जाता ?

जीवो वि हवे पापं अइतिव्वकसाय परिणदो णिच्चं ।
जीवो वि हवइ पुण्णं उवसमभावेण संजुत्तो ।। कार्तिकेय अनुप्रेक्षा १९०

अर्थात् अति तीव्र कषाय से परिणत जीव ही पाप है और उपशम भावों से सहित जीव ही पुण्य है।

हे भविष्य चिन्तक! अपने ज्ञान का उपयोग अतीत मे डूबने के लिए कभी मत कर। जो हो गया उससे आगे बढ़े कर कुछ कर। कभी तीर्थंकर जैसे महापुरूष भी वैराग्य का निमित्त पाकर अतीत में खोए नहीं। वे आगे बढ़े हैं। भगवान ऋषभदेव ने यह कभी नहीं सोचा कि चौरासी लाख पूर्व की आयु में से तेरासी लाख पूर्व पहले ही हमें यह नीलांजना का दृश्य दिख जाता। हमें यह घटना इतनी बाद में देखने को क्यों मिली? जो लोग काश! यदि ऐसा होता, वैसा होता, तुम पहले मिले होते, तुमने पहले कहा होता। काश! यह बात मुझे दस साल पहले समझ में आ जाती। इत्यादि प्रकार से पछतावा करते हैं; वे जागरण की ओर नहीं अपितु मरे हुए को कब्र से पुनः खोदकर जिन्दा करने का प्रयास कर रहे हैं। उज्ज्वल ज्ञान भविष्य का निर्माण करने के लिए पछतावा करने से नहीं, कुछ आगे बढ़ेकर करने से होगा। भविष्य और उसकी सफलता का उपाय इसी बात में निहित है कि आप जो होना चाह रहे हैं उसी का विचार करें। तीर्थंकर जैसे पुरुष वैराग्य भाव को प्राप्त हुए तो गृहत्याग करके आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया।

अथ पुद्गलेन निर्वृत्तस्य पौद्गलिकत्वं पिपर्ति -

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित्तदेव तत्स्यान्न कथञ्चनान्यत् ।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यन्ति रुक्मं न कथञ्चनासिम् ।। ३८ ।।

सं.टी.- अत्र जगति, यत् शरीरादि, किंचित् किमपि, येन पुद्गलादिना, निर्वर्त्यते-निष्पाद्यते, तत् शरीरादि, तदेव पौद्गलिकमेव, स्याद् भवेत्, कथंचन-केनापि प्रकारेण संस्कारादिना अन्यत् पुद्गलातिरिक्तं न भवेत् अथवा अन्यत् आत्मादिद्रव्यं केनापि प्रकारेण पौद्गलिकं न हि, इममर्थं दृष्टान्तयति-इह-जगति, रुक्मेण-कार्तस्वरेण निर्वृत्तं- निष्पन्नं, असिकोशं-कनकपत्रनिष्पन्नं खड्ग-पेटारकं, रुक्मं सौवर्णं, पश्यन्ति अवलोकयन्ति। सर्वे व्यवहारिणः, कथंचन केनापि प्रकारेणाधाराधेयादिना, असिं-खड्गं न सौवर्णं पश्यन्ति ।।३८।।

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततोस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ।। ३९ ।।

अन्वयार्थ - (येन) जिस वस्तु से (अत्र यद् किंचित् निर्वर्त्यते) जो भाव बने (ततः) वह भाव (तद् एव स्यात्) वह वस्तु ही है, (कथञ्चनान्यत्) किसी भी प्रकार अन्य वस्तु नहीं है; (इह) जैसे जगत् में (रुक्मेण निर्वृत्तम् असिकोशं) स्वर्णनिर्मित म्यान को (रुक्मं पश्यन्ति) लोग स्वर्ण ही देखते हैं, उसे (कथञ्चन) किसी प्रकार से (न असिम्) तलवार नहीं देखते।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस कलश में क्या कहा गया है ?

उत्तर- जो जिसके द्वारा बनाया जाता है वह उस रूप ही होता है उससे भिन्न कुछ नहीं होता है।

प्रश्न-२. इससे दार्ष्टान्त क्या हुआ ?

उत्तर- जिस पुद्गल आदि के द्वारा यह शरीर आदि रचा जाता है वह शरीर आदि पुद्गल रूप ही होता है।

अन्वयार्थ - अहो ज्ञानी जनो! (इदं वर्णादिसामग्रयम्) ये वर्णादिक से लेकर गुणस्थानपर्यंत भाव हैं उन समस्त को (एकस्य पुद्गलस्य हि निर्माणम्) एक पुद्गल की रचना (विदन्तु) जानो; (ततः) इसलिए (इदं) यह भाव (पुद्गल एव अस्तु) पुद्गल ही हों, (नात्मा) आत्मा न हो; (यतः) क्योंकि (स) वह आत्मा (विज्ञानघनः) विज्ञान घन है (ततः) इसलिए (अन्यः) वह इन

अथ वर्णादीनां पौद्गलिकत्वं पूरयति -

टीका- विदन्तु जानन्तु, दक्षाः इत्याध्याहार्यं, इदं प्रत्यक्षं, वर्णादि सामग्र्यं वर्णादीनि-वर्णगंधरसस्पर्शशरीरसंस्थान संहननादीनि तेषां सामग्र्यं-समग्रस्य भावः सामग्र्यं, निर्माणं निष्पत्तिः। एकस्य धर्मादि पंचद्रव्यनिरपेक्षस्य, पुद्गलस्य परमाणुद्रव्यस्य, हीति निश्चितं, नान्यन्निष्पादितं ततः तस्मात् कारणात् वर्णादिनिर्माणस्य पुद्गलत्व-साधनात्, इदं तु वर्णादि पुद्गल एव। वर्णादिनामप्रकृतिनिष्पादितत्वात् नात्मा-चिद्रूपो न हि। वर्णादि चिद्रूपः कुतो न ? यतः यस्माद्धेतोः सः आत्मा, विज्ञानघनः विशिष्टेन ज्ञानेन बोधेन, घनो निविडः विज्ञानस्य घनो यत्र स तथोक्तः ततःवर्णादीनां विज्ञानाभावात् अन्यः-वर्णादिर्भिन्न एव ।। ३९।।

वर्णादिक भावों से अन्य ही है।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. 'विदन्तु' जानो, इस क्रियापद का कर्त्ता कौन है ?

उत्तर- यहाँ 'दक्षाः' इस पद का अध्याहार करना चाहिए। (प.अ.त.)

प्रश्न-२. ये वर्णादि पुद्गल के हैं, इससे क्या स्पष्ट होता है ?

उत्तर- निश्चय नय से इन वर्णादि की रचना पुद्गल कर्म की नाम कर्म प्रकृतियों से हुई है और आत्मा चैतन्य घन है, इस तरह स्वरूप का निर्णय करना चाहिए।

प्रश्न-३. तो क्या निश्चय से वर्णादि, गुणस्थान, संक्लेश, विशुद्धि स्थान आदि २९ पद कर्म के ही हैं, आत्मा के नहीं हैं ?

उत्तर- इस ग्रन्थ में निश्चय नय की मुख्यता से जीवादि तत्त्वों का प्रतिपादन है इसलिए निश्चय नय से ये आत्मा के नहीं हैं। निश्चय नय भी दो प्रकार का है। शुद्ध निश्चय नय और अशुद्ध निश्चय नय। इस समयसार ग्रन्थ और उसकी टीकाओं में शुद्ध निश्चय नय से कथन किया गया है। अतः वस्तु स्वरूप मात्र इतना ही नहीं है जितना कि यहाँ बताया गया है। शुद्ध निश्चय नय से आत्मा अपने शुद्ध भावों का ही कर्त्ता है तो अशुद्ध निश्चय नय से आत्मा रागादि भावों का कर्त्ता भी होता है। यदि ये रागादि भाव एकान्ततः कर्म जनित ही होंगे तो संसारी आत्मा में रागादि का अनुभव नहीं होना चाहिए। किन्तु यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध और अनुभवविरुद्ध है। यदि ये भाव मात्र पुद्गल कर्म के उपादान से ही होते तो मिथ्यात्व आदि पाँच प्रत्ययों के कारण से जीव को मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि कहना ही नहीं बनता। जीव तो जीव है। मिथ्यादृष्टि या सम्यग्दृष्टि ये विशेषण भी कर्म के निमित्त से जीव में आते हैं। यदि इन भावों को एकान्ततः पुद्गल के ही माना जाय तो गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि का अभाव हो जाएगा, जिससे समस्त सिद्धान्त ग्रन्थ श्री धवल, जयधवलादि अनुपयोगी वर्णन करने वाले सिद्ध होंगे। अतः सम्यग्ज्ञानी जीव वही कहलाता है जो दोनों नयों से वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता है। किसी एक नय से ही वस्तु को जानने या मनवाने का हठाग्रह

शेषमन्यद्व्यवहारमात्रम्-

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ।।६७।। ता.टी.७२

नहीं करता है। अशुद्ध निश्चय नय से इन भावों का उपादानकारण अशुद्ध आत्मा होता है। जिससे द्रव्य कर्म के निमित्त से होने वाले इन नैमित्तिक भावों का उपादान कारण भी आत्मा है, यह अशुद्ध निश्चय नय से कहा है। इसी अशुद्ध निश्चय नय को भी शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा व्यवहार कहा है। 'यतः कारणात् अशुद्ध निश्चयोऽपि शुद्ध निश्चयापेक्षया व्यवहार एव' (ता.टी. १२०-१२२) पुद्गल द्रव्य को करने वाला यह जीव व्यवहार से है, ऐसा आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने भी अनेक स्थलों पर कहा है-

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो ।
तह जीवो ववहारा दव्व गुणुप्पादगो भणिदो ।। (कर्तृकर्म अधिकार १०८)

अर्थ- जैसे राजा दोष और गुणों को उत्पन्न करने वाला है, यह व्यवहार कहा जाता है वैसे जीव भी व्यवहार से पुद्गल द्रव्य और गुणों को उत्पन्न करने वाला कहा गया है। आचार्य अमृतचन्द्र जी कलश ६३ में कहते हैं कि 'यदि जीव पुद्गल कर्मों को नहीं करता है तब पुनः उन पुद्गल कर्मों को कौन करता है ? ऐसी आशंका होने पर इस कर्त्ता कर्म के तीव्र वेग रूप मोह को दूर करने के लिए कहते हैं- सुनो।' आगे की गाथाओं में इसी का समर्थन है।

अन्वयार्थ - (जे) जो (पज्जत्तापज्जत्ता) पर्याप्त, अपर्याप्त (सुहुमा बादरा य) सूक्ष्म और बादर आदि (चेव य) जितनी (देहस्स) देह की (जीवसण्णा) जीव संज्ञा कही हैं वे सब (सुत्ते) सूत्र में (ववहारदो) व्यवहार से (उत्ता) कही हैं।

अर्थ- पर्याप्त, अपर्याप्त एवं सूक्ष्म और बादर ये सब देह की सज्ञायें हैं। उन्हीं को व्यवहारनय से परमागम में (अभेद से) जीव की बताई हैं।। ७२।।

पर्याप्त सूक्ष्म त्रस थावर बादरा ये, हैं वस्तुतः जड़मयी तन की दशायें ।
संसारिजीव इनमें तन पा बसे हैं, ये जीव हैं इसलिए उपचार से हैं ।।७२।।

आ.टी.- यत्किल बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतु:पंचेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ता इति शरीरस्य संज्ञा: सूत्रे जीवसंज्ञात्वेनोक्ता: अप्रयोजनार्थ: परप्रसिद्ध्या घृतघटवद्व्यवहार:। यथा हि कस्यचिदाजन्मप्रसिद्धैकघृतकुम्भस्य तदितरकुम्भानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं घृत-कुम्भ: स मृण्मयो न घृतमय इति तत्प्रसिद्ध्या कुम्भे घृतकुम्भव्यवहार:, तथास्याज्ञानिनो लोकस्यासंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं वर्णादिमान् जीव: स ज्ञानमयो न वर्णादिमय इति तत्प्रसिद्ध्या जीवे वर्णादिमद्व्यवहार:।। ६७।।

अथ ग्रन्थान्तरे पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मजीवा: कथ्यन्ते तत्कथं घटत इति पूर्वपक्षे परिहारं ददातिह्न

ता.टी. - पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव पर्याप्तापर्याप्ता ये जीवा: कथिता: सूक्ष्मबादराश्चैव ये कथिता:। **देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता** पर्याप्तापर्याप्तदेहं दृष्ट्वा पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मविलक्षणपरम चिज्ज्योतिर्लक्षणशुद्धात्मस्वरूपात्पृथग्भूतस्य देहस्य सा जीवसंज्ञा

आ.व्या.- बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त और अपर्याप्त इस प्रकार शरीर की संज्ञाएँ सूत्र में जीव की संज्ञा के रूप से कही गई है। ये संज्ञाएँ पर (अर्थात् पौद्गलिक कर्म) की प्रसिद्धि से है, पर के कारण से है। यह व्यवहार 'घृत का घड़ा' कहना इस तरह होने से प्रयोजनीभूत नहीं है। जैसे कि किसी व्यक्ति ने पूरे जीवन में एक 'घी का घड़' है, यही जाना और घी से रहित घडे.(मिट्टी का घडा) को नहीं जाना तो उसे समझाने के लिए कहते हैं कि 'जो यह घी का घडा है, वह मिट्टीमय है घृतमय नहीं है' इस घी के कारण से इस घेड़े में 'यह घी का घडा है' ऐसा व्यवहार होता है। उसी प्रकार से इस अज्ञानी लोक को अनादि संसार के कारण अशुद्ध जीव का ज्ञान रहा है और वह शुद्ध जीव से अनभिज्ञ रहा है। इसी अनभिज्ञ जीव को समझाने के लिए 'जो यह रूपादि वाला जीव है, वह ज्ञानमय है, रूप आदि मय नहीं है।' इस प्रकार रूप आदि के कारण से जीव में वर्ण (रूप) आदि वाला यह जीव है, यह व्यवहार होता है।

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि पर्याप्त, अपर्याप्त,बादर और सूक्ष्म जीव होते हैं ऐसा अन्य ग्रन्थों में लिखा हुआ है वह क्यों? इस पर आचार्य उत्तर देते हैं-

टीकार्थ- पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे जीवा जीवों को पर्याप्त और अपर्याप्त,सूक्ष्म और बादर कहा गया है **देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता** वह पर्याप्त और अपर्याप्त शरीर को देखकर पर्याप्त, अपर्याप्त,बादर और सूक्ष्मपने से विलक्षण जो परमचैतन्यज्योति लक्षण वाला शुद्धात्मा उससे पृथग्भूत जो यह देह है उसी की संज्ञा को परमागम में व्यवहार से जीव संज्ञा कही गई है, इसमें कोई दोष नहीं है। इस प्रकार जीवस्थान और उसके आश्रित वर्णादिक ये

कथिता। क्व? सूत्रे परमागमे। कस्मात्? व्यवहारादिति नास्ति दोषः। एवं जीवस्थानानि जीवस्थानाश्रिता वर्णादयश्च निश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्तीति कथनरूपेण गाथात्रयं गतम् ।।७२।।

अथ जीवानां वर्णादिप्रतिपादनं मिथ्येति मथ्नाति -

घृतकुंभाभिधानेऽपि कुंभो घृतमयो न चेत् ।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ।। ४० ।।

सभी निश्चय से जीव के स्वरूप नहीं हैं। इस प्रकार के कथन को लेकर तीन गाथायें पूर्ण हुईं।। ७२।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. जीव की यह संज्ञा किस कारण से है ?

उत्तर- बादर, सूक्ष्म आदि जीव की संज्ञायें नामकर्मजनित पुद्गल के परिणाम हैं। ये वस्तुतः शरीर की संज्ञायें हैं। इन तैजस-कार्मण शरीर के साथ जीव का एकमेकपना होने से जीव को एकेन्द्रिय आदि व्यवहार से कहा जाता है।

प्रश्न-२. यह व्यवहार से एकेन्द्रिय आदि संज्ञायें किन सूत्रों में हैं ?

उत्तर- श्री षट्खण्डागम सूत्र, कसायपाहुड़सुत्त, तत्त्वार्थ सूत्र आदि सिद्धान्त ग्रन्थों में ये संज्ञायें हैं।

प्रश्न-३. यहाँ निश्चय से आत्मा का स्वरूप बताने का प्रयोजन क्या है ?

उत्तर- निश्चय से आत्मा के शुद्ध रूप को जानना, समझना ही यहाँ शुद्धात्मा को समझाने का प्रयोजन है। चूँकि अनादि से आत्मा ने अशुद्ध दशा में परिणमन किया है इसलिए आत्मा के शुद्ध स्वरूप को नहीं जाना, यही इसका अज्ञान है।

अन्वयार्थ - (चेत्) यदि (घृतकुंभाभिधानेऽपि) 'घी का घड़ा' ऐसा कहने पर भी (कुंभो घृतमयो न) घड़ा है वह घृतमय नहीं है-मिट्टीमय ही है, (वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि) तो इसी प्रकार 'वर्णादिमान् जीव' ऐसा कहने पर भी (जीवो न तन्मयः) जीव है वह वर्णादिमय नहीं है-ज्ञानघन ही है।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. जीव को वर्णादि वाला कहना क्या उचित है ?

उत्तर- जीव को वर्णादि वाला कहना व्यवहारीजनों के लिए उचित है किन्तु यह जानना भी आवश्यक है कि जीव मात्र वर्णादि वाला ही नहीं है। वस्तुतः जीव वर्णादि वाला होकर भी वर्णादि से तन्मय नहीं होता है। निश्चय से उसका स्वरूप वर्णादि से भिन्न है। जीव के स्वरूप का निश्चय परमार्थ से जानकर करना चाहिए।

सं.टी.- चेत् यदि, कुंभः कलशः, घृतमयः, घृतेन आज्येन, निर्वृत्तः घृतमयः, न भवेत्, घृतकुंभाभिधाने-घृतस्य कुंभ इत्यभिधानेऽपि न केवलं, अनभिधानेऽपि इत्यपिशब्दार्थः। तर्हि जीवः आत्माः तन्मयः वर्णादिमयो न हि, क्व सति? वर्णेत्यादिः मुग्धं प्रति वर्णादिमानयं जीव इति सूत्रे लोकव्यवहारे च जल्पनेऽपि, यथैव हि कस्यचिदाजन्मप्रसिद्धैकघृतकुंभस्य तदन्यमृण्मयकुंभानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं घृतकुंभः स मृण्मयो न घृतमय इति। तथा कुंभे घृतकुंभ इति व्यवहारः। तथाऽस्याज्ञानिनो लोकस्यासंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं वर्णादिमान् जीवः स ज्ञानमयो न वर्णादिमय इति तत्प्रसिद्ध्या जीवे वर्णादिमद्व्यवहारः ।। ४०।।

प्रश्न-२. क्या जीव के स्वरूप का निर्णय समयसार आदि अध्यात्म ग्रन्थों को पढ़कर ही होता है अन्य सैद्धान्तिक जीवकाण्ड आदि ग्रन्थों को पढ़कर नहीं होता है ?

उत्तर- ऐसा नहीं है, जीव के शुद्ध स्वरूप का निश्चय जिनवाणी के चारों अनुयोगों में से किसी भी अनुयोग को पढक़र हो जाता है। देखो! प्रथमानुयोग के ग्रन्थ में भी जीव के भव-भवान्तरों का वर्णन होता है और वह जीव अन्त में व्रत, संयम आदि धारण कर कुछ भवों में केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त होता है। जीव की मोक्ष दशा संसार के दुःखों से, जन्म-मरण से रहित होती है और वहाँ अनन्त सुख का वह भोक्ता होता है, इत्यादि वर्णन पढ़ने से भी जीव का शुद्ध स्वरूप ज्ञात होता है। करणानुयोग के अनुसार जीव की विभिन्न दशाओं को गुणस्थानों, मार्गणा स्थानों, जीवसमास आदि के द्वारा जाना जाता है तो जीव के विकास का क्रम से ज्ञान होता है और गुणस्थान अतीत, मार्गणा स्थान से अतीत सिद्धों का स्वरूप जानने से शुद्ध जीव के स्वरूप का भी ज्ञान होता है। सम्यग्दर्शन, निर्जरा स्थान, ध्यान आदि का ज्ञान होने से जीव का व्यवहार और निश्चय से यथार्थ ज्ञान होता है जिससे सभी तत्त्वों का वह आत्मा सम्यग्ज्ञानी हो जाता है। जो यह शुद्ध स्वरूप का ज्ञान यहाँ समयसार में दिया है वह ज्ञान करणानुयोग के ग्रन्थों से भी होता है। जीव रस, रूप, गन्ध आदि से गुणस्थान अन्त तक के भावों से रहित है, यह ज्ञान तत्त्वार्थ सूत्र, जीवकाण्ड आदि ग्रन्थों के अध्ययन से भी हो जाता है। अधिक क्या कहें ? पंचपरमेष्ठी का ज्ञान बालबोध में जब उनके गुणों के द्वारा कराया जाता है तो भी सिद्ध आत्मा का ज्ञान होने से शुद्ध जीवात्मा का ज्ञान होता है। करणानुयोग के षट्खण्डागम आदि ग्रन्थ वस्तुतः अध्यात्म प्रधान ग्रन्थ हैं। ऐसा श्री धवला टीका में आचार्य श्री वीरसेन जी ने लिखा है। इससे भी स्पष्ट है कि ये सिद्धान्त ग्रन्थ भी द्रव्यानुयोग के ग्रन्थ हैं। करणानुयोग के ग्रन्थों में लोक के स्वरूप, जीवादि द्रव्यों की संख्या, गणित शास्त्र की प्रधानता रहती है।

चरणानुयोग के ग्रन्थ भी शुद्ध जीव के स्वरूप का ज्ञान कराते हैं। सम्यग्दर्शन आदि का वर्णन जीव के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान कराता है। चारित्र को धारण करने का उद्देश्य, प्रयोजन और

एतदपि स्थितमेव यद्रागादयो भावा न जीवा इति -

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा ।
ते कह हवंति जीवा ते णिच्चमचेदणा उत्ता ।। ६८।। ता.टी.७३

आ.टी.- मिथ्यादृष्ट्यादीनि गुणस्थानानि हि पौद्गलिकमोहकर्मप्रकृतिविपाकपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात् कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा, यवपूर्वका यवा यवा एवेति न्यायेन, पुद्गल एव, न तु जीवः। गुणस्थानानां नित्यमचेतनत्वं चागमाच्चैतन्यऽस्वभावव्याप्तस्यात्मनोऽतिरिक्तत्वेन विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वाच्च प्रसाध्यम्। एवं रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबंधस्थानोदय- स्थानमार्गणास्थानस्थितिबंधस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानान्यपि पुद्गलकर्मपूर्वकत्वे सति, नित्यमचेतनत्वात् पुद्गल एव, न तु जीव इति स्वयमायातम्। ततो रागादयो भावा न जीव इति सिद्धम् ।। ६८।।

फल आदि जानने वाला शुद्ध जीव का स्वरूप जानता है। उस स्वरूप का ध्यान, चिन्तन करके ही अपने चारित्र का पालन षट् आवश्यक अंगों के साथ वह साधक करता है।

इससे स्पष्ट होता है कि चारों ही अनुयोग जीव के स्वरूप का, तत्त्व स्वरूप का यथार्थ निर्णय कराते हैं। द्रव्यानुयोग के इन समयसारादि प्रधान ग्रन्थों में वर्णित शुद्धात्मा का वर्णन इन सभी पूर्ववर्ती अनुयोगों के अध्ययन के पश्चात् यदि किया जावे तभी सम्यग्ज्ञान होता है अन्यथा एकान्तमिथ्यात्व का कारण भी यह ज्ञान बन जाता है और बन रहा है।

उत्थानिका - यह भी सिद्ध ही है कि रागादि भाव जीव के नहीं हैं-

अन्वयार्थ - (जे इमे) जो ये (गुणट्ठाणा) गुणस्थान हैं वे (मोहणकम्मस्सुदया दु) मोहकर्म के उदय से होते हैं (वण्णिदा) ऐसा वर्णन किया गया है। (ते) वे (जीवा) जीव (कह) कैसे (हवंति) हो सकते हैं (जे) कि जो (णिच्चम्) सदा (अचेदणा) अचेतन (उत्ता) कहे गये हैं।

अर्थ- मोहनीय कर्म के उदय से जो ये गुणस्थान कहे गए हैं, वे किस प्रकार से जीव हो सकते है? क्योंकि वे सदा ही अचेतन हैं शुद्ध चेतना से भिन्न हैं।

हों मोह के उदय में गुणथान सारे, माने गये परम आतम से निराले ।
जो हैं अचेतन निकेतन मूर्त्त भाई, तो जीव होय किस भाँति अमूर्त्त थाई ।।७३।।

अथ न केवलं बहिरंगवर्णादयो शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्ति अभ्यन्तरमिथ्यात्वादिगुणस्थानरूप रागादयोऽपि न भवन्तीति स्थितं ह्न

ता.वृ. - मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा निर्मोहपरमचैतन्यप्रकाशलक्षणपरमात्म तत्त्वप्रतिपक्ष-भूतानाद्यविद्याकन्दलीकन्दायमानसन्तानागतमोह-कर्मोदयात्सकाशात् यानीमानि वर्णितानि कथितानि गुणस्थानानि । तथा चोक्तं 'गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा'। **ते कह हवंति जीवा** तानि कथं भवन्ति जीवा? न कथमपि । कथंभूतानि? **ते णिच्चमचेदणा उत्ता** यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयेन नित्यं सर्वकालमचेतनानि। अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मापेक्षयाभ्यन्तररागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव । इति व्याख्यानं निश्चयव्यवहारनयविचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्यम् । एवमभ्यन्तरे यथा मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानानि जीवस्वरूपं न भवन्ति तथा रागादयोऽपि

आ.व्या.- मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान निश्चित ही मोहनीय कर्म की पौद्गलिक प्रकृतियों के विपाक से होते हैं अर्थात् ये सभी पुद्गल विपाकी कर्म के फल हैं, ऐसा होने पर नित्य ही अचेतन हैं, यह सिद्ध है। 'कारण के अनुरूप ही कार्य होते हैं' इस नियम के अनुसार जौ के बीज- भूत कारण से उत्पन्न हुए जौ (जव) जौ ही हैं। इस न्याय से ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं। आगम से भी सिद्ध है कि गुणस्थानों को अचेतनपना है। चैतन्य स्वभाव से व्याप्त आत्मा की पूर्णता भेदविज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलब्ध होने से भी इस साध्य की सिद्धि होती है। (कि गुणस्थान अचेतन हैं।) इसी प्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्मवर्गणा, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभाग स्थान, योग स्थान, बन्ध स्थान, उदय स्थान, मार्गणा स्थान, स्थितिबन्ध स्थान, विशुद्धि स्थान और संयमलब्धि स्थान भी पुद्गल कर्म के निमित्तपने से होते हैं, इसलिए पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं, इस प्रकार स्वयं सिद्ध हो जाता है। इस कारण से 'राग आदि भाव जीव नहीं है' यह सिद्ध हुआ।

अब बाहर में जो वर्णादिक हैं वे शुद्धनिश्चयनय से जीव के स्वरूप नहीं हैं। इतना ही नहीं किंतु अन्तरंग में होने वाले मिथ्यात्वादि गुणस्थानरूप रागादिक भी शुद्धनिश्चयनय से जीव के स्वरूप नहीं हैं, इसी को बतलाते हैं-

टीका- मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा मोहरहित जो परम चैतन्य का प्रकाश वही लक्षण जिसका ऐसे परमात्मतत्त्व से विपरीत स्वरूप वाले और अनादि अविद्या कदली के कंदस्वरूप संतान से प्राप्त हुए मोहकर्म के उदय से होने वाले बताये गए हैं वे गुणस्थान हैं। जैसा कि गोम्मट्टसार में कहा गया है-**गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा। ते कह हवंति जीवा** वे जीव कैसे हो सकते हैं? अर्थात् नहीं हो सकते। वे गुणस्थान कैसे हैं? **ते णिच्चमचेदणा उत्ता**

शुद्धजीवस्वरूपं न भवन्तीति कथन- रूपेणाष्टमगाथा गता।। ७३।। एवमष्टगाथाभिस्तृतीयान्तराधिकारो व्याख्यातः। ननु रागादयो जीवस्वरूपं न भवन्तीति जीवाधिकारे व्याख्यातं अस्मिन्नजीवाधिकारेऽपि तदेवेति पुनरुक्तमिदं। तन्न, विस्तररुचिशिष्यं प्रति नवाधिकारैः समयसार एव व्याख्यायते न पुनरन्यदिति प्रतिज्ञावचनं। तत्रापि समयसारव्याख्यानमत्रापि समयसारव्याख्यानमेव। यदि पुनः समयसारं त्यक्त्वान्यद्व्याख्यायते तदा प्रतिज्ञाभंग इति नास्ति पुनरुक्तम्। अथवा भावनाग्रन्थे समाधिशतकपरमात्मप्रकाशादिग्रन्थवद्रागिणां शृङ्गारकथावद् वा पुनरुक्त दोषो नास्ति। अथवा तत्र जीवस्य मुख्यता, अत्राजीवस्य मुख्यता। विवक्षितो मुख्य इति वचनात्। अथवा तत्र सामान्यव्याख्यानमत्र तु विस्तरेण। अथवा तत्र रागादिभ्यो भिन्नो जीवो भवतीति विधिमुख्यतया व्याख्यानं, अत्र तु रागादयो जीवस्वरूपं न भवन्तीति निषेधमुख्यतया व्याख्यानं। किंवत्? एकत्वान्यत्वानुप्रेक्षाप्रस्तावे विधिनिषेधव्याख्यानवदिति परिहारपञ्चकं ज्ञातव्यम्। एवं जीवाजीवौ जीवाजीवाधिकाररङ्गभूमौ शृङ्गारसहितपात्रवद्व्यवहारेणैकीभूतौ प्रविष्टौ निश्चयेन तु शृङ्गाररहितपात्रवत्पृथग्भूत्वा निष्क्रान्ताविति। **इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ-स्थलत्रयसमुदायेन त्रिंशद्गाथाभिरजीवाधिकारः समाप्तः।। १।।**

यद्यपि अशुद्धनिश्चयनय से ये गुणस्थान चेतन हैं क्योंकि चेतना के विकार हैं तो भी शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा वे सब सदा अचेतन हैं। अशुद्धनिश्चयनय यद्यपि द्रव्यकर्म आदि की अपेक्षा अन्तरंग में होने वाले रागादि भावों को चेतन मानकर निश्चय संज्ञा को प्राप्त होता है फिर भी वास्तव में वह शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही है। इस प्रकार का व्याख्यान निश्चयनय और व्यवहारनय के काल में सर्वत्र लगा लेना ।।७३।।

विशेषार्थः- यहाँ पर रागादि भावकर्म को भी अचेतन बताया गया है सो अचेतन शब्द का अर्थ चेतना रहित भी होता है और किंचित् चेतन अर्थात् चेतनता के विकार रूप भी होता है। वहाँ ज्ञानावरणादिरूप द्रव्यकर्म तो उपादान रूप में पुद्गलद्रव्य स्वरूप हैं अतःस्पष्ट रूप से अचेतन हैं किंतु रागादिभावों का उपादान अशुद्ध जीव होता है,केवल उनके होने में निमित्त रूप से द्रव्यकर्म रूप पुद्गल काम करता है,अतःरागादिभाव अशुद्ध निश्चयनय से विकारी चेतन के परिणाम हैं। इसलिये अशुद्धनिश्चयनय से चेतन के भाव हैं,ऐसा टीकाकार का कहना है। किंतु शुद्धनिश्चयनय शुद्ध जीव के परिणामों को ही कहता है, अतःइसके विचार में तो वे सब पौद्गलिक अर्थात् पुद्गल के निमित्त से होने वाले ही हैं, ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार अभ्यंतर में जैसे मिथ्यादृष्ट्यादि गुणस्थान जीव के स्वरूप नहीं हैं, वैसे ही रागादिक भी शुद्ध जीव का स्वरूप नहीं है, ऐसा कथन करते हुए आठ गाथायें पूर्ण हुईं।

इस प्रकार आठ गाथाओं में तीसरे अन्तराधिकार का व्याख्यान किया गया ।

यहाँ पर कोई शंका करता है कि रागादि जीव के स्वरूप नहीं हैं ऐसा जीवाधिकार में बता चुके हैं वही बात इस अजीवाधिकार में क्यों कही गई,यह पुनरुक्त दोष है? इसका आचार्य समाधान करते हैं कि पहले हम यही प्रतिज्ञा कर आये हैं कि यहाँ तक जो बात कही है उसी को विस्तार रुचि वाले शिष्यों के लिए नव अधिकारों से उसी समयसार का व्याख्यान करके बतलायेंगे। इस प्रतिज्ञा के अनुसार वहाँ समयसार का व्याख्यान संक्षेप से किया था, पर यहाँ समयसार का व्याख्यान कुछ विस्तार से है। यदि उस समयसार के व्याख्यान को छोड़कर दूसरा व्याख्यान करें तो की हुई प्रतिज्ञा का भंग होता है इसलिए यहाँ पर पुनरुक्त दोष नहीं है, अपितु गुण ही है। प्रत्युत् यह तो भावनात्मक ग्रंथ है इसलिए इसमें परमात्मप्रकाश, समाधिशतक आदि ग्रंथों की भाँति पुनरुक्त दोष नहीं है किंतु जैसे रागी जीवों को शृंगार की कथा बार बार कही जाती है वैसे ही यहाँ पर भी एक ही बात बार-बार शिष्य को कहा जाना ठीक है। अथवा यों समझो कि वहाँ पर तो जीवाधिकार में जीव की मुख्यता है और यहाँ अजीवाधिकार में अजीव की मुख्यता है। जहाँ पर जिसकी विवक्षा होती है वह मुख्य समझा जाता है। अथवा वहाँ सामान्य कथन है और यहाँ पर उसी का विस्तार है। अथवा वहाँ रागादिक से जीव भिन्न होता है - ऐसा विधानात्मक व्याख्यान है किंतु यहाँ रागादिक जीव के स्वरूप नहीं हैं- ऐसा निषेधात्मक व्याख्यान है। किसके समान? जैसे एकत्व भावना और अन्यत्व भावना में विधि और निषेध रूप कथन है। इस प्रकार शंका का पाँच प्रकार से परिहार किया गया है।

इस प्रकार जीव और अजीव जीवाजीवाधिकाररूप-रंगभूमि में शृंगार सहित पात्र के समान व्यवहारनय से एकरूपता को प्राप्त हुए प्रविष्ट हुए थे सो निश्चयनय से शृंगार रहित पात्र के समान पृथक्-पृथक् होकर निकल गए।

इस प्रकार **जयसेनाचार्य** के द्वारा बनाई हुई शुद्धात्मा की अनुभूति स्वरूप लक्षण वाली तात्पर्यवृत्ति नाम की समयसार की व्याख्या में तीन स्थलों के समुदाय से तीस गाथाओं द्वारा यह अजीवाधिकार समाप्त हुआ।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. 'मिथ्यात्व आदि विभाव भाव जीव नहीं हैं' इस कथन का अभिप्राय क्या है ?

उत्तर- इस कथन का अभिप्राय यह है कि जीव जिस प्रकार निश्चय नय की दृष्टि से शुद्ध चैतन्य स्वरूप होता है उसी प्रकार वे भाव शुद्ध चैतन्य रूप नहीं हैं।

प्रश्न-२. इन मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में तो सयोगकेवली आदि गुणस्थान भी आते हैं फिर क्या ये जीव के स्वभाव नहीं हैं ?

उत्तर- गुणस्थान तो मोह और योग के निमित्त से होते हैं। मोह और योग दोनों ही पुद्गल उपादान वाले हैं। इनके कार्य भी पौद्गलिक ही होंगे क्योंकि 'कार्य कारण के अनुसार ही होता है।'

ननु वर्णादीनां रागादीनां च जीवत्वाभावे को जीव इति वावच्यते-

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटं।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते।।४१।।

सं.टी.- इदं-प्रत्यक्षं चैतन्यं चेतनत्वं स्वयं-स्वतः पुद्गलाद्यनपेक्षत्वेन, तु इति-निश्चितं, जीवः-आत्मा, चैतन्यमंतरेण अन्यस्यानुपलभ्यमानत्वात्, उच्चैः-सकलश्रेष्ठत्वात्, चकचकायते-चाकचक्यतया शोभते, किं भूतं? अनादि-कदाचिदपि तस्योत्पत्तेरभावात्,अनंतं-अंतातिक्रांतं विनाशरहितत्वात्? अनादिनिधनत्वे तर्हि कीदृक्षं? अचलं विनाशरहितत्वात् तर्ह्यस्तीति कथं ज्ञायते? स्वसंवेद्यं-अहं सुखी, दुःख्यहमित्यादिरूपस्वसंवेद्यप्रत्यक्षं, स्फुटं-व्यक्तं, धर्मादिद्रव्याणामचेतनत्वेनास्फुटत्वात्।।४१।।

सयोगकेवली या अयोगकेवली गुणस्थान भी शुद्ध जीव का स्वभाव नहीं है तभी तो वह छूटता है। जो जीव में नित्य रहे वही उसका स्वभाव है। शुद्ध जीव में चैतन्य स्वभाव से व्याप्ति नित्य है, अन्य सभी नैमित्तिक भाव हैं जो कदाचित् (कुछ समय के लिए होने वाले) हैं। जब ये सभी भाव शुद्ध जीव के स्वामित्व में सदैव नहीं रहते हैं, तो इसी से सिद्ध है कि ये सभी भाव परनिमित्तक हैं। अतः पौद्गलिक हैं।

प्रश्न-३. शुद्ध जीव के ये रागादि नहीं हैं, यह किस प्रमाण से सिद्ध है ?

उत्तर- १. न्याय से, हेतु से या अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया है कि कारणानुसारी कार्य होता है।

२. लौकिक नीति से भी सिद्ध होता है कि जौ का कार्य जौ रूप ही है, यह दृष्टान्त प्रमाण जानना।

३. आगम प्रमाण से इन गुणस्थानों का मुक्तावस्था में नहीं पाया जाना और इन भावों का शुद्ध चैतन्य स्वरूप न होना प्रसिद्ध ही है।

४. स्वसंवेदन प्रत्यक्ष प्रमाण से ये सभी अनुभूति से भिन्न हैं। इन सभी प्रमाणों से रागादि भाव जीव नहीं हैं, यह सिद्ध है।

अन्वयार्थ - (अनाद्यनन्तमचलं) जो अनादि है, अनन्त है, अचल है (स्वसंवेद्यम्) स्वसंवेद्य है (तु) और (स्फुटं) प्रगट है- ऐसा जो (इदं चैतन्यम्) यह चैतन्य (उच्चैः) अत्यन्त (चकचकायते) चकचकायित-प्रकाशित हो रहा है, (स्वयं जीवः) वह स्वयं ही जीव है।

भावार्थ- वर्णादिक और रागादिक भाव जीव नहीं हैं, किन्तु जैसा ऊपर कहा, वैसा चैतन्य भाव ही जीव है।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. चैतन्य आत्मा अनादि से है, यह तो ठीक है किन्तु अनन्त कैसे है?

उत्तर- अनन्त अन्तातिक्रान्तं विनाशरहितत्वात् (प.अ.त.)- विनाश रहित होने से कभी अन्त को प्राप्त नहीं होता है इसलिए अनन्त है। अर्थात् इस आत्मा के चैतन्य स्वभाव का कभी अन्त नहीं होता है।

प्रश्न-२. यहाँ स्वसंवेद्य से क्या अर्थ है?

उत्तर- यह आत्मा अपने द्वारा ही संवेदन करने योग्य है। मैं सुखी हूँ, मैं दु:खी हूँ इत्यादि रूप स्वसंवेदन इस आत्मा को होता है। (प.अ.त.) इसी संवेदन की अपेक्षा भी आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष करने वाला कहा जाता है।

प्रश्न-३. यहाँ स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से तो शुद्ध आत्मा का स्वयं संवेदन करने वाला है, यह प्रत्यक्षज्ञान लेना चाहिए, मैं सुखी हूँ, दु:खी हूँ इस स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से यहाँ क्या प्रयोजन है?

उत्तर- नहीं, यहाँ जीव का स्वभाव मात्र कहा जा रहा है। जिस तरह चैतन्य भी सदैव विद्यमान रहता है। संसारी दशा में इस आत्मा की पहिचान मैं सुखी हूँ, मैं दु:खी हूँ, इसी संवेदन से होती है। इसी को यहाँ स्वसंवेदन प्रत्यक्ष कहा है। शुद्ध आत्मा का स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तो केवलज्ञान होने पर प्रकट होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी सुख-दु:ख के संवेदन की अपेक्षा सभी संसारी जीवों में होता है।

प्रश्न-४. कुछ लोग इस स्वसंवेद्य का अर्थ इस प्रकार कहते हैं कि वह ज्ञान व आनन्द की निर्मल पर्याय द्वारा ही जाना जा सकता है?

उत्तर- आत्मा तो स्वभाव से ज्ञान, आनन्दमय है किन्तु उसे ज्ञान, आनन्दमय अनुभव करने के लिए निर्विकल्प वीतराग ध्यान तक पहुँचना है। उससे पहले तो आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान इस तरह किया जाता है कि वह अपने स्वरूप को जानने और मानने वाला बन जाये। ज्ञान व आनन्द की निर्मल पर्याय निर्विकल्प समाधि की दशा में श्रमणों को अनुभव में आती है क्योंकि आत्मद्रव्य की निर्मलता उन्हीं के होती है। उन वीतराग भेदविज्ञानी आत्माओं में अन्य सभी सर्वघाती कषायों का अभाव हो जाता है जिससे स्वरूप में स्थिरता आती है। अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय सर्वघाती हैं। इनके उदय से आत्मस्वरूप की ज्ञान, आनन्द की पर्याय प्रकट नहीं होती है क्योंकि द्रव्य की निर्मलता के बिना पर्याय की निर्मलता नहीं आती है।

प्रश्न-५. भगवान आत्मा स्फुट है, प्रगट है अर्थात् छिपा नहीं है। समयसार में अलिंगग्रहण की ४९वीं गाथा में उसे अव्यक्त कहा है, जबकि यहाँ स्फुट-प्रगट या व्यक्त कहते हैं। चैतन्यज्योति चकचकायित - जगमगाती हुई प्रगट है, व्यक्त है। पर्याय की अपेक्षा आत्मा सुप्त है, अव्यक्त है किन्तु स्वभाव की अपेक्षा तो यह व्यक्त प्रगट ही है। पर्याय को जब व्यक्त कहते हैं तब द्रव्य को अव्यक्त कहते हैं, क्योंकि पर्याय में त्रिकालीद्रव्य नहीं आता।

उत्तर- भोली आत्माओं को भुलावे में डालने की यह कला बड़ी अद्भुत है। समयसार में अलिंगग्रहण को ४९वीं गाथा में अव्यक्त स्वभाव दिखाया है, वह उस आत्मा के सूक्ष्म परिणमन करने पर केवलज्ञान से परिणत आत्मा में दिखाया है और यहाँ भगवान् आत्मा प्रगट है वह उसके स्वभाव की अपेक्षा कहा है जो शक्ति रूप से जीव में है। अध्यात्म में औपशमिकादि चारों भाव आवरण संयुक्त होने से उनकी विवक्षा नहीं रहती है। मुख्य विवक्षा परम पारिणामिक भाव की रहती है, इसे ही अध्यात्मग्रन्थों में मुक्ति का कारणभूत कारण समयसार कहा गया है। इस पंचम भाव के आश्रय से आत्मा को मोक्ष होता है, यह प्रेरणा अध्यात्मग्रन्थों की टीकाओं से ज्ञात होती है। अध्यात्म ग्रन्थ की टीकाओं में इस परमपारिणामिक भाव के दो भेद कहे हैं - शुद्ध और अशुद्ध। इसमें शुद्धचैतन्य रूप जीवत्व भाव अविनश्वरपने के कारण शुद्ध द्रव्य के आश्रित होने से 'शुद्ध द्रव्यार्थिक संज्ञा वाला' शुद्ध पारिणामिक भाव कहलाता है। तथा कर्मजनित दश प्राण रूप जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व रूप से तीन हैं वे विनश्वरपने के कारण पर्यायाश्रित होने के कारण 'पर्यायार्थिक' संज्ञा वाले अशुद्ध पारिणामिक भाव कहलाते हैं। इस कारण से शुद्ध पारिणामिक भाव द्रव्यरूप होने से अविनश्वर है। यह पारिणामिक भाव यहाँ द्रव्यरूप कहा है और द्रव्यार्थिक नय का विषय है, इसी पर से कुछ विद्वानों ने द्रव्यदृष्टि से आत्मा शुद्ध है, यह कहना शुरू किया है। 'तीनों कालों में शुद्धता प्रगट करने के लिए इस द्रव्यरूप शुद्धपारिणामिक भाव का आश्रय करने योग्य है।' इस बात की रट लगाकर आत्मा को द्रव्यदृष्टि से शुद्ध मानना और बाकी सभी औपशमिक आदि भावों को पर्याय दृष्टि से अशुद्ध मानना शुरू हो गया जिसका दुष्परिणाम यह निकला कि आत्मा नहीं बंधा किन्तु पर्याय दृष्टि से बंधा है, ऐसा कहने लगे। वर्तमान में अशुद्ध द्रव्य को बताने वाला भी अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय है। मात्र यह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय ही द्रव्यार्थिक नय का भेद नहीं है। एक नय से कहीं किसी कथनी को सर्वथा मानकर चलना और उसी की रट लगाना एकान्त मिथ्यात्व है। यदि सर्वथा आत्मा कर्मबन्ध से रहित शुद्ध द्रव्य होता तो आत्मा को मूर्तिक और अमूर्तिक दोनों रूप क्यों कहा जाता? 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' द्रव्य संग्रह की इस गाथा १३ की टीका में इसे पारिणामिक कहा। जो शुद्ध द्रव्य को सदा बताता है। वहीं गाथा ७ में द्रव्यसंग्रह में जीव को मूर्तिक, बन्ध की अपेक्षा से कहा है। यदि जीव की पर्याय में ही बन्ध होता तो जीव को मूर्त नहीं कहा जाता। सर्वार्थसिद्धि में भी एक गाथा आती है -

बंध पडि एयत्तं लक्खणदो हवदि तस्स भिण्णत्तं।
तम्हा अमुत्तिभावो णेगंतो होदि जीवस्स।।

अर्थात् कर्मबंध के प्रति जीव की एकता है और लक्षण से उसकी भिन्नता है। अत: एकान्त से जीव को अमूर्तिकपना नहीं है। **क्षुल्लक जिनेन्द्रवर्णी** ने **'नय दर्पण'** में इस पारिणामिक भाव का खुलासा पृ. १०४ पर कुछ इस प्रकार किया है -

पारिणामिक भाव का यह कथन त्रिकाली ध्रुव शक्ति या भाव की अपेक्षा विचारा जाना

अथाजीवभेदं विकाश्य जीवतत्त्वमालम्बते-

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो
नामूर्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्तं व्यंजितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालम्ब्यताम्।। ४२।।

चाहिए। यदि व्यक्ति पर अर्थात् प्रगट अनुभव में आने वाली पर्याय पर दृष्टि चली गई तो अनिष्ट हो जाएगा। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न उठ खड़ा होगा कि राग में रहते हुए भी आत्मा शुद्ध कैसे कहा जा सकता है, या यह अभिमान उत्पन्न हो जाएगा कि मैं तो त्रिकाली शुद्ध हूँ, अतः राग-द्वेषादि मेरा अपराध है ही नहीं, मैं इन्हें करता ही नहीं, वर्तमान में जो देखने में आता है वह भ्रम मात्र है। **अतः व्यक्ति और शक्ति का विवेक रखकर ही समझना योग्य है।** व्यक्त रूप में जितने भी भाव हैं वे सब के सब औदयिकादि चारों में से कोई-न-कोई हो सकते हैं। यही तो घुमाने की कला है। जो केवलज्ञान में प्रगट है उसे अप्रगट कह दिया। जो केवलज्ञान पर्याय की अपेक्षा आत्मा अव्यक्त कहा उसे पर्याय की अपेक्षा कहकर आत्मा की सुप्त दशा कह कर सबको पुनः मोहनींद में सुला दिया। आश्चर्य है कि द्रव्य का स्वरूप विपर्यास ज्ञान में कितना भरा है कि 'द्रव्य अव्यक्त है और पर्याय व्यक्त है' ऐसा कहा जा रहा है और यह केवलज्ञान की पर्याय इसी अशुद्ध द्रव्य में व्यक्त हो रही है। अरे भाई! स्वभाव शक्ति रूप से द्रव्य में पड़ा है। वही स्वभाव परनिरपेक्ष और स्वयं से सिद्ध है। उस स्वभाव को प्रगटरूप कहने की अपेक्षा यह है कि उस स्वभाव का ज्ञान करना जो अभी आत्मा में है जिससे जाग्रति होकर उस स्वभाव की प्रगटता का उत्साह जागे।

अन्वयार्थ - (यतः अजीवः अस्ति द्वेधा) अजीव दो प्रकार के हैं- (वर्णाद्यैः सहितः) वर्णादिसहित (तथा विरहितः) और वर्णादि रहित; (ततः) इसलिए (अमूर्तत्त्वम् उपास्य) अमूर्तत्व का आश्रय लेकर भी अर्थात् अमूर्तत्व को जीव का लक्षण मानकर भी (जीवस्य तत्त्वं) जीव के यथार्थ स्वरूप को (जगत् न पश्यति) जगत् नहीं देख सकता (इति आलोच्य) इस प्रकार परीक्षा करके (विवेचकैः) भेदज्ञानी पुरुषों ने (न अव्यापि अतिव्यापि वा) अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दूषणों से रहित (चैतन्यम्) चेतनत्व को जीव का लक्षण कहा है (समुचितं) वह योग्य है। (व्यक्तं) वह चैतन्य लक्षण प्रगट है, (व्यञ्जित-जीव-तत्त्वम्) उसने जीव के यथार्थ स्वरूप को प्रगट किया है और (अचलं) वह अचल है-चलाचलता रहित, सदा विद्यमान है। (आलम्ब्यताम्) जगत् उसी का अवलम्बन करो।

सं.टी. - ततः तस्मात् कारणात्, जगत्-गच्छति-जानातीति जगत्, 'द्युतिगमोऽर्थे च' इति क्विप्। ज्ञानवत्प्राणिसमूहः, अमूर्तत्वं-मूर्तत्वरहितं, उपास्य-आश्रित्य, जीवस्य, आत्मनः, तत्त्वं-स्वरूपं, पश्यति अवलोकयति, न हि यद्यदमूर्तं तत्तज्जीवतत्त्वमिति जीवेनामूर्तत्वस्य व्याप्त्यभावात्। कुतः? यतः कारणात् अजीवः-अजीवपदार्थः, द्वेधा द्विप्रकारः अस्ति वर्तते। एको भेदः वर्णाद्यैः रूपगंधरसस्पर्शाद्यैः सहितः युक्तः, परमाण्वादिपुद्गलपिंडानां वर्णात्मकत्वेन मूर्तत्वात्, तथा तेनैव प्रकारेण, द्वितीयो भेदः, तैर्विरहितः धर्माधर्माकाशकालानां वर्णादिरहितत्वेनामूर्तत्वात्, इति-अमुना प्रकारेण, अमूर्तत्वं जीवस्वरूपं न। आलोच्य-निश्चित्य, आलंब्यतां सेव्यतां, किं? चैतन्यं चेतनत्वं, व्यंजितजीवतत्त्वं व्यंजितं जीवस्य स्वरूपं येन तत्, अचलं परलक्ष्येऽभावाच्चलनारहितं, समुचितं सम्यक् प्रकारेण तत्रोचितं युक्तं। लक्षणस्य त्रीणि दूषणानि-अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभवरूपाणि तत्राव्यापि नैतल्लक्षणं स्वलक्ष्ये जीवे सर्वत्र विद्यमानत्वात्। गोःशावलेयत्ववदव्यापि नच। वा पुनः अतिव्यापि न च स्वलक्ष्यं जीवलक्षणं विहायान्यत्र गोः पशुत्ववद्विद्यमानत्वाभावात्। पुनः गव्येकशफत्ववदसंभवं न च। यतः व्यक्तं तत्रैव तत्र सर्वत्रैव विद्यमानत्वात्। अथवा समुचितपदेनासंभवपरिहारः।। ४२।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस कलश में क्या दर्शाया है?

उत्तर- इस कलश में जीव का अव्याप्ति और अतिव्याप्ति से रहित निर्दोष लक्षण दिखाया है।

प्रश्न-२. अव्याप्ति लक्षण क्या है और जीव में कैसे घटित होता है?

उत्तर- जो लक्षण साध्य के एकदेश में रहता है वह अव्याप्ति दोष से सहित है। रागादि या वर्णादि को आत्मा का लक्षण मानें तो वह अव्याप्ति दोष से दूषित लक्षण होगा क्योंकि यह लक्षण सिद्ध आत्माओं में घटित नहीं होता है।

प्रश्न-३. अतिव्याप्ति लक्षण क्या है और जीव में कैसे घटित होता है?

उत्तर- जो लक्षण साध्य को छोड़कर अन्य साध्य में पाया जाता है वह अतिव्याप्ति दोष से सहित होता है। आत्मा का अमूर्तिक लक्षण मानने पर वह अमूर्तिकपना तो धर्मादि द्रव्यों में भी पाया जाता है इसलिए यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित है।

प्रश्न-४. फिर जीव के कौन से लक्षण का आलंबन लेना चाहिए?

उत्तर- जिसने जीव को प्रकट कर दिया है ऐसे चैतन्य लक्षण वाले जीव का आलंबन लेना चाहिए।

प्रश्न-५. लक्षण कितने दोषों से रहित होता है?

उत्तर- अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव इन तीन दोषों से रहित किसी वस्तु का लक्षण होता है। दो दोषों के लक्षण तो बता दिये हैं। जो लक्षण उस साध्य में संभव ही न हो वह असंभव दोष कहलाता है।

अथ जीवाजीवयोर्भिन्नत्वमनुभवति-

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसंतं।
अज्ञानिनो निरवधि प्रविजृम्भितोऽयं मोहस्तु तत्कथमहो वत नानटीति।।४३।।

सं.टी. - इति चेतनत्वाचेतनत्वयोर्भिन्नत्वकथनेन, अनुभवति निश्चिनोति, अनुभवविषयं करोतीत्यर्थः, कः? ज्ञानी भेदविज्ञानयुक्तः जनः भव्यलोकः, लक्षणतः असाधारणधर्मतः, जीवात् आत्मनः अजीवं धर्मादिद्रव्यं, विभिन्नं अतिरिक्तं। कीदृक्षं अजीवं? स्वयं अचैतन्यस्वरूपेण, उल्लसंतं ऊर्ध्वं विलसंतं, वत इति खेदे, तत् तस्मात् जीवाजीवयोः, परस्परं भिन्नत्वात् अयं मोहः-पुद्गलात्मकं मोहनीयं रागद्वेषात्मकं च कर्म, अहो इति आश्चर्ये, कथं? केन प्रकारेण? नानटीति अत्यर्थं नाटयति न कथमपि, तयोः परस्परभिन्नत्वसाधनात्, किंभूतो मोहः? अज्ञानिनः भेदज्ञानरहितस्य मूढप्राणिनः, निरेत्यादिः मर्यादारहितत्वेन व्याप्तः अज्ञानिनस्तन्मयत्वात् ।। ४३।।

उत्थानिका - अब जीव-अजीव का भिन्नत्व अनुभव करते हैं-

अन्वयार्थ - (इति लक्षणतः) यों पूर्वोक्त भिन्न लक्षण के कारण (जीवात् अजीवम् विभिन्नं) जीव से अजीव भिन्न है (स्वयम् उल्लसन्तम्) उसे अपने आप ही-स्वतंत्रपने जीव से भिन्नपने विलसित होता हुआ-परिणमित होता हुआ (ज्ञानीजनः) ज्ञानीजन (अनुभवति) अनुभव करते हैं, (तत्) तथापि (अज्ञानिनः निरवधि-प्रविजृम्भितः अयं मोहः तु) अमर्यादरूप से फैला हुआ यह मोह अर्थात् स्वपर के एकत्व की भ्रान्ति (कथम् नानटीति) क्यों नाचता है- (अहो बत) यह हमें महा आश्चर्य और खेद है।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. जीव का यह लक्षण कौन अनुभव करता है?

उत्तर- जीव का यह लक्षण ज्ञानी जीव अनुभव में लाता है। अनुभव होने पर ही जीव का यह लक्षण निश्चिति को प्राप्त होता है। अनुभवति निश्चिनोति(प.अ.त.)

प्रश्न-२. यह ज्ञानी कौन है?

उत्तर- जो भेद-ज्ञान से सहित है।

प्रश्न-३. भेद-ज्ञान से सहित कौन जीव है?

उत्तर- जो जीव मोहनीय और रागद्वेषात्मक मोह कर्म से नहीं नाच रहे हैं वे भेदज्ञान से सहित हैं।

प्रश्न-४. यह मोह कैसा है?

उत्तर- आत्मा में अमर्यादित रूप से व्याप्त है अर्थात् अनन्तकाल से आ रहा है।

अथाविवेकनाटये नटनपटुतां प्रकटयति-

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः।। ४४।।

सं.टी.- नटति नृत्यं करोति, नारकादिपर्यायसूक्ष्मस्थूलादिरूपं भवतीत्यर्थः कः? पुद्गलः वर्गवर्गणास्पर्धक-गुणहान्यादिरूपः, एव निश्चयेन, किंभूतः? वर्णादिमान्, वर्णो-रूपं, स एव आदिर्यस्य स्पर्शरसगंधादेः, स वर्णादिः विद्यते यस्य सः 'स्पर्शरसगंधवर्णवंतः पुद्गलाः' इति वचनात्, क्व? अस्मिन्-जगत्प्रसिद्धे, अविवेकनाट्ये 'ममेदं' अहमस्येति लक्षणोऽविवेकः, तथा चोक्तं-'चिदचित्वे परतत्त्वे विवेकस्तद्विवेचनमिति' तद्विपरीतोऽविवेकः स एव नाट्यं-लास्यं, तस्मिन्, किंभूते? अनादिनि-आदिरहिते, पुनः किंभूते? महति-आसंसारजीवव्याप्यत्वात्, चेति भिन्नप्रक्रमे, अन्यः-

---

उत्थानिका - अब इस अविवेक के नाटक में नाचने की निपुणता को प्रकट करते हैं-

अन्वयार्थ - (अस्मिन् अनादिनि महति अविवेक-नाट्ये) इस अनादिकालीन महा अविवेक के नाटक में अथवा नाच में (वर्णादिमान् पुद्गलः एव नटति) वर्णादिमान पुद्गल ही नाचता है, (न अन्यः) अन्य कोई नहीं; अभेद ज्ञान में पुद्गल ही अनेक प्रकार का दिखाई देता है, जीव अनेक प्रकार का नहीं है; (च) और (अयं जीवः) यह जीव तो (रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध चैतन्यधातुमयमूर्तिः) रागादिक पुद्गल विकारों से विलक्षण, शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१ इस मोह और जीव के नाटक में किसकी प्रधानता है?

उत्तर- इस अविवेकपूर्ण नाटक में मोहरूप पुद्गल की प्रधानता है।

प्रश्न-२ यहाँ पुद्गल की प्रधानता क्यों है?

उत्तर- क्योंकि निश्चय से पुद्गल ही नाच रहा है। अनादि संसार से अनेक रूप हो रहा है और जीव तो विशुद्ध चैतन्य धातु से बना है सो ज्यों का त्यों है।

प्रश्न-३ तो क्या जीव उस पुद्गल के साथ नहीं नाचता है?

उत्तर- अरे भाई! मुख्य, गौण विवक्षा की बात है। निश्चय की मुख्यता से जीव नहीं नाचता है, पुद्गल ही नाच रहा है ऐसा जानो और व्यवहार की मुख्यता से **'जीव और पुद्गल नाचें यामें कर्म उपाधि है'** अर्थात् जीव और पुद्गल दोनों ही नाचते हैं।

प्रश्न-४ यहाँ आत्मा नृत्य नहीं करता है, यह भी क्यों कहा है?

उत्तर- यह जीव जब सभी द्रव्यों से भिन्न लक्षण वाले जीव का स्वयं अनुभव करता है तो ऐसा जीव मोह से रहित होता है वही इस पुद्गलमय मोह के प्रभाव से अपने को बचाता है। वही आत्मा

अजीवाद्भिन्नः, अयं जीवः-आत्मा, न नटति, कुतः? हेतुगर्भितविशेषणं दर्शयति-रागेत्यादिः-रागो-रतिः, आदिशब्दात् द्वेषमोहाध्यवसायादयः ते च ते पुद्गलानां विकाराश्च विकृतयः तेभ्यो विरुद्धं-विपरीतस्वरूपत्वाद्भिन्नं तच्च तत् शुद्धं-द्रव्यभावनोकर्मरहितं चैतन्यं च तदेव धातुः-द्रव्यविशेषः, अथवा दधाति स्वगुणपर्यायानिति धातुः-ज्ञानशक्तिः, तेन निर्वृत्ता मूर्तिर्लक्षणया स्वरूपं यस्य सः।। ४४।।

अथोपसंहारमाजेह्रीयते-

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे।। ४५।।

सं.टी. - तावत्-तावत्कालपर्यंतं, ज्ञातृद्रव्यं ज्ञायकद्रव्यं आत्मद्रव्यमित्यर्थः, स्वयं स्वभावादेव, अतिरसात् रसातिशयतः उच्चैः-ऊर्ध्वं, चकाशे-शुशुभे, किंभूतं? प्रसभविकसत्-अत्यर्थं विकासं गच्छत्, कया? व्यक्तेत्यादि-चिन्मात्रस्य ज्ञानमात्रस्य, शक्तिः-अविभागप्रतिच्छेदसमूहः, व्यक्ता चासौ

इस पुद्गल कर्म से नृत्य नहीं कर रहा है किन्तु जो भेदविज्ञान से रहित, आत्मानुभव से च्युत है वह अज्ञानी मोह के कारण नाच रहा है, ऐसा जानना। जीव रागादि पुद्गल के विकारों से विरुद्ध शुद्ध चैतन्य धातुमय मूर्ति है, यह उसका हेतुगर्भित विशेषण है। यानी इस विशेषण में हेतु भी कहा गया है। अर्थात् जो आत्मा राग, द्वेष, मोह आदि अध्यवसायों से रहित हुआ है वही जीव नृत्य नहीं करता है। इस जीव की अपेक्षा पुद्गल द्रव्य ही नृत्य करता है, यह आपेक्षिक कथन जानना।

उत्थानिका - अब उपसंहार किया जाता है-

अन्वयार्थ - (इत्थं) इस प्रकार (ज्ञान-क्रकच-कलना-पाटनं) ज्ञानरूपी करवतका जो बारम्बार अभ्यास है उसे (नाटयित्वा) नचाकर (यावत्) जहाँ (जीवाजीवौ) जीव और अजीव दोनों (स्फुट-विघटनं न एव प्रयातः) प्रगटरूप से अलग नहीं हुए, (तावत्) वहाँ तो (ज्ञातृद्रव्यं ज्ञाताद्रव्य, (प्रसभ-विकसत्-व्यक्त-चिन्मात्रशक्त्या) अत्यन्त विकासरूप होती हुई अपनी प्रगट चिन्मात्रशक्ति से (विश्वं व्याप्य) विश्व को व्याप्त करके, (स्वयम्) अपने आप ही (अतिरसात्) अतिवेग से (उच्चैः) उग्रतया अर्थात् आत्यंतिकरूप से (चकाशे) प्रकाशित हो उठा।

इस प्रकार श्री समयसार (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागमकी) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में प्रथम जीवाजीवाधिकार समाप्त हुआ।

चिन्मात्र-शक्तिश्च तया, किं कृत्वा विश्वं-जगत्, व्याप्य-परिच्छेद्येत्यर्थः, यावत् यावत्पर्यंतं नैव प्रयातः-निश्चयेन न प्राप्नुतः, किं? स्फुटविघटनं-स्फुटं व्यक्तं-विघटनं-पृथग्भवनं, कौ? जीवाजीवौ-जीव आत्मा-चेतनः, अजीवः-अचेतनः-कर्मपुद्गलादिः, द्वंद्वः तौ, किं कृत्वा? इत्थं पूर्वप्रकारेण, पुद्गलस्यैव नर्तनादिकथनलक्षणेन, नाटयित्वा-नृत्यविषयं कृत्वा, इतस्ततश्चालयित्वेति यावत् किं ज्ञानेत्यादि-ज्ञानं शुद्धात्मज्ञानं तदेव क्रकचः करपत्रं 'क्रकचोऽस्त्री करपत्रं स्यात्, इत्यमरः' तस्य कलना-ग्रहणं, तस्यां पाटनं पटुत्वं तत्पटुत्वं जीवाजीवयोर्मध्ये कृत्वेत्यर्थः। तावत् ज्ञातृद्रव्यं समयं समयं प्रति अधिकतया अचकात्, यावन्निश्शेषबंधध्वंसो न याति। तस्मिन्कृते अधिकतया प्रतिभासनाभावात्तस्य स्वरूपेऽवस्थानात् कृतकृत्यत्वादिति तात्पर्यं।। ४५।।

इति जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रांतौ।

इति श्रीमदमृतचंद्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ जीवाजीव प्ररूपकः प्रथमोऽङ्कः।

।। इति ।।

प्रश्नोत्तर टीका

प्रश्न-१. इस कलश में क्या दर्शाया है?

उत्तर- जो आत्मा उपर्युक्त रीति से भेदविज्ञान में लीन है वह क्या फल प्राप्त करता है, यह इस कलश में दर्शाया है।

प्रश्न-२. यह भेद-विज्ञान कैसे किया जाता है?

उत्तर- ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा- ज्ञान अर्थात् शुद्धात्मा का ज्ञान। वह शुद्धात्मा का ज्ञान ही करते हैं। उसको ग्रहण करके उसी की कुशलता को जीव-अजीव द्रव्यों के मध्य में करो अर्थात् पूर्व कथित कथन के अनुसार जीव को नहीं पुद्गल को नृत्य कराओ। उसी को इधर-उधर चलाओ। कर्म पुद्गल की सेना को भगाओ, इसका यह अर्थ है। यह उस श्रमण की मुख्यता से कथन है जो क्षपकश्रेणी में आरोहण करके कर्म क्षय करता चला जाता है। भेदविज्ञान के द्वारा यह जीव ही मोहादि कर्म का क्षय शुक्लध्यान में करता है।

प्रश्न-३. यह भेदविज्ञान की करोंत कब तक वह जीव चलाता है?

उत्तर- तब तक चलाता है जब तक कि वह ज्ञातृ द्रव्य अर्थात् ज्ञायकमात्र जीव द्रव्य नहीं रह जाता है। प.अ.त. टीका में इसी का खुलासा इस प्रकार है- प्रति समय उत्तरोत्तर अधिकता से तब तक शोभित होता रहता है जब तक पूर्ण रूप से बन्ध का विनाश नहीं हो जाता है। बन्ध का पूर्ण विनाश होने पर उत्तरोत्तर अधिकता का अभाव हो जाता है क्योंकि आत्मा कृतकृत्यपने को प्राप्त हो जाने से अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

प्रश्न-४. ज्ञायक मात्र रहने पर वह कैसा शोभित रहता है?

उत्तर- अत्यन्त विकास को प्राप्त हुआ विकसित ज्ञान मात्र (केवलज्ञान) के अविभाग प्रतिच्छेद

व्याख्यानमिदं जयतादात्मविकाशि प्रकृष्टनिजमानं।
शुभचंद्रयतिव्यक्तं शुद्धार्थं समयसार-पद्यस्य।।

इति समयसार पद्यस्य परमाध्यात्मतरंगिणी नामधेयस्य व्याख्यायां प्रथमोऽङ्कः।।१।।

समूह के द्वारा इस विश्व को व्याप्त करके अर्थात् तीनलोक को पूर्ण रूप से जान करके अपने ज्ञान रस की अधिकता से शोभित रहता है। (प.अ.त.)

प्रश्न-५. जिस भेदज्ञान के द्वारा ऐसा केवलज्ञान प्रकट होता है और जीव-अजीव द्रव्य भिन्न हो जाते हैं, यह किसकी महिमा है?

उत्तर- वीतराग निर्विकल्प समाधि में एकत्व परिणति को प्राप्त वीतराग चारित्र के अविनाभावी वीतराग सम्यग्दृष्टि श्रमण की महिमा है।

प्रश्न-६. ज्ञान स्वरूप चैतन्य ब्रह्म आत्मा का बारम्बार अभ्यास करने पर जीव चैतन्य स्वरूप है तथा रागादि अजीव हैं, इस प्रकार जीव व अजीव दोनों का ज्ञान होता है और उसी कारण तुरन्त ही आत्मा का निर्विकल्प अनुभव होता है। यह निर्विकल्प अनुभव ही सम्यग्दर्शन है। क्या सम्यग्दर्शन आत्मा में ऐसे होता है?

उत्तर- अरे भोले प्राणी! यह निर्विकल्प अनुभव किनको होगा, यह आचार्य अमृतचन्द्र जी के कलश और उस पर लिखी आचार्य शुभचन्द्र जी की परमाध्यात्मतरंगिणी संस्कृत टीका से स्पष्ट है। उपर्युक्त प्रश्न-उत्तरों से इसका स्पष्टीकरण किया है। भोले आत्मन्! भ्रम में न पड़ो। कलश काव्य के अनुसार तो आचार्य अमृतचन्द्र जी कहते हैं कि इस भेदविज्ञान को तब तक करो कि जब तक आत्मा अपने ज्ञान रस के अतिशय से अपनी समस्त शक्तियों को प्राप्त करके विश्व को जानने न लग जाय अर्थात् उसे केवलज्ञान न हो जाय और यहाँ उस भेदज्ञान से सम्यग्दर्शन कराया जा रहा है। वह भेदज्ञान जो नियम से सम्यग्दृष्टि जीव को होता है उस भेदज्ञान से सम्यग्दर्शन कराना यही तो जिनवाणी की धारा को विपरीत बहाना है। शुक्लध्यान में जो सम्यग्दर्शन होता है वह निर्विकल्प अनुभव होता है उसे आचार्यों ने निश्चय सम्यग्दर्शन कहा है। जिस निश्चय सम्यग्दर्शन से केवलज्ञान होता है उससे अविरत, असंयमी को सम्यग्दर्शन प्राप्त कराया जा रहा है। भव्यात्मन्! जिनागम को भली प्रकार समझो और जिनशासन की सेवा कर आत्मकल्याण करो।

इस प्रकार समयसार की आत्मख्याति संस्कृत टीका की हिन्दी में आत्मख्याति एवं प्रश्नोत्तर टीका करते हुए जीव-अजीव अधिकार पूर्ण हुआ।

उज्जैन वर्षायोग
२०१३

■ ■ ■